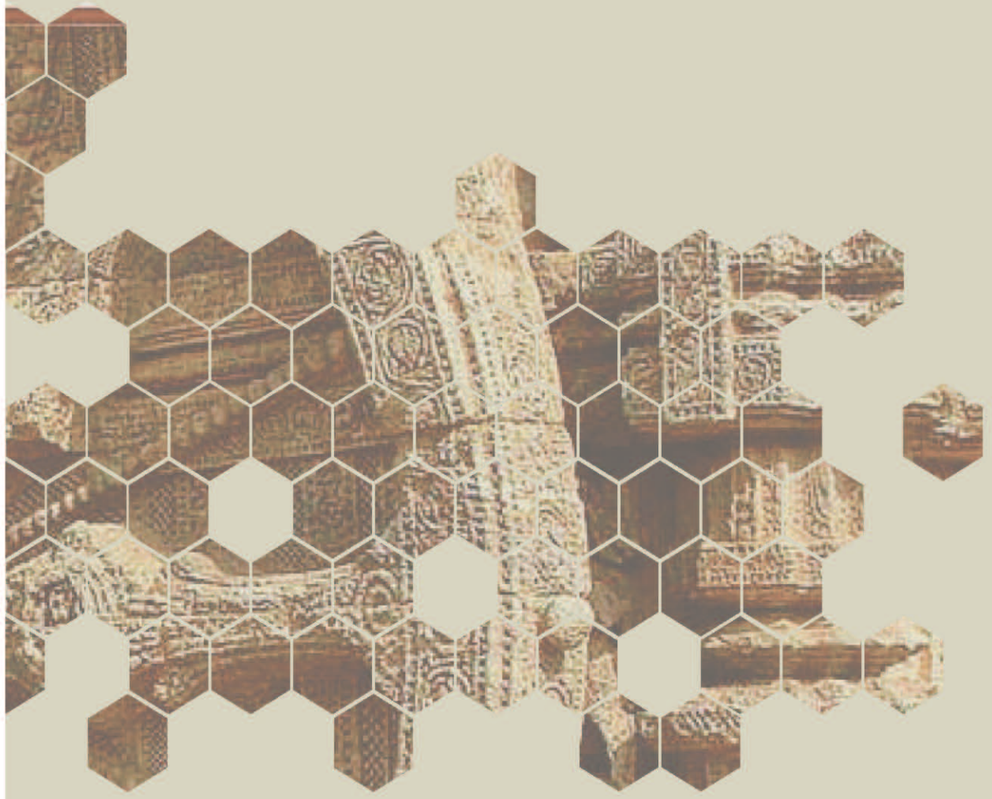

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

Political theory

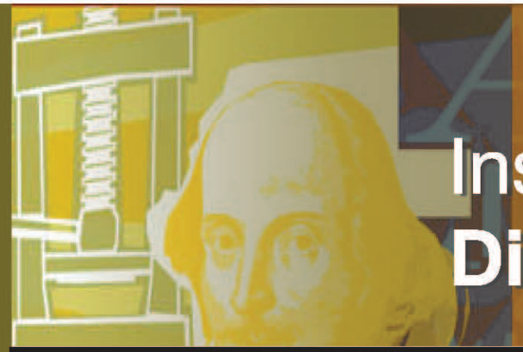

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Arts

Political Theory

1BA6

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur — A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

IBA6

राजनीतिक सिधांत

1BA6, Political Theory

Edition: March 2024

Compiled, reviewed and edited by Subject Expert team of University

1. Dr. Sandhya Jaiswal

(Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Reenu Sharan

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning:

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by:

Dr. C.V. Raman University

Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.),

Ph. +07753-253801, 07753-253872

E-mail: info@cvru.ac.in

Website: www.cvru.ac.in

अध्याय — पृष्ठ क्रमांक

-I

राजनीति विज्ञान की परिभाषाएँ एवं क्षेत्र 01
(Definitions and Scope of Political Science)

राजनीति विज्ञान की प्रकृति 14
(Nature of Political Science)

राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति और महत्व 19
(Nature and Significance of Political Theory)

राजनीति विज्ञान के अध्ययन की पद्धतियाँ 24
(Methods of the Study of Political Science)

राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध 33
(Relation of Political Science with other Social Sciences)

इकाई–II

6. शक्ति की अवधारणा 41
(Concept of Power)

7. सत्ता की अवधारणा 54
(Concept of Authority)

8. राज्य : परिभाषाएँ और उसके मूल तत्व 62
(State : Definitions and its Elements)

9. राज्य : उत्पत्ति एवं विकास 69
(State : Origin and Development)

10. राज्य : प्रमुख दृष्टिकोण 98
(State : Dominant Perspectives)

11. सम्प्रभुता : बहुलतावादी आलोचना 110
(Sovereignty : Pluralistic Criticism)

12. नागरिकता 127
(Citizenship)

इकाई–III

13. अधिकार : अधिकार संबंधी सिद्धान्त 137
(Rights : Theories of Rights)

14. अधिकार एवं कर्त्तव्य 149
(Rights and Duties)

15. स्वतंत्रता तथा समानता 152
(Liberty and Equality)

16. न्याय की अवधारणा 164
(Concept of Justice)

17. लोकतंत्र 170
(Democracy)

18. प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त .....
(Principles of Representation)

19. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा .....
(The Concept of Welfare State)

इकाई–IV

20. व्यवस्थापिका ..... 2(
(Legislature)

21. कार्यपालिका 20
(Executive)

22. न्यायपालिका 21
(Judiciary)

23. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त 218
(Theory of Separation of Powers)

24. संविधान 223
(Constitution)

इकाई–V

25. शासन के प्रकार : अधिनायकतन्त्र 231
(Types of Government : Dictatorship)

26. संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन 238
(Parliamentary and Presidential System)

27. एकात्मक और संघात्मक शासन 248
(Unitary and Federal System)

28. दल व्यवस्था 257
(Party System)

29. दबाव-समूह 272
(Pressure Groups)

30. नारीवाद अथवा महिला शक्तिवाद 280
(Feminism)

●●●

1

राजनीति विज्ञान की परिभाषाएँ एवं क्षेत्र
(DEFINITIONS AND SCOPE OF POLITICAL SCIENCE)

राजनीति विज्ञान विषय की लम्बी परम्परा रही है। यूनानियों को इसके जनक होने का श्रेय दिया जाता है क्योंकि इस दिशा में उन्होंने विशेष योगदान दिया है। इसके जन्म को प्लेटो के आदर्शवाद और अरस्तू के बुद्धिवाद से अभिसिंचित किया जाता है जो ज्ञान की दो ऐसी प्रमुख धाराएँ हैं जिनकी बाद में व्याख्या की गई और उन्हें तोड़ा-मरोड़ा जाता रहा है। प्लेटो का उन्नत आदर्शवाद और अरस्तू की वैज्ञानिक क्रमबद्धता राजनीतिक सिद्धांत के रचनाकारों को प्रेरित करती रही है और सदियों से उनके बीच वाद-विवाद का विषय बनी हुई है। यूनानी चिन्तकों के समय से लेकर आज तक विभिन्न चिन्तकों, सिद्धांतवेत्ताओं और विश्लेषकों के योगदानों से राजनीति विज्ञान के रूप व उसकी परम्पराएँ समय-समय पर बदलती रही हैं। मोटे रूप से राजनीति विज्ञान के दो रूप उभरकर सामने आये हैं : पहला, **परम्परावादी राजनीति विज्ञान** और दूसरा, **आधुनिक राजनीति विज्ञान**। परम्परावादी राजनीति विज्ञान मुख्य रूप में **मानकात्मक** (Normative) है और इसीलिए इसको मानने वाला राजनीतिक सिद्धांतशास्त्री राजनीतिक **दार्शनिक-सा** लगता है; आधुनिक राजनीति विज्ञान मुख्य रूप में **व्यवहारवादी या अनुभवात्मक** (Empirical) है और इसलिए इसको मानने वाला राजनीतिक सिद्धांतशास्त्री **राजनीति वैज्ञानिक** जैसा लगता है। लेकिन इन दोनों के बीच कोई बड़ी विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। इन दोनों के विशिष्ट लक्षण एक-दूसरे को अतिव्याप्त करते हैं।

राजनीति विज्ञान की परम्परावादी परिभाषाएँ
(Traditional Definitions of Political Science)

राजनीति विज्ञान एक प्राचीन विषय है। परम्परागत राजनीति विज्ञान से अभिप्राय वह राजनीति विज्ञान है जो व्यवहारवादी क्रांति से पूर्व प्रचलित था। परम्परागत राजनीति विज्ञान के सिद्धांत अपने प्रतिपादक के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण से प्रभावित रहे हैं। प्लेटो से लेकर एक्विनाज़, रूसो, काण्ट, और हीगल तक राजनीतिक सिद्धांतों को सदैव आचारशास्त्र अथवा दर्शनशास्त्र के एक अंश के रूप में प्रतिपादित किया गया। उनके विचार व्यक्तिगत दृष्टिकोण, चिन्तन, कल्पना, आध्यात्मवादी सिद्धांतों से निःसृत हुए हैं। प्लेटो ने आदर्श राज्य की कल्पना की और मध्य युग में राज्य की सत्ता के औचित्य के लिए राजाओं को पृथ्वी पर ईश्वर के अवतार के रूप में देखने की प्रवृत्ति प्रबल हुई। शाश्वत एवं उच्चस्तरीय तत्वों से सम्बद्ध होने के कारण प्राचीन दार्शनिकों की चिन्तन-प्रणाली तार्किक एवं निगमनात्मक है। पुरातन राजनीतिक सिद्धांत प्रायः बौद्धिक हैं और तर्क एवं निगमनात्मक निष्कर्षों पर आधारित हैं। उसके निष्कर्ष गणितीय परिमाण एवं तथ्य संग्रह, परिवेषणात्मक सत्यापन, सर्वेक्षण जैसी आधुनिक वैज्ञानिक, तकनीकी विधियों पर आश्रित नहीं है। पुरातन राजनीतिशास्त्री राजनीति को नैतिक, न्यायशास्त्रीय तथा कानूनी पहलुओं से ही देख पाए। उनके शोध तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक रही हैं। उनके अनुसंधान के मुख्य विषय **राज्य सरकार** और **राजनीतिक संस्थाएँ** रही हैं।

राजनीति विज्ञान की परम्परावादी परिभाषाओं को देखने से ज्ञात होता है कि राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार के ढाँचे का अध्ययन करने वाला विषय मात्र है। गार्नर ब्लंश्ली, गेरेज, एक्टन आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को **राज्य** से संबंधित विज्ञान माना है। **गार्नर** के शब्दों में, "राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ व अन्त राज्य से ही होता है।" **ब्लंश्ली** के शब्दों में, "राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसका संबंध राज्य से है और जो उसकी परम आवश्यक प्रकृति, आधारभूत स्थिति तथा विविध स्वरूप एवं विकास को समझने का प्रयास करता है।" **गेरेज** के अनुसार, "राजनीति विज्ञान राज्य के उद्भव, विकास, उद्देश्य तथा समस्त राजकीय समस्याओं का उल्लेख करता है।" **एक्टन** के शब्दों में, "राजनीति विज्ञान राज्य तथा उसके विकास के लिए अनिवार्य दशाओं से सम्बद्ध है।" **गुडनॉव** लिखते हैं कि, " यह विज्ञान उस

संगठन का अध्ययन करता है जिसे राज्य कहते हैं...यह राज्य की स्थिर और प्रगतिशील... दोनों अवस्थाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।"

कतिपय परम्परावादी राजनीतिशास्त्री राजनीति विज्ञान में **राज्य** के स्थान पर **सरकार** के अध्ययन पर जोर देते हैं। उनके अनुसार राज्य तो केवल एक अमूर्त इकाई है उसका बोध वस्तुत: सरकार के माध्यम से ही होता है। जॉन सीले, लीकॉक आदि विद्वान यह मानते हैं कि सरकार के अध्ययन में राज्य का अध्ययन अन्तर्निहित है। **जेम्स** के अनुसार, "राजनीति विज्ञान सरकार से संबंधित विधा है। **सीले** के शब्दों में, "राजनीति विज्ञान के अंतर्गत शासन-व्यवस्था का उसी प्रकार अनुशीलन किया जाता है जिस प्रकार अर्थशास्त्र में धन का, प्राणीशास्त्र में जीवन का, बीज गणित में अंकों का एवं रेखा गणित में स्थान तथा दूरी का।"

संक्षेप में, परम्परावादी विद्वान राजनीति विज्ञान को राज्य तथा सरकार का अध्ययन करने वाला विषय मानते हैं। राज्य के बिना सरकार की कल्पना ही नहीं की जा सकती क्योंकि सरकार राज्य द्वारा प्रदत्त प्रभुत्व शक्ति का ही प्रयोग करती है। सरकार के बिना राज्य एक अमूर्त कल्पना मात्र है। पॉल जेनेट, गिल क्राइस्ट, गेटेल आदि विद्वान राजनीति विज्ञान को राज्य तथा सरकार दोनों का अध्ययन करने वाला विषय बतलाते हैं। **पॉल जेनेट** के अनुसार, " राजनीति विज्ञान समाज विज्ञानों का वह अंग है जिसमें राज्य के आधार पर सरकार के सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है।" **गिल क्राइस्ट** के शब्दों में, "राजनीति शास्त्र वस्तुत: राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।"

इस प्रकार परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययन पर **दर्शन, इतिहास** तथा **विधि-शास्त्र** का आधिपत्य था। यह राजनीतिक संस्थाओं के संस्थागत ढांचे के अध्ययन पर जोर देता है। पारम्परिक राजनीति विज्ञान का संबंध केवल ऐसे सिद्धांतों पर था जिन्हें राजनीतिक तथ्यों का परीक्षण किये बिना निकाला गया था। अत: यह राजनीति विज्ञान जैसे विषय को राज्य और सरकार के संकुचित दायरे में ही प्रस्तुत कर पाया।

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र : परम्परागत दृष्टिकोण

(Scope of Political Science : Traditional Perspective)

राजनीति विज्ञान के अध्ययन की विषयवस्तु राज्य है। किन्तु यह प्रश्न उपस्थित होता है कि राज्य के वे कौन से पहलू हैं जिनका विवेचन राजनीति विज्ञान द्वारा किया जाता है, अर्थात इसका क्षेत्र क्या है ?

राजनीति विज्ञान के परम्परावादी विद्वान **गार्नर** ने इसके क्षेत्र की विवेचना करते हुए लिखा है कि, " इसकी मौलिक समस्याओं में साधारणत: **प्रथम,** राज्य की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना; **द्वितीय,** राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति, उनका विकास एवं उनके विविध स्वरूपों का अध्ययन; तथा **तृतीय,** जहाँ तक संभव हो सके, इनके आधार पर राजनीतिक प्रकृति और विकास के नियमों का निर्धारण करना है।" अत: राजनीति विज्ञान राज्य के सैद्धांतिक एवं संगठन से संबंधित प्रश्नों का विवेचन करता है। राज्य क्या है, उसका विकास कैसे और क्यों हुआ, इसका आधार क्या है, इसका कार्यक्षेत्र क्या है, इसकी सत्ता का क्या स्वरूप है, इस सत्ता का राज्य के निवासितों से क्या संबंध है, इसकी आज्ञाओं का पालन क्यों किया जाता है, इत्यादि ऐसे महत्वपूर्ण सैद्धांतिक प्रश्न हैं जिनकी खोज राजनीति विज्ञान करता है।

गुडनॉव ने राजनीति विज्ञान का संबंध तीन बातों से जोड़ा है- **प्रथम,** राज्य की इच्छा का निर्माण; **द्वितीय,** राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति और **तृतीय,** राज्य की इच्छा की कार्यान्विति।

फेडरिक पोलक ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को दो खण्डों में विभाजित किया है- प्रथम, सैद्धांतिक राजनीति तथा द्वितीय, व्यावहारिक राजनीति। **सैद्धांतिक राजनीति** में राज्य की आधारभूत समस्याओं का अध्ययन किया जाता है और **व्यावहारिक राजनीति** में राज्य के क्रियात्मक स्वरूप तथा निरन्तर परिवर्तनशील सरकारों के वास्तविक क्रियाकलापों की विवेचना की जाती है।

विलोबी के अनुसार राजनीति विज्ञान तीन महत्वपूर्ण विषयों का अध्ययन करता है - राज्य, शासन तथा विधि। **सिजविक** ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को दो भागों में बांटा है- **पहला,** राज्य के संगठन से संबंधित तथा **दूसरा,** राज्य के कार्यों से संबंधित।

राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र क्या हो, इस प्रश्न का अध्ययन करने के लिए 1948 में यूनेस्को (UNESCO) के तत्वावधान में राजनीति शास्त्रियों का एक सम्मेलन पेरिस में आयोजित किया गया तथा उसमें यह निर्णय लिया गया कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय समाविष्ट किये जाने चाहिए-

(1) **राजनीतिक सिद्धांत** - राजनीतिक विचारों का इतिहास तथा राजनीतिक सिद्धांत।

(2) **राजनीतिक संस्थाएँ** - संविधान, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय एवं स्थानीय सरकारें, लोक प्रशासन, सरकार के सामाजिक तथा आर्थिक कार्य तथा तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएँ।

(3) **दल, समूह तथा जनमत** - दल-प्रणाली, दबाव तथा हित समूह, जनमत तथा शासन में जनता की भागीदारी।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय संबंध** - अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और प्रशासन।

इस प्रकार परम्परागत राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार का सांगोपांग, उसके अंग उपअंगों का अध्ययन करता है। राज्य एवं सरकार के अतिरिक्त उसकी कोई अन्य रुचि नहीं है अत: राजनीति विज्ञान का आदि और अन्त राज्य ही है।

परम्परावादी राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ

(Characteristics of Traditional Political Science)

परम्परावादी राजनीति विज्ञान कल्पनात्मक होने के साथ-साथ मानकात्मक है। सिबली के अनुसार परम्परागत राजनीति विज्ञान का विशेष रूप हमें प्लेटो की रचनाओं में देखने को मिलता है। रिपब्लिक में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित 'आदर्श राज्य' की अवधारणा परम्परागत राजनीति विज्ञान का श्रेष्ठतम नमूना है। रोमन विचारक सिसरों और मध्ययुग में संत आगस्टाइन के चिन्तन में परम्परागत राजनीति विज्ञान की स्पष्ट झलक मिलती है। आधुनिक युग में परम्परागत राजनीति विज्ञान के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। यहाँ हम रूसो, कांट, हीगल, टी.एच. ग्रीन, बोसांके, लास्की, ओकशॉट, लियो स्ट्रोस इत्यादि की रचनाओं में प्लेटो के विचारों की झलक देख सकते हैं।

प्लेटो एक ऐसे आदर्श राज्य की रचना करना चाहता था जो पूर्णरूपेण आदर्श मॉडल हो। प्लेटो का आदर्श राज्य एक यूटोपिया (कल्पना) था। सिसरो का दर्शन न्याय और प्राकृतिक कानून की अमूर्त अवधारणा पर आधारित था। मध्ययुगीन चिन्तकों ने एक ऐसी व्यवस्था का विकास करने के संबंध में सोचा जिसके अन्तर्गत पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की स्थापना की जा सके। संत ऑगस्टाइन ने 'दि सिटी ऑफ गॉड' की चर्चा करते हुए कहा कि सांसारिक नगर शैतान से प्रशासित है जबकि ईश्वरीय नगर ईश्वर द्वारा संचालित है। संत टॉमस एक्विनाज़ ने चर्च को सामाजिक संगठन का मुकुट माना और इस प्रकार उसे राज्य से ऊंचा स्थान प्रदान किया। काण्ट ने विविध कानूनों को नैतिक कानूनों का अंग बताया और हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार कहा। जहाँ हीगल ने विश्व के मूल में **विश्वात्मा** को माना वहाँ ग्रीन ने इसे '**शाश्वत चैतन्य**' का नाम दिया। हेरल्ड जे. लास्की ने 'ए ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' में अपने विचारों में ऐसी समस्याओं का उल्लेख किया कि राज्य को क्या करना चाहिए।

परम्परागत राजनीति विज्ञान कल्पना और दर्शन पर आधारित है। यह अपने प्रतिपादक राजनीति दार्शनिकों एवं चिन्तकों के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोणों से प्रभावित रहा है। अधिकांश दार्शनिक विचारक आचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने मानवीय जीवन तथा सामाजिक लक्ष्यों तथा मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए हम यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार, मध्ययुग के ईसाई संत दार्शनिकों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का विचार तथा आदर्शवादियों के विवेक से साक्षात्कार के विचार को ले सकते हैं। इन विद्वानों के विचारों को परानुभववादी (Trans-Empirical) कहा गया है। उनके विचार व्यक्तिपरक और उनकी चिन्तन प्रणाली निगमानात्मक है। परम्परागत राजनीति विज्ञान की निम्नांकित विशेषताएँ हैं:

(1) **कल्पनात्मक और आदर्शी** - परम्परागत राजनीति विज्ञान में राजनीतिक व्यवस्थाओं के बारे में कोई कल्पना मस्तिष्क में कर ली जाती है और फिर उस कल्पना को रचनात्मक रूप दिया जाता है।

उदाहरणार्थ, प्लेटो ने दार्शनिक राजा की कल्पना की और फिर उस कल्पित आदर्श के आधार पर आदर्श राज्य की संरचना की। इस प्रकार की चिन्तन शैली आदर्शी सिद्धांत के निर्माण में सहायक होती है और इसका जीवन के ठोस तत्वों से विशेष संबंध नहीं होता।

(2) **अपरिष्कृत परम्परागत पद्धतियाँ** - परम्परागत राजनीति विज्ञान अध्ययन पद्धति की दृष्टि से इतिहासवादी, दर्शन-प्रधान और वर्णनात्मक रहा है। परम्परागत राजनीति विज्ञान लम्बे समय तक इतिहास की चार दीवारी में ही फला-फूला और ऐतिहासिक संकल्पनाओं के इर्द-गिर्द ही अपनी अध्ययन सामग्री को संजोता रहा। राजनीतिक चिन्तकों ने राज्य, कानून, प्रभुसत्ता, अधिकार, न्याय आदि संकल्पनाओं के विवेचन में ही राजनीति विज्ञान को परिसीमित कर दिया।

(3) **नैतिकता और राजनीतिक मूल्यों पर विशेष बल** - परम्परागत राजनीति विज्ञान उपदेशात्मक है और नैतिकता और राजनीतिक मूल्यों पर विशेष बल देता है। इसका मुख्य सरोकार है- 'क्या होना चाहिए' और इसका कार्य है नैतिक निर्णय देना। यह राजनीति-शास्त्र से घनिष्ठ संबंध मानता है इसलिए इसके अनुसार, "राजनीति आचारशास्त्र का परमादेश मात्र है।"

(4) **राज्य एक नैतिक संस्था है** - परम्परागत राजनीति विज्ञान राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है। यह राज्य को उच्चतम जीवन का साधन स्वीकार करता है। **अरस्तू** के अनुसार " राज्य का अस्तित्व सद्जीवन के लिए नहीं।" रूसो के अनुसार सब नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्य हित हो, सामान्य इच्छा है और सामान्य इच्छा ही राज्य है।

(5) **कानूनी-औपचारिक-संस्थागत अध्ययन पर बल** - परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययन का बिम्ब राजनीतिक एवं सरकारी संस्थाओं का ही रहा तथा इनका अध्ययन भी कानूनी-औपचारिक और संस्थागत था। जहाँ लिखित संविधान थे वहाँ संविधान में तथा जहाँ लिखित संविधान नहीं थे वहाँ कानूनों के द्वारा शासन-व्यवस्था का क्या रूप रखा गया है, केवल उक्त बात को विस्तृत रूप में दर्शाना, इस परिप्रेक्ष्य के अध्ययनों का उद्देश्य रहा है। इनके समक्ष यह उद्देश्य नहीं था कि संविधान द्वारा निरूपित शासन व्यवस्थाएँ व्यवहार में कैसे कार्य करती हैं ? डायसी, मुनरो, ऑग एवं जिंक ने अपने अध्ययन केवल औपचारिक- संस्थागत व्यवस्थाओं के विवेचन तक ही सीमित रखे हैं।

(6) **प्रधानतः संकुचित अध्ययन** - परम्परागत राजनीति विज्ञान के लेखकों की विशेषता रही है कि इनके अध्ययन प्रमुखतया पाश्चात्य राज्यों की शासन व्यवस्था की संकीर्ण परिधि में बंधे रहे। इनके अध्ययन मुख्यतया यूरोप और अमेरिका तक ही सीमित रहे। इन्होंने साम्यवादी जगत और तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। पाश्चात्य राज्यों की परिधि में रहते हुए इन लेखकों ने केवल लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं को ही अध्ययन का बिन्दु बनाया। **एक्सटिन तथा ऐप्टर** के शब्दों में, "परम्परागत दृष्टिकोण पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं तक सीमित रहा और प्रमुखतया एक संस्कृति संरूपण या समूह का ही इसमें अध्ययन किया गया।"

संक्षेप में परम्परागत राजनीति विज्ञान कल्पना और दर्शन पर आधारित है। पुरातन राजनीति शास्त्रियों के अनुसंधान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक रहीं। इनका साहित्य पुस्तकालयों में बैठ कर लिखा गया। उनके निष्कर्ष तर्क पर आधारित हैं। वे शासन प्रणालियों के औपचारिक, कानूनी तथा संस्थात्मक अध्ययन पर बल देते हैं। अमूर्त, निगमनात्मक काल्पनिक और इस नाते अवैज्ञानिक होने के नाम पर परम्परागत राजनीति विज्ञान की आलोचना की जाती है।

राजनीति विज्ञान : परम्परावाद से आधुनिकता की ओर
(Political Science : From Traditionalism to Modernity)

19वीं शताब्दी के अंतिम दशक और 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में पराम्परागत राजनीति विज्ञान संस्थात्मक-विधिवादी परम्परा को छोड़कर सामाजिक-राजनीतिक जीवन के विषय में एक नई दृष्टि अपनाता है। इस नई दृष्टि के अनुसार हम समाज तथा सामाजिक समूहों को एक प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। इस नई दृष्टि ने राजनीति के अध्येयताओं को कानूनी-सांविधानिक-संस्थागत सत्ता के पीछे **वास्तविक या यथार्थ** शक्ति की खोज करने को प्रोत्साहित किया। जिन राजनीति वैज्ञानिकों ने इस दिशा में पहल की उनमें इंग्लैंड के वाल्टर बेजहॉट, अमेरिका के वुडरो विल्सन तथा लार्ड ब्राइस प्रमुख हैं। **बेजहॉट** की

कृति 'इंगलिश कांस्टीट्यूशन'(1867) संस्थागत-विधिवादी दृष्टिकोण के खिलाफ एक चुनौती है। संस्थागत-विधिवादी दृष्टिकोण के अनुसार यह माना जाता था कि इंगलैंड में राजा, कामन्स तथा लार्डस के बीच सर्वोच्च सत्ता समान रूप से विभाजित है। बेजहॉट के अनुसार यह इंगलैंड के शासन विधान का कोरा साहित्यिक अध्ययन है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि संविधान के जीवित यथार्थ पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उनके अनुसार राजा और लार्डस इंगलैंड की राजनीतिक संरचना का सजावटी भाग है जबकि राजनीतिक तन्त्र की वास्तविक शक्ति केबिनेट और कामन्स में निहित है जिसकी शक्ति का स्त्रोत मध्यम वर्ग है। बेजहॉट ने कहा कि शक्ति की स्थिति खोजने के लिए सरकारी अंगों का तो अध्ययन करना ही चाहिए पर शोधकर्त्ता को सरकार के ढाँचे के बाहर उन सामाजिक शक्तियों और समूहों का भी अध्ययन करना चाहिए जो औपचारिक-कानूनी ढाँचे पर सफल प्रभाव डालते हैं। बेजहॉट से ही प्रेरणा लेकर अमरीका में **वुडरो विल्सन** ने अपनी कृति 'काँग्रेसनल गवर्नमेंट' (1885) में यह प्रतिपादित किया कि सत्ता काँग्रेस की समितियों में है। उसने यह भी स्वीकार किया कि काँग्रेस की समितियों पर अनेक प्रकार के सामाजिक दबाव हैं, इसीलिए उसने यह कहा कि शोधकर्त्ता को काँग्रेस के सदस्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा, लॉबीज और सरकार के अन्तर्सम्बन्ध, राजनीतिक दल, दबाव-समूह आदि का भी अध्ययन करना चाहिए। **जेम्स ब्राइस** ने अपनी कृति 'अमेरिकन कामनवेल्थ' (1988) में लिखा था कि "उसकी कृति में उसका उद्देश्य अमरीका की संस्थाओं और उसकी जनता को बिलकुल वैसा ही चित्रित करना है जैसे वे हैं- ।" ब्राइस ने अपनी कृति के प्रारम्भ में लिखा था कि किसी राज्य की शक्ति-संरचना के अध्ययन में तीन तत्वों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है- **प्रथम,** उस राज्य का औपचारिक ढाँचा और सांविधानिक तन्त्र; द्वितीय, उसका व्यवहार में किस प्रकार क्रियान्वयन होता है और तीसरी बात जो नई दृष्टि प्रदान करती है, वह यह कि ऊपरी ढाँचे और औपचारिक तंत्र के बाहर कौन से ऐसे तत्व हैं जो उस औपचारिक ढाँचे को क्रियाशील एवं प्रभावित करते हैं। अपनी कृति के तीसरे भाग में ब्राइस राजनीतिक दलों और उनकी भूमिका का अध्ययन करता है। उसने राजनीतिक दल की संरचना, दल की नौकरशाही आदि का तो गहन अध्ययन किया ही, पर साथ ही साथ उन सामाजिक परिस्थितियों का भी अध्ययन किया जिनका प्रभाव उन मनुष्यों के स्वभाव और प्रकृति पर पड़ता है, जो राजनीतिक दलों का सक्रिय नेतृत्व करते हैं। बेजहॉट, वुडरो विल्सन और लार्ड ब्राइस की रचनायें राजनीति विज्ञान को यथार्थवाद की तरफ ले जाने वाले प्रारंभिक प्रयास थे। यथार्थवाद के इस प्रारंभिक चरण में राजनीति विज्ञान संस्थात्मक-विधिवादी परम्परा से पूर्ण मुक्ति नहीं पा सका।

द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका तथा पश्चिमी जगत में राजनीति विज्ञान की समग्र धारणा में ही क्रांतिकारी परिवर्तन आया। प्रो. चार्ल्स ई. मेरियम ने अपनी कृति 'न्यू आसपेक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स' (New Aspects of Politics) में संकेत कर दिया था कि राजनीति के अध्येयता को एक नवीन मार्ग का अवलम्बन करना पड़ेगा क्योंकि "राजनीतिक सिद्धांत ऐसी शक्तियों के सम्पर्क में आ गया है कि कालान्तर में वे इसकी प्रकृति को मूलत: संशोधित कर देंगी।"

आधुनिक राजनीति विज्ञान के निर्माण में अमरीकी राजनीति वैज्ञानिकों का विशेष योगदान रहा है। यहाँ बड़ी संख्या में राजनीति वैज्ञानिकों ने जीव-विज्ञान और मानव-विज्ञान में हुई प्रगति से प्रेरणा लेते हुए यह महसूस किया कि मनुष्य के बारे में अन्य समाज विज्ञानों में भी अध्ययन किया जाता है, इसलिए विशेषकर मनोविज्ञान, जैसे विषयों में तैयार किए गए अनुसंधान के तरीकों से राजनीति भी लाभान्वित हो सकते हैं।

ऐसा माना जाता है कि 1905 में 'अमरीकन पॉलिटिकल साइंस एसोसिएशन' की स्थापना के साथ और उसके द्वारा राजनीतिक संस्थाओं के संबंध में तथ्यों के संग्रह, संयोजन और वर्गीकरण को दी जाने वाली प्रेरणा के परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान ने अपने विकास के आधुनिक युग में प्रवेश किया। 1908 में 'अमरीकी पॉलिटिकल साइंस ऐसोसिएशन' में दिये गये अध्यक्षीय भाषण में लार्ड ब्राइस के इस आह्वान ने राजनीति वैज्ञानिकों की नई पीढ़ी को प्रेरणा दी कि उनका संबंध 'तथ्यों' और केवल 'तथ्यों' से होना चाहिए। अन्य अग्रणी राजनीतिक वैज्ञानिकों में आर्थर बेन्टले, चार्ल्स ए. बियर्ड, ए.एल. लॉवेल जैसे विद्वानों ने 'आदर्श लोक' की रचना करने वाले यूटोपियन सिद्धांतशास्त्रियों की आलोचना करते हुए राजनीति विज्ञान में पूर्ण निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए सांख्यिकीय तकनीकों के अधिकाधिक प्रयोग करने पर

बल दिया। 1920 के बाद शिकागो विश्वविद्यालय के चार्ल्स मेरियम व्यवहारवादी राजनीतिक सिद्धांत के मुख्य प्रवक्ता के रूप में हमारे सामने आये। व्यवहारवादी परम्परा के प्रमुख प्रतिपादक के रूप में उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, भूगोल, मानव-विज्ञान, जीव विज्ञान और सांख्यिकी की विधियों व निष्कर्षों की ओर आधिकाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। 1925 में 'अमरीकी पॉलीटिकल साइंस एसोसिएशन' के सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक तकनीक और वैज्ञानिक पद्धति का विकास किया जाना चाहिए। मेरियम की तरह हेराल्ड गोसनेल ने मतदान के आंकड़ों के इस्तेमाल में सांख्यिकी व व्यवहारवादी तकनीकों का प्रयोग किया।मेरियम के शिष्य हेराल्ड लासवेल ने 1930 में अपनी कृति 'Psychopathology and Politics' में राजनीति को फ्रायड के मनोविज्ञान के आधार वाक्यों से संबंधित किया। इस प्रकार मेरियम, गोसनेल और लासवेल जैसे शिकागो विश्वविद्यालय के आचार्यों के योगदान से एक नवीन प्रकार का राजनीति विज्ञान अस्तित्व में आया जिसे 'शिकागो स्कूल' के नाम से जाना जाता है। शिकागो के राजनीति वैज्ञानिकों ने दार्शनिक, ऐतिहासिक और सांस्थानिक दृष्टिकोणों से अपना संबंध तोड़ते हुये राजनीतिक प्राणी के रूप में मनुष्य के प्रेक्षात्मक आचरण (व्यवहार) पर सारा बल दिया। उन्होंने मानव व्यवहार एवं समूहों के अध्ययन पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया जिसमें **'व्यवहारवाद'** को अपना स्वाभाविक आरंभ बिन्दु प्राप्त हुआ।

1930 तक व्यवहारवादी राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में 'शिकागो स्कूल' अपना स्थान बना चुका था। आगे चलकर मेरियम, गोसनेल और लासवेल के अलावा डेविड ईस्टन, स्टुअर्ट राइस, राबर्ट ए.डहल और वी.ओ. के. जूनियर जैसे लोग अपनी कृतियों के साथ आगे आये। राजनीति विज्ञान के इन विद्वानों ने परम्परागत राजनीतिक विज्ञान पर करारा प्रहार किया। राजनीति विज्ञान के परम्परागत दृष्टिकोणों से अपना संबंध विच्छेद करते हुए इन्होंने मानव और राजनीति के बारे में अपने सामान्यीकरण को विस्तृत व्यावहारिक साक्ष्य पर आधारित करने का प्रयास किया। व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान का मुख्य जोर आंकड़ों एवं सांख्यिकी के आधार पर राजनीतिक आदर्शों और संस्थाओं पर बल देने के बजाय व्यक्तियों और सामूहिक व्यवहार के अध्ययन पर अधिक बल देना था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद से लेकर आज तक राजनीति विज्ञान के विकास की यात्रा को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला भाग 1945 से 1970 तक राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारवाद की प्रमुखता का युग है जिसमें राजनीतिक सिद्धांत के मूल्यों और मानकों के साथ राजनीति को जोड़ने के परम्परागत तरीके को तिलांजली दे दी। दूसरा युग 1970 से प्रारंभ होता है जिसमें राजनीति वैज्ञानिकों ने व्यवहारवादी राजनीतिक सिद्धांत की अपर्याप्तता का आभास कर लिया और कुछ सीमा तक मानकों व मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा के विचार को स्वीकार कर लिया। इन दोनों युगों को **व्यवहारवाद** और **उत्तर-व्यवहारवाद** के नाम से जाना जाता है।

राजनीति विज्ञान की आधुनिक परिभाषाएँ
(Contemporary Definitions of Political Science)

आधुनिक विद्वान ऐसी सभी परिभाषाओं को जो राज्य और सरकार दोनों को राजनीति विज्ञान का केन्द्र बिन्दु बताती हैं, अपर्याप्त समझते हैं। ये परिभाषाएँ एक पुराने दृष्टिकोण की प्रतीक हैं, जिसमें शासन की औपचारिक रचना और उसकी कार्यप्रणाली के अध्ययन पर बल दिया जाता रहा है। इससे राजनीति विज्ञान का अध्ययन औपचारिक बन कर रह गया और उन गत्यात्मक राजनीतिक शक्तियों के समुचित अध्ययन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया जो सरकार की निर्णय प्रक्रिया पर अपना प्रभाव डालती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राजनीति विज्ञान के अध्ययन में व्यापक परिवर्तन हुए, जिसका श्रेय अमरीकी राजनीति वैज्ञानिकों को दिया जा सकता है। शिकागो विश्वविद्यालय के आचार्यों ने राजनीति विज्ञान को ज्यादा से ज्यादा विज्ञान सम्मत बनाने का बीड़ा उठाया। चार्ल्स मेरियम के नेतृत्व में राज वैज्ञानिकों के एक समूह ने राजनीति विज्ञान को समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, सांख्यिकीय, अर्थशास्त्र एवं मानवशास्त्र जैसे मानव विज्ञानों के निकट लाने का प्रयत्न किया। इससे राजनीति विज्ञान में तार्किक अनुभववाद, तथ्यात्मकता, व्यवहारवाद तथा समाजशास्त्रीय पद्धतियों का प्रयोग हुआ। आधुनिक राजनीति

विज्ञान की प्रेरणा का दूसरा स्त्रोत मनोविज्ञान है। प्रो. रेनिस लिकर्ट, कुर्त्त लेबिन, प्रो. लजार्सफेल्ड के प्रयासों के फलस्वरूप नवीन राजनीति विज्ञान में मनोविज्ञान की शोध तकनीकों का ज्यादा से ज्यादा प्रयोग होने लगा।

राजनीति विज्ञान की आधुनिक परिभाषाओं के संदर्भ में इसका अध्ययन निम्नांकित रूप से किया जा सकता है-

(1) **राजनीति विज्ञान मानवीय क्रियाओं का अध्ययन है** - आधुनिक व्यवहारवादी विद्वान राजनीति विज्ञान को मूलत: मनुष्य के राजनीतिक जीवन और क्रियाकलापों का तथा इसके संदर्भ में मानव जीवन के सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य पक्षों का अध्ययन करने वाला विज्ञान मानते हैं। **केटलिन** के अनुसार राजनीति विज्ञान संगठित मानव समाज से संबंधित है। **ब्रट्रैण्ड डी. जूविनेल** के शब्दों में, "हमारा विषय उन राजनीतिक संबंधों का अध्ययन करता है जो मिल-जुल कर रहने वाले व्यक्तियों के बीच स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं।" व्यवहारवादी विचारकों का कहना है कि राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जो मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है।

(2) **राजनीति विज्ञान-शक्ति का अध्ययन है** - आधुनिक राजनीति वैज्ञानिक शक्ति को राजनीति विज्ञान की केन्द्रीय संकल्पना मानते हैं। चार्ल्स मेरियम, हेरल्ड लासवेल, कैटलिन, मैक्स वेबर, मार्गेन्थाऊ आदि मानते हैं कि शक्ति एक ऐसी बुनियादी अवधारणा है जो राजनीति विज्ञान के समस्त घटकों को एकसूत्र में पिरो देती है। लासवेल के अनुसार शक्ति का सिद्धांत संपूर्ण राजनीति विज्ञान में एक बुनियादी सिद्धांत है। संपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया शक्ति के वितरण, प्रयोग एवं प्रभावक का अध्ययन है। राजनीति से अभिप्राय सत्ता संघर्ष अथवा सत्ताधारियों को प्रभावित करना है। बेकर ने राजनीति को शक्ति से अपृथक्करणीय कहा है। कैटलिन ने राजनीति को शक्ति का विज्ञान माना है। गिल्ड तथा पामर यह मानते हैं कि राजनीति शक्ति एवं सत्ता के संबंधों के रूप में सबसे अच्छी प्रकार समझी जा सकती है। हवाटकिन्स के अनुसार राजनीति विज्ञान केवल राज्य या विशिष्ट संस्थाओं मात्र का ही अध्ययन नहीं है अपितु शक्ति की समस्या के **अन्तर्ग्रस्त सभी समुदायों की गवेषणा है।**

(3) **राजनीति विज्ञान-राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन - डेविड इस्टन** तथा **आमण्ड** जैसे आधुनिक राजनीतिशास्त्री राजनीति विज्ञान को **"राजनीतिक व्यवस्था "** का अध्ययन मानते हैं। राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा राज्य, सरकार और संविधान की अवधारणा से व्यापक है। राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य और सरकार की औपचारिक संरचनाओं के साथ-साथ उसको प्रभावित करने वाले अनौपचारिक तत्वों के अध्ययन को भी शामिल कर लिया जाता है। **ईस्टन** ने राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा करते हुए लिखा है, "किसी समाज में पारस्परिक क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था को, जिससे उस समाज में बाध्यकारी या अधिकारपूर्ण नीति निर्धारण होते हैं, राजनीतिक व्यवस्था कहा जाता है।" **आमण्ड-पॉवेल** के अनुसार "राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थापिका, न्यायालय और प्रशासनिक एजेन्सियाँ जैसी सरकारी संरचनाएँ ही सम्मिलित नहीं हैं, वरन् सभी संरचनाएँ अपने राजनीतिक पहलू की दृष्टि से सम्मिलित हैं। इसमें रक्त संबंध और जाति समूह जैसी परम्परागत संरचनाएँ हैं और हत्या, दंगे, उपद्रव एवं प्रदर्शन जैसे अव्यवस्थित तत्व हैं। इसमें बल, दबावगुट तथा संचार साधन जैसे प्रचारक संगठन भी शामिल हैं। राजनीतिक व्यवस्था की धारणा में यह बात शामिल है कि ये सभी संरचनाएँ परस्पर संबंधित हैं अर्थात् यदि एक तत्व में परिवर्तन होता है तो उसका अन्य तत्वों पर अनिवार्यत: प्रभाव पड़ेगा।"

डेविड ईस्टन और अमाण्ड जैसे आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों के अनुसार राजनीति विज्ञान संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन है। 'राज्य' और 'शासन' शब्दों में जहाँ राजनीतिक जीवन के औपचारिक वैधानिक अध्ययन पर बल दिया जाता है वहाँ राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा के अन्तर्गत इस औपचारिक-वैधानिक अध्ययन की तह में जाकर राजनीति के यथार्थ का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है।

(4) **राजनीति विज्ञान-निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन** - कतिपय आधुनिक विद्वान राजनीति विज्ञान को निर्णय-निर्माण तथा निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन करने वाला विज्ञान बतलाते हैं। यदि राजनीति विज्ञान सरकार का अध्ययन है और सरकार का मुख्य कार्य निर्णय निर्माण है तो राजनीति विज्ञान को निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा जा सकता है। विगत कुछ वर्षों से राजनीति विज्ञान में

निर्णय निर्माण का सिद्धांत काफी लोकप्रिय हुआ है। **हर्बर्ट साइमन** जैसे विचारक राजनीति विज्ञान को निर्णय-निर्माण का विज्ञान मानते हैं।

लासवेल राजनीति विज्ञान को मूलत: "नीति विज्ञान" (Policy Science) मानता है- जिसमें "स्पष्ट उद्देश्यों के लिए ज्ञान का संग्रह किया जाता है और उसे उन विकल्पों के साथ पूर्ण रूप से जोड़ दिया जाता है जो इतिहास की प्रकट होने वाली प्रक्रियाओं में अधिक से अधिक सम्भाव्य है।"

परम्परावादी तथा आधुनिक परिभाषाएँ : तुलनात्मक विवेचन
(Traditional and Modern Definitions : Comparative Analysis)

राजनीति विज्ञान की परम्परावादी व आधुनिक परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर निम्नलिखित तथ्य उभरकर सामने आते हैं :-

1. परम्परावादी परिभाषाएँ संकुचित परिप्रेक्ष्य में राजनीति विज्ञान का अर्थ प्रतिपादित करती हैं।	आधुनिक परिभाषाएँ राजनीति विज्ञान विषय का प्रतिपादन विस्तृत परिप्रेक्ष्य में करती हैं।
2. परम्परावादी परिभाषाएँ राजनीति विज्ञान को राज्य तथा सरकार जैसी औपचारिक संस्थाओं का अध्ययन कराने वाला विषय बतलाती हैं।	आधुनिक परिभाषाएँ राजनीति विज्ञान को औपचारिक संस्थाओं के साथ-साथ अनौपचारिक तत्वों को भी अध्ययन करने वाला विषय बतलाती हैं।
3. परम्परावादी परिभाषाएँ राजनीति विज्ञान को राज्य और सरकार का अध्ययन मानती हैं।	आधुनिक परिभाषाएँ राजनीति विज्ञान को शक्ति, प्रभाव, राजनीतिक व्यवस्था तथा निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन बतलाती हैं।
4. परम्परावादी परिभाषाएँ राजनीतिक संरचना या ढाँचे (Structures) के अध्ययन पर जोर देती हैं।	आधुनिक परिभाषाएँ 'राजनीतिक प्रक्रिया' (Political Process) के अध्ययन पर बल देती हैं।
5. परम्परावादी परिभाषाएँ आदर्शों एवं मूल्यों के अध्ययन पर जोर देती हैं।	आधुनिक परिभाषाएँ 'तथ्यों' के अध्ययन पर बल देती हैं।
6. परम्परावादी परिभाषाएँ राजनीति विज्ञान के अध्ययन में दार्शनिक, ऐतिहासिक और कानूनी पद्धतियों के अध्ययन पर जोर देती हैं।	आधुनिक परिभाषाओं के अन्तर्गत अन्त: अनुशासनात्मक उपागम और नई अनुभवाश्रित पद्धतियों पर जोर दिया गया हैं।

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र : आधुनिक दृष्टिकोण
(Scope of Political Science : Contemporary Perspectives)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के संबंध में जिस नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ वह निश्चित रूप से अधिक व्यापक और यथार्थवादी है। **चार्ल्स हाइनेमन** के शब्दों में, "राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अब इतना व्यापक हो गया है कि उसमें संस्थात्मक संगठन, निर्णय-निर्माण और क्रियाशीलता की प्रक्रियाओं, नियंत्रण की राजनीति, नीतियों और कार्यों एवं विधिबद्ध प्रशासन के मानवीय वातावरण को भी शामिल किया जाने लगा है।"

आधुनिक राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ और अन्त अब राज्य में नहीं होता है। यह राज्य की सीमा को न तो स्वीकार करता है और न ही यह राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, आदर्शात्मक और कानूनी पद्धतियों के माध्यम से करना चाहता है। आधुनिक राजनीति शास्त्रियों के अनुसार इसके प्रतिपाद्य विषय हैं- राजनीतिक मनुष्य और उसका व्यवहार, समूह की भूमिका एवं उनका आचरण, प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, विचारधारा, मूल्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, सैन्य-विज्ञान आदि।

आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान को एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान करने की चेष्टा ो गयी है जिसमें राज्य को ही नहीं वरन् समाज को भी सम्मिलित किया जा सके। यह समाजपरक ष्टिकोण है जिसकी मान्यता यह है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन के संदर्भ में ा उचित रूप में समझा जा सकता है और राजनीतिक अध्ययन में 'अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण' ो अपनाया जाना चाहिए। औपचारिक और न्यायिक संरचनाओं पर पहले जो जोर दिया जा रहा था ासका स्थान अब प्रक्रियाओं को समझने की प्रवृत्ति ने ले लिया था। गैर-सरकारी संगठनों की कार्यवाहियों ौर सरकारी कार्यवाहियों पर उनकी प्रतिक्रिया के अध्ययन में अब बहुत अधिक दिलचस्पी ली जाने ागी थी। राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अब राजनीति दर्शन की विवेचना और संस्थाओं के विवरण तक ही ीमित नहीं रह गया था। संस्थाओं और संगठनों के अध्ययन में भी आनुभविक शोध की प्रविधियों को काम में लेने की प्रवृत्ति अब बढ़ती जा रही थी। शासन के संक्रियात्मक (Operational) और औपचारिक स्त्रोतों और अनुक्रमों के अध्ययन के साथ-साथ अब संस्थाओं के कार्यों पर भी शोध की जाने लगी थी। समकालीन राजनीतिक वैज्ञानिकों ने इस समस्या की खोज करनी आरम्भ कर दी थी कि समाज में शक्ति के वास्तविक केन्द्र कहाँ हैं, और उस शक्ति का प्रशासनों के द्वारा और प्रशासनों पर किस प्रकार प्रयोग किया जाता है। कुछ ने उन निर्धारक सांस्कृतिक तत्वों की जानकारी प्राप्त की जो प्रशासनों को प्रभावित करते हैं। अन्य विद्वानों ने प्रशासनों के संगठनात्मक पक्षों का इतनी अधिक गहराई के साथ अध्ययन किया जितना उनके पूर्वजों के द्वारा पहले कभी नहीं किया गया था। उन्होंने अब नीति-निर्माण के तत्वों का विश्लेषण, राजनीतिक नेतृत्व की प्रकृति और उसके प्रकार्यों के अध्ययन और विचारधारा और नेतृत्व के पारस्परिक संबंधों के बदलते हुए स्वरूपों पर अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया था।

सांख्यिकी और सांख्यिकी से संबंध रखने वाली प्रविधियों का प्रयोग करने की इच्छा और तत्परता अब राजनीति शास्त्रियों में दिखाई देने लगी। राजनीतिशास्त्रियों का मूल्यों के प्रति जो आग्रह था उसे अभी चुनौती नहीं दी जा रही थी, परन्तु उनके अध्ययन का आधार धीरे-धीरे ऐसे तथ्यों को अधिक महत्व देने की ओर झुकता जा रहा था जिनका उद्देश्य उन तथ्यों के पीछे जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं उन्हें समझने पर था। तथ्यों के वस्तुनिष्ठ अध्ययन के आधार पर अब वे वैज्ञानिक सामान्यीकरण की ओर बढ़ना चाहते थे। शोध के लिए अधिक प्रविधियों और उपकरणों की इस सारी तलाश के होते हुए भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि राजनीतिशास्त्र में वास्तविक प्रस्फोट व्यवहारवादियों के आगमन के साथ ही हुआ। ब्राइस और दूसरे लेखकों ने शोध के जिन उपकरणों को काम में लिया था, वे तुलनात्मक दृष्टि से अनगढ़ थे, यद्यपि उनमें से कुछ लेखकों ने विशेषकर स्वयं ब्राइस ने, उनके आधार पर जो यथार्थ निष्कर्ष निकाले थे, वे वास्तव में, वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धति से अधिक उनकी अन्तर्दृष्टि का फल थे। व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के युग में आधार सामग्री (data) के संकलन (collection), प्रक्रमण (processing) और विश्लेषण (analysis) के लिए जिन परिष्कृत और कठोर प्रविधियों का उपयोग किया गया वे अभी भी राजनीतिशास्त्रियों की पहुंच से बहुत दूर थीं। राजनीति विज्ञान की वर्तमान स्थिति के प्रति असंतोष इस कारण अनिवार्य हो गया था और जैसा **कर्क पैट्रिक** ने लिखा, "असंतोष ने क्षोभ को जन्म दिया और क्षोभ के परिणामस्वरूप क्षेत्र में परिवर्तन आया।" इस नये दृष्टिकोण को राजनीति विज्ञान के व्यवहारवादी उपागम में अभिव्यक्ति मिली।

आज राजनीति विज्ञान का स्वरूप और क्षेत्र तेजी से बदल रहा है। नयी अवधारणाएँ, पद्धतियाँ और तकनीकें विकसित की जा रही हैं। राजनीतिक संस्थाएँ अब विश्लेषण और शोध की मूल इकाई नहीं रह गयीं। अध्ययन का आधार राजनीतिक परिवेश में व्यक्ति के व्यवहार को माना जाने लगा है। कैटलिन जैसे कुछ विद्वान राजनीति विज्ञान को व्यवहारवादी विज्ञान मानने लगे हैं। आज राजनीति विज्ञान दर्शनशास्त्र से अपना सम्पर्क तोड़ कर अनेक सामाजिक विज्ञानों के अधिक नज़दीक आ गया है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान के अध्ययन की आधुनिक प्रवृत्तियों ने इस विषय के अध्ययन-क्षेत्र को और व्यापकता प्रदान की है और मानव जीवन के अराजनीतिक पक्षों तथा समूह आचरण के अध्ययन को इसके अध्ययन क्षेत्र में शामिल कर लिया गया है।

आधुनिक राजनीति विज्ञान की विशेषताएँ
(Characteristics of Contemporary Political Science)

आधुनिक राजनीति विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

(1) **वैज्ञानिकता** - आधुनिक राजनीतिशास्त्री अपने अध्ययन को अधिक वैज्ञानिक बनाना चाहते हैं। वे राजनीतिक घटनाओं एवं तथ्यों को वैज्ञानिकता की कसौटी पर कस कर उनकी जाँच करते हैं। वे प्राकृतिक विज्ञान एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों से अध्ययन की नई-नई तकनीकों को लेकर राजनीति विज्ञान में उनका प्रयोग करते हैं। व्यवहारवादियों ने शोधकर्ता को अपनी शोध पद्धतियों के संबंध में सतर्क और आलोचनात्मक बने रहने की दृष्टि से बहुचर विश्लेषण (Multivariate analysis), प्रतिदर्श सर्वेक्षण (Sample surveys), गणितीय प्रतिरूप (Mathematical models), अनुरूपण (Simulations) आदि परिष्कृत उपकरणों के प्रयोग का सुझाव दिया।

(2) **मूल्य मुक्त अध्ययन** - आधुनिक राजनीति विज्ञान मूल्य मुक्त अध्ययन पर जोर देता है। राजनीतिक विश्लेषण में यह मानवीय मूल्यों- जैसे नैतिकता, न्याय, स्वतंत्रता आदि को कोई स्थान नहीं देता। यह उन्हीं घटनाओं और तथ्यों को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाता है जिन्हें या तो देखा गया है या भविष्य में देखा जा सकता है।

(3) **अन्त: अनुशासनात्मक अध्ययनों पर बल** - आधुनिक राजनीति विज्ञान की प्रवृत्ति अन्त: अनुशासनात्मक अध्ययनों पर जोर देने की है। आधुनिक विद्वानों ने समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, आदि विषयों से बहुत कुछ लिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि राजनीति विज्ञान में ऐसा बहुत कुछ आ चुका है जिससे यह राजनीतिक समाजशास्त्र और राजनीतिक मनोविज्ञान जैसा प्रतीत होता है।

(4) **पूर्णतया नयी राजनीतिक शब्दावली का विकास** - आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिक पूर्णतया नयी शब्दावली एवं अवधारणाओं का प्रयोग करने लगे हैं। अब राजनीति विज्ञान का अध्ययन राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक सामाजीकरण जैसी नयी अवधारणाओं के परिप्रेक्ष में किया जाने लगा है। इन अवधारणाओं के स्पष्ट और निश्चित अर्थ होते हैं।

(5) **शोध एवं सिद्धांत में घनिष्ठ संबंध** - वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग द्वारा आधुनिक राजनीतिशास्त्री सामान्यीकरण, व्याख्या एवं सिद्धांतों के निर्माण में लगे रहते हैं। अब सिद्धांत निर्माण कठोर शोध प्रक्रियाओं पर आधारित हैं। शोध सिद्धांत अब एक-दूसरे के बिना निरर्थक माने जाते हैं। सिद्धांत की प्रक्रिया अब शोधोन्मुखी है। आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों का एकमात्र उद्देश्य राजनीति के सैद्धांतिक प्रतिमानों (Models) को विकसित करना है। इसी आधार पर ये राजनीतिक तथ्यों एवं घटनाओं के संबंध में खोज करते हैं एवं उनका विश्लेषण करते हैं।

(6) **यथार्थवादी-व्यवहारपरक अध्ययनों पर बल** - आधुनिक राज वैज्ञानिक यथार्थवादी और तथ्यपरक अध्ययनों पर बल देते हैं। ब्राइस के अनुसार अपनी पुस्तक अमेरिकन कॉमन वेल्थ की रचना में उनका उद्देश्य "अमेरिका की संस्थाओं और उसकी जनता को बिल्कुल वैसा ही चित्रित करना है जैसे वे हैं...।" इसी भावना को उन्होंने 1924 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज़' में इस प्रकार व्यक्त किया-"सबसे अधिक आवश्यक है तथ्य...तथ्य...तथ्य...।' अब राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने इस बात की खोज प्रारम्भ कर दी कि संविधान का स्वरूप चाहे जो भी हो समाज में शक्ति के वास्तविक स्त्रोत और केन्द्र कहाँ स्थित हैं, शासक वर्ग अपनी शक्तियों का प्रयोग किस रूप में कर रहा है और शासित वर्ग का राजनीतिक व्यवहार कैसा है ? पूर्व अध्ययन कानूनी एवं संस्थागत थे, अब उनका स्थान राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने की प्रवृत्ति ने ले लिया और राजनीतिक दल, दबाव गुट और मतदान व्यवहार आदि से संबंधित व्यापक अध्ययन किये जाने लगे। राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन की अपेक्षा अब व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार के विश्लेषण पर बल दिया जाने लगा।

परम्परावादी और आधुनिक राजनीति विज्ञान में अंतर
(Distinctions Between Traditional and Contemporary Political Science)

वस्तुत: परम्परागत राजनीति विज्ञान कल्पनात्मक है और इस नाते मानकात्मक है; आधुनिक राजनीति विज्ञान व्यवहारपरक है और इस नाते वैज्ञानिक है। **ऐन्ड्रयू हेकर** के शब्दों में, "परम्परागत राजनीति विज्ञान मुख्य रूप से मानकात्मक (Normative) है और इसीलिए इसका प्रतिपादक राजनीतिक दार्शनिक जैसा लगता है; आधुनिक राजनीतिक विज्ञान मुख्य तौर से व्यवहारपरक या अनुभवाश्रित (empirical) है और इसीलिए इसका प्रतिपादक राजनीति वैज्ञानिक जैसा लगता है।"

यह मानना गलत होगा कि राजनीति के परम्परागत और आधुनिक परिवेश के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है अथवा कोई ऐसी तिथि निश्चित की जा सकती है जिस दिन परम्परागत राजनीतिविज्ञान का अन्त हुआ और आधुनिक राजनीतिविज्ञान ने अपने जीवन का सूत्रपात किया। मोटे रूप से आधुनिक राजनीति विज्ञान एक प्रकार से परम्परावादी राज-विज्ञान के विरुद्ध चलाया गया एक आंदोलन या क्रांति है। दोनों में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं :-

(1) **राजनीति विज्ञान की परिभाषा के संबंध में अन्तर** - परम्परावादी विचारक राजनीति विज्ञान को 'राज्य' एवं 'सरकार' के अध्ययन का विज्ञान मानते हैं। गार्नर के अनुसार राजनीति विज्ञान का आरम्भ और अन्त राज्य से होता है। इसके विपरीत आधुनिक व्यवहारवादी राजनीतिक विचारकों का मत है कि राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु राज्य नहीं वरन् मनुष्य का राजनीतिक व्यवहार है। वे राजनीति विज्ञान को शक्ति और सत्ता का विज्ञान मानते हैं।

(2) **विषय-क्षेत्र संबंधी अंतर** - परम्परावादी तथा आधुनिक राजनीति विज्ञान में क्षेत्र के संबंध में भी अंतर है। परम्परावादी राजनीति विज्ञान में राज्य का सर्वकालिक अर्थात् राज्य के भूत, वर्तमान तथा भविष्य का अध्ययन किया जाता है। इसके साथ ही सरकार का गठन, शासन के स्वभाव, शासन के अंग, शासन के रूप एवं कार्यों का भी अध्ययन किया जाता है। परम्परावादी इन सबका संस्थागत अध्ययन करते हैं। दूसरी ओर आधुनिक व्यवहारवादी राजनीतिक वैज्ञानिक संस्थाओं का नहीं अपितु प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं। आर्थर बेन्टेल परम्परागत राजनीति विज्ञान का एक कड़ा आलोचक था और उसे बंजर और औपचारिकतापूर्ण, प्राणहीन, बन्ध्या और स्थैतिक मानता था और उसका मूल कारण उसकी दृष्टि में यह था कि उसमें 'प्रक्रिया' (Process) के अध्ययन पर पर्याप्त जोर नहीं दिया गया था।

(3) **प्रकृति के संबंध में अंतर** - राजनीति विज्ञान की प्रकृति के संबंध में भी दोनों में अंतर है। परम्परागत राजनीति विज्ञान की प्रकृति दार्शनिक है जबकि आधुनिक राजनीति विज्ञान की प्रकृति वैज्ञानिक है। परम्परावादी राजनीतिक विचारकों में अनेक विचारक ऐसे हैं जो राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखते। **बक्ल** का विचार था कि "ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति को विज्ञान मानना तो दूर वह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी कला है।" ऐसे विद्वान जो परम्परावादी राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं वे उसे केवल शिष्टतावश ही विज्ञान मानते हैं। इसके विपरीत आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिक राजनीति विज्ञान को पूर्ण विज्ञान बनाने के पक्ष में है। मेरियम ने अपनी रचनाओं में इस बात पर जोर दिया कि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक तकनीक और प्रविधियों का विकास समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। केटलिन, हेरल्ड लासवैल तथा कार्ल डायच जैसे विद्वान वर्षों से यह साबित करने हेतु प्रयत्नशील हैं कि राजनीतिशास्त्र मूलत: एक विज्ञान है और इसका संबंध राजनीतिक समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण एवं निरूपण से है।

(4) **अध्ययन पद्धतियों के संबंध में अन्तर** - परम्परावादी राजनीतिशास्त्री जिन अध्ययन पद्धतियों का सहारा लेते हैं, वे एकदम प्राचीन और अपरिष्कृत है। इसमें दार्शनिक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति तथा कानूनी पद्धति आदि का सहारा लिया जाता है। इसके विपरीत आधुनिक राजनीतिशास्त्रियों ने आधुनिक उपकरणों के माध्यम से राजनीति के अध्ययन पर अधिक बल दिया है। यह मनुष्य के राजनीतिक व्यवहारों तथा उनसे संबंधित आनुभविक सत्यों का विश्लेषण तथा निरूपण करता है।

(5) **मूल्यों के संबंध में अंतर** - परम्परावादी और आधुनिक राजनीति विज्ञान में एक बहुत बड़ा अन्तर मूल्यों के संबंध में है। परम्परावादी राजनीतिक विचारक मूल्यों (values) में आस्था रखते हैं। वे आदर्श तथा नैतिकता में विश्वास करते हैं। दूसरी ओर व्यवहारवादी मूल्य निरपेक्षता का दावा करते हैं। उनके अनुसार राजविज्ञानी अपने आपको नैतिक भावनाओं, मूल्यों, आदर्शों, मिथ्या झुकावों व पक्षपातों

आदि से दूर रहकर वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसंधान करें। राजवैज्ञानिक को मूल्य निरपेक्ष एवं तटस्थ रहना चाहिए।

(6) उद्देश्यों के संबंध में अंतर - उद्देश्य की दृष्टि से भी परम्परावादी राजनीति विज्ञान तथा आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर है। परम्परावादियों की मान्यता है कि राजनीति विज्ञान का उद्देश्य श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा व्यक्ति के श्रेष्ठ जीवन के मार्ग को प्रशस्त करना है। इसके विपरीत व्यवहारवादी यह मानते हैं कि राजनीति विज्ञान का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना है। वे प्रविधियों पर अधिक जोर देते हैं और उस सार वस्तु की उपेक्षा करते हैं जिसके लिए इन उपकरणों को प्रयोग में लाया जाना है। आगे चलकर उत्तर-व्यवहारवादियों ने आधुनिक राजनीति विज्ञान में उद्देश्य के बारे में भी अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। उनके मत में राजनीति वैज्ञानिक को एक मूक दर्शक ही नहीं बनना है बल्कि समस्याओं के समाधान के लिए भी प्रयास करना है।

निष्कर्ष :- द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जिस व्यवहारवादी आंदोलन का उदय हुआ उसने परम्परागत राजनीति विज्ञान की कमियों को उजागर किया और राजनीति विज्ञान को नवीन तथ्य, नवीन अध्ययन सामग्री और पद्धतियाँ प्रदान कीं। लेकिन 1960 के बाद यह स्पष्ट होने लगा कि व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान की अपनी कमियाँ और सीमाएँ हैं।

राजनीति विज्ञान आज क्लासिकी युग (परम्परागत) के दर्शन के मधुमय रस से विहीन सांख्यिकी, परिमाणन और प्रणाली विज्ञान के घने जंगल में फंसकर भटकने लगा है। इसने अपनी पुरानी चमक-दमक खो दी है। उसकी परम्परागत महानता को धूर्तता समझा जा रहा है और इसके विपरीत व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान में नई चमक कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। नये मुहावरों और शब्दों को तेजी से गढ़ा जा रहा है जो कि प्राणहीन दिखाई देते हैं। आधुनिक राजनीति विज्ञान की दशा कुछ ऐसी लग रही है जैसे कोई पंख विहीन पक्षी उड़ने का प्रयास कर रहा है। नैतिक तटस्थता और मूल्य मुक्तता के कारण इनमें अमानवीय प्रवृत्तियों का प्रवेश अधिक हुआ है। यह तकनीकी और प्रणाली विज्ञान की गिरफ्त में है जिसके परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान के अस्तित्व के लिए भयंकर संकट की घड़ी आ गयी है और इसका मानचित्र एवं दृश्यपथ कोहरे के आवरण में छिपा नजर आता है।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा दीजिए एवं उसके क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
2. पारम्परिक तथा आधुनिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए राजनीति विज्ञान की प्रकृति एवं क्षेत्र की व्याख्या कीजिए।
3. राजनीति विज्ञान की परिभाषा दीजिए तथा उसका स्वरूप एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
4. राजनीति विज्ञान के क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान के परम्परावादी परिप्रेक्ष्य के प्रमुख लक्षण लिखिए।
2. राजनीति विज्ञान के आधुनिक परिप्रेक्ष्य के लक्षण बतलाइये।
3. परम्परागत एवं आधुनिक राजनीति विज्ञान में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सामान्य रूप से राजनीति विज्ञान का तर्कसंगत विभाजन दर्शाता है -
   (अ) ऐतिहासिक और दार्शनिक राजनीति विज्ञान
   (ब) परम्परागत और आधुनिक राजनीति विज्ञान
   (स) व्यवहारवादी और उत्तर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान
   (द) आधुनिक और वैज्ञानिक राजनीति विज्ञान

2. परम्परागत राजनीति विज्ञान से संबंधित राजनीतिक विचारक हैं -
(अ) प्लेटो (ब) डेविड ईस्टन (स) हेरल्ड लासवेल (द) राबर्ट डहल

3. आधुनिक राजनीति विज्ञान से संबंधित राजनीतिक विचारक हैं -
(अ) रूसो (ब) थॉमस एक्विनाज (स) डेविड ईस्टन (द) हीगल

4. परम्परागत राजनीति विज्ञान की प्रमुख विशेषता है -
(अ) वैज्ञानिकता (ब) दार्शनिक स्वरूप (स) तथ्यों पर बल देना (द) अनुभवाश्रित प्रकृति

5. परम्परागत राजनीति विज्ञान का लक्षण नहीं है-
(अ) अमूर्त स्वरूप (ब) काल्पनिकता पर बल (स) मानकात्मक (द) व्यवहारपरकवादी

उत्तर - (1) ब, (2) अ, (3) स, (4) ब (5) द

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

2

राजनीति विज्ञान की प्रकृति

(NATURE OF POLITICAL SCIENCE)

राजनीति विज्ञान की प्रकृति (Nature) के सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद हैं। राजनीति विज्ञान की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए कुछ विद्वान यदि इसे कला मानते हैं तो दूसरे इसे विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं। अरस्तू ने इसको सर्वोच्च तथा पूर्ण विज्ञान माना जबकि बक्ल और मेटलैण्ड इसे विज्ञान मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उनके विचार में राज्य का वैज्ञानिक अध्ययन हो ही नहीं सकता। **बक्ल** का तो यहाँ तक कहना है कि "ज्ञान के वर्तमान धरातल पर राजनीति का विज्ञान होना तो दूर, वह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।'

क्या 'राजनीति विज्ञान' विज्ञान है ? (Is Political Science a Science)

हमारे विषय को विज्ञान मानने के विषय में राजनीति विज्ञान के विद्वानों में ही बहुत अधिक मतभेद है, यद्यपि बोदाँ, हॉब्स, मॉन्टेस्क्यू, ब्राइस, फाइनर और लास्की जैसे विद्वान राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखते हैं। **जार्ज बर्नार्ड शॉ** ने तो यहाँ तक कहा था कि " राजनीति विज्ञान ही ऐसा विज्ञान है जिसके द्वारा सभ्यता को बचाया जा सकता है।" लेकिन दूसरी तरफ कैटलिन, ब्रोगन, काम्टे, मेटलैण्ड आदि विद्वान राजनीति विज्ञान के इस दावे को मानने के लिए तैयार नहीं है कि वह एक विज्ञान है। **मेटलैण्ड** लिखता है कि "जब मैं ऐसे परीक्षा प्रश्नों के समूह को देखता हूँ कि जिनका शीर्षक राजनीति विज्ञान होता है तो मुझे प्रश्न पर नहीं, बल्कि शीर्षक पर अफसोस होता है।" **चार्ल्स बियर्ड** के अनुसार,"राजनीति का विज्ञान बनना न तो वांछनीय है और न सम्भव।

विज्ञान से अभिप्राय (Meaning of the "Science")

राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता की जाँच करने के लिए विज्ञान शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। साधारण भाषा में विज्ञान शब्द का अर्थ है किसी वस्तु के सम्बन्ध में क्रमबद्ध एवं संगठित ज्ञान, जिसका अर्जन पर्यवेक्षण पद्धतियों के द्वारा हुआ हो और जिसके द्वारा कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित हो सके। गार्नर के अनुसार विज्ञान किसी भी विषय से सम्बन्धित उस ज्ञान-राशि को कहते हैं जो विधिवत् पर्यवेक्षण, अनुभव एवं अध्ययन के द्वारा प्राप्त की गई हो और जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध एवं वर्गीकृत किये हुए हों। हक्सले के अनुसार विज्ञान एक ऐसा सम्यक् ज्ञान है जो युक्ति और साक्ष्य पर आधारित है। शेपर्ड के अनुसार विज्ञान के प्रमुख लक्षण हैं- (a) एक संक्षिप्त, संगत और सम्बद्ध ज्ञान की सम्भावना। (b) तथ्यों को क्रमबद्ध करना और उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने के उपरान्त सामान्यीकरण कर सकने और पूर्व कथन करने की क्षमता। (c) प्राप्त सम्बन्धानुमानों और निष्कर्षों की जाँच की सम्भावना। संक्षेप में, विज्ञान के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं :

(1) तथ्यों का क्रमबद्ध एवं निष्पक्ष अध्ययन।

(2) पर्यवेक्षण एवं परीक्षण पद्धति का प्रयोग।

(3) तथ्यपरक दृष्टिकोण द्वारा सत्य की खोज।

(4) सामान्य नियमों का निर्धारण।

(5) सामान्य नियमों के आधार पर निश्चित भविष्यवाणी की क्षमता।

(6) अध्ययन विधि के सम्बन्ध में व्यापक सहमति।

(7) इसके अध्ययन में लगे हुए व्यक्तियों का समुचित प्रशिक्षण।

'राजनीति विज्ञान' विज्ञान नहीं है (Political Science is not a Science)

विज्ञान के उपर्युक्त लक्षणों को देखते हुए राजनीति शास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक **कॉम्टे** ने इस विषय को विज्ञान न मानने के निम्नलिखित तीन कारण बताये हैं-

(1) राजनीति विज्ञान की पद्धतियों, सिद्धान्तों एवं निष्कर्षों के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं है।

(2) इसके विकास में निरन्तरता का अभाव है।

(3) इसमें उन तत्वों का अभाव है जिनके आधार पर निश्चित भविष्यवाणी की जा सके।

बर्क ने लिखा है जिस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र को विज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती उसी प्रकार राजनीति- विज्ञान को भी विज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें कुछ भी निश्चित नहीं है। इसकी कोई सीमाएं नहीं हैं, यह निरन्तर परिवर्तनशील है। इसमें मापदण्ड का अभाव है तथा इसकी निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। संक्षेप में, इस विषय को विज्ञान न मानने वाले विद्वान अपने मत के समर्थन में निम्नांकित तर्कों का सहारा लेते हैं-

(1) **राजनीति विज्ञान में परीक्षण सम्भव नहीं** - राजनीति विज्ञान में, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि विज्ञानों का तरह परीक्षण संभव नहीं है। परीक्षण तो वास्तव में प्रयोगशाला में ही किया जा सकता है और राजनीति की कोई प्रयोगशाला भी नहीं है। इस विषय का सम्बन्ध तो मनुष्य के जीवन से है जो बहुत जटिल होता है, उसके पीछे मनुष्यों की इच्छाएं, बुद्धि, भावनाएं, विश्वास, आदर्श आदि काम करते हैं और ये चीजें निरन्तर बदलती रहती हैं। हम उन पर न तो बाहर से नियंत्रण रख सकते हैं, और न वैज्ञानिक ढंग से उनका विश्लेषण ही कर सकते हैं।

(2) **राजनीति विज्ञान के तथ्यों के विषय में मतैक्य नहीं** - भौतिक विज्ञान में तथ्यों के बारे में मतैक्य होता है। संसार के सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि पानी में दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन होता है। इसी प्रकार सभी यह मानते हैं कि दो और दो को जोड़ने पर सभी जगह चार ही होंगे। लेकिन राजनीति विज्ञान में ऐसे अटल वैज्ञानिक तथ्य कहाँ हैं ? उदाहरण के लिए लोकतन्त्र को ही लीजिए-भारत, पाकिस्तान, चीन और अमेरिका में यह अलग-अलग रूप में विद्यमान है। साम्यवादियों के लिए अमरीकी लोकतन्त्र झूठा लोकतन्त्र है तो पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में चीनी लोकतन्त्र तानाशाही का ही दूसरा नाम है। लोकतन्त्र के आवश्यक तत्वों के बारे में संसार भर के राजनीति शास्त्रियों की अलग-अलग राय है।

(3) **राजनीति विज्ञान में कार्य - कारण का सम्बन्ध नहीं-** राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञानों की तरह कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है। किसी एक कारण के जो परिणाम एक देश में हो सकते हैं, यह आवश्यक नहीं कि वैसे ही परिणाम दूसरे देशों में भी हों। इसके अतिरिक्ति राजनीतिक घटनाओं के अनेक कारण रहते हैं। यह पता लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि कौन सी घटना किस कारण हुई। आज तक इस विषय के विद्वानों में विवाद ही चल रहा है कि फ्रांस और रूस की क्रान्ति के वास्तविक कारण कौन से थे।

(4) **राजनीति विज्ञान भविष्यवाणी नहीं कर सकता** - भौतिक विज्ञान में भविष्यवाणी की जा सकती है। जबकि राजनीति विज्ञान में सही भविष्यवाणियाँ सम्भव नहीं। इसका कारण यह है कि राजनीति विज्ञान मनुष्य के जीवन के राजनीतिक पहलू का अध्ययन करता है। मनुष्य का मस्तिष्क बड़ा परिवर्तनशील है और मानव व्यवहार के बारे में स्पष्टतया कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

(5) **राजनीति विज्ञान में निश्चित अध्ययन विधि का अभाव** - राजनीतिशास्त्र के लेखक इसकी अध्ययन -विधि के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। वस्तुत: राजनीतिशास्त्र की कोई निश्चित अध्ययन पद्धति नहीं है। कुछ विद्वान तो शुद्ध कल्पना के सहारे चलते हैं, कुछ धर्मशास्त्रों की दुहाई देते हैं और कुछ आगनात्मक प्रणाली का अनुसरण करने का प्रत्यत्न करते हैं।

संक्षेप में, राजनीतिशास्त्र की अवैज्ञानिकता के प्रमुख कारण हैं-

(1) इसमें परीक्षण सम्भव नहीं है।

(2) इसमें कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

(3) इसके नियम निश्चित और शाश्वत नहीं होते।

(4) इसमें भविष्यवाणी सम्भव नहीं।

(5) इसमें प्रयोगशाला का उपयोग नहीं किया जा सकता।

प्रसिद्ध विद्वान **लार्ड ब्राइस** ने लिखा है, "राजनीति की सामग्री को कितने ही विस्तार और सावधानी से क्यों न एकत्र किया जाय, उसकी प्रकृति ही ऐसी है कि उसके लिए उस अर्थ में विज्ञान बनना असम्भव है जिस अर्थ में यन्त्र शास्त्र, रसायन शास्त्र अथवा वनस्पति शास्त्र विज्ञान हैं।"

राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता (Political Science as a Science)

आज अधिकांश राजनीति शास्त्री राजनीति विज्ञान को विज्ञान मानते हैं। अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीति को एक सुव्यवस्थित विज्ञान की संज्ञा दी थी। इसी कारण तो मैक्सी ने उसे प्रथम राजनीति वैज्ञानिक कहा था। आज विज्ञान की पारम्परिक परिभाषा के सन्दर्भ में समाज शास्त्र के विषयों को नहीं देखा जाता। विज्ञान एक क्रमबद्ध ज्ञान है। व्यवस्थित रूप से किसी विषय का अध्ययन ही उसका विशिष्ट ज्ञान समझा जाता है। यदि समाज विज्ञान के किसी विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो उसे विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। निम्नलिखित तर्कों के आधार पर राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखा जा सकता है –

(1) **राजनीति विज्ञान में परीक्षण और पर्यवेक्षण सम्भव है** - राजनीति विज्ञान में परीक्षण और पर्यवेक्षण की पद्धति से तथ्यों का पता लगया जा सकता है। इतिहास राजनीतिशास्त्री की प्रयोगशाला है। राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में सभ्यता के आदिकाल से अब तक सैकड़ों प्रयोग हुए हैं जिनसे सामान्य सिद्धांत निकाले जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, अरस्तू ने 158 संविधानों का अध्ययन किया और उसके आधार पर क्रांति के सामान्य कारणों का पता लगाया तथा उसे रोकने के उपाय बताये। राजनीति विज्ञान का विद्यार्थी इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस की क्रान्तियों का अध्ययन करके सामान्य कारणों का पता लगा सकता है।

(2) **राजनीति विज्ञान में प्रयोग सम्भव है** - यदि विस्तृत दृष्टि से देखा जाए तो राजनीति में नित्य नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। प्रत्येक देश में जो नित्य नयी राजनीतिक घटनाऐं हो रही हैं वे ही राजनीतिक प्रयोग हैं। संसद द्वारा निर्मित प्रत्येक कानून तथा प्रत्येक देश का संविधान एक प्रयोग ही हैं। अमेरिका में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का प्रयोग हुआ है तो भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली का प्रयोग हो रहा है। विभिन्न देशों में जो प्रयोग हो रहे हैं उनके आधार पर निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(3) **राजनीति विज्ञान में भविष्यवाणी की जा सकती है** - राजनीति विज्ञान में भी भविष्यवाणी की जा सकती है। जनमत की उपेक्षा करने वाली व्यवस्था के बारे में कह सकते हैं कि वहाँ क्रांति अनिवार्य है। चुनावों के पूर्व मतदान-व्यवहार का अध्ययन करके राजनीतिशास्त्री चुनाव परिणामों के बारे में सही भविष्यवाणियाँ कर सकते हैं। **फाइनर** के अनुसार, "हम भविष्य की सम्भावनाओं के विषय में तो अवश्य ही भविष्यवाणी कर सकते हैं, भले ही उसे पूर्ण निश्चय के साथ न भी कह सकें। ऋतुशास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि अनेक विषय विज्ञान कहलाते हैं जबकि उनके द्वारा दी गई भविष्यवाणियाँ अनेक बार ठीक नहीं होतीं। लॉर्ड ब्राइस ने राजनीति विज्ञान को ऋतुशास्त्र की तरह का विज्ञान माना है।"

(4) **राजनीति विज्ञान एक क्रमबद्ध ज्ञान है** - राजनीति विज्ञान ज्ञान की एक पृथक शाखा है। इसकी सभी बातों का क्रमबद्ध रूप से अध्ययन किया जा सकता है। इसका क्षेत्र निश्चित है तथा इसके अधिकांश नियम स्थापित हो चुके हैं। अतः इसे समाज विज्ञानों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

कार्य और कारण में पारस्परिक सम्बन्ध - यह सच है कि भौतिक विज्ञान की तरह राजनीति विज्ञान के कारण तथा कार्य में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। फिर भी विशेष घटनाओं के अध्ययन से कुछ सामान्य परिणाम तो निकाले ही जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम सभी देशों की क्रान्तियों के कारणों की खोज करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि सभी क्रान्तियों का मूल कारण कुशासन रहा है।

राजनीति विज्ञान में सामान्य नियमों का अस्तित्व - राजनीति विज्ञान में अनेक सिद्धांतों में मतैक्य पाया जाता है; जैसे स्वतन्त्रता और समानता लोकतन्त्र के आधारभूत सिद्धांत हैं, कुशासन क्रान्ति का कारण होता है, निर्धनता और निरक्षरता मानवीय प्रवृत्ति में बाधक तत्व हैं, न्यायपालिका स्वतन्त्र और निष्पक्ष होनी चाहिए। वस्तुत: राजनीति विज्ञान में सार्वभौमिक सिद्धांतों का जो अभाव है उसका कारण इसकी अवैज्ञानिकता नहीं है, वरन् मनुष्य का परिवर्तनशील स्वभाव है। निश्चितता और सार्वभौमिकता का अभाव भूगर्भशास्त्र, ऋतुशास्त्र तथा ज्योतिर्विज्ञान में भी पाया जाता है।

निष्कर्ष

राजनीति विज्ञान भौतिक विज्ञान के समान विज्ञान नहीं है। इसके सिद्धांत और निष्कर्ष अनिश्चित हैं और इसके पूर्व-कथन शुद्ध नहीं होते। इसके सिद्धांतों के सम्बन्ध में राजनीतिशास्त्रियों में मतभेद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी राजनीतिशास्त्री अपने अध्ययन की समुचित पद्धति के सम्बन्ध में बहुत कुछ एकमत होने लगे हैं। ऐसी दशा में हम अपने विषय को विज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं, किन्तु हमें यह सत्य भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि राजनीति विज्ञान अभी भी सामाजिक विज्ञानों में सबसे कम विकसित विज्ञान है। राजनीति के विज्ञान का निर्माण करने के लिये अभी भी बहुत कुछ प्रयत्न करने होंगे। इसके लिए निरन्तर खोज और समुचित अध्ययन-प्रणाली की अत्यन्त आवश्यकता है। संक्षेप में राजनीति एक विज्ञान बन रही है।

राजनीति विज्ञान - एक 'कला' भी है (Political Science as an Art)

राजनीति विज्ञान को वैज्ञानिकता की कसौटी पर परखने के पश्चात् एक विवादास्पद प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि जो विषय विज्ञान कहलाता है, वह कला हो सकता है ? बक्ल ने इस विषय को कलाओं की श्रेणी में भी सबसे पिछड़ी हुई कला स्वीकार किया है। यह मानना सर्वथा गलत है कि कोई विषय विज्ञान या कला दोनों में से कोई एक ही हो सकता है। **विलियम एसलिंगर** ने ठीक ही लिखा है कि "विज्ञान और कला परस्पर विरोधी होना जरूरी नहीं है।"

साधारण भाषा में कला जीवन का चित्रण होता है। कला ऐसे ज्ञान को कहा जाता है जिसका उद्देश्य मानव जीवन को सुन्दर बनाना हो। कला जीवन की सर्वोत्तम अनुभूति एवं अभिव्यक्ति है। ज्ञान का वास्तविक जीवन में प्रयोग करना ही कला है। कला किसी ज्ञान का क्रियात्मक पहलू है। कला वह विधा है जो हमें किसी कार्य को अच्छी तरह करना सिखाये। इस मापदण्ड से राजनीति विज्ञान निश्चित ही एक कला है। **गैटेल** के अनुसार, " राजनीति की कला का उद्देश्य मनुष्य के क्रिया-कलापों से सम्बन्धित उन सिद्धान्तों एवं नियमों का निर्धारण करना है, जिन पर चलना राजनीतिक संस्थाओं के कुशल संचालन के लिए आवश्यक है।"

ब्लंश्ली ने लिखा है कि "राजनीति से विज्ञान की अपेक्षा कला का अधिक बोध होता है। राज्य का संचालन किस ढंग से हो, क्रियात्मक दृष्टि से वह कैसा व्यवहार करे, राजनीति में इन बातों का प्रतिपादन होता है।"

राजनीति विज्ञान एक कला है, क्योंकि –

(1) यह कला हमें आदर्श नागरिक बनना सिखाती है।

(2) राजनीति विज्ञान न केवल हमें राज्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की जानकारी प्रदान करता है, बल्कि इन सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणत करने की प्रेरणा भी देता है।

(3) राजनीति विज्ञान कला है क्योंकि इसके अन्तर्गत राजनैतिक जीवन का सर्वांगीण चित्रण होता है।

(4) जिस सीमा तक मानव अपने उपार्जित ज्ञान का प्रयोग एक उत्तम राज्य के निर्माण के लिए करता है, उस सीमा तक राजनीति विज्ञान एक कला है।

(5) मैकियावेली और कौटिल्य जैसे दार्शनिकों ने राजनीति के कलात्मक पक्ष पर व्यापक प्रकाश डाला है।

संक्षेप में, राजनीतिशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है। वह मनुष्य के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित सिद्धान्तों का व्यवस्थित ज्ञान है, अत: वह एक विज्ञान है। यह उन सिद्धान्तों का व्यवहारिक जीवन में प्रयोग है, अत: वह एक कला है। कला के रूप में राजनीति विज्ञान एक उच्चस्तरीय कला है, जिसका कार्य मानव को सर्वोत्तम नागरिक जीवन का उपभोग करने योग्य बनाना है।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिशास्त्र वास्तव में विज्ञान है अथवा कला? ठोस कारणों सहित उत्तर दीजिए।
2. राजनीति विज्ञान की परिभाषा दीजिए और समझाइये कि राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान एक कला है, समझाइये।
2. क्या राजनीति विज्ञान में भविष्यवाणी की जा सकती है?
3. राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाना चाहिए क्योंकि -
   (अ) राजनीति विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान है।
   (ब) राजनीति विज्ञान सार्वभौमिक नियमों पर आधारित है।
   (स) राजनीति विज्ञान एक क्रमबद्ध ज्ञान है।
   (द) राजनीति विज्ञान में प्रयोगशाला की भाँति प्रयोग संभव है।
2. "राजनीति विज्ञान ही ऐसा विज्ञान है जिसके द्वारा सभ्यता को बचाया जा सकता है।" उपरोक्त कथन किस विचारक का है ?
   (अ) जार्ज बर्नार्ड शॉ (ब) लास्की (स) गार्नर (द) बर्क
3. राजनीति विज्ञान राजनीति के बारे में हमारे ज्ञान को समृद्ध कर हमें आदर्श नागरिक बनाता है। अत: राजनीति विज्ञान को कहा जाना चाहिए :
   (अ) विज्ञान (ब) कला
   (स) कला एवं विज्ञान दोनों (द) न तो कला, न ही विज्ञान

उत्तर - (1) स, (2) अ, (3) ब

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

3

राजनीतिक सिद्धान्त की प्रकृति और महत्व
(NATURE AND SIGNIFICANCE OF POLITICAL THEORY)

'राजनीतिक सिद्धान्त' का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन यूनान को इसके जनक होने का श्रेय दिया जाता है।

'सिद्धान्त' को सभ्य मानव जाति की प्रगति का आवश्यक उपकरण माना जाता है। वस्तुतः 'सिद्धान्त' शब्द के अनेक अर्थ हैं। **कोहन** के अनुसार, यह शब्द एक खाली चैक के समान है जिसका सम्भावित मूल्य उसके उपयोगकर्ता एवं उसके उपयोग पर निर्भर है। 'सिद्धान्त' शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द **'थ्योरिया'** (Theoria) से हुई है जिसका मतलब है 'समझाने की दृष्टि'। 'सिद्धान्त' वे तर्कसंगत अनुमान हैं जो किसी भी घटनाक्रम के मूल कारणों की विवेचना करते हैं। 'सिद्धान्त' वे प्रस्थापनाएँ हैं जिनसे किसी वस्तु की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है। सिद्धान्त का मुख्य कार्य व्याख्या करना (To explain the things) है। **कार्लपायर** ने सिद्धान्त को एक प्रकार का जाल बताया है जिससे जगत को पकड़ा जाता है ताकि उसको समझा जा सके।

राजनीतिक सिद्धान्त से तात्पर्य
(Meaning of Political Theory)

'राजनीतिक सिद्धान्त' से अभिप्राय है कि राजनीति और राजनीतिक समस्याओं के बारे में विविध पक्षों का तथ्यों के आधार पर विवेचना करना और विभिन्न राजनीतिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना। 'राजनीतिक सिद्धान्त' के अंतर्गत राजनीतिक विचारों के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। प्लेटो से लेकर आज तक समस्त राजनीतिक विचार राजनीतिक सिद्धान्त की मूल्यवान धरोहर हैं। कुछ लेखक राजनीतिक सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीतिक चिन्तन की चिरन्तन समस्याओं, संकल्पनाओं और विचारधाराओं-जैसे कि राज्य, प्रभुसत्ता, कानून, अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र इत्यादि के विवेचन को रखते हैं। राजनीतिक सिद्धान्त का सरोकार तथ्यों और मूल्यों दोनों से है; उचित और अनुचित की जाँच की जाती है और समाज के लिए उपयुक्त लक्ष्यों, नीतियों एवं कार्यक्रमों की संस्तुति की जाती है। संक्षेप में, राजनीतिक सिद्धान्त राजनीति का निष्पक्ष या विषयपरक वर्णन है।

राजनीतिक सिद्धान्त के प्रकार
(Kinds of Political Theory)

मोटे रूप से राजनीतिक सिद्धान्त दो प्रकार का है :

I. परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त (Traditional Political Theory)

परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त का अर्थ- परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त को 'क्लासिकी राजनीतिक सिद्धान्त'(Classical Political Theory), अथवा 'आदर्शी राजनीतिक सिद्धान्त'(Normative Political Theory) भी कहा जाता है। यह कल्पना पर आधारित है और इसकी जड़ें इतिहास तथा दर्शन में हैं। कतिपय लेखकों के अनुसार परम्परागत राजनीति सिद्धान्तों में व्यवहारवादी क्रान्ति से पूर्व प्रचलित विचार सामग्री, राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन, विचारधाराओं तथा राजनीतिक विचारों के विश्लेषण को शामिल किया जाता है। परम्परागत स्वरूप में सिद्धान्त, विचार, दृष्टिकोण, विचारधारा, परिप्रेक्ष्य, उपागम आदि सभी पर्यायवाची बन जाते हैं। इनमें दार्शनिक, ऐतिहासिक, नैतिक, संस्थात्मक, तुलनात्मक पद्धतियों तथा अन्य विषयगत दृष्टिकोणों जैसे समाजशास्त्रीय, मनोविज्ञानात्मक, अर्थशास्त्रीय आदि को महत्वपूर्ण माना जाता है। राज्य, राज्य की प्रकृति तथा उसका आधार, सरकार, कानून, नैतिकता, प्राकृतिक विधि, राजनैतिक संस्थाएँ आदि परम्परागत राजशास्त्र के प्रिय विषय रहे हैं।

परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त में विभिन्न चिन्तन प्रणालियों की ओर निर्देश किया जाता है जिनका विकास प्राचीन युग में छठीं शताब्दी ई.पू.से पाँचवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य के पतन तक हुआ। राजनीतिक दर्शन के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि उसमें राजनीतिक सिद्धान्त अपने प्रतिपादक के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण से प्रभावित रहे हैं। प्लेटों से लेकर काण्ट, एक्विना और हीगल तक राजनीतिक सिद्धान्तों को सदैव आचारशास्त्र (Ethics) या दर्शनशास्त्र (Philosophy) के अंश के रूप में प्रतिपादित किया गया है। उस समय के राजनीतिक विचारक अपने आपको किसी-न-किसी रूप में तात्कालिक राजनैतिक समस्याओं का स्थाई एवं शाश्वत समाधान प्रस्तुत करने के लिए प्रतिबद्ध मानते थे। उन्होंने मानव जीवन और समाज के लक्ष्यों और मूल्यों की ओर अपना ध्यान लगाया। चाहे वह यूनानी विचारकों की तरह नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार हो अथवा मध्ययुगीन क्रिश्चियन सन्त राजनीतिज्ञों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने का या आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित विवेक (Reason) के साक्षात्कार का। उनकी विचारधाराओं को राबर्ट ए.डहल ने परानुभववादी (Transempirical) या इन्द्रियों से परे माना है, क्योंकि उनका आधार एक अलौकिक भावात्मक विश्व दृष्टि है। उनके विचार व्यक्तिगत दृष्टिकोण, चिन्तन, कल्पना अथवा आध्यात्मवादी सिद्धान्तों से नि:सृत हुए हैं। शाश्वत एवं उच्चस्तरीय तत्वों से सम्बद्ध होने के कारण उनकी चिन्तन प्रणाली तार्किक और निगमनात्मक (Deductive) है। वे आकाश में बैठकर पृथ्वी की ओर देखते हैं।

परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की विशेषताएँ अथवा प्रकृति – परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ अथवा प्रकृति हैं:

(1) परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त मूल्य सापेक्ष या मूल्यों पर आधारित (Value based) है। इनका दार्शनिक एवं वैचारिक दृष्टि से मूल्यों, आदर्शों (Normative) तथा लक्ष्यों से अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

(2) अधिकांश पुरातन राजनीतिक सिद्धान्त प्राय: बौद्धिक हैं। वे तर्क एवं निगमनात्मक निष्कर्षों पर आधारित हैं। इसी कारण वे यथार्थ एवं व्यवहार से विलग हो गए हैं।

(3) परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की चरम सीमा किसी परिपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था की खोज में लगी हुई है। यह इसे कल्पनात्मक बना देती है चाहे विचारकों द्वारा बनाया हुआ चित्र कितना ही आकर्षक क्यों न हो।

(4) परम्परावादियों के अनुसन्धान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक रही हैं। डॉ.एस.पी.वर्मा के अनुसार परम्परागत राज सिद्धान्त के विकास की चार अवस्थाएँ हैं-ऐतिहासिक (Historical), विश्लेषणात्मक (Analytical), आदर्शात्मक-उपदेशात्मक (Normative- Prescriptive) तथा वर्णनात्मक-परिमाणात्मक (Descriptive-Taxonomical)। वे सब एक-दूसरे की विरोधी नहीं थीं और समय-समय पर हम एक ही युग में विभिन्न प्रवृत्तियों को काम करते हुए पाते हैं।

(5) परम्परावादियों के अध्ययन और जाँच के मुख्य विषय राज्य, सरकार, राजनीतिक संस्थाएँ, राज्य के लक्ष्य (न्याय, सुरक्षा, स्वतंत्रता, लोक कल्याण, समानता, नैतिकता आदि) रहे हैं।

(6) परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की यह विशेषता है कि उसके राजनीतिक सिद्धान्त अपने प्रतिपादकों के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोणों से प्रभावित रहे हैं। ये विचारक तात्कालिक राजनीतिक समस्याओं का स्थाई समाधान खोजने का प्रयास करते थे। अधिकांश विचारक आचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र से प्रभावित रहे हैं।

परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माता – परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त का विशेष रूप हमें प्लेटो की रचनाओं में देखने को मिलता है। आधुनिक युग में परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। यहाँ हम रूसो, काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके, लास्की ओकशॉट, लियो स्ट्रास इत्यादि की रचनाओं में प्लेटो और अरस्तू के विचारों के प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। पश्चिम में परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्तों की निरन्तरता के प्रतिनिधि विचारक ओकशॉट, हन्ना आरेन्ट, बट्रैण्ट, जुवैनल, लियो स्ट्रास, इरिक वोगेलिन आदि माने जाते हैं। इन्होंने न केवल शास्त्रीय, दार्शनिक अथवा

मानकीय चिन्तन का समर्थन एवं प्रतिपादन किया है अपितु उस ओर नवीन दिशाओं में चिन्तन भी किया है।

परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त का मूल्यांकन – अमूर्त, निगमनात्मक, काल्पनिक और इस नाते 'अवैज्ञानिक' होने के कारण परम्परावादी राजनीतिक सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। आलोचकों का मुख्य तर्क यह है कि यह बहुत मूल्य भारित या लक्ष्य अभिमुख है और इसलिए इसके सिद्धान्तों की व्यावहारिक जाँच नहीं की जा सकती। अत: आधुनिक युग में राजनीतिक सिद्धान्त को इस तरह नए सिरे से ढाला जाना चाहिए कि यह एक वैज्ञानिक विषय का रूप धारण कर ले।

परम्परावादी विचारक पारम्परिक राजनीतिक सिद्धान्त के ह्रास (पतन) से दु:खी हैं और उसका पुनरोदय चाहते हैं। उनकी दृष्टि में परम्परागत सिद्धान्त के मार्ग में बाधक तत्व रहे हैं-व्यवहारवाद, इतिहासवाद, नैतिक सापेक्षता तथा तकनीकी क्रांति। उनके अनुसार आधुनिक राजवैज्ञानिकों ने मूल्यों तथा आदर्शों को अलग करके राजनीति को 'अराजनैतिक' (apolitical) बना दिया। उनकी दृष्टि से मानवता और मानव मूल्यों की रक्षा के लिए परम्परावादी सिद्धान्त को शक्तिशाली बनाया जाना चाहिए।

परम्परावादी सिद्धान्त के महत्व का प्रतिपादन करते हुए **सिबली** ने लिखा है - "राजनीतिक सिद्धान्त का दोहरा महत्व है। पहले यह विचारों व संस्थाओं के इतिहास की अवस्था है और इसलिए ऐतिहासिक अर्थ में इसका बहुत अधिक महत्व है। दूसरे, यह जीवन के सार्वभौमिक पक्ष और अनुभव के रूप में कल्पित नीतियों से सम्बंधी परिकल्पनाओं की सम्भव प्रणाली के सिद्धान्तों का समुच्चय है और परिणामस्वरूप विश्लेषणात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।"

II. आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त (Modern Political Theory)

पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में एक मूलभूत परिवर्तन हुआ जिसका स्वाभाविक प्रभाव यूरोपीय देशों की राजनीतिक परिस्थितियों पर पड़ा। विज्ञान और तकनीकी ने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया, प्रतिनिधि शासन प्रणाली के विचार का उदय हुआ और राजनीति में मध्यमवर्ग का आविर्भाव हुआ। आगस्ट काम्टे जैसे फ्रांस के सिद्धान्तशास्त्री ने निश्चयवाद (Positivism) की नई दिशा दिखाई और सामाजिक व राजनीतिक सिद्धान्तशास्त्रियों को यह सुझाव दिया कि वे राजनीति का अध्ययन निश्चयवादी (वैज्ञानिक) अर्थों में करें। इन सबका यह परिणाम हुआ कि स्वप्नलोकीय (आदर्शी) अध्ययनों की जगह वर्तमान जगत् की असफलताओं का कठोर रूप में व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया।

राजनीतिक सिद्धान्त की आधुनिक धारा को जर्मनी के मैक्स वेबर ने बड़ी आस्था के साथ स्वीकार किया और उसकी पुनर्व्याख्या के माध्यम से यह धारा अमेरिका पहुँची जहाँ चार्ल्स मेरियम इसका उत्साही समर्थक हुआ। डेविड ईस्टन, ऐप्टर, आमण्ड, डहल और लैसवेल इस धारा के समर्थक हैं और इसलिए इन सभी को 'आधुनिकतावादी' कहा जा सकता है। द्वितीय विश्व के बाद की अवधि में यह धारा इतनी प्रबल हो गई कि अनेक अमेरिकी सिद्धान्तशास्त्री इस प्रकार की राजनीति के अध्ययन के प्रति प्रतिबद्ध हो गए जो राजनीतिक समुदाय के सदस्यों के रूप में मनुष्यों के व्यवहार से उत्पन्न होती है। इसके परिणामस्वरूप व्यवहारवाद आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त की प्रधानधारा बन गया।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त की विशेषताएँ अथवा प्रकृति – आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ अथवा प्रकृति है :

(1) **अध्ययन मुक्तता** – आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त अध्ययन मुक्त है। राजनीतिक तथ्य और घटनाएँ जहाँ उपलब्ध हों, चाहें वे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्म के विषय में हों अथवा व्यक्ति परिवार, राष्ट्र और विश्व से सम्बन्धित हों अब राजनीतिक अध्ययन के विषय बन गए हैं। राज सिद्धान्ती की यह भावना रहती है कि वास्तविक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाए और उन्हीं को वास्तविकता प्रकट करने वाली अवधारणाओं का आधार बनाया जाए।

(2) **अनुभवात्मकता** – आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त यथार्थवादी है और व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाने पर जोर देता है। अधिकांश अध्ययन अनुभवात्मक हैं जो कि पर्यवेक्षण, माप, तार्किक युक्तियुक्तता आदि तकनीकों पर आधारित हैं। वस्तुपरकता ने आत्मपरकता का स्थान ग्रहण कर लिया है।

(3) **शोध एवं सिद्धान्त में घनिष्ठ सम्बन्ध** – वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग द्वारा अब राजवैज्ञानिक साधारणीकरणों, व्याख्याओं एवं सिद्धान्तों के निर्माण में लगे रहते हैं। अब सिद्धान्त निर्माण कठोर शोध प्रक्रियाओं पर आधारित है। शोध और सिद्धान्त अब एक-दूसरे के बिना निरर्थक माने जाते हैं।

(4) **अन्त: अनुशासनात्मक** – अब राजनीतिक सिद्धान्त का आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध टूट चुका है। अधिकांश सिद्धान्तशास्त्री इस धारणा पर चल रहे हैं कि अगर वैज्ञानिक तरीकों को अपना लिया जाए तो विस्तृत दार्शनिक तकनीकों की जरूरत नहीं होगी। नई प्रवृत्ति यह है कि राजनीति के अध्ययन को अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान और मनोविज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञानों से सम्बद्ध किया जाये ताकि इस विषय के नियमों को व्यवहारपरक जाँच-पड़ताल के अधीन रखा जा सके।

(5) **मूल्य सापेक्षवाद** – आधुनिक राज सिद्धान्त वैज्ञानिक पद्धति को प्रमुखता देता है। उसी के साथ वैज्ञानिक मूल्यसापेक्षवाद जुड़ा हुआ है जिसका मूल अर्थ यह है कि शोधकर्ता अपने अनुसंधान से स्वयं के मूल्यों एवं धारणाओं को अलग रखता है तथा इनका अपने अध्ययन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ने देता। उसके आचरण में बौद्धिक निष्पक्षता एवं सत्यनिष्ठा पाई जाती है।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के बारे में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें व्यवहारवाद और उत्तर-व्यवहारवाद दोनों के चरण आते हैं।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माता
(The Generators of Modern Political Theory)

आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त का जनक और निर्माता किसे माना जाए? राजनीतिशास्त्र में प्लेटो से लेकर मार्क्स तक महान् 'सिद्धान्त-निर्माता' हुए हैं, किन्तु सवाल यह है कि आधुनिक किसे माना जाए। राजशास्त्र में हॉब्स और मेकियावेली से आधुनिकता का प्रारम्भ माना जाता है। कुछ लोग व्यवहारवादियों को आधुनिक राज सिद्धान्त का जनक मानते हैं।

वस्तुत: समाज विज्ञानों में मूल्यों (values) को तथ्यों (facts) से पृथक् करके वैज्ञानिक अध्ययन करना एक कठिन समस्या रही है। इनको अलग करने का कार्य आधुनिक युग में ह्यूम, काम्टे तथा मैक्स वेबर ने किया। कार्ल मैनहीम ने मूल्य की सामाजिक पृष्ठभूमि पर बल दिया। तथ्यों पर बल देने का काम जेम्स, ब्राइस, स्टुअर्ट राइस, चार्ल्स मेरियम आदि ने किया। इन सभी प्रवृत्तियों को आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के कारक तत्वों में गिना जाता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि शास्त्रीय राजनीतिक सिद्धान्त का निर्माण रुक गया था। हींज यूलाउ ने व्यवहारवादी दर्शन एवं सिद्धान्त पर प्रकाश डाला। आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माताओं में डेविड ईस्टन, हेरल्ड लासवेल, कार्ल डायश, हरबर्ट साइमन, रिग्स आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मोरिस डुवर्जर, मिचैल्स तथा मर्टन आदि ने आंशिक सिद्धान्त निर्माण की दिशा में योगदान किया है। आर्नल्ड वेश्ट, मीहान, कैपलान, राबर्ट, डहल, कैटलिन आदि ने आधुनिक राज सिद्धान्त के व्याख्याकार की भूमिका अदा की है।

राजनीतिक सिद्धान्त का महत्व
(Significance of Political Theory)

राजनीतिक सिद्धान्त चाहे परम्परावादी, दार्शनिक या मूल्य आधारित हो अथवा वैज्ञानिक और व्यवहारवादी उसका विशिष्ट महत्व है। **विलियम ग्लेजन** ने राजनीतिक सिद्धान्त के निम्नांकित लाभ बतलाये हैं जिससे इसका महत्व स्पष्ट हो जाता है:

1. अतीत के राजनीति सिद्धान्तों का अध्ययन और नये सिद्धान्तों का निर्माण वैज्ञानिक विधियों के सृजन और सार्वजनिक नीतियों के निर्माण में मार्ग प्रशस्त होता है।
2. राजनीतिक दर्शन का इतिहासकार अतीत के महत्वपूर्ण विचारों को अच्छी प्रकार चुनकर उन्हें वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में सार-संदर्भित बना सकता है। उदाहरणार्थ विलियन क्रासमैन यह सिद्ध करता है कि किस प्रकार प्लेटो का राजनीतिक दर्शन आधुनिक लोकतंत्र की समस्याओं की आलोचना करने और उन्हें हल करने के लिए एक आदर्श या मानदण्ड हो सकता है।

3. राजनीतिशास्त्रियों के लिए राजनीतिक सिद्धान्त संकल्पनात्मक ढाँचों, परिचालनात्मक संकल्पनाओं और तर्कसंगत संबंधों के स्रोत के लिए उपयोगी माना जाता है। नये विश्लेषणात्मक तरीके तैयार करना और परीक्षण योग्य परिकल्पनाओं का निर्माण करना कल्पना शक्ति का कार्य है और यह राजनीति विज्ञान की प्रगति में सिद्धान्त अभिमुख विद्वानों का महान योगदान माना जाता है।
4. राजनीतिक सिद्धान्तवेत्ता वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए भी संकल्पनाएँ प्रस्तुत करते हैं।
5. राजनीतिक सिद्धान्तवादी इस बात का सुझाव देकर राजनीति विज्ञान के अध्ययनकर्ता की सहायता कर सकता है कि आँकड़ों का उल्लेख करते हुए कार्य-कारण संबंधों का किस प्रकार वर्णन किया जा सकता है।
6. राजनीतिक सिद्धान्त केवल राजनीति विज्ञान के अध्येयता के लिए नई संकल्पनाओं और रीति विधानों की रचना ही नहीं क़रता बल्कि वह अतीत के अनुसंधान की रचनात्मक आलोचना करके वर्तमान प्रतिमानों को पूर्ण भी करता है।

संक्षेप में राजनीतिक सिद्धान्त राज्य, शासन, सत्ता, प्रभाव और कार्यकलाप का अध्ययन है। यह राजनीतिक यथार्थ को समझने, उसका वर्णन करने एवं उसकी व्याख्या करने का तरीका है।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? राजनीतिक सिद्धान्त का महत्व स्पष्ट कीजिए।
2. राजनीतिक सिद्धान्त का महत्व एवं प्रकृति स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक सिद्धान्त से क्या अभिप्राय है ?
2. परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त की विशेषताएँ समझाइये।
3. राजनीतिक सिद्धान्त का महत्व समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. परम्परावादी राजनीतिक सिद्धांत निम्न में से किस पर आधारित है :-
   (अ) तथ्य (ब) मनोविज्ञान (स) वैज्ञानिक तकनीक (द) मूल्यों एवं आदर्शों
2. परम्परावादी राजनीतिक सिद्धांत के अध्ययन का क्षेत्र नहीं है :
   (अ) मानवीय व्यवहार (ब) न्याय (स) सरकार (द) स्वतंत्रता
3. निम्न में से आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत से संबंधित विचारक हैं :
   (अ) प्लेटो (ब) रूसो (स) हीगल (द) हेरल्ड लासवेल
4. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत का प्रमुख लक्षण है:
   (अ) शोध एवं सिद्धान्त में घनिष्ठ संबंध (ब) आदर्श पर आधारित
   (स) दर्शनशास्त्र पर आधारित (द) कल्पना का सहारा

उत्तर - (1) द, (2) अ, (3) द, (4) अ

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

4

राजनीति विज्ञान के अध्ययन की पद्धतियाँ

(METHODS OF THE STUDY OF POLITICAL SCIENCE)

यह बात स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों की तरह एक सुनिश्चित विज्ञान नहीं है, फिर भी वृहत् दृष्टिकोण से हम इसे विज्ञान स्वीकार कर चुके हैं। इसका अध्ययन एक विज्ञान के रूप में किया जा सकता है। इसका व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए अध्ययन की एक सही पद्धति होना आवश्यक है। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अध्ययन-पद्धति के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है क्योंकि उनमें प्रत्येक सिद्धान्त को प्रयोगशाला में परखा जा सकता है। परन्तु राजनीति विज्ञान प्राकृतिक विज्ञान नहीं है। उसके सिद्धान्तों की जाँच प्रयोगशाला में नहीं की जा सकती। अत: सहज में ही यह प्रश्न उठता है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन किस पद्धति से किया जाये ?

विद्वानों ने राज्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है और उसके अनुरूप पद्धतियों का प्रयोग किया है। यूनानी दार्शनिक **प्लेटो** ने स्वयं सिद्ध सिद्धान्तों पर आधारित तर्क को अपनी पद्धति में प्रधानता दी। अरस्तू ने तर्क के साथ-साथ ऐतिहासिक अनुभव तथा पर्यवेक्षण और तुलना से भी काम लिया है। मध्ययुग के ईसाई विचारकों की पद्धति शुद्ध तथा पाण्डित्यवादी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीतिशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन की परिपाटी प्रारम्भ हुई। ऑगस्ट कॉम्टे, जे.एस. मिल, एलेक्जैण्डर बैन, सर जार्ज कार्नबाल, लेविस आदि ने राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धतियों के विकास में बड़ी सहायता की।

कॉम्टे ने कहा कि अध्ययन पद्धतियाँ तीन प्रकार हो सकती है- पर्यवेक्षणात्मक, प्रयोगात्मक तथा तुलनात्मक। **जे.एस.गिल** ने चार प्रकार की अध्ययन पद्धतियाँ बतलायीं- रासायनिक या प्रयोगात्मक, ज्यामितीय या अमूर्त, भौतिक या निगमनात्मक तथा ऐतिहासिक। ब्लंश्ली ने दो ही पद्धतियां बतलायीं- दार्शनिक और ऐतिहासिक। फ्रांसीसी विद्वान **दसलेन्द्रे** ने छह पद्धतियों का उल्लेख किया है- सामाजिक, तुलनात्मक, सैद्धान्तिक, न्यायिक, बुद्धिपरक और ऐतिहासिक।

पद्धतियों का वर्गीकरण (Classification of Methods)

सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए मूल रूप से तीन प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं –

(1) **आगमनात्मक पद्धति** (Inductive Method)- आगमनात्मक पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम तथ्यों का संग्रह किया जाता है, तथ्यों की तुलना की जाती और तब एक निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि इस पद्धति में हम विशिष्ट तथ्यों से सामान्य सिद्धान्त की ओर बढ़ते हैं। अरस्तू, मेकियावेली, लॉक, मॉन्टेस्क्यू आदि ने इस पद्धति का प्रयोग किया है। इस पद्धति के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रणालियों का अनुसरण किया जाता है– (1) प्रयोगात्मक, (2) पर्यवेक्षणात्मक, (3) ऐतिहासिक, (4) तुलनात्मक।

(2) **निगमनात्मक पद्धति** (Deductive Method)- निगमनात्मक पद्धति को दार्शनिक पद्धति भी कहते हैं। इसमें स्वयंसिद्ध सिद्धांत मान लिए जाते हैं। इन सिद्धान्तों को विशिष्ट परिस्थितियों में कार्यान्वित कर निष्कर्ष निकाला जाता है। इस पद्धति में हम "सामान्य सिद्धान्त से विशिष्ट तत्व की ओर बढ़ते हैं।" प्लेटो, बोदाँ, कॉम्टे, हीगल आदि ने इस पद्धति का प्रयोग किया है।

(3) **सादृश्यात्मक पद्धति** (Analogical Method)- सादृश्यात्मक पद्धति के अन्तर्गत तुलना को विशेष महत्व दिया जाता है। इसमें राज्य को हम किसी वस्तु के रूप में मान लेते हैं और उसकी तुलना दूसरी वस्तु से करते हैं। कुछ विद्वानों ने राज्य की तुलना शरीर से की है। इस पद्धति के अन्तर्गत चार प्रणालियाँ बतलायी जाती हैं- (1) समाजशास्त्रीय, (2) जीव वैज्ञानिक, (3) न्यायशास्त्रीय, (4) मनोवैज्ञानिक।

राजनीति विज्ञान की अध्ययन पद्धतियाँ : परम्परावादी
(Methods of Political Science : Traditional)

राजनीति विज्ञान के अध्ययन की प्रमुख परम्परावादी पद्धतियाँ अथवा उपागम निम्नलिखित हैं –

(1) दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)
(2) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)
(3) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)
(4) पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (Observational Method)
(5) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)
(6) सादृश्य पद्धति (Analogical Method)
(7) विधि पद्धति (Judicial Method)
(8) सांख्यिकी पद्धति (Statistical Method)
(9) मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological Method)

(1) दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)

दार्शनिक पद्धति को निगमनात्मक पद्धति का भाग माना जाता है। निगमनात्मक पद्धति में तथ्यों के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना नहीं की जाती। यह अध्ययन-विधि ठोस तथ्यों पर नहीं, आदर्शों पर आधारित होती है। इस पद्धति में सर्वप्रथम एक भावात्मक आदर्श स्थापित कर लिया जाता है और फिर कल्पना के द्वारा परिणामों पर पहुंचा जाता है। दूसरे शब्दों में, दार्शनिक पद्धति में हम कुछ आधार-वाक्यों (Premises) को लेकर चलते हैं और तर्क की प्रक्रिया द्वारा राज्य और शासन के सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं। यह पद्धति काल्पनिक और अवैज्ञानिक है। प्लेटो, थॉमस मोर, रूसो, हीगल, ग्रीन, बोसांके तथा सिजविक इसके प्रमुख प्रतिपादक हैं। प्लेटो ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' और मोर ने अपनी विख्यात रचना 'यूटोपिया' में आदर्श-राज्य निर्माण करते समय दार्शनिक पद्धति का ही प्रयोग है।

दार्शनिक पद्धति के दोष – दार्शनिक पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह काल्पनिक है और वास्तविकता से बहुत दूर है। इस पद्धति को अपनाने वाला व्यक्ति अपनी कल्पनाओं के सहारे अत्यन्त ऊँची उड़ानें लेता है और जीवन के वास्तविक धरातल से उसका सम्पर्क टूट जाता है। लास्की के शब्दों में, "किसी भी प्रकार की पूर्वसिद्ध राजनीति आगे चलकर अवश्य ही भंग हो जाती है, क्योंकि उसका प्रारम्भ ही स्पष्ट मस्तिष्क से नहीं होता।"

फिर भी यह कहना कि सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में दार्शनिक प्रणाली का कोई स्थान नहीं है, इसके अस्तित्व के प्रति अपनी अज्ञानता दिखाना होगा। सामाजिक विज्ञान आदर्शात्मक होते हैं और उनके अध्ययन का बहुत कुछ महत्व दार्शनिक प्रणाली के समुचित प्रयोग पर निर्भर है। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि "राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी को ऐतिहासिक तथा पर्यवेक्षण अध्ययन-विधियों के साथ-साथ दर्शन का भी सहारा अवश्य लेना चाहिये।"

(2) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)

ऐतिहासिक पद्धति के प्रमुख समर्थक अरस्तू, मैकियावेली, बोदाँ, मॉन्टेस्क्यू, बर्क, सीले, फ्रीमेन आदि विद्वान हैं। प्राचीन काल में अरस्तू पहला दार्शनिक था जिसने इस पद्धति का प्रयोग किया। इतिहास, राजनीति विज्ञान के लिए प्रयोगशाला है। यह मानव जाति की घटनाओं का भण्डार है। इसमें मानव सभ्यता तथा संस्कृति के उत्थान-पतन की कहानी छिपी है। विकासवाद के सिद्धान्त के परिणामस्वरूप अब यह धारणा सर्वमान्य हो गयी है कि वर्तमान भूतकाल की देन है। आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं, आदर्शों, सिद्धान्तों और समस्याओं की जड़ें इतिहास के पृष्ठों में खोजी जा सकती हैं। हमारी वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति तथा विकास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें इतिहास की ही शरण लेनी पड़ेगी। इतिहास की सहायता के बिना राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन अधूरा ही रह जायेगा। **प्रो.लॉस्की** ने ठीक ही कहा है कि, "राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्यों के इतिहास में अनुभवों के

परिणामों को इकट्ठा करके लिखने का प्रयास ही होना चाहिये।" **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, "राजनीति विज्ञान के प्रयोग इतिहास की पृष्ठभूमि में ही किये जाते हैं।" **पोलक** के अनुसार, " ऐतिहासिक पद्धति राजनीतिक संस्थाओं की वर्तमान स्थिति की अपेक्षा इस बात पर अधिक जोर देती है कि वे वर्तमान स्थिति तक किस प्रकार पहुंची।" वस्तुत: राजनीतिक संस्थाएँ विकसित होती हैं, न कि निर्मित की जाती है, अत: यह कहना सही प्रतीत होता है कि राजनीतिक संस्थाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाले बिना उसका अध्ययन करना अंधेरे में टटोलने के समान है।

ऐतिहासिक विधि की आलोचना - राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक पद्धति के महत्व को कतिपय आलोचक स्वीकार नहीं करते। सिजविक का कहना है कि इतिहास इस बात का निर्णय नहीं कर सकता है कि राजनीतिक जीवन में क्या अच्छा या बुरा और क्या उचित अथवा अनुचित है। इस बात का निर्णय करना तो दर्शन का कार्य है, न कि इतिहास का। आलोचकों का दूसरा तर्क यह है कि इतिहास हमें अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अधिक सहायता नहीं दे सकता क्योंकि हम इस बात का सही पता नहीं लगा सकते कि अतीत की घटनाओं से वर्तमान का क्या सम्बन्ध है?

ऐतिहासिक पद्धति में सतर्कता की आवश्यकता - यद्यपि यह सत्य है कि ऐतिहासिक अध्ययन के बिना राजनीतिक शिक्षा अधूरी रह जायेगी किन्तु इस प्रणाली के उपयोग में सावधानी की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रथम, इतिहास का अध्ययन पूर्व-निर्धारित धारणाओं के अनुसार नहीं बल्कि निष्पक्ष रूप से होना चाहिए। द्वितीय, कभी-कभी इस पद्धति का अनुसरण करने वालों का दृष्टिकोण नियतिवादी हो जाता है। वे समझने लगते हैं कि सामाजिक विकास के नियम अटल और अपरिवर्तनशील हैं। अत: उनके मुकाबले में मनुष्य के प्रयत्नों का कोई मूल्य नहीं। इस प्रकार की धारणा से हमें अवश्य बचना चाहिए। तृतीय, अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार इतिहास द्वारा किसी प्रक्रिया को भली-भाँति समझा जा सकता है किन्तु वह उसके परिणाम का मूल्यांकन नहीं कर सकता। वह 'क्या था' और 'कैसे हो गया' का विवरण तो प्रस्तुत करता है किन्तु 'क्या होना चाहिए' के सम्बन्ध में हमें ज्ञान नहीं दे सकता। संक्षेप में, राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक पद्धति बहुत महत्वपूर्ण है, तथापि इसका प्रयोग सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए, अन्यथा हमारे निष्कर्ष गलत साबित होंगे।

(3) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)

तुलनात्मक पद्धति राजनीति विज्ञान के अध्ययन की महत्वपूर्ण विधि है। तुलनात्मक पद्धति का सर्वप्रथम प्रयोग अरस्तू ने किया था। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' में 158 संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करके क्रान्तियों के कारणों और उनको रोकने के उपायों का निरूपण किया। आधुनिक काल में इस पद्धति का प्रयोग करने वाले विद्वानों में मॉन्टेस्क्यू, डी-टाकविली और लार्ड ब्राइस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस पद्धति का प्रयोग करने वालों का यह ध्येय होता है कि वह एक प्रकार की संस्थाओं का इतिहास में तथा वर्तमान समय में तुलना करके उनके बारे में नियमों और सिद्धान्तों का निर्धारण करें। दूसरे शब्दों में, इस पद्धति के द्वारा हम तथ्यों का संकलन, उनका विश्लेषण और तुलना करके किसी विशेष राजनीतिक प्रणाली के औचित्य के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं। इतिहास में हमको राज्यों के विभिन्न अंगों के विकास, पतन और विनाश के उदाहरण मिलते हैं। तुलनात्मक अध्ययन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि किन कारणों से क्या परिणाम निकालना तर्क संगत होगा। इस पद्धति का ऐतिहासिक पद्धति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

तुलनात्मक पद्धति की सीमाएँ - तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए। इस पद्धति के प्रयोग में हमें निम्नांकित सावधानी बरतनी चाहिए-

(1) तुलना करने का अर्थ केवल समान तथ्य ही ढूंढ़ना नहीं है, अपितु महत्वपूर्ण भिन्नताओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

(2) किसी विशेष परिस्थिति में किसी एक देश में आन्दोलन अथवा क्रान्ति होती है, परन्तु जब हम उसकी तुलना किसी दूसरे देश में उसी प्रकार की घटना व गति से करेंगे तो हमको यह ध्यान रखना होगा कि कौन से कारक हमको समान मिलते हैं और किन समान कारकों के समान परिणाम निकालना उचित होगा। कारकों का विश्लेषण विवेक से करना होगा ताकि इस पद्धति का गलत प्रयोग न हो।

NOTES

(3) हमें अत्यधिक विभिन्नता वाली संस्थाओं की तुलना नहीं करनी चाहिए।

(4) तुलना करते समय जल्दी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचना चाहिए। निष्कर्षों पर पहुंचने के पहले सभी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए।

(5) विभिन्न देशों की राजनीतिक संस्थाओं की तुलना करते समय हमें उन देशों की राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

संक्षेप में, तुलनात्मक पद्धति की कमजोरियों को देखते हुए जेलेनिक ने स्पष्ट कहा है कि इस पद्धति का प्रयोग ऐसे राज्यों एवं राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए ही उचित है जो एक ही युग के हों, जिनका सामान्य ऐतिहासिक आधार हो और जिनकी समान ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ हों।

(4) पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (Observational Method)

इसे अवलोकन पद्धति भी कहते हैं। पर्यवेक्षण अनुसंधान की एक निश्चित पद्धति है। प्रत्येक अनुसंधानकर्त्ता को पर्यवेक्षण के आधार पर ही निष्कर्ष निकालने चाहिए क्योंकि वे वास्तविकता के अधिक निकट होते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत घटनाओं का निकट से प्रत्यक्ष अवलोकन (Obervation) किया जाता है। पर्यवेक्षण विधि से अभिप्राय है शासन प्रणालियों एवं राजनीतिक संस्थाओं का नजदीक से अध्ययन करना अर्थात् उनकी वास्तविक कार्य प्रणाली को पास जाकर देखना। सर्वप्रथम लॉवेल ने राजनीति विज्ञान के अवलोकन पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। **लॉवेल** ने कहा कि "राजनीति विज्ञान पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है, न कि प्रयोगात्मक और पर्यवेक्षण पद्धति ही अनुसंधान की उचित विधि है।" प्रत्यक्ष अवलोकन और व्यक्तिगत साक्षात्कार से वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं का बहुत अच्छी प्रकार अध्ययन हो सकता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए **लॉवेल** ने स्पष्ट कहा कि "राजनीतिक संस्थाओं की सच्ची प्रयोगशाला पुस्तकालय न होकर राजनीतिक जीवन का बाह्य संसार है।"

लार्ड ब्राइस ने इस पद्धति के अध्ययन पर बहुत अधिक जोर दिया है। उन्होंने अमेरिका, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, कनाडा, स्विटजरलैण्ड आदि की यात्रा की और वहाँ की राजनीतिक समस्याओं तथा प्रणालियों का पर्यवेक्षण किया। उन्होंने इन देशों के राजनीतिज्ञों तथा विधायकों से व्यक्तिगत साक्षात्कार किये। इन अनुभवों के आधार पर उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मॉडर्न डेमोक्रेसीज' की रचना की।

पर्यवेक्षण पद्धति के प्रयोग में सर्तकता - राजनीति विज्ञान के अध्ययन में पर्यवेक्षण पद्धति का प्रयोग करते समय निम्नांकित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है :

(1) अनुसंधानकर्ता को बिना किसी पूर्व धारणा के राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन-विश्लेषण करना चाहिए।

(2) राजनीतिक अनुसंधानकर्ताओं को किसी एक देश के पर्यवेक्षण से संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, प्रत्युत जहाँ तक हो सके विभिन्न देशों की समस्याओं का पर्यवेक्षण करना चाहिए।

(3) अनुसंधानकर्ताओं को सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए अपितु स्वयं तथ्यों की खोज करना चाहिए।

पर्यवेक्षण पद्धति की सीमाएँ - इस प्रणाली के सफल प्रयोग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सीले ने भी माना है कि अन्य विषयों की अपेक्षा राजनीति विज्ञान में तथ्यों को अधिकृत रूप से प्रमाणित करना अधिक कठिन है। इस प्रणाली में अनुसंधानकर्ता का व्यक्तिगत दृष्टिकोण और उसकी अन्य कमियाँ उसके अध्ययन और निष्कर्षों पर बहुत प्रभाव डालती हैं। लार्ड ब्राइस के अनुसार एक राजनीतिक प्रेक्षक ऐसी ऊपरी समानताओं और व्यापक सामान्यीकरणों के भुलावे में पड़ सकता है जो वस्तुत: तथ्यों पर आधारित न हों। ब्रिटिश संविधान का अध्ययन करते समय मांटेस्क्यू जैसा विद्वान भी गम्भीर भूल कर बैठा, जबकि वह स्वयं इंग्लैण्ड गया था, उसने वहाँ की संस्थाओं का स्वयं अवलोकन तथा अध्ययन किया था। फिर भी वह ब्रिटिश संविधान का वास्तविक स्वरूप नहीं समझ पाया था और उसने शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को ब्रिटिश संविधान की बुनियादी विशेषता बतलाया, जो सर्वथा असत्य है।

संक्षेप में, सेट के अनुसार,'राजनीति का विज्ञान' अवलोकन प्रणाली द्वारा ही विकसित किया जा सकता है, यद्यपि यह प्रणाली कष्टसाध्य है और इसमें प्रयोग की अपेक्षा भूलों की अधिक आशंका रहती है, तथापि इसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती।

(5) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)

प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन में साधारणतया इस पद्धति का ही प्रयोग होता है। जिस वस्तु की सत्यता की जाँच करनी होती है, उस पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग प्रयोगशाला में कर लिये जाते हैं। इस प्रकार इस पद्धति का सम्बन्ध साधारणत: प्राकृतिक विज्ञानों से है। सामाजिक विज्ञानों के सम्बन्ध में इस पद्धति का प्रयोग केवल एक विशेष अर्थ में ही किया जाता है। वस्तुत: इस पद्धति का प्रयोग राजनीति विज्ञान तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों में उस प्रकार से नहीं हो सकता जिस प्रकार से इसका प्रयोग प्राकृतिक विज्ञान में होता है। इसका मूल कारण यह है कि प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक पदार्थों से सम्बन्धित होते हैं और इन पदार्थों के ऊपर प्रयोग करना सरल होता है। एक रसायनशास्त्री किसी पदार्थ को लेकर उसका अच्छी तरह निरीक्षण कर सकता है, उस पर मनोवांछित प्रभाव डालकर उसकी प्रतिक्रियाओं का अवलोकन कर सकता है और इस अध्ययन से अपने निष्कर्ष निकाल सकता है। परन्तु सामाजिक विज्ञानों में हम मनुष्य तथा उसके समुदायों के व्यवहार का अध्ययन करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा, बुद्धि तथा प्रवृत्ति होती है और उसके आचरण पर उन सबका अत्यन्त प्रभाव होता है। मनुष्य किसी विशेष परिस्थिति में कैसा व्यवहार करेगा, यह कहना कठिन हो जाता है। लार्ड ब्राइस ने ठीक ही कहा है कि "भौतिक विज्ञानों में एक के पश्चात् दूसरा प्रयोग उस समय तक लगातार किया जा सकता है जब तक कि अन्तिम परिणाम न मिल जाय, परन्तु राजनीति में हम जिसे प्रयोग कहते हैं, उसे बार-बार नहीं दोहरा सकते। भौतिक विज्ञान में भविष्यवाणी सत्य हो सकती है परन्तु राजनीति में केवल उसकी सम्भावना ही हो सकती है।"

यह सच है कि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक प्रयोग सम्भव नहीं हैं, परन्तु यदि व्यवहारिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अनेक प्रयोग होते ही रहते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली एक प्रयोग मात्र है। स्वाधीनता से पूर्व 1909, 1919 तथा 1935 के भारत शासन अधिनियम भारत की राजनीतिक स्थिति को सुधारने की दिशा में विभिन्न प्रयोग कहे जा सकते हैं। देश के विभिन्न राज्यों में पंचायती राज व्यवस्था की शुरूआत भी एक प्रयोग कही जा सकती है। **कॉम्टे** ने ठीक ही कहा है कि "राज्य के अन्दर प्रत्येक परिवर्तन एक राजनीतिक प्रयोग होता है।" **गार्नर** जैसे विद्वान् का कथन है कि "प्रत्येक नये कानून का निर्माण, प्रत्येक नई संस्था की स्थापना, प्रत्येक नई नीति का प्रारम्भ एक प्रकार से प्रयोग ही होता है क्योंकि उस समय तक उसे केवल अस्थायी तथा प्रस्ताव रूप में समझा जाता है जब तक कि परिणाम उसके स्थायी होने की योग्यता सिद्ध न कर दे।"

प्रयोगात्मक पद्धति की आलोचना- राजनीति विज्ञान में इस पद्धति के उपयोग पर सीमाएँ होते हुए भी इससे लाभ उठाया जा सकता है। राजनीति विज्ञान इस अर्थ में प्रयोगात्मक नहीं है कि इसमें किसी प्रयोगशाला में नियन्त्रित प्रयोग हो सकते हैं, तथापि विश्व के अनेक भागों में एक ही प्रकार की राजनीतिक घटनाएँ होती रहती हैं। क्रान्तियाँ तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, राजनीतिक गुटबन्दी आदि राजनीतिक घटनाओं का हम इस प्रकार से अध्ययन कर सकते हैं जैसे कोई वैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्राकृतिक पदार्थों में परिवर्तन का अध्ययन करता है। मेरियम ने ठीक ही कहा है कि अभी यह प्रमाणित नहीं हो सका कि राजनीति विज्ञान पूर्णत: प्रयोग प्रणाली को अपने अध्ययन के लिए कर सकता है, तथापि इस सम्भावना को हम एकदम अस्वीकृत भी नहीं कर सकते। संक्षेप में, अनुभव और पर्यवेक्षण के आधार पर प्रयोगात्मक पद्धति का उपयोग राजनीति विज्ञान में किया जा सकता है। वस्तुनिष्ठ पर्यवेक्षण द्वारा हम बहुत से राजनीतिक परिवर्तनों का सही ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। प्रयोगात्मक पद्धति में पर्यवेक्षण का इतना अधिक महत्व है कि कभी इसे एक अलग ही पद्धति कहा जाता है।

(6) सादृश्य पद्धति (Analogical Method)

सादृश्य पद्धति के अन्तर्गत राज्य की तुलना किसी संस्था अथवा वस्तु से की जाती है। कतिपय विद्वान इस पद्धति को तुलनात्मक प्रणाली का ही एक अंग मानते हैं। इस पद्धति का प्रयोग व्यापक रूप में प्लेटो, अरस्तू, स्पेन्सर, हॉब्स, रूसो, ब्लंश्ली आदि विद्वानों ने किया है। इस पद्धति में राज्य की तुलना

समाजशास्त्रीय, जीववैज्ञानिक, न्यायमूलक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों के आधार पर अन्य वस्तुओं से की गई है। समाजशास्त्रीय पद्धति राज्य को सामाजिक अवयव के रूप में मानती है। जीववैज्ञानिक पद्धति राज्य को एक सजीव अवयव मानती है। न्यायमूलक पद्धति में राज्य को एक विधि-पुरुष या विधि-संस्थान के रूप में देखा गया है। मनोवैज्ञानिक पद्धति में मानवीय व्यवहारों की क्रियाशीलता, मस्तिष्क की क्रियाओं आदि पर बल दिया जाता है। यह पद्धति भ्रमपूर्ण धारणाएं उत्पन्न करती है। राज्य की सामाजिक अवयव, मस्तिष्क, जीव विज्ञान या विधि-व्यक्ति से तुलना करना ठीक नहीं है।

(7) विधि पद्धति (Judicial Method)

विधि पद्धति के अन्तर्गत राज्य के कानूनी आधार पर बल दिया जाता है। इस पद्धति में राज्य को एक कानूनी व्यक्ति माना जाता है जो कानून को सामूहिक अथवा व्यक्तिगत रूप में लागू करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस पद्धति में राज्य को कानूनी स्वरूप का अध्ययन करने वाला विज्ञान माना जाता है।

संक्षेप में, यह पद्धति राज्य को एक कानूनी इकाई मानती है, जिसका कार्य कानून बनाना और उन्हें क्रियान्वित करना है। इस पद्धति के समर्थकों में विलोबी, डिग्विट इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सामाजिक व आर्थिक शक्तियों को भुला दिया गया है जो राज्य में आधारभूत रूप में कार्य करती हैं।

(8) सांख्यिकी पद्धति (Statistical Method)

आजकल राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सांख्यिकी पद्धति का प्रयोग दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है। आंकड़ों के अभाव में राजनीतिक निर्णय लेना कठिन हो गया है। इस पद्धति के अन्तर्गत किसी विषय-विशेष के सम्बन्ध में आंकड़े इकट्ठे किये जाते हैं और उन आंकड़ों का वर्गीकरण करके सही निष्कर्ष निकाले जाते हैं। आधुनिक राज्य में लोकमत, अल्पसंख्यकों तथा बहुसंख्यकों आदि की स्थितियों का अनुमान इसी पद्धति द्वारा लगाया जाता है। राज्य का समस्त आर्थिक नियोजन आंकड़ों के ऊपर निर्भर करता है किन्तु राजनीति विज्ञान में इस पद्धति का प्रयोग ऐतिहासिक पद्धति की भाँति स्वतन्त्र रूप में नहीं हो सकता।

(9) मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychological Method)

मनोवैज्ञानिक पद्धति मानव स्वभाव एवं व्यवहार पर विशेष बल देती है, जिससे इस पद्धति के अनुसार समस्त राजनैतिक समस्याओं का समाधान एवं विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया जाय। यह पद्धति शासन के संचालन में भाग लेने वालों की मानसिक क्रियाओं तथा भावनाओं पर अधिक महत्व देती है। व्यक्ति व समूह के कार्य विवेक तथा बुद्धि के अतिरिक्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से जैसे इच्छा, आकांक्षा, मन: प्रवृत्ति से भी अभिप्रेरित होते हैं। अत: राजनीति विज्ञान के अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों जैसे लोकमत, राजनैतिक दलों की रचना, निर्वाचन, मताचार आदि के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक पद्धति वरदान सिद्ध हो सकती है।

सर्वश्रेष्ठ पद्धति कौन-सी है? (Which is the best Method?)

राजनीति विज्ञान के अध्ययन की विविध परम्परावादी पद्धतियों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकालना अत्यन्त कठिन है कि सर्वश्रेष्ठ अध्ययन पद्धति कौन-सी है? वस्तुत: राजनीति विज्ञान इतना विस्तृत विषय है कि इसके अध्ययन के लिए किसी एक पद्धति का अनुसरण करना पर्याप्त नहीं है और सबसे थोड़ा बहुत ग्रहण करना आवश्यक है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ एक दूसरे की विरोधी नहीं अपितु एक-दूसरे की पूरक हैं। **प्रो. गिलक्राइस्ट** ने ठीक ही कहा है, "सच्चे इतिहासवेत्ता को दर्शनशास्त्र का महत्व समझना चाहिए और एक सच्चे तत्ववेत्ता को इतिहास से परामर्श लेना चाहिए। इतिहास के प्रयोग तथा प्रत्यक्ष तत्वों को आदर्शों के प्रकाश से चमकाना चाहिए। इसलिए सबसे उत्तम पद्धति में ऐतिहासिक तथा दार्शनिक विधियों का सम्मिश्रण होना जरूरी है।" संक्षेप में, राजनीति विज्ञान की सभी पद्धतियाँ एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। यदि इनमें कोई विरोध दिखाई देता है तो सबसे बड़ा विरोध राजनीति विज्ञान की परम्परागत प्रणालियों और दृष्टिकोणों को मानने वालों और आनुभविक वैज्ञानिकों में है।

राजनीति विज्ञान की अध्ययन पद्धतियाँ : आधुनिक
(Methods of Political Science : Modern)

राजनीति विज्ञान के अध्ययन की निम्नलिखित पद्धतियाँ आधुनिक कही जाती हैं–

(1) आनुभविक पद्धति (Empirical Method)

(2) पद्धति प्रणाली (System Method)

(3) संरचनात्मक प्रकार्यवादी पद्धति (Structural Functional Method)

(4) व्यवहारवादी पद्धति या उपागम (Behavioural Approach)

(1) आनुभविक पद्धति (Empirical Method)

आनुभविक पद्धति का प्रयोग सिडनी तथा बेट्रिस वेब द्वारा किया गया है। इसे वैज्ञानिक पद्धति कहा जाता है क्योंकि यह एक आगमनात्मक पद्धति है। इस पद्धति के अन्तर्गत स्वयं के पर्यवेक्षण एवं अवलोकन के आधार पर प्राप्त तथ्यों एवं आंकड़ों का विश्लेषण किया जाता है। इस पद्धति की आलोचना का मूल कारण यह है कि तथ्यों की खोज करने के कारण इसका प्रयोगकर्त्ता राजनैतिक मूल्यों एवं आदर्शों की उपेक्षा कर देता है।

(2) पद्धति प्रणाली (System Method)

आजकल पद्धति प्रणाली से भी राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन होने लगा है। राजनीति विज्ञान में पद्धति प्रणाली का प्रयोग आमण्ड, ईस्टन आदि विद्वानों ने किया है। पद्धति प्रणाली की धारणा को समाजशास्त्रियों ने विकसित किया था। समाजशास्त्रियों और राजनीतिशास्त्रियों में इस मूल तथ्य पर मतैक्य है कि राजनीतिक पद्धति संपूर्ण सामाजिक पद्धति का एक अंश है। पद्धति सिद्धान्त की आधारभूत धारणा प्रसिद्ध अमरीकी समाजशास्त्री टालकोट पारसन्स की पुस्तक 'सोशल सिस्टम' में मिलती है, जिसमें उसने सम्पूर्ण समाज को एक पद्धति के रूप में देखा तथा समाज के भीतर की विधि संस्थाओं, संरचनाओं तथा प्रतिक्रियाओं को विभिन्न उप-पद्धतियों में विभाजित करके समझने की कोशिश की। आधुनिक राजनीतिशास्त्री राजनीतिक पद्धति को सामाजिक पद्धति का अभिन्न अंग मानते हैं तथा राज्य को एक व्यवस्था के रूप में देखना चाहते हैं। राजनीतिक पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न मनुष्य और समूह भिन्न-भिन्न तरह की भूमिकाएँ अदा करते हैं। पर इन औपचारिक भूमिकाओं के अलावा असंख्य राजनीतिक कार्यों का सम्पादन भी इसके अन्तर्गत होता रहता है। संक्षेप में, पद्धति प्रणाली संपूर्ण राज-व्यवस्था का उसके निवेश तथा निर्गत प्रकार्यों के संदर्भ में अध्ययन करती है। व्यवस्था अथवा पद्धति के रूप में राजनीति का अध्ययन करके इस सिद्धान्त के समर्थकों ने राजनीति विज्ञान को परम्परागत कानूनी, संस्थात्मक एवं औपचारिक प्रतिबन्धों से उन्मुक्त कर दिया है। पद्धति शब्द बहुत व्यापक है और उसमें सभी प्रकार की औपचारिक तथा अनौपचारिक प्रक्रियायें, अन्त: क्रियायें, प्रकार्य, संरचनायें, मूल्य, आचार आदि आ जाते हैं।

(3) संरचनात्मक प्रकार्यवादी पद्धति (Structural - Functional Method)

आजकल संरचनात्मक प्रकार्यवादी पद्धति की भी चर्चा की जाती है। इस सिद्धान्त अथवा उपागम का प्रतिपादन आर.के. मर्टन, गेब्रिल ए. आमण्ड, जेम्स एस. कोलमैन आदि ने किया। यह अन्वेषण का एक उपकरण है और इसके माध्यम से इस बात की व्याख्या की जा सकती है कि राजनीतिक व्यवस्था में कौन से राजनीतिक संगठन कौन से बुनियादी कार्य करते हैं। इस उपागम के द्वारा राज-व्यवस्था की 'संरचना' (Structure) तथा उसके 'प्रकार्य' (Function) का अध्ययन किया जाता है। रिग्स ने लिखा है कि यदि प्रकार्यों के विरुद्ध संरचनाओं पर जोर नहीं दिया जाता तो विश्लेषण गुमराह करने वाला हो सकता है। संरचनात्मक प्रकार्यवादी उपागम को तुलनात्मक सरकार के अध्ययन के लिए व्यापक रूप से अपनाया गया है क्योंकि यह दृष्टिकोण एक दूसरे से मेल न खाने वाली विभिन्न राज-व्यवस्थाओं के लिए प्रतिमान प्रस्तुत करता है।

(4) व्यवहारवादी पद्धति या उपागम (Behavioural Approach)

व्यवहारवादी उपागम 'नये राजनीति विज्ञान' से इतना अधिक जुड़ा हुआ है कि इसे राजनीति के 'वैज्ञानिक अध्ययन'का सहचर कहा जा सकता है। कभी-कभी तो यह भी माना जाता है कि अनेक उपागम

जैसे पद्धति सिद्धान्त, संचार सिद्धान्त, प्रकार्य सिद्धान्त आदि व्यवहारवादी क्रान्ति की ही उपज हैं। व्यवहारवाद एक बौद्धिक प्रवृत्ति है तथा इसे एक निश्चित शैक्षणिक आन्दोलन कहा जा सकता है। हम इसे अमरीकी राजनीति-विज्ञान की जटिल विचारधारा के साथ जोड़ सकते हैं जो स्वयं अपने आपमें एक कठोर 'एम्पीरिसिज्म', मानव आचरण के सम्बन्ध में वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा सत्यापन योग्य प्रक्रिया के प्रयोग पर बल देता है।

व्यवहारवाद (बिहेवियरलिज्म के अर्थ में) से हमारा तात्पर्य क्या है ? **राबर्ट डाहल** ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है कि "वह राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत एक ऐसा विरोध आन्दोलन है जिससे अनेक ऐसे राजनीतिशास्त्री विशेषकर अमरीकी, सम्बद्ध हैं जो - (अ) परम्परागत राजनीति विज्ञान की उपलब्धियों, विशेषकर उसके ऐतिहासिक, दार्शनिक और विवरणात्मक-संस्थात्मक उपागमों से बहुत अधिक असंतुष्ट हैं, और (ब) जिन्हें यह विश्वास है कि कुछ अन्य पद्धतियाँ और उपागम या तो मौजूद हैं अथवा उनका विकास किया जा सकता है, जिनकी सहायता से राजनीति विज्ञान में आनुभाविक प्रस्थापनाओं और कुछ सीमा तक व्यवस्थित सिद्धान्तों का विकास किया जा सके, जिनका परीक्षण राजनीतिक घटनाओं का अधिक निकट से और अधिक प्रत्यक्ष और अधिक कठोरता से नियन्त्रित प्रेक्षणों के द्वारा किया जा सके।" उसने आगे यह भी लिखा है कि यह एक ऐसा आन्दोलन है जिसका उद्देश्य "राजनीतिक अध्ययन को आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में विकसित सिद्धान्तों, पद्धतियों, खोजों और दृष्टिकोणों के निकट सम्पर्क में लाना और एक ऐसा प्रयत्न है जो राजनीति विज्ञान में आनुभाविक तत्वों को अधिक वैज्ञानिकता प्रदान करता है।"

डेविड ट्रूमैन के अनुसार, व्यवहारवादी उपागम से अभिप्राय है कि अनुसंधान क्रमबद्ध हो तथा अनुभवात्मक तरीकों का प्रयोग किया जाए। किकपैट्रिक के अनुसार, व्यवहारवाद चार तत्वों का मिश्रण है- (1) विश्लेषण की इकाई के रूप में संस्थाओं की अपेक्षा व्यक्ति तथा समूह के आचरण का अध्ययन (2) सामाजिक विज्ञानों की एकता पर बल तथा अन्त: अनुशासनात्मक अध्ययन पर बल। (3) तथ्यों के पर्यवेक्षण हेतु सांख्यिकीय तथा परिणामात्मक तकनीकों पर बल। (4) राजनीति विज्ञान को एक व्यवस्थित अनुभाविक सिद्धांत के रूप में परिभाषित करना। व्यवहारवाद के अध्ययन की इकाई मानव का एक ऐसा व्यवहार है जिसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पर्यवेक्षण, मापन और सत्यापन किया जा सकता है। व्यवहारवाद राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से राजनीति की संरचनाओं, प्रक्रियाओं इत्यादि के बारे में वैज्ञानिक व्याख्याएँ विकसित करना चाहता है। वस्तुत: व्यवहारवाद एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसका लक्ष्य विश्लेषण की नई इकाइयों, नई पद्धतियों, नई तकनीकों, नये तथ्यों और एक व्यवस्थित सिद्धान्त के विकास को प्राप्त करना है। व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यता यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों और समाज विज्ञानों के बीच एक गुणात्मक निरन्तरता है।

व्यवहारवादी उपागम के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार हैं:-

1. व्यवहारवादी यह मानते हैं कि अध्ययन की इकाई बहुत बड़ी न होकर लघु (Micro) होनी चाहिए।
2. राजनीति विज्ञान में व्यक्ति एवं व्यक्ति-समूहों के व्यवहार का अध्ययन उपयुक्त है।
3. अध्ययन एवं शोध सिद्धान्त निर्माण से प्रेरित होने चाहिए।
4. अन्त: अनुशासनात्मक अध्ययन किए जाने चाहिए।
5. नई प्रणाली एवं तकनीकों का प्रयोग किया जाना चाहिए। तालिकाएँ, ग्राफ, गणितीय मॉडल, अनुमाप प्रविधि का अधिकाधिक प्रयोग अपेक्षित है।

संक्षेप में जो तत्व व्यवहारवादी उपागम को अन्य उपागमों से भिन्न करता है वह सामग्री का प्रेक्षण, वर्गीकरण और मापन करने के लिए अधिक परिशुद्ध तकनीकों का विकास व उपयोग एवं गणितीय विश्लेषण के अन्य परिष्कृत उपलब्ध माध्यमों का इस्तेमाल करना है।

व्यवहारवादी उपागम परम्परागत राजनीति शास्त्र की राज्य सम्बन्धी औपचारिक, कानूनी एवं दार्शनिक सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। यह अपने अनुभाविक एवं सैद्धान्तिक विश्लेषण की इकाई व्यक्तियों और समूहों के व्यवहार को मानता है। व्यवहारवादी उपागम के अनुसार यह ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं है कि उसे कैसा होना चाहिए। मूल्यों का महत्व हो सकता है किन्तु व्यवहारवादी आदर्शों और

अनुभाविक तथ्यों में अन्तर करते हैं। राजनीति का अध्ययन करते समय मानव के आचरण का अध्ययन राजनीतिक संस्थाओं में औपचारिक ढाँचे के अध्ययन से अधिक महत्वपूर्ण है। राजनीतिक विश्लेषण में व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों तथा कल्पनाओं का कोई महत्व नहीं है। **राबर्ट डाहल** के अनुसार-"व्यवहारवादियों का लक्ष्य शासन की समस्त घटनाओं को मानव के पर्यवेक्षित व्यवहार के रूप में देखना है।" वे वस्तुत: वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा उसका सत्यापन करना चाहते हैं। वे मानते हैं कि राजनीतिक शोध क्रमबद्ध होने के साथ सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर आधारित हों, तथ्यों तथा आंकड़ों के इकट्ठा करने के साधन विश्वसनीय हों। वे उपलब्ध समस्त वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं ताकि राजनीति को 'विज्ञान' बना सकें।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान की परम्परागत अध्ययन पद्धतियों को समझाइये।
2. राजनीति विज्ञान की विभिन्न अध्ययन पद्धतियों का वर्णन कीजिए।
3. व्यवहारवादी पद्धति का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
4. राजनीति विज्ञान की 'परम्परावादी' और 'व्यवहारवादी' अध्ययन पद्धतियों के बीच अंतर समझाइये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. आनुभाविक पद्धति से आप क्या समझते हैं ?
2. पर्यवेक्षणात्मक पद्धति से क्या अभिप्राय है ?
3. राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सांख्यिकी पद्धति का महत्व समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान के अध्ययन के ऐतिहासिक उपागम से संबंधित विचारक है :
   (अ) प्लेटो (ब) साइमन (स) अरस्तू (द) जे.एस. मिल
2. दार्शनिक अध्ययन पद्धति का प्रमुख दोष है :
   (अ) कल्पना पर आधारित एवं यथार्थ से दूर (ब) विस्तृत सोच पर आधारित
   (स) मूल्यों से अलग (द) पुरातन पद्धति
3. अरस्तू ने संविधानों के अध्ययन में किस पद्धति का प्रयोग किया है :
   (अ) तुलनात्मक पद्धति (ब) ऐतिहासिक पद्धति
   (स) प्रयोगात्मक पद्धति (द) दार्शनिक पद्धति
4. सांख्यिकी पद्धति के संबंध में निम्न में से कौनसा सही नहीं है :
   (अ) तथ्यों पर आधारित (ब) आंकड़ों का प्रयोग
   (स) विश्लेषण में सहायक (द) दर्शन के निकट

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

उत्तर - (1) स, (2) अ, (3) अ, (4) द

5

NOTES

राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध

(RELATIONS OF POLITICAL SCIENCE WITH OTHER SOCIAL SCIENCES)

मनुष्य के सामाजिक जीवन में अनेक पक्ष अथवा पहलू होते हैं। उसका अध्ययन करने में विभिन्न दृष्टिकोणों तथा अनेक शास्त्रों का विवेचन करना पड़ता है। राजनीति विज्ञान केवल एक ही पक्ष अर्थात राजनीतिक संगठन तथा प्रतिक्रियाओं पर ही विशेष ध्यान देता है। मानव जीवन के अन्य पक्षों का अध्ययन विभिन्न विषयों के द्वारा किया जाता है। ये विभिन्न विषय एक दूसरे से गहरा पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं। समाज विज्ञान के विभिन्न विषयों की तुलना एक वटवृक्ष से की जा सकती है जिसकी शाखाएँ अलग-अलग शास्त्रों का प्रतिनिधित्व करती हैं। वस्तुत: समाज विज्ञान के प्रमुख विषय एक दूसरे से उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार वटवृक्ष की शाखाएँ एक दूसरे से जुड़ी होती हैं। **सिजविक** के शब्दों में, "किसी भी विषय के सम्बन्ध में व्यापक ज्ञान की उपलब्धि के लिए अन्य विज्ञानों के साथ उसका सह सम्बन्ध स्थापित करना उचित ही है। राजनीति विज्ञान एक ऐसा मानवीय विज्ञान है जिसका सम्बन्ध अन्य समाज शास्त्रों से है। राजनीति विज्ञान ही क्या, वर्तमान युग में किसी भी विषय का एकाकी अध्ययन नहीं किया जा सकता।" **सौल्टाऊ** का विचार है कि राजनीति विज्ञान के उचित अध्ययन के लिए विज्ञानों अथवा ज्ञान की अन्य शाखाओं की सहायता अपेक्षित है।

राजनीति विज्ञान का सबसे बड़ा गुण समाज विज्ञान की अन्य शाखाओं के निष्कर्षों को ग्रहण करने की तत्परता है। **रोडी** के अनुसार, "संभवत: राजनीति विज्ञान का सबसे बड़ा गुण उसकी विनम्रता है। अन्य विज्ञानों से शिक्षा लेने की तत्परता और अन्य सहयोगी विद्वानों के सम्मुख अन्तिम और निश्चयात्मक सिद्धान्त बनाने का दावा न करना, उसके उन्नत विकास का प्रमाण है।" **गार्नर** ने कहा है कि, "हम दूसरे सहायक विज्ञानों का यथावत् ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीति विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार गणित के बिना यन्त्र विज्ञान का, रसायन शास्त्र के बिना जीव विज्ञान का यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है।" संक्षेप में, राजनीति विज्ञान का अन्य सामाजिक शास्त्रों, जैसे इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि से गहरा सम्बन्ध है। ये सभी विषय एक सामाजिक प्राणी के रूप में मानव का अध्ययन करते हैं। यद्यपि ये मानव जीवन के अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन करते हैं तथापि व्यक्ति ही इन सबके अध्ययन की धुरी है। अत: इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है।

राजनीति विज्ञान का सभी सामाजिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु यहाँ हम कतिपय महत्वपूर्ण विषयों से उसके सम्बन्ध की चर्चा करेंगे।

राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान
(Political Science and Psychology)

मनोविज्ञान से अभिप्राय – मनोविज्ञान हमारे जीवन पर हमारी मानसिक क्रियाओं के प्रभाव का ज्ञान है। यह व्यक्ति के मन की क्रियाओं का तथा उसके बाह्य व्यवहार का अध्ययन है। यह विज्ञान विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में मनुष्य के आचरण पर प्रकाश डालता है। **वुडवर्थ** के अनुसार, "मनोविज्ञान व्यक्ति की परिस्थितियों से सम्बन्धित क्रियाओं का विज्ञान है।" **मैक्डूगल** के अनुसार – "मनोविज्ञान मन का सकारात्मक तथा अनुभवमूलक विज्ञान है।" **ऐंजिल** का कथन है कि, "मनोविज्ञान चेतना का विज्ञान है।"

राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान का सम्बन्ध – राजनीति विज्ञान का मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध दिन प्रतिदिन घनिष्ठ होता जा रहा है। मनोविज्ञान विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन है और मानवीय व्यवहार एवं प्रवृत्ति को समझे बिना राज्य विज्ञान का ठीक अध्ययन नहीं किया जा सकता। मनोविज्ञान मनुष्य के मन का विश्लेषण करता है। मनुष्य चेतनायुक्त और विचारशील प्राणी है। उसके बाह्य व्यवहार को समझने के लिए उसके मन को समझना बहुत आवश्यक है। **गार्नर** के अनुसार, "सरकार को स्थिर और यथार्थ में लोकप्रिय होने के लिए अपने अधीन व्यक्तियों के मानसिक विचारों को अभिव्यक्त करना चाहिए।" राज्य के अन्तर्गत लोकप्रिय आंदोलनों, दंगों तथा लोकमत को जानने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। जनता की मनोदशा से परिचित होने के बाद ही देश के नेता अच्छी नीति के निर्माण में सफल होते हैं। राज्य और अन्य राजनीतिक संस्थाएँ मानव मस्तिष्क की उपज है और मानव मस्तिष्क के अध्ययन द्वारा ही उन्हें सर्वोत्तम रीति से समझा जा सकता है। चुनावों में मतदाताओं के अचेतन मन का अध्ययन अति आवश्यक है और उसका अध्ययन करने से हमें ऐसे अविवेकी तत्वों का ज्ञान होगा जो मतदान व्यवहार को प्रभावित करते हैं। मतदाताओं के मन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर ही राजनीति शास्त्री आगामी चुनाव के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगा सकता है। जनता के राजनीतिक आचरण का अनुभाविक अध्ययन करने से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी आयोजित विधि की प्रतिक्रिया जनता पर क्या होगी।

राजनीति वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक के प्रति कृतज्ञ है कि मानव आचरण को समझने के लिए उन्हें एक अन्तर्दृष्टि दी। **लार्ड ब्राइस** ने लिखा है कि, "मनोविज्ञान राजनीति का आधार है। **ग्राहम वैलेस** के अनुसार, "राजनीति बहुत कम अंश में सचेतन बुद्धि का परिणाम है। अधिकांश में यह आदत, मूल प्रवृत्ति, सुक्षाव और नकल जैसी अर्द्धचेतन प्रक्रियाओं की उपज है।" संक्षेप में आज हम राजनीति की अधिकांश समस्याओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं। जिस प्रकार **बेजहॉट** की प्रसिद्ध पुस्तक 'फिजिक्स एण्ड पॉलिटिक्स' (Physics and Politics) प्रकाशित हुई तभी से राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार होना प्रारम्भ हो गया। **बेजहॉट** ने ब्रिटिश संविधान का मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में अध्ययन प्रस्तुत किया। **कॉम्टे** ने राजनीति विज्ञान के सिद्धांतों की विवेचना मनोवैज्ञानिक धरातल पर की है। **हर्बर्ट स्पेंसर** ने तो जीवविज्ञान के सिद्धान्तों की विवेचना को भी महत्व प्रदान किया।

बार्कर का यह कथन सत्य साबित हो रहा है, "मानव समस्याओं की पहेली सुलझाने में मनोविज्ञान का प्रयोग एक फैशन हो गया है।" आधुनिक युग के प्रसिद्ध नेताओं और यहाँ तक कि अधिनायकों की सफलता का रहस्य बस यही था कि वे जनता की मन स्थिति को भली भाँति समझ गए थे। हिटलर और मुसोलिनी की सफलता का मुख्य कारण यह था कि वे दोनों अपने देशवासियों की मानसिक स्थिति को अच्छी तरह से जानते थे। संक्षेप में, यदि हमारे पूर्वज राजनीतिक समस्याओं को जीवशास्त्रीय ढंग से समझते थे तो हम मनोवैज्ञानिक ढंग से सोचते हैं।

राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान में अन्तर – यह सच है कि राजनीति विज्ञान की जड़ें मनोविज्ञान में हैं, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि मनोविज्ञान राजनीति विज्ञान है। राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान में अन्तर भी है।

(1) **विषयवस्तु में अन्तर** – राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु राज्य और सरकार है। इसमें सचेतन व्यक्ति का ही अध्ययन होता है, जबकि मनोविज्ञान मानव व्यवहार का विश्लेषण करता है। यह व्यक्तियों की मूल प्रवृत्तियों पर बल देता है तथा उनकी मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

(2) **मूल्यों और आदर्शों का अन्तर** – मनोविज्ञान में राजनीति विज्ञान की अपेक्षा मूल्यों एवं आदर्शों को कम महत्व दिया जाता है। मनोविज्ञान एक वर्णनात्मक शास्त्र है, जो यह बतलाता है कि मनुष्य की मनोवृत्ति 'क्या है' और 'क्या थी'; 'क्या होनी चाहिए' की वह कोई चर्चा नहीं करता। इसके विपरीत राजनीति विज्ञान एक आदर्शात्मक विज्ञान है। वह 'क्या है' और 'क्या था' के साथ-साथ 'क्या होना चाहिए' का भी अध्ययन करता है।

उपर्युक्त अन्तर के बावजूद यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में मनोविज्ञान ने पर्याप्त सहायता की है और मनोविज्ञान के ज्ञान के अभाव में राजनीति विज्ञान अधूरा रहता है। **हेरल्ड लासवेल** तथा **जार्ज केटलिन** जैसे समकालीन राजनीति शास्त्रियों ने मनोविज्ञान तथा राजनीति के समायोजित अध्ययन पर बल दिया है। आजकल राजनीति-शास्त्री मनोवैज्ञानिकों की सहायता से राजनीतिक समस्याओं के व्यापक अध्ययन अनुसंधान में लगे हुए हैं।

राजनीति विज्ञान और इतिहास
(Political Science and History)

इतिहास से अभिप्राय – इतिहास मानव समुदाय के विकास की कहानी है। इतिहास मानव सभ्यता के क्रमिक विकास का लेखा जोखा है। यह बीती हुई घटनाओं का संकलन है। यह मनुष्य के कार्यों की एक गाथा है अथवा यह उसके प्रयत्नों, सफलताओं और असफलताओं की कहानी है। इतिहास मानव अनुभवों का एक खजाना है। **गेटेल** के अनुसार –"इतिहास अतीत की घटनाओं और विकासों, कारणों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का लेखा है, यह आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक और सामाजिक दशाओं के साथ-साथ राज्य के विकास, संगठन तथा पारस्परिक सम्बन्ध का भी वर्णन प्रस्तुत करता है।"

राजनीति विज्ञान तथा इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध – राजनीति विज्ञान तथा इतिहास में गहरा सम्बन्ध है। राजनीति विज्ञान में हम ऐसे विषयों का अध्ययन करते हैं, जिनको पूर्ण रूप से समझने के लिए इतिहास का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि हम राज्य की उत्पत्ति, लोकतंत्र, अधिनायक तन्त्र के उदय के कारण, संयुक्त राष्ट्र संघ की उत्पत्ति का कारण, राष्ट्र संघ की असफलता के कारण इत्यादि समझना चाहते हैं तो हमें इतिहास उठाकर देखना पड़ेगा। वस्तुत: राजनीतिक संस्थाओं तथा घटनाओं को भली भाँति समझने के लिए उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक हैं। इस प्रकार इतिहास राजनीति विज्ञान को सामग्री प्रदान करता है तथा राजनीति विज्ञान के भावी आदर्शों के सिद्धान्त का निर्धारण करता है। इतिहास के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का विकास किस प्रकार हुआ है। इस भाँति इतिहास राजनीति विज्ञान की प्रयोगशाला बन जाता है। इतिहास का महत्व प्रतिपादित करते हुये सीले ने कहा है, "राजनीति विज्ञान पर दिया जाने वाला भाषण वस्तुत: इतिहास पर एक भाषण होता है।"

यदि राजनीति विज्ञान इतिहास से सामग्री ग्रहण करता है तो वह इतिहास के निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। इतिहास का निर्माण राजनीतिक विचारों, घटनाओं, आन्दोलनों, क्रान्तियों आदि से ही होता है। यदि इतिहास से राजनीतिक घटनाओं को निकाल दिया जाय तो वह शुष्क विषय बन जायेगा। राजनीतिक घटनाओं के अभाव में इतिहास खोखला विषय हो जायेगा। यदि भारत के आधुनिक इतिहास में से स्वाधीनता आन्दोलन से सम्बन्धित राजनीतिक घटनाओं को निकाल दिया जाए तो फिर शेष क्या बचता है? इटली के इतिहास में से हम कैवूर तथा गैरीबाल्डी के राजनीतिक कार्यों को निकाल दें तो फिर क्या बचता है? महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक कार्यों के अध्ययन के बिना भारत के इतिहास का अध्ययन अपूर्ण ही माना जायेगा। राजनीतिक घटनाओं के अभाव में इतिहास भावुकतापूर्ण कहानी बन जायेगा। संक्षेप में, इतिहास को तत्व एवं सामग्री राजनीतिक घटनाओं से ही मिलती है। सामयिक राजनीतिक संस्थाओं तथा घटनाओं के अध्ययन के अभाव में किसी भी देश के इतिहास का पूर्ण अध्ययन नहीं किया जा सकता। **लार्ड ब्राइस** ने ठीक ही कहा है, "राजनीति विज्ञान इतिहास और राजनीति के बीच की कड़ी है और वह अतीत को वर्तमान से जोड़ता है। यह इतिहास से अपनी सामग्री प्राप्त करता है और राजनीति में उस सामग्री का प्रयोग करता है।"

राजनीति विज्ञान और इतिहास के घनिष्ठ सम्बन्ध का विवेचन करते हुए **सीले** ने लिखा है,"इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान जड़-रहित हो जायेगा और राजनीति के बिना इतिहास फल-रहित हो जायेगा।" ब्रिटिश इतिहासकार **फ्रीमैन** ने तो स्पष्ट कहा है कि "इतिहास अतीत की राजनीति और राजनीति वर्तमान का इतिहास हैं।" **लार्ड ऐक्टन** ने दोनों के घनिष्ठ सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "राजनीति वह शास्त्र है जो इतिहास की धारा में उसी भाँति संचित है जिस प्रकार नदी की रेत में सोने के कण।" **बर्गस** ने दोनों शास्त्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है, "यदि राजनीति विज्ञान और इतिहास को एक दूसरे से बिल्कुल अलग कर दिया जाए, तो उनमें से एक मुर्दा नहीं तो कम से कम लंगड़ा लूला

अवश्य हो जायेगा और दूसरा (बिना आधार के) आकाश में उड़ने वाले फूल की तरह हो जायेगा।" इस प्रकार राजनीति विज्ञान के बिना इतिहास एक अपूर्ण एवं संकीर्ण अध्ययन है और इतिहास के अभाव में राजनीति विज्ञान आधारविहीन एवं खोखला है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखत तथ्य उभरकर सामने आते हैं–

(1) इतिहास राजनीति विज्ञान को सामग्री प्रदान करता है।

(2) इतिहास राजनीति विज्ञान के आदर्शों तथा सिद्धान्तों को निर्धारित करता है।

(3) इतिहास राजनीति शास्त्र का शिक्षक है।

(4) इतिहास राजनीति-शास्त्रियों के दृष्टिकोणों को विस्तृत बनाता है।

(5) राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए इतिहास का सहारा लेना पड़ता है।

(6) राजनीतिक घटनाएं इतिहास को तत्व एवं सामग्री प्रदान करती है।

(7) राजनीति इतिहास की धुरी है।

राजनीति विज्ञान और इतिहास में अन्तर – यद्यपि राजनीति विज्ञान और इतिहास एक दूसरे के पूरक तथा ऋणी हैं, तथापि इन दोनों में कुछ मौलिक अन्तर अवश्य हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) **विवेचन पद्धति में अन्तर**– इतिहास का अध्ययन वर्णनात्मक पद्धति से किया जाता है जबकि राजनीति का अध्यययन आगमनात्मक और परावर्ती होता है। इतिहास में घटनाएँ काल चक्र के अनुसार दी जाती हैं। राजनीति विज्ञान केवल उन्हीं घटनाओं का अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध राजनीति के विकास से होता है। वस्तुत: राजनीति विज्ञान वर्णनात्मक न होकर विचारात्मक है। वह इतिहास द्वारा दी गई सामग्री का प्रयोग करते हुए सामान्य नियमों और सिद्धान्तों की खोज करता है।

(2) **क्षेत्र में अन्तर**– दोनों विषयों का क्षेत्र भी भिन्न हे। इतिहास का क्षेत्र अधिक व्यापक है और राजनीति विज्ञान तुलनात्मक दृष्टि से एक संकुचित विषय है। इतिहास में राजनीति तथा शासन सम्बन्धी बातों के अतिरिक्त सामाजिक जीवन की आर्थिक, धार्मिक और सैनिक पहलुओं का भी वर्णन होता है, जबकि राजनीति विज्ञान केवल राज्य की प्रकृति तथा राजनैतिक नियंत्रण के विकास तक ही अपने आपको सीमित रखता हैं।

(3) **उद्देश्य में अंतर**– इतिहास बहुत कम अंशों में दार्शनिक है, क्योंकि उसका सम्बन्ध ठोस तथ्यों से होता है जबकि राजनीति का सम्बन्ध आदर्शों से है। वस्तुत: राजनीति विज्ञान एक आदर्शपरक विषय है। वह लोक-कल्याण की दृष्टि से अपने उद्देश्य स्थिर करता है और उनकी पूर्ति के साधनों पर भी विचार करता है। राजनीति विज्ञान यह भी बतलाता है कि राज्य कैसा होना चाहिए, परन्तु इतिहास केवल इतना बतलाता है कि राज्य कैसा था अथवा इस समय कैसा है।

इतिहास और राजनीति विज्ञान में अन्तर प्रतिपादित करते हुए **बार्कर** ने कहा है, "यद्यपि इतिहास तथा राजनीति विज्ञान की सीमाएँ प्रारम्भ से अन्त तक समान हैं, परन्तु यथार्थ में ये दोनों भिन्न तथा स्वतन्त्र विज्ञान है।" इस अन्तर के बावजूद इतिहास और राजनीति विज्ञान एक दूसरे को सहयोग देने वाले और एक अर्थ में पूरक कहे जा सकते हैं। **लीकॉक** ने तो स्पष्ट कहा है कि बिना इतिहास के राजनीति विज्ञान का अस्तित्व ही न होता क्योंकि राजनीति विज्ञान को अपना भवन बनाने के लिए इतिहास ही सामग्री प्रदान करता है। **सीले** ने ठीक ही लिखा है कि "इतिहास के उदार प्रभाव के बिना राजनीति विज्ञान भद्दा है और राजनीति विज्ञान से सम्बन्ध विच्छेद कर वह कोरा साहित्य बन जाता है।"

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र
(Political Science and Economics)

अर्थशास्त्र से अभिप्राय – अर्थशास्त्र वह सामाजिक विज्ञान है जो सम्पत्ति तथा आर्थिक कल्याण से सम्बन्धित मानव क्रियाकलापों का अध्ययन करता है। यह धन का विज्ञान है, उस धन का जिसका सम्बन्ध मनुष्य के जीवन और उसके कार्य से है। **मार्शल** के अनुसार– "अर्थशास्त्र एक ओर तो सम्पत्ति का अध्ययन है और दूसरी ओर अधिक महत्वपूर्ण दिशा में मनुष्य के अध्ययन का एक अंग है।" **प्रो.**

जे. के. मेहता के अनुसार– "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय आचरण का इच्छारहित अवस्था में पहुंचने के लिए साधन के रूप में अध्ययन करता है।" इसके अन्तर्गत सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग का मुख्यतया अध्ययन किया जाता है।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध – राजनीति विज्ञान का अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों विषय एक दूसरे पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं और एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र वस्तुत: पुराने 'राज्य के लिए आय इकट्ठा करने वाले 'ज्ञान' से विकसित हुआ जिसे पहले, 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' (Political Economy) कहते हैं। **श्रीगुरूमुख निहालसिंह** के अनुसार–"प्रारम्भिक दिनों में अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की एक शाखा माना जाता था तथा उसके अध्ययन का विषय राज्य के लिए राजस्व प्राप्त करना था। इसी कारण इसे 'घरेलू अर्थशास्त्र' की अपेक्षा 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' कहा जाता था।----- राजनीतिक अर्थशास्त्र शब्द यह प्रकट करता था कि अर्थशास्त्र राजनीति विज्ञान के अधीन है।"

वस्तुत: राजनीतिक और आर्थिक दशाएँ एक दूसरे से जुड़ी हैं और वे राजनीति विज्ञान व अर्थशास्त्र के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों का निर्माण करती हैं। आर्थिक व्यवस्था के क्षीण हो जाने पर राजनीतिक जीवन प्रसन्न नहीं रह सकता। आर्थिक लोकतन्त्र के अभाव में राजनैतिक लोकतन्त्र व्यर्थ साबित हो रहा है। आर्थिक विकास और समृद्धि राजनैतिक विकास की कुँजी है। आर्थिक असंतोष राजनैतिक क्रान्तियों को जन्म देता है। आर्थिक न्याय के बिना सामाजिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना नहीं हो सकती।

कार्ल मार्क्स के अनुसार मानव समाज का सम्पूर्ण ढाँचा आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब मात्र है। मार्क्स ने मानव इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की है और यह सिद्ध किया है कि आर्थिक तत्व राजनीतिक घटनाओं का निर्धारण करते हैं। उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्या, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त तथा वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का विवेचन आर्थिक सन्दर्भ में ही किया है। वर्तमान समय में समाजवाद तथा पूँजीवाद, जो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ मानी जाती हैं, उनके आधार राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों है। व्यक्तिवाद तथा समाजवाद के सिद्धान्त उतने ही आर्थिक हैं जितने की राजनीतिक। आधुनिक युग की अनेक महत्वपूर्ण विचारधाराओं, जैसे साम्यवाद, श्रम संघवाद, श्रेणी समाजवाद आदि का सम्बन्ध मुख्यत: आर्थिक समस्याओं से हैं।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र दोनों का समान उद्देश्य है- मानव कल्याण। राज्य के द्वारा मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकार, सुविधाएँ तथा स्वतन्त्रताएं प्रदान की जाती हैं, परन्तु इन सबमें महत्वपूर्ण स्थान आर्थिक स्वतन्त्रता का होता है जिसमें कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सके। आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ है कि प्रत्येक को भोजन, वस्त्र तथा मकान के साथ-साथ काम मिले। किसी का आर्थिक शोषण न हो। आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति में राज्य तथा सरकार की भूमिका अत्यन्त उपयोगी होती हैं। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र जिन समस्याओं का अध्ययन करता है, उनके समाधान में राज्य तथा शासन का सहयोग आवश्यक है।

राजनीतिक व्यवस्था का राष्ट्र के आर्थिक जीवन पर व्यापक रूप से प्रभाव होता है। धन का विनिमय, वस्तुओं का उत्पादन एवं उपभोग, करारोपण, विदेशी मुद्रा इत्यादि समस्त आर्थिक प्रश्न राजनीतिक प्रश्न भी है। आयात और निर्यात उद्योगों की स्थापना, रोजगार की समुचित व्यवस्था करना आदि राज्य के ही कार्य हैं। उद्योग धन्धों के प्रोत्साहन में सरकारी नीतियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आर्थिक समृद्धि के लिए स्थिर राजनीतिक व्यवस्था का होना परम आवश्यक हैं।

राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए **चार्ल्स बियर्ड** ने लिखा है, " अर्थशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान अवास्तविक तथा आत्मपरक निष्ठा बनकर रह जाता है। राजनीति को समझना तथा पूर्ण ज्ञान के साथ निर्णय करना केवल तभी सम्भव है जबकि अर्थ विषयक प्रसंगों पर गम्भीरता से विचार किया जाए।" **डॉ. बेनीप्रसाद** के अनुसार राजनीति विज्ञान को अर्थशास्त्र से अलग करने पर वह खण्डित हो जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित तथ्य उभरकर सामने आते हैं :-

(1) राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र के अध्ययन की मूल इकाई मनुष्य हैं।

(2) शासन के राजनीतिक व आर्थिक अंगों के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों पर ही राष्ट्र का भविष्य टिका होता है।

(3) अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान मानव कल्याण से सम्बन्धित पहलू के अध्ययन पर जोर देते हैं।

(4) आर्थिक संगठन राजनीतिक कार्यकलाप और संस्थाओं को बहुत प्रभावित करते हैं।

(5) राज्य भी कानून और राज्यादेशों द्वारा आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करता है।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में अन्तर – राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी मौलिक अन्तर हैं, जो इस प्रकार हैं :-

(1) **अध्ययन-विषय में अन्तर**– अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आर्थिक जीवन से है जबकि राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के राजनीतिक जीवन से है। आइबर ब्राउन ने इस सम्बन्ध में लिखा है: "अर्थशास्त्र का सम्बन्ध वस्तुओं से है जबकि राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्यों से है, एक का सम्बन्ध कीमतों से है, दूसरे का वास्तविक मनुष्य से।"

(2) **उद्देश्य में अंतर**– अर्थशास्त्र व्यक्ति का अध्ययन धन के सन्दर्भ में करता है। उसके लिए, वही व्यक्ति उपयोगी है जो आर्थिक दृष्टि से लाभकारी है, जबकि राजनीति विज्ञान व्यक्ति का आदर मनुष्य होने के कारण करता है। इसी कारण कभी-कभी व्यंग्य में प्राय: इस कथन का प्रयोग किया जाता है, "एक अर्थशास्त्री हर वस्तु का दाम (Price) तो जानता है परन्तु वह किसी भी वस्तु के वास्तविक मूल्य (Value) को नहीं जानता।"

(3) **प्रकृति में अन्तर**– अर्थशास्त्र एक वर्णनात्मक विषय है जबकि राजनीति विज्ञान आदर्शात्मक विषय है। राजनीति विज्ञान प्रत्येक समस्या पर नैतिक मूल्यों की दृष्टि से विचार करता है जबकि अर्थशास्त्र केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही विचार करता है।

(4) **क्षेत्र की दृष्टि में अन्तर**– राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अर्थशास्त्र की अपेक्षा विस्तृत है क्योंकि वह सामाजिक जीवन के आर्थिक पहलू के साथ-साथ अन्य पहलुओं, जैसे सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक आदि से भी सम्बन्ध रखता है। इसका स्वरूप आर्दशात्मक, चिन्तनात्मक तथा व्यावहारिक सभी प्रकार का है, जबकि अर्थशास्त्र में आर्थिक समस्याओं का ही मोटे तौर पर विचार किया जाता है और उसका स्वरूप व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ही है।

(5) **साध्य और साधन में अन्तर** – राजनीति विज्ञान साध्य है और अर्थशास्त्र साधन। सुसंगठित और सफल, राजनीति व्यवस्था के लिए अच्छी आर्थिक परिस्थितियाँ परम आवश्यक है। आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होने पर कोई व्यक्ति अच्छा नागरिक बन सकता है। संक्षेप में, आर्थिक परिस्थितियाँ राजनीतिक लोकतन्त्र की बुनियाद को सुदृढ़ करती हैं।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में अन्तर के बावजूद उनके घनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुए **बिलियम एर्स्लिगर** का विचार है कि पाठ्यक्रमों में अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान में समाकलन होना चाहिए। आजकल अर्थशास्त्र सम्पत्ति के केवल उत्पादन से ही नहीं बल्कि न्यायपूर्ण वितरण से भी वास्ता रखने लगा है। इससे वह राजनीति विज्ञान के और अधिक निकट आ गया है।

राजनीति विज्ञान और भूगोल
(Political Science and Geography)

भूगोल से अभिप्राय – भूगोल वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध भूमि, जलवायु, वर्षा, खनिज पदार्थ, कृषि, समुद्र, नदी, पहाड़ इत्यादि से होता है। भूगोल उन प्राकृतिक दशाओं का वर्णन करता है जिनका मनुष्य के जीवन पर विशेष प्रभाव होता है।

राजनीति विज्ञान और भूगोल का सम्बन्ध – हम जानते हैं कि राज्य के निर्माणक तत्वों में से भू-खण्ड भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है क्योंकि भूगोल के अध्ययन के विषय भी भू-खण्ड अर्थात् पृथ्वी, जल तथा वायु होते हैं अत: भूगोल एवं राजनीति विज्ञान परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होते हैं। अरस्तू

ने सबसे पहले इस बात को प्रतिपादित किया था कि जलवायु, भूमि, समुद्री तट, पहाड़, मैदान, नदियाँ, खाड़ियाँ इत्यादि राजनीतिक इतिहास तथा किसी देश की सभ्यता और संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ती हैं। **बोदाँ** ने राजनीति विज्ञान तथा भूगोल के सम्बन्ध की घनिष्ठता पर बल दिया है। **मांटेस्क्यू** का कथन था कि राजनैतिक स्वतन्त्रता ठण्डे देशों के लिए और दासता गर्म देशों के लिए स्वाभाविक है। पर्वतीय प्रदेश स्वतन्त्रता प्रेमी होते हैं। अत्याचारी शासन प्राय: उर्वरक मैदानों में पाया जाता है। महाद्वीप की जनता के मुकाबले में छोटे द्वीपों के निवासियों को लोकतांत्रिक शासन अधिक प्रिय होता है। रूसो ने 18 वीं शताब्दी में जलवायु तथा सरकार के स्वरूपों में सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा कि गर्म जलवायु निरंकुश शासन के लिए, ठण्डी जलवायु बर्बरता के लिए और सम जलवायु अच्छे जनतन्त्रीय शासन के लिए उपयुक्त होती है। 19 वीं शताब्दी के मध्य में टामस बक्ल ने जोर देकर कहा कि किसी देश के लोगों के चरित्र और उनकी राजनीतिक संस्थाओं को निर्धारित करने वाला सबसे प्रमुख तत्व उसकी भौगोलिक एवं भौतिक परिस्थिति है। ब्लंश्ली, रिटर, रेटिझम और मैकाइवर आदि अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी राजनीतिक जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव का महत्व स्वीकार किया है।

वस्तुत: किसी भी देश के समाज की राजनैतिक समस्याएँ तथा जीवन को समझने के लिए वहाँ के भूगोल का पर्याप्त मात्रा में ज्ञान होना आवश्यक है। भूगोल न केवल राष्ट्र की गृहनीति को प्रभावित करता है अपितु उसकी विदेश नीति भी उसके प्रभाव से अछूती नहीं रहती। आज अमेरिका और रूस विश्व की महानतम शक्तियाँ है, इसका कारण वहाँ का भूगोल है। प्राकृतिक सम्पदा और खनिज पदार्थों की बहुतायत के कारण उनकी राष्ट्रीय शक्ति में अप्रतिम वृद्धि हुई है। आज पश्चिमी एशिया के देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र बन गये हैं, इसका कारण उनकी भौगोलिक स्थिति, खनिज पदार्थों की बहुलता एवं पेट्रोल के विशाल भण्डार हैं। स्विट्जरलैंड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की सफलता का कारण वहां की भौगोलिक स्थिति ही है। भूटान और नेपाल जैसे देश यदि राजनैतिक दृष्टि से इतने पीछे हैं तो इसका कारण प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से उनका असम्पन्न होना भी है। भूगोल के बढ़ते हुए महत्व के कारण 'भूराजनीति' (Geopolitics) नाम के एक नये विषय का निर्माण हुआ है जो भौगोलिक तत्वों के राजनीतिक प्रभावों का अध्ययन करता है। इस विषय के विशेषज्ञ **मेकिंडर** ने बतलाया है कि समुद्री शक्ति के और स्थलीय शक्ति के बीच होने वाले संघर्ष का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है। हिन्ज ने ठीक ही लिखा है, "हमारा ऐतिहासिक राजनीतिक भाग्य हमारी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है।"

राजनीति विज्ञान तथा भूगोल में अन्तर – भूगोल तथा राजनीति विज्ञान में समीपता होते हुए भी दोनों शास्त्रों में निम्नलिखित अन्तर है :-

(1) **विषयवस्तु का अन्तर**– भूगोल के अन्तर्गत विभिन्न देशों की प्राकृतिक दशा, जलवायु, वनस्पति, आदि का अध्ययन किया जाता है। राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य सरकार तथा विधि का अध्ययन किया जाता है। एक भू सम्बन्धी विज्ञान है तो दूसरा राज्य सम्बन्धी।

(2) **प्रकृति में अन्तर** – भूगोल ठोस तथ्यों से सम्बन्धित विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र तथ्यों के साथ-साथ आदर्श का चित्रण भी करता है। दूसरे शब्दों में, भूगोल वर्णनात्मक है जबकि राजनीति विज्ञान एक आदर्शात्मक विज्ञान है।

(3) **निश्चितता की मात्रा में अन्तर**– भूगोल एक निश्चित विज्ञान है तथा उसके नियमों में निश्चितता रहती है जबकि राजनीति विज्ञान अनिश्चित विज्ञानों की श्रेणी में आता है।

निष्कर्ष – आज 'राजनीतिक अर्थशास्त्र','राजनीतिक भूगोल', 'राजनीतिक इतिहास', 'राजनीतिक समाज शास्त्र' आदि विभिन्न राजनीति शास्त्र की नई शाखाओं का खुलना इस बात का प्रतीक है कि राजनीति शास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से संबंध स्थापित किये बिना नहीं चल सकता। न ही अन्य सामाजिक विज्ञान राजनीतिशास्त्र से सम्बन्ध विच्छेद कर सकते हैं।

NOTES

प्रश्न

राजनीतिक सिद्धान्त

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा दीजिए तथा उसका अर्थशास्त्र और इतिहास से सम्बन्ध बताइये।
2. राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध की विवेचना कीजिए।
3. राजनीति विज्ञान का इतिहास और अर्थशास्त्र के साथ सम्बन्ध बताइये।
4. राजनीति विज्ञान का मनोविज्ञान एवं इतिहास से सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान और इतिहास में अंतर कीजिए।
2. राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में अंतर कीजिए।
3. राजनीति विज्ञान और भूगोल का संबंध बतलाइये।
4. राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान का संबंध समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कौनसा वक्तव्य सही नहीं है ---

   (अ) अर्थशास्त्र वर्णनात्मक विषय है जबकि राजनीति विज्ञान आदर्शात्मक विषय है।

   (ब) राजनीति विज्ञान साधन है और अर्थशास्त्र साध्य।

   (स) अर्थशास्त्र का संबंध वस्तुओं से है जबकि राजनीति विज्ञान का संबंध मनुष्यों से है।

   (द) राजनीति विज्ञान नैतिक मूल्यों की दृष्टि से विचार करता है जबकि अर्थशास्त्र केवल आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करता है।

2. मानव व्यवहार का अध्ययन कराने वाला विषय है -

   (अ) राजनीति विज्ञान (ब) इतिहास (स) मनोविज्ञान (द) भूगोल

3. किस विचारक ने राजनीति विज्ञान तथा भूगोल के संबंध की घनिष्ठता पर बल दिया है ?

   (अ) सीले (ब) फ्रीमैन (स) बेजहॉट (द) बोदाँ

4. किस विचारक का यह मानना है कि राजनैतिक स्वतंत्रता ठण्डे देशों के लिए और दासता गर्म देशों के लिए स्वाभाविक है ?

   (अ) मॉन्टेस्क्यू (ब) बेजहॉट (स) सीले (द) ब्राइस

5. किस विषय को राजनीति विज्ञान का शिक्षक कहा जाता है ?

   (अ) इतिहास (ब) मनोविज्ञान (स) भूगोल (द) दर्शनशास्त्र

उत्तर - (1) ब, (2) स, (3) द, (4) अ, (5) अ

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

6

शक्ति की अवधारणा

(CONCEPT OF POWER)

'शक्ति' (Power) आधुनिक राजनीति विज्ञान की केन्द्रीय अवधारणा है। राज्य, सम्प्रभुता, सरकार, कानून आदि में **'शक्ति'** को प्रमुख अन्तर्निहित तत्व माना जाता है। कैटलिन और लासवेल ने राजनीति विज्ञान को 'शक्ति का विज्ञान' कहा है। विलियम रॉब्सन राजनीति विज्ञान को समाज में शक्ति, उसकी प्रकृति, आधार प्रक्रियाओं, विषय विस्तार तथा परिणामों से संबंधित सामाजिक विज्ञान मानता है।

प्राचीन समय में राजदार्शनिकों एवं चिन्तकों ने 'शक्ति' की अवधारणा की उपेक्षा नहीं की है। यह सच है कि उनका दृष्टिकोण परम्परावादी था और इसलिए उनका ध्यान संस्थागत अध्ययन और राज्य की उत्पत्ति के इतिहास की खोज आदि की ओर अधिक रहा। फिर भी मैकिवावेली, हॉब्स, कौटिल्य, हीगल, बोसांके आदि प्रमुख राजनीतिक चिन्तकों ने शक्ति और उससे संबंधित तत्वों के अध्ययन की ओर प्रचुर मात्रा में ध्यान दिया। कौटिल्य ने तो स्पष्ट लिखा है कि "समस्त सांसारिक जीवन का आधार 'दण्डशक्ति' ही है।" हॉब्स का यह विचार कि सभी मनुष्यों में "अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने की एक ऐसी चिरन्तन और अथक इच्छा है जिसका अन्त केवल मृत्यु में होता है," और मिचेल्स के द्वारा उसकी यह आधुनिक व्याख्या कि "जिसने शक्ति प्राप्त कर ली है वह सदा ही उसे अधिक दृढ़ और व्यापक बनाने के प्रयत्नों में जुटा रहता है," ऐसे वक्तव्य हैं जिनसे 'शक्ति' का महत्व एवं निहितार्थ समझने में सहायता मिलती है।

आज इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है कि 'शक्ति के अभाव में राजनीति अस्तित्वविहीन है।' राजनीति का क्षेत्र चाहे आन्तरिक हो या अन्तर्राष्ट्रीय, दोनों में शक्ति को राजनीति से पृथक् करना कठिन है। प्रो. हान्स जे. मॉर्गेन्थाऊ के शब्दों में, "हर प्रकार की राजनीति, चाहे वह घरेलू हो या अन्तर्राष्ट्रीय, शक्ति संघर्ष की एक प्रक्रिया है।" मैकाइवर के शब्दों में, समस्त गति, सभी संबंध, सभी प्रक्रियाएँ, समस्त व्यवस्था और प्रकृति में घटित होने वाली प्रत्येक घटना शक्ति की अभिव्यक्ति हैं। वस्तुत: राजनीति में शक्ति की वही भूमिका होती है, जो हाट अर्थव्यवस्था (मार्केट इकोनॉमी) में धन या रुपये की होती है।

शक्ति की अवधारणा : परिभाषा की समस्या
(Concept of Power : Problem of Definition)

शक्ति राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा है, क्योंकि राजनीति का अर्थ संघर्ष को सुलझाने से संबंधित है तो किसी राजनीतिक समुदाय के अन्तर्गत शक्ति का वितरण ही यह तय करता है कि किस प्रकार संघर्ष को सुलझाया जाता है और क्या सभी 'पक्ष' संघर्ष सुलझाने की शर्तों का पालन करेंगे।

'शक्ति' की परिभाषा के संबंध में अनेक समस्याएँ हैं। प्रारम्भ में ही हमारे सामने 'शक्ति', 'प्रभाव' तथा 'सत्ता' जैसे शब्दों की परिभाषाओं के विषय में सहमति नहीं है। रॉबर्ट डहल, हेरल्ड डी. लासवेल और रोवे ने शक्ति को 'प्रभाव' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। कौटिल्य ने शक्ति को 'बल प्रयोग' के रूप में दर्शाया है। मॉर्गेन्थाऊ और कैटलिन ने शक्ति को 'नियंत्रण' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। हॉब्स ने अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' में शक्ति को 'सामान्य प्रवृत्ति' बताते हुए लिखा है कि शक्ति की इच्छा मानव की अविच्छिन्न एवं अनवरत इच्छा है जिसका अन्त मृत्यु होता है। फिर यह भी एक समस्या है कि शक्ति को 'साध्य' माना जाये अथवा 'साधन'। किसी राष्ट्र की शक्ति को कैसे मापा जा सकता है?

NOTES

राजनीतिक शक्ति का स्वरूप
(Nature of Political Power)

राजनीति में हम जिस शक्ति की चर्चा कर रहे हैं वह 'राजनीतिक शक्ति' (Political Power) है। राजनीतिक शक्ति से अभिप्राय है – अन्य मनुष्यों के कार्यों एवं मस्तिष्क पर नियंत्रण करना। राजनीतिक शक्ति शारीरिक शक्ति से थोड़ी भिन्न है। जब हिंसा वास्तविकता का रूप धारण कर लेती है तो वह सैनिक शक्ति के पक्ष में राजनीतिक शक्ति के पद त्याग का द्योतक होती है। 'शक्ति' की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :–

रॉबर्ट वायर्सटेड – "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"

मैकाइवर – "शक्ति व्यक्तियों तथा व्यवहार को नियंत्रित करने, विनियमित करने तथा निर्देशित करने की क्षमता है।"

अर्नल्ड ब्रेख्त – "शक्ति ऐसी योग्यता है जो अपनी इच्छा को कार्यान्वित कर सकती है।"

मॉर्गेन्थाऊ – "शक्ति को कार्यान्वित करने वालों तथा उनके बीच जिन पर उन्हें कार्यान्वित किया जा रहा है, एक मनोवैज्ञानिक संबंध है। वह पहली श्रेणी में आने वालों की दूसरे श्रेणी में आने वालों के कुछ कार्यों को उनके मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर नियंत्रित करने की क्षमता प्रदान करती है।"

राबर्ट डहल – "शक्ति लोगों के पारस्परिक संबंधों की एक ऐसी विशेष स्थिति का नाम है जिसके अन्तर्गत एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को प्रभावित कर उससे कुछ ऐसे कार्य कराये जा सकते हैं जो उसके द्वारा अन्यथा न किये जाते।"

गोलधमर तथा शिल्स – "एक व्यक्ति को उतना ही शक्तिशाली कहा जाता है जितना वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है।"

आर्गेन्सकी – "शक्ति दूसरे के आचरण को अपने लक्ष्यों के अनुसार, प्रभावित करने की क्षमता है।"

राजनीतिशास्त्र में जार्ज कैटलिन वह पहला व्यक्ति था जिसने एक ऐसे व्यवस्थित सिद्धांत अथवा संकल्पनात्मक संरचना का विकास किया जिसमें शक्ति को केन्द्रीय स्थान पर रखा गया था। कैटलिन ने राजनीति के संबंध में मैक्स वेबर की उस परिभाषा को स्वीकार किया है जिसमें उसे "शक्ति के लिए संघर्ष अथवा उन लोगों को जो सत्ता में हैं, प्रभावित करने की प्रक्रिया" बताया गया है। उसकी दृष्टि में राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र "सामाजिक नियत्रणों के अध्ययन अथवा अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाये तो, मानवीय और यहाँ तक पाशविक इच्छाओं के भी, संबंधों को नियंत्रित करने का क्षेत्र" है। कैटलिन ने इस बात पर जोर दिया है कि "नियंत्रण की प्रत्येक प्रक्रिया राजनीति विज्ञान का एक घटक" है। कैटलिन के अनुसार राजनीतिशास्त्र नियंत्रण की उस स्थिति का अध्ययन है जो शक्ति (प्राप्त करने) के लिए एक मूलभूत, पर अनभिज्ञात, प्रेरणा के द्वारा निर्धारित होती है।

शक्ति की संकल्पना के अपने विश्लेषण में कैटलिन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शक्ति से उसका अर्थ 'प्रभुत्व' की स्थिति अथवा सैनिक शक्ति से नहीं है। मार्गेन्थाऊ की उस प्रसिद्ध उक्ति की आलोचना करते हुए जिसमें उसने कहा था, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चाहे अंतिम उद्देश्य कुछ भी क्यों न हों, उसका तात्कालिक उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है", कैटलिन ने सुझाव दिया कि 'सहयोग' भी शक्ति का एक रूप हो सकता है।

शक्ति संकल्पना का सबसे विस्तृत विश्लेषण हमें लासवेल और कैप्लन की रचनाओं में मिलता है। वे लिखते हैं, "शक्ति की संकल्पना सम्भवत: समस्त राजनीति विज्ञान की मूल संकल्पना है; राजनीतिक प्रक्रिया का अर्थ है शक्ति को आकार देना, शक्ति वितरण करना और शक्ति का उपयोग करना।"

लासवेल यह आवश्यक नहीं मानता है कि शक्ति के प्रयोग का आधार हमेशा ही, अथवा सामान्य रूप से, हिंसा पर आधारित होता है, अथवा बल प्रयोग को हिंसा और शारीरिक क्रूरता के अर्थों में शक्ति की स्थिति का निचोड़ माना जा सकता है। शक्ति का आधार विश्वास, निष्ठाएँ, आदत और निष्क्रियता भी उतना ही हो सकते हैं जितना हितों की खोज। यह भी आवश्यक नहीं है कि जब कभी नियंत्रण

लगाये जाएँ तो उनका रूप हिंसा का ही हो। शक्ति का तो केवल यही अर्थ है कि (दूसरे की) नीतियों पर प्रभावशाली नियंत्रण रखा जा सके; इस नियंत्रण को प्रभावशाली बनाने के साधन अनेक और विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं।

राजनीतिक शक्ति, वास्तव में एक ऐसी जटिल संकल्पना है जिसके पीछे सदा ही यह मान्यता होती है कि उसके कई रूप हो सकते हैं, जैसे सम्पत्ति, शस्त्रास्त्र, नागरिक अधिकार, लोकमत पर प्रभाव – जिनमें से किसी को भी किसी दूसरे पर आश्रित नहीं माना जा सकता। संक्षेप में, राजनीतिक शक्ति का अर्थ है – दूसरों के व्यवहार पर नियंत्रण या प्रभुत्व। राबर्ट डहल ने अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'अ' उस सीमा तक 'ब' पर शक्ति रखता है, जिस सीमा तक वह 'ब' से वे कार्य करा लेता है, जिन्हें वह अन्यथा नहीं करता। याने राजनीतिक शक्ति एक संबंध (relationship) है। फिर, यह ऐसा संबंध है जो सदा स्पष्ट नहीं होता। इस प्रकार यदि अफगानिस्तान में सोवियत संघ की फौजें विद्यमान थीं और अमरीका के बार-बार धमकी देने के उपरान्त भी सोवियत संघ ने अपनी फौजें नहीं हटायीं तो हम कह सकते हैं कि सोवियत संघ के पास राजनीतिक शक्ति थी। पर यह भी सम्भव है कि किन्हीं अन्य कारणों से सोवियत सेनाएँ अफगानिस्तान से हट जातीं और यह मात्र संयोग ही हो कि सोवियत सेनाएँ उसी समय हटना शुरू कर देतीं जब भारत अथवा गुटनिरपेक्ष राष्ट्र प्रबल रूप से ऐसी माँग कर रहे थे तो इससे भारत या गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की 'शक्ति' के बारे में कुछ भी साक्ष्य नहीं मिलेगा। अक्सर 'शक्ति संबंध' (Power Relationship) की स्थिति में यह मालूम करना बहुत कठिन है कि किसी व्यक्ति या गुट के व्यवहार में बदलाव क्यों हुआ?

मार्गेन्थाऊ के अनुसार, "जब हम शक्ति की चर्चा करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उस शक्ति से होता है, जो मनुष्य अन्य मनुष्यों के मस्तिष्क व कार्यों के ऊपर प्रयोग करता है। राजनीतिक शक्ति से हमारा तात्पर्य उन शक्तिधारियों के आपसी संबंधों व उनके तथा सामान्य जनता के संबंधों से होता है।"

राजनीतिक शक्ति के संबंध में तीन बातें कही जा सकती हैं – **प्रथम,** राजनीतिक शक्ति के धारण करने वालों में उच्च-अधीनस्थ संबंध (Superior-Subordinate Relationship) प्रकट होना स्वाभाविक है। **द्वितीय,** राजनीतिक शक्ति का प्रयोग अन्ततोगत्वा सामान्य जनता पर होता है और उसे सत्ता का प्रयोग करने वाले की बात माननी पड़ती है। **तृतीय,** राजनीतिक शक्ति मनोवैज्ञानिक संबंध प्रकट करती है, न कि शारीरिक या भौतिक संबंध। मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार, "शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा जिसके विरुद्ध शक्ति प्रयुक्त होती है – इन दो राष्ट्रों के मध्य का मनोवैज्ञानिक संबंध ही राजनीतिक शक्ति है।"

आर्गेन्स्की शक्ति को मुख्यत: उसके निषेधात्मक पहलू के रूप में ही देखते हैं। अर्थात् शक्ति अधिकतर दूसरे राष्ट्रों को अनचाहा कार्य करने से रोकने की क्षमता (Capabilities) का नाम है। वैसे उनसे मनचाहा कार्य कराने की क्षमता का नाम भी शक्ति है। इस प्रकार शक्ति निषेधात्मक भी हो सकती है और सकारात्मक भी।

शक्ति और बल
(Power And Force)

हैरल्ड स्प्राउट और मारगेरट स्प्राउट के अनुसार शक्ति का अर्थ है – सैनिक शक्ति। आइनिस क्लॉड ने भी शक्ति के अपने विश्लेषण का मुख्य विषय सैनिक पहलू को ही माना है। मॉरगेन्थाऊ ने सैनिक पहलू को अपनी शक्ति की परिभाषा से बाहर रखा है और जब कभी वह शक्ति की चर्चा करता है तो उसका अभिप्राय राजनीतिक शक्ति से ही होता है।

शक्ति और बल प्रयोग (सैनिक शक्ति) में स्पष्ट अन्तर है। बल प्रयोग शक्ति का उपकरण है। यहाँ हम राजनीतिक शक्ति की चर्चा कर रहे हैं। यदि बल प्रयोग किया जाता है तो वहीं से राजनीतिक शक्ति का अन्त हो जाता है। बल प्रयोग हिंसा पर आधारित है जबकि शक्ति एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। शक्ति अदृश्य है जबकि बल प्रयोग दृश्य है। बायर्सटेड के शब्दों में, "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न कि उसका वास्तविक प्रयोग।"

राजनीतिक क्रियाओं के अनेक प्रकार हैं जिनके द्वारा कर्ता दूसरों को प्रभावित कर सकता है। इन्हें तीन शीर्षकों में रखा जा सकता है : (1) बल (force), (2) प्रभुत्व (dominaton), (3) क्रिया-कौशल

(manipulation)। बल में भौतिक गतिविधि दिखायी देने वाली भौतिक शक्तियों का प्रयोग होता है। बल और प्रभुत्व साथ-साथ रहते हैं। प्रभुत्व को प्रभावशाली बनने के लिए बल का प्रयोग किया जाता है। **संक्षेप** में 'शक्ति' एक विस्तृत संकल्पना है जिसमें शक्ति के रूप में बल उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार बादल में बिजली रहती है।

शक्ति और प्रभाव
(Power And Influence)

यदि **शक्ति** से 'बल प्रयोग', 'दण्ड' और 'हिंसा' को निष्कासित कर दिया जाये तो वह **प्रभाव** बन जाती है। प्रभाव एक बलरहित तत्व है। कार्ल जे. फेडरिक के अनुसार, "प्रभाव गुप्त शक्ति है। यह न्यूनाधिक मात्रा में शक्ति का अदृश्य रूप है।" राबर्ट डहल के अनुसार, "प्रभाव व्यक्तियों, समूहों, समुदायों, संगठनों, राज्यों में संबंध है। यदि विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग कि जाये तो **प्रभावकर्त्ताओं** में संबंध है, जिसमें एक कर्त्ता दूसरे कर्त्ताओं को किसी ढंग से कार्य करने के लिए प्रेरित करता है जिसे वे अन्यथा नहीं करेंगे।"

राजनीति में जब कोई निर्णय लिया जाता है तो उस पर मानवीय व्यवहार की अनेक घटनाएँ प्रभाव डालती हैं। जेम्स मार्च ने लिखा है कि "निर्णय लेने की प्रक्रिया के अध्ययन के लिए प्रभाव उसी प्रकार महत्वपूर्ण है जिस प्रकार गति के अध्ययन के लिए ताकत है।"

प्रभाव और शक्ति में घनिष्ठ संबंध है। दोनों एक-दूसरे को सबलता प्रदान करते हैं। प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है तथा शक्ति प्रभाव को। शक्ति संबंधों की कोई भी स्थिति प्रभाव की कुछ-न-कुछ मात्रा के बिना नहीं होती। रॉबर्ट डहल ने प्रभाव और शक्ति को संबंधात्मक माना है। प्रभाव में यह देखा जाता है कि 'अ', 'ब' से किस सीमा तक क्या कुछ करा लेता है जो अन्यथा वह नहीं करता। भौतिक बल प्रयोग के साथ संलग्न होकर प्रभाव भी शक्ति बन जाता है।

शक्ति और प्रभाव में अंतर दर्शाया जा सकता है। **प्रथम,** शक्ति के पीछे कठोर भौतिक बल एवं प्रतिबंधों का प्रयोग होता है। प्रभाव में आग्रह, विनय और नैतिकता का पुट विद्यमान रहता है, जबकि शक्ति की प्रकृति बाध्यकारी होती है। **द्वितीय,** शक्ति भय और दण्ड पर आधारित होने के कारण अलोकतांत्रिक है और 'प्रभाव' सहमति पर आधारित होने के कारण लोकतांत्रिक है। **तृतीय,** शक्ति के प्रयोग को देखा जा सकता है जबकि प्रभाव का केवल अनुमान लगाया जा सकता है। **चतुर्थ,** शक्ति और बल प्रयोग भौतिकशास्त्रियों पर आधारित होती है अत: उसका प्रयोग सीमित ही किया जा सकता है किन्तु यदि एक बार प्रभाव अर्जित कर लिया जाये तो उसके प्रयोग की कोई सीमा नहीं रहती।

अल्फोर्ड वुल्फर्स ने शक्ति और प्रभाव में अंतर किया है। शक्ति से उसका अभिप्राय है धमकियों के द्वारा दूसरों को नियंत्रित करने की सामर्थ्य और प्रभाव से अभिप्राय है प्रलोभन एवं अनुनय के द्वारा दूसरों को नियंत्रित करने की कला। दूसरे शब्दों में, दण्ड और बल प्रयोग के ऊपर प्राप्त किया गया नियंत्रण प्रभाव कहलाता है।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि शक्ति की अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तरंग का स्पष्टीकरण करने में असमर्थ है। शक्ति की अवधारणा केवल उस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का वर्णन कर सकती है जिस स्थिति में वास्तविक संघर्ष चल रहा हो। संघर्ष प्रारम्भ होने से पूर्व की अवस्था में 'प्रभाव' की अवधारणा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप की समुचित व्याख्या कर सकती है। डेविड सिंगर उन लेखकों में हैं जो 'प्रभाव' की अवधारणा को सर्वाधिक महत्व देते हैं। शक्ति की परिभाषा करते हुए वह सिर्फ प्रभाव डालने की क्षमता को शक्ति बताता है। शक्ति की अभिव्यक्ति वहाँ होती है जहाँ तीन बातें पायी जाती हैं – **प्रथम,** दो पक्षों के बीच मूल्यों का संघर्ष हो; **द्वितीय,** एक पक्ष दूसरे पक्ष की माँगों या जरूरतों की सचमुच पूर्ति की जाती हो; और **तृतीय,** एक पक्ष को दूसरे पर प्रतिबंधों का भय पैदा करने की सामर्थ्य हो। वस्तुत: प्रतिबंध लागू करने या भय पैदा करने की सामर्थ्य ही वह तत्व है जिसके आधार पर प्रभाव रूप संबंध शक्ति रूप संबंध में बदल जाता है।

गत 4 नवम्बर, 1979 से 5 मई, 1980 तक के अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्रों को यदि ईरानी राजनीति के संदर्भ में सिंहावलोकित किया जाये तो यह कहना पड़ेगा कि ईरान की तुलना में अमेरिका शक्तिशाली

होते हुए भी 'प्रभावपूर्ण' नहीं रहा। असफल बल प्रयोग करने के बाद भी अमेरिका अपने प्रभाव को 'बंधकों' के मसले पर 'शक्ति' में परिवर्तित नहीं कर पाया। अमेरिका ने एक सभ्य राष्ट्र की तरह प्रतीक्षा की, विश्व जनमत को जगाया, संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के दरवाजे खटखटाये, आर्थिक और व्यापारिक दबाव डाले और यहाँ तक की जब छः महीने तक कुछ भी नहीं हुआ तो बंधकों को छुड़वाने की एक असफल सैनिक कार्यवाही भी की।

शक्ति के प्रकार
(Types of Power)

राजनीतिक शक्ति तीन रूपों में अभिव्यक्त होती है – (i) शारीरिक शक्ति (Physical Power), (ii) मनोवैज्ञानिक शक्ति (Psychological Power), तथा (iii) आर्थिक शक्ति (Economic Power)।

1. **शारीरिक शक्ति** (Physical Power) – प्रत्येक राष्ट्र की सरकार राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करती है, किन्तु वह ऐसा इसलिये कर पाती है चूँकि सेना राजनीतिक सत्ता के अधीनस्थ होती है। जब-जब सेना की ऐसी अधीनस्थ स्थिति का अन्त होता है तब-तब राजनीतिक शक्ति सैनिक नेतृत्व के हाथों में चली जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में यह देखा गया है कि यदा-कदा सैनिक क्रान्तियाँ (Coup d'etat) होती रहती हैं और राजनीतिक शक्ति का राजनीतिक नेतृत्व से सैनिक नेतृत्व के हाथों में हस्तान्तरण होता रहता है। जिन देशों में लोकतांत्रिक परम्परा का अभाव पाया जाता है और लोकमत की अवज्ञा होती है वहाँ सैनिक शासन सेना के बल पर शासन करते रहते हैं और आये-दिन सैनिक क्रान्तियाँ होती रहती हैं। वर्षों तक लेटिन अमेरिका का शासन इसी ढंग से चलता रहा और संयुक्त राज्य अमेरिका, जो कि इन लेटिन अमेरिकन देशों की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करता रहा, यथार्थ में अपनी केन्द्रीय गुप्तचर एजेन्सी (Central Intelligence Agency) के माध्यम से इन देशों की राजनीतिक शक्ति को भी नियंत्रित करता रहा और समय-समय पर इन देशों की सैनिक सत्ता के तख्ते पलटने (Coups) में अहम् भूमिका अदा करता रहा है।

प्रौद्योगिकी के तीव्र विकास के परिणामस्वरूप राज्य की शारीरिक शक्ति इसके कई घटकों में बँटी रहती है जिनमें स्थल सेना, जल सेना, वायु सेना और प्रक्षेपणास्त्रों वाले परमाणु शक्ति के केन्द्र प्रमुख हैं। सैनिक शक्ति के इस प्रकार विभाजन से राजनीतिक सत्ता को थोड़ी सुरक्षा प्राप्त होती है और बड़े देशों में आसानी से सैनिक क्रांति नहीं हो पाती है।

2. **मनोवैज्ञानिक शक्ति** (Psychological Power) – मनौवैज्ञानिक शक्ति ऐसे प्रतीकात्मक सूचकों (Symbolic devices) से मिलकर बनती है जो व्यक्तियों के मस्तिष्कों और भावनाओं को प्रभावित करते हैं। यह प्रचार माध्यमों (Propaganda) के जरिए लोगों के विचारों और कार्यों को नियंत्रित करने का तरीका है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी चतुराई से मनोवैज्ञानिक शक्ति का प्रयोग करते रहते हैं। अरब-इजराइल युद्ध के समय इजराइल ने बड़ी चतुराई से यह उद्घाटित किया कि उसके पास कुछ आणविक बम हैं। यथार्थ में ऐसी खबर फैलाने का ध्येय केवल अरब राष्ट्रों के मनोबल को कम करना ही था। गणतंत्र दिवस परेड के समय भारत प्रायः विभिन्न टैंकों और विशिष्ट हथियारों का प्रदर्शन करता है जिसका ध्येय पड़ौसियों को यह दिखाना है कि अब भारत सैनिक दृष्टि से काफी शक्तिशाली है।

राज्य की जनता पर अपना प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित करने के लिए कई बार सरकारें प्रचार माध्यमों का सहारा लेती हैं। अपने मनोवैज्ञानिक प्रभाव की वृद्धि के लिए कई राज्य प्रतिदिन विशिष्ट रेडियो प्रसारण करते रहते हैं। रेडियो पीकिंग प्रतिदिन हिन्दी में प्रसारण करता रहता है। बी.बी.सी. और वॉयस ऑफ अमेरिका अनेक विदेशी भाषाओं में प्रसारण करते हैं। इन प्रसारणों का उद्देश्य शत्रु को कमजोर बनाना, उसके मनोबल को क्षीण करना और शत्रु अथवा विरोधी राज्य में अव्यवस्था फैलाकर उद्देश्यों की प्राप्ति करना है।

शक्ति का निहितार्थ यह है कि विरोधी को कोई बात स्वीकार करने के लिए मजबूर कर दिया जाये। सैनिक बल से ऐसा करने पर उसे हम सैनिक शक्ति की संज्ञा देते हैं, लेकिन कूटनीति, प्रचार आदि द्वारा भी किसी राष्ट्र को इस प्रकार विवश किया जा सकता है। जब हम प्रचार, कूटनीति आदि का प्रयोग

इस रूप में करें कि दूसरा देश हमारी नीतियों को मानने के लिए विवश हो जाये तो यह मनोवैज्ञानिक शक्ति कहलायेगी।

3. **आर्थिक शक्ति** (Economic Power) – राजनीतिक शक्ति का प्रयोग व्यवहार में आर्थिक साधनों द्वारा होता है। किसी भी राज्य का विदेशी व्यापार केवल अपनी वस्तुओं का विक्रय करना और विदेशी मुद्रा कमाने मात्र से ही संबंधित नहीं होता अपितु व्यापार के माध्यम से उस देश में अपनी राजनीतिक शक्ति का विस्तार करना भी अन्य महत्वपूर्ण ध्येय होता है। अपने विदेशी निर्यात के माध्यम से एक राज्य चाहे तो किसी भी अन्य राज्य को आर्थिक दृष्टि से अपने पर निर्भर बना सकता है। विदेशी आर्थिक सहायता के राजनीतिक प्रभाव इस प्रकार हैं : (i) विदेशी सहायता से देश आत्म-निर्भर नहीं बन सकता और आर्थिक तथा तकनीकी दृष्टि से परमुखापेक्षी हो जाता है; (ii) विदेशी सहायता से होने वाले तात्कालिक लाभ के फेर में देश पर कर्ज का भारी बोझ आ जाता है जिसको चुकाते-चुकाते नाक में दम आने लगता है; (iii) आर्थिक विकास के लिए विदेशी सहायता से भी अधिक महत्व आत्म-सम्मान का है। लम्बी आर्थिक पर-निर्भरता से देश का मनोबल एवं आत्म-सम्मान क्षीण होता है।

जो देश भारत को विदेशी सहायता प्रदान करते हैं, वे चाहते हैं कि भारत उन्हीं के प्रभाव क्षेत्र में रहे और अपना स्वतंत्र चिन्तन तथा कार्य बन्द कर दे। ऐसा कहा जाता है कि सन् 1966 में हमें अपने रुपये का अवमूल्यन विदेशी आर्थिक दबाव के कारण ही करना पड़ा था। नेपाल और भूटान का अधिकांश व्यापार भारत से होता है अत: आर्थिक दृष्टि से वे भारत पर निर्भर हैं। अमेरिका के बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Cartel's) लेटिन अमेरिकी देशों की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने की स्थिति में हैं चूँकि उनका दो-तिहाई विदेशी व्यापार संयुक्त राज्य अमेरिका से होता है। सन् 1975 में कनाडा की बड़ी कम्पनियों के 50 प्रतिशत शेयर अमेरिकी बहुराष्ट्रीय निगमों के पास थे। पश्चिमी यूरोप तथा जापान का अधिकांश व्यापार संयुक्त राज्य अमेरिका से होता है, अत: इन देशों की अर्थ-व्यवस्था अमेरिका पर निर्भर बन गयी है।

शक्ति को प्रयोग में लाने की पद्धतियाँ
(Techniques For Use Of Power)

दो राष्ट्र या व्यक्ति हैं **'क'** और **'ख'**। उनके बीच एक समस्या है। हम यह भी कल्पना करें कि **'क'** कुछ करना चाहता है और **'ख'** उससे भिन्न कुछ करना चाहता है। किसी भी वास्तविक परिस्थितियों में **'क' 'ख'** को प्रभावित करने का प्रयास करेगा। प्रश्न है कि दोनों राष्ट्रों या व्यक्तियों को एक-दूसरे के आचरण को प्रभावित करने के लिए क्या करना चाहिए? सामान्यत: इनके पास चार विकल्प हैं। वे एक-दूसरे को समझा-बुझा सकते हैं, वे एक-दूसरे को प्रलोभन दे सकते हैं, वे धमकी को भी प्रयोग में ला सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर वे बल प्रयोग भी कर सकते हैं। **डॉ. महेन्द्रकुमार** लिखते हैं– "राज्य अन्य राज्यों से अपना अभीष्ट व्यवहार कराने के लिए जो विधियाँ या तरीके अपनाते हैं, वे मुख्यत: चार हैं : अनुनय (Persuasion); पारितोषिक या पुरस्कार (Rewards); दण्ड (Punishment) और बल प्रयोग (Coercion)। यदि अन्य राज्यों का व्यवहार नियंत्रित करने की सामर्थ्य को शक्ति माना जाये तो इन विधियों को शक्ति के प्रयोग के साधन भी कहा जा सकता है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि शक्ति को प्रयोग में लाने के चार तरीके हैं – **समझाना, प्रलोभन, दण्ड** और **शक्ति**। हम इन चारों तरीकों की संक्षेप में विवेचना करेंगे :

(1) **समझाना** (Persuasion) – शक्ति को प्रयोग में लाने का सबसे सुगम तरीका समझाने का ही है। अगर **'क'** के समझाने-बुझाने को **'ख'** मान लेता है तो उसका परिणाम स्थायी होता है। इस पद्धति को प्रयोग में लाने के लिए **'क'** को केवल एक काम करना है और वह यह है कि वह संपूर्ण परिस्थिति को इस प्रकार परिभाषित करे जिससे **'ख'** इस संबंध में अपना विचार बदल दे और उसकी बात मान ले। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राजनय (Diplomacy) का आधार समझाने की विधि ही है। राजनयिक प्रतिनिधि अन्य विरोधी राष्ट्रों के राजनयिक प्रतिनिधियों से अपने सुझाये तरीके के अनुसार व्यवहार कराने के लिए उन्हें तर्क और चातुर्य से प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। एक राजनयिक की सफलता का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि प्रलोभन, दण्ड और शक्ति की विधियों का सहारा लिये बिना 'समझाने की कला' का वह किस सीमा तक उपयोग कर सका है?

(2) **प्रलोभन** (Rewards) – **'क'** के पास **'ख'** के आचरण को अपने अनुकूल बनाने की जो दूसरी पद्धति उपलब्ध है वह प्रलोभन, पारितोषिक या पुरस्कार की है। इस विधि में एक राष्ट्र अन्य दूसरे राष्ट्रों को प्रलोभन का वचन देकर उनके व्यवहार पर प्रभाव डालने की कोशिश करता है। ये प्रलोभन चार प्रकार के हो सकते हैं – मनोवैज्ञानिक, भौतिक, आर्थिक और राजनीतिक। सामान्यत: प्रलोभन भौतिक होते हैं। **'क'** राष्ट्र **'ख'** को भू-प्रदेश, सैनिक सहायता, सैनिक अड्डे या प्रशिक्षण सुविधाएँ आदि का प्रलोभन दे सकता है। आजकल आर्थिक प्रलोभनों का विशिष्ट महत्व है। एक राष्ट्र दूसरे को अपनी तरफ मिलाने के लिए उसे कर्ज अथवा सहायता के रूप में धन दे सकता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका और सोवियत संघ द्वारा जो आर्थिक सहायता की नीतियाँ अपनायी गयीं उसे प्रलोभन द्वारा शक्ति के प्रयोग की विधि कहा जा सकता है। राजनीतिक प्रलोभनों के अन्तर्गत अधीनस्थ राज्य को स्वाधीन करने की बात; किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अन्य राज्य के दृष्टिकोण को समर्थन देने की बात आती है।

(3) **दण्ड** (Punishment) – शक्ति को प्रयोग में लाने का तीसरा तरीका दण्ड की धमकी देना है। यदि **'ख'** समझाने और प्रलोभन के बावजूद वह काम करता है जिसे **'क'** अवांछनीय समझता है तो **'क'** उस स्थिति में **'ख'** को दण्ड की धमकी दे सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दण्डात्मक कार्यों की कार्यान्विति आये दिन होती रहती है, परन्तु दण्ड को प्रभावशाली बनाने के लिए आवश्यक है कि उसकी केवल धमकी दी जाये, उसे प्रयोग में न लाया जाये।

(4) **बल या शक्ति** (Force) – शक्ति को प्रयोग में लाने का अंतिम तरीका बल है। दण्ड और बल प्रयोग में भेद करने की आवश्यकता है। दण्ड की निरोध के रूप में धमकी दी जाती है, परन्तु जब सचमुच इस धमकी को अमल में लाया जाता है तो यह बल प्रयोग बन जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बल प्रयोग का सबसे अधिक उग्र रूप युद्ध है। वस्तुत: वह बल प्रयोग का अंतिम चरण है। उसका प्रयोग केवल उस समय होता है जब सम्बद्ध राष्ट्र को समझाने से अथवा घूस से अथवा धमकी से अपने आचरण को बदलने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। शक्ति के प्रयोग के साधन के रूप में बल प्रयोग का सहारा आखिरी हथियार के रूप में ही लिया जाता है।

शक्ति की अवधारणा : हेरल्ड लासवेल के विचार
(The Concept of Power : Views of Harold Lasswell)

लासवेल ने राजनीति विज्ञान को शक्ति के विज्ञान का पर्यार्य माना है। उसकी दृष्टि में राजनीति **प्रभाव** और **प्रभावी** का अध्ययन है। वह लिखता है, "राजनीति विज्ञान का विषय शक्ति की प्रक्रियाओं का अध्ययन है। वह **प्रभाव** और **शक्ति** के बीच अन्तर को स्पष्ट करता है। प्रभाव किसी व्यक्ति अथवा समूह की मूल्य-संबंधी स्थिति और सम्भाव्यता है और विभिन्न सूचकांकों के द्वारा उसका मापन संभव है। इसे विपरीत शक्ति निर्णय निर्माण की प्रक्रियाओं में सहभागिता है। **शक्ति** अपने आप में एक **'मूल्य'** है और दूसरे मूल्यों की उपलब्धि का एक साधन भी। **प्रभाव** दूसरे व्यक्तियों की नीतियों को बदलने की प्रक्रिया है। शक्ति और प्रभाव दोनों के प्रयोग का साधन बाध्यकारिता भी हो सकता है और अनुनय भी। उसके अनुसार "राजनीतिक सम्बन्धों का लक्ष्य सदा ही मनुष्यों के द्वारा शक्ति की खोज है।" "शक्ति वितरणात्मक है और राजनीति विज्ञान का लक्ष्य यह निर्धारित करना है कि उसका वितरण कैसे और किस आधार पर हो।"

इस प्रकार हेरल्ड लासवेल के अनुसार राजनीति विज्ञान 'प्रभाव और प्रभावी' का अध्ययन है। इस विचार से यह स्पष्ट होता है कि वह राजनीति विज्ञान के बारे में एक व्यापक दृष्टिकोण रखता है। वह राजनीति विज्ञान के अध्ययन को कुछ संस्थाओं के अध्ययन तक सीमित नहीं रखना चाहता। वह 'राज्य' या 'सरकार जैसी संस्थाओं को राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु नहीं मानता। उसके अनुसार राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु शक्ति है। शक्ति इन औपचारिक संस्थाओं तक ही सीमित न होकर हर जगह विद्यमान है। 'प्रभाव' और 'प्रभावी' समाज में हर जगह पाये जाते हैं। शक्ति दूसरों पर अपने मूल्यों को लागू करने की क्षमता है। राजनीतिक व्यक्ति वह है जिसका प्रमुख मूल्य (उद्देश्य) शक्ति प्राप्त करना है। इस प्रकार लासवेल के अनुसार, शक्ति राजनीति का मुख्य सार है।

शक्ति साधन है अथवा साध्य
(Power As An End or As A Means)

राजनीतिक सिद्धान्त

आदर्शवादी विचारकों के अनुसार शक्ति के लिए वर्तमान संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अस्थायी लक्षण है और वे यह विश्वास करते आये हैं कि परिस्थितियों में परिवर्तन होते ही शक्ति की यह होड़ समाप्त हो जायेगी। बेन्थम के अनुसार, उपनिवेशों को स्वतंत्रता देकर, प्रूंधा के विचार में व्यापारिक नियंत्रणों को समाप्त करके तथा कार्ल मार्क्स के शब्दों में पूँजीवाद के समाप्त होते ही सत्ता के लिए होने वाली होड़ समाप्त हो जायेगी। आधुनिक युग में राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना पर भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये थे। अमेरिकी परराष्ट्र सचिव कार्डेहल ने 1943 में मास्को कान्फ्रेंस से लौटते हुए कहा था कि संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना सत्ता राजनीति को समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नूतन अध्याय का सूत्रपात करेगी।

फिर भी शक्ति के द्वन्द्व, संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा और प्रयोग को आज तक समाप्त नहीं किया जा सका है। यह द्वन्द्व सार्वकालिक और निरन्तर गतिशील प्रतीत होता है क्योंकि जीवित रहने, सुरक्षित रहने तथा दूसरों को प्रभावित करके प्रभुत्व स्थापित करने की प्रवृत्ति मानव मात्र की प्रवृति है। शक्ति के लिए निरन्तर होड़ आधुनिक राज्यों की मुख्य विशेषता है क्योंकि प्रत्येक राज्य अपनी स्थिति बनाये रखना चाहता है और जीवित रहना चाहता है। अपने आपको सुरक्षित रखने की भावना ही शक्ति संकलन की मूल प्रेरणा है। युद्ध, सैनिक तथा क्षेत्रीय विवर्धन, सुरक्षित रहने की मूल भावना से ही प्रेरित होते हैं। ई.एच. कार के अनुसार प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लेने वाले अधिकांश राज्यों की दृष्टि में युद्ध रक्षात्मक तथा निवारक ही था। रेनहोल्ड नेबूर के शब्दों में, "सुरक्षित रहने की तथा शक्ति संचय की इच्छा में विभाजक रेखा खींच पाना अत्यन्त कठिन है।" राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए शक्ति का संचय करना राज्य का मूलभूत अधिकार है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतंत्रता की रक्षा अथवा परराष्ट्र नीति द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए एक राष्ट्र को शक्ति का सहारा लेना ही पड़ता है। शांतिकाल में भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर शक्ति द्वारा दबाव डालने की निरन्तर प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। वही राज्य अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्थान बना पाते हैं जो शक्ति सामर्थ्य भी रखते हैं तथा उसका प्रदर्शन व प्रयोग भी करते हैं। प्रत्येक राज्य स्वयं ही शक्तिशाली होकर शांतिकाल में विदेश नीति में सफलता प्राप्त करता है तथा युद्ध में अपने सामर्थ्य से ही अपनी रक्ष में समर्थ होता है। इसीलिये प्रत्येक राज्य का लक्ष्य अधिकाधिक राष्ट्रीय शक्ति का विकास करना होता है।

वह **'शक्ति'** जिसको अपने राज्य में उत्सुकतापूर्वक सुरक्षित रखना तथा दूसरों में व्यग्रतापूर्वक देखना आवश्यक होता है, अंतिम विश्लेषण के अनुसार सैनिक शक्ति अथवा युद्ध करने की योग्यता है। शक्ति का स्वत: अर्थ 'मित्रों को प्राप्त करने तथा लोगों को प्रभावित करने, सहानुभूति जाग्रत करने, आज्ञा-पालन करने का अधिकार प्राप्त करने, बल-प्रयोग, प्रचार तथा सम्मान एवं सहयोग उत्पन्न करने वाले भौतिक साधनों एवं प्रवंचनाओं से संबंधित उपायों द्वारा दृढ़तापूर्वक कार्य कर लेने की योग्यता ही है।' परन्तु वह शक्ति, जो राज सत्ताओं के अन्य राज सत्ताओं से व्यवहार करने से प्रधान रूप में संबंध रखती है, एक सुसंगठित सरकार के ढाँचे के अन्तर्गत कार्य करने वाले राजनीतिज्ञों, राजनीति दलों, दबाव डालने वाले समुदायों, गोष्ठीगृहों तथा मतदाताओं की शक्ति की अपेक्षा एक सरल, अधिक सीमित एवं अधिक अनिश्चित गुण है। यहाँ पर शक्ति का आशय लेने का अवसर कम हो जाता है तथा वास्तव में, बल प्रयोग की शक्ति पर एकाधिकार रखने वालों द्वारा दृढ़तापूर्वक रोक दिया जाता है। कपट एवं अनुग्रह-अर्थात् पूर्वाग्रह, विचार शक्ति एवं लालसा के प्रति अपीलों - का नियमित परिस्थितियों में प्राधान्य रहता है, परन्तु स्वतंत्र राज्यों में प्रभाव के ये साधन प्राय: महत्वपूर्ण होते हुए भी अपने विस्तार एवं गुण में सीमित होते हैं। सम्राटों की अन्य सम्राटों के साथ व्यवहार करने की अंतिम युक्ति, शक्ति ही है।

समस्त विगत अनुभव के आधार पर प्रत्येक राज्य के लिए यह आवश्यक है कि अन्य राज्यों के मुकाबले में अपने हितों की रक्षा करने तथा अपनी स्थिति को सुरक्षित करने की योग्यता, अपनी सशस्त्र हिंसा का प्रभावकारी रूप में प्रयोग करने की योग्यता पर निर्भर रहती है। कुछ अपवादों को छोड़कर, कोई भी राज्य, जो दृढ़तापूर्वक युद्ध करने की शक्ति न रखता हो, उचित रूप में यह आशा नहीं कर सकता कि दूसरे राज्य उसकी माँगों को पूरी करें, उसकी इच्छाओं की ओर ध्यान दें, अथवा उसके जीवित रहने

तक के अधिकार को स्वीकार करें। कूटनीति का सौदा करने की प्रक्रिया में, 'मर्यादा' सबसे महत्वपूर्ण है। 'मर्यादा' का अर्थ शक्ति की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार कूटनीति प्रच्छन्न युद्ध है, ठीक जिस प्रकार कि युद्ध से तात्पर्य समझौते की बातचीत के स्थान पर सैनिक बल प्रयोग द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की चेष्टा है। दोनों ही अवस्थाओं में, शस्त्रों के चतुराईपूर्ण एवं सफल प्रयोग की योग्यता ही अधिकांशत: निर्णायक होती है। अतएव, शक्ति के अनुसरण का अर्थ प्राय: अन्य उद्देश्यों का साधन न होकर, स्वयं उद्देश्य ही हो जाता है। यदि राज्य के पास अपने अंतिम उद्देश्य – आत्मरक्षा – को पूरा करने की शक्ति नहीं होती तो अन्य उद्देश्यों का कोई अर्थ नहीं होता। युद्ध करने की योग्यता के साथ बल प्रयोग इस तथ्य के कारण कि प्रत्येक राज्य, आदर्श रूप में अपनी शक्ति के विस्तार से ही उसको सुरक्षित रख सकता है तथा दूसरे लोगों को उनकी सुरक्षा से वंचित करके ही अपनी सुरक्षा की गारण्टी कर सकता है, आंतरिक भय के रूप में परिणित हो जाता है। प्रत्येक राजसत्ता, अपने पड़ौसियों तथा प्रतियोगियों की स्वतंत्रता का अन्त करके ही, सभी सम्भाविक धमकियों के विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सकती है। यदि उसके पास ऐसा करने की यथेष्ट शक्ति है तथा दूसरों के पास उसके प्रभाव को रोकने की काफी शक्ति की कमी है, तो वह गणितशास्त्री निश्चय के साथ, उन्हें अपने अधिकार के अधीन करने को अग्रसर होगा। वास्तविकता यह होने के कारण, प्रत्येक राज्य के लिए, जो जीवित रहने की आशा करता है, यह आवश्यक हो जाता है कि वह ऐसे रूप में ही अपनी शक्ति को कायम न रखे जो सम्भावित अनिश्चित घटनाओं का सामना करने को ही काफी हो, वरन् दूसरों की शक्ति की किसी भी ऐसी वृद्धि को रोकने के लिए यथेष्ट हो जिससे कि शक्ति के परीक्षण में उन्हें सफलता मिल सके।

शक्ति साधन है – अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति क्या एक साधन है? राज्य दूसरे राज्यों के व्यवहार को क्यों नियंत्रित करना चाहते हैं? जिस प्रकार धन एक साधन है और धन से अन्य कई चीजें खरीदी जा सकती हैं, उसी प्रकार शक्ति विदेश नीति का एक साधन है और शक्ति के माध्यम से विदेश नीति के लक्ष्यों (राष्ट्रीय हितों) को प्राप्त किया जा सकता है। शक्ति के माध्यम से एक राष्ट्र को प्रतिष्ठा, भूमि, कच्चा माल, सुरक्षा और मित्र प्राप्त हो सकते हैं। सन् 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण करके यथाशीघ्र युद्ध बन्द कर दिया। सन् 1979 में चीन ने वियतनाम पर आक्रमण करके भी थोड़े ही दिनों में युद्ध बंद कर दिया। ऐसा लगता है कि चीन का उद्देश्य अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना मात्र था। इससे जहाँ उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होने की अभिलाषा थी वहीं थोड़ा-बहुत प्रादेशिक लाभ भी मिला। दोनों ही मामलों में चीन ने शक्ति को विदेश नीति के साधन के रूप में प्रयुक्त किया।

शक्ति साध्य है – अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कभी-कभी व्यक्ति और राष्ट्र शक्ति को साध्य (The end) मानने की भूल कर बैठते हैं। राजनीतिज्ञों की अधिकतम शक्ति संचय की महत्वाकांक्षा और छोटे-छोटे महत्वहीन मुद्दों पर बल प्रयोग करने की प्रवृत्ति या धमकी 'शक्ति को' साध्य में परिवर्तित कर देती है। हिटलर और मुसोलिनी के लिए शक्ति साधन न होकर साध्य थी। मॉरगेन्थाऊ के राजनीतिक यथार्थवाद में छ: सिद्धांतों का निचोड़ यही है कि 'राष्ट्रीय हित को शक्ति के परिप्रेक्ष्य' (National interest defined in terms of power) में परिभाषित किया जा सकता है। अर्थात् शक्ति ही राष्ट्रीय हित है। प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति का अन्ततोगत्वा ध्येय 'शक्ति का अर्जन' है। शक्ति अपने आप में एक उद्देश्य है।

वस्तुत: शक्ति साध्य भी है और साधन भी। जहाँ शक्ति अपने आपमें एक उद्देश्य है वहाँ वह दूसरे उद्देश्यों की पूर्ति का साधन भी हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति साधन इसलिये है कि इससे राष्ट्र-हित की पूर्ति होती है और साध्य इसलिये है कि शक्ति का आधिपत्य बना रहना राष्ट्र-हित की सुगम सिद्धि के लिए आवश्यक है। अमेरिका और चीन शक्तिशाली माने जाते हैं अत: कई बार छोटे-छोटे राज्य उनकी संचित शक्ति के भय मात्र से उनकी बात मान लेते हैं। अत: अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए संचित शक्ति अमेरिका और चीन के लिए साध्य बन जाती है। शक्ति के इस आधिपत्य के कारण ही अमेरिका और चीन के लए वांछित लक्ष्यों की सिद्धि सुगम हो जाती है। सोवियत संघ द्वारा अफगानिस्तान में हस्तक्षेप, सं.रा. अमेरिका का ग्रेनाडा पर आक्रमण, भारत का बंगला देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न, खाड़ी युद्ध में अमेरिकी हस्तक्षेप आदि शक्ति को साधन के रूप में प्रयुक्त करने के तरीके हैं ताकि वांछित राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हो सके।

शक्ति कैसे नापी जाती है?
(How Power is Measured?)

शक्ति के संबंध में यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या उसे नापा जा सकता है? ईरान ने छः महीने से भी अधिक समय तक पचास अमेरिकी बंधकों को छोड़ने से इंकार कर दिया और अमेरिका एक मजबूर राष्ट्र की भाँति मूकदर्शक बना रहा। क्या इससे यह मान लिया जाये कि अमेरिका की तुलना में ईरान अधिक शक्तिशाली है? कभी-कभी यह देखा गया है कि विशाल सेना और शक्ति वाले राज्य को भी विदेश नीति के क्षेत्र में सफलता हासिल नहीं होती। अमेरिका वर्षों तक वियतनाम में लड़ता रहा किन्तु अन्त में उसे वहाँ हटना पड़ा। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि अमेरिका वियतनाम की तुलना में कमजोर था। युद्ध के परिणामों से भी राष्ट्रीय शक्ति नहीं मापी जा सकती क्योंकि आजकल युद्ध में राष्ट्र अकेले नहीं लड़ते। मान लीजिए 'अ' और 'ब' दो राष्ट्र हैं जिनके बीच एक समस्या है तो उसमें हमारे लिये पहले से यह कहना कठिन है कि कौन-सा राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को प्रभावित कर सकेगा। परमाणु युग में तो शक्ति का मापन और भी कठिन है। किसी राष्ट्र की शक्ति का अनुमान इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि उसके पास कितने परमाणु शस्त्र हैं और हमला करने की उसकी कितनी सामर्थ्य है, अपितु परमाणु शस्त्रों का प्रयोग होने पर अपना बचाव करने की उसकी क्षमता के आधार पर ही उसकी शक्ति मापी जा सकती है। छोटे और कमजोर राष्ट्रों का भी शक्ति संघर्ष की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना विशिष्ट महत्व है। अमेरिका और चीन जैसी महाशक्तियाँ भी छोटे और कमजोर राष्ट्रों की मैत्री की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। चूँकि संयुक्त राष्ट्र संघ में आज निर्णय मतदान के आधार पर होता है और महासभा में किसी छोटे राष्ट्र के मत का मूल्य भी महाशक्ति के मत के बराबर ही होता है, अतः आज अमेरिका और चीन अधिक से अधिक राष्ट्रों को अपना मित्र बनाने की प्रक्रिया में लगे हुए हैं, चाहे वह राज्य कमजोर ही क्यों न हों।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित कारकों को ध्यान में रखना उपादेयपूर्ण है :-

(1) **शक्ति के अनुमान और वास्तविकता में अन्तर** – शक्ति को नापते समय किसी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति और अनुमानित शक्ति में ज्यादा फर्क नहीं रहना चाहिए। किसी राष्ट्र की शक्ति केवल इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को किस सीमा तक प्रभावित कर पाता है बल्कि इस तथ्य पर भी निर्भर करती है कि दूसरे राष्ट्र उसकी शक्ति का क्या अन्दाजा लगाते हैं। उदाहरण के लिए, द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इटली को एक बड़ी शक्ति माना जाता था, परन्तु युद्धकाल में यह बात स्पष्ट हो गयी कि इटली वास्तव में महाशक्ति नहीं था। यथार्थ में इटली की शक्ति का अनुमान उसकी असली शक्ति से अधिक लगाने के कारण ही द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व वह अन्य राष्ट्रों के व्यवहार को प्रभावित करता रहा था।

(2) **शक्ति का सापेक्ष होना** – शक्ति सदैव ही सापेक्ष होती है। प्रत्येक राज्य, कुछ राज्यों से अधिक शक्तिशाली, कुछ राज्यों के बराबर तथा कुछ राज्यों की तुलना में शक्तिहीन होता है। एक ही राज्य एक ही समय में एक अन्य राज्य की तुलना में बहुत अधिक शक्तिशाली तो दूसरे राज्य की तुलना में शक्तिहीन हो सकता है। जब हम यह कहते हैं कि अमेरिका आजकल पृथ्वी के दो सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों में से एक है, तो हमारा वास्तव में यह अभिप्राय है कि यदि हम अमेरिका की अन्य सभी राष्ट्रों की वर्तमान शक्ति से तुलना करें, तो मालूम होगा कि अमेरिका एक को छोड़ अन्य सभी से अधिक शक्तिशाली है।

शक्ति के सापेक्ष स्वरूप की अवहेलना करना और एक राष्ट्र की शक्ति को निरंकुश समझकर व्यवहार करना, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बहुत ही तात्विक एवं बहुधा होने वाली भूलों में से एक हैं। दो विश्वयुद्धों के बीच फ्रांस की शक्ति का मूल्यांकन इसी का उदाहरण है। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर, सैनिक दृष्टि से फ्रांस पृथ्वी पर सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था। सन् 1940 की भयंकर पराजय के क्षण तक, जिसमें इसकी वास्तविक सैनिक दुर्बलता स्पष्ट हो गयी; फ्रांस को ऐसा ही समझा जाता था। सितम्बर 1939 में द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ से लेकर 1940 के ग्रीष्म में फ्रांस की पराजय के समय तक, समाचार-पत्रों के शीर्ष लेख फ्रांसीसी सैनिक शक्ति के गलत अनुमान की कहानी अत्यधिक

वाक्पटुता से कहते रहे। तथाकथित 'कृत्रिम' युद्धकाल में तो यह माना जाता था कि फ्रांस की बढ़ी-चढ़ी शक्ति के कारण जर्मन सेनाएँ उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं करतीं और अनेक अवसरों पर फ्रांसीसियों के बारे में कहा जाता था कि उन्होंने जर्मन पंक्तियाँ तोड़ डाली हैं। इस गलत धारणा के पीछे यह गलत अनुमान था कि फ्रांस की सैनिक शक्ति दूसरे राष्ट्रों की सैनिक-शक्ति के बराबर नहीं थी, वरन् पूर्ण स्वतंत्र ही थी। अपने आप में, फ्रांस की सैनिक शक्ति, 1939 में कम से कम इतनी बढ़ी-चढ़ी थी, जितनी वह 1919 में थी, इसलिये फ्रांस 1939 में उतना सबल राष्ट्र समझा जाता, जितना कि वह 1919 में रह चुका था। उस मूल्यांकन की सबसे अधिक घातक भूल इस तथ्य की जानकारी के अभाव में है कि 1919 में फ्रांस पृथ्वी पर केवल दूसरे राष्ट्रों की तुलना में सबसे अधिक सबल सैनिक शक्ति थी, जिनमें इसका निकटतम प्रतिस्पर्द्धी जर्मनी पराजित एवं निरस्त्र था। दूसरे शब्दों में, एक सैनिक-शक्ति के रूप में फ्रांस की सर्वोच्चता फ्रांसीसी राष्ट्र की ऐसी स्वाभाविक विशेषता न थी जिसे कोई ऐसे ही पहचान सके जैसे वह फ्रांसीसी लोगों के राष्ट्रीय लक्षणों, उनकी भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधनों को निश्चयात्मक रूप से जान लेता है। इसके विपरीत, वह सर्वोच्चता शक्तियों के एक विचित्र रूप का परिणाम थी, जिसका अर्थ हुआ, एक सैनिक-शक्ति के रूप में फ्रांस की दूसरे राष्ट्र पर तुलनात्मक उत्कृष्टता। फ्रांसीसी सेना की गुणावस्था 1919 और 1939 के बीच वास्तव में घटी न थी। सेना, तोपखाने, वायुयानों की संख्या एवं गुणावस्था तथा अधिकारियों के कार्य के हिसाब से फ्रांसीसी सैनिक-शक्ति का ह्रास नहीं हुआ था। इस प्रकार सर विंस्टन चर्चिल जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के चतुर विशेषज्ञ भी बाद में तीस वर्षों की फ्रांसीसी सेना की सन् 1919 की सेना से तुलना करते हुए यह घोषित कर सके कि फ्रांसीसी सेना ही अन्तर्राष्ट्रीय शांति की एकमात्र संरक्षिका है।

विंस्टन चर्चिल और उसके समकालीनों ने सन् 1937 की फ्रांसीसी सेना की तुलना उसी वर्ष जर्मन सेना से न करके सन् 1919 की फ्रांसीसी सेना से की, जिसने उसी वर्ष अर्थात् 1919 की जर्मन सेना की समता प्राप्त करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की थी। इस तुलना से स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि 1919 में शक्तियों का जो रूप था वह बाद के बीस वर्षों में पलट गया। जहाँ फ्रांसीसी सेना संस्थापन (military establishment) 1937 में भी वैसा ही रहा जैसा वह 1919 में था, वहाँ अब जर्मन सेनाएँ फ्रांस की सेनाओं से कहीं अधिक उत्कृष्ट हो गयी थीं। वह फ्रांसीसी सैनिक शक्ति, जो पूर्ण समझी जाती थी, एकमात्र उसी पर ध्यान देने से प्रकट न हो सकी। यदि फ्रांस और जर्मनी की सापेक्ष शक्ति की तुलना की जाती तो वह तभी स्पष्ट हो जाती तथा राजनीतिक क्षेत्रों की भयंकर भूलों से बचा जा सकता था।

हान्स जे. मॉरगेन्थाऊ लिखते हैं – "जो राष्ट्र इतिहास के किसी विशेष क्षण में शक्ति के शिखर पर पहुँच जाता है, वह बहुत आसानी से यह भूल जाता है कि सभी शक्ति सापेक्ष हैं। वह यह विश्वास सहज ही कर लेता है कि जो उत्कृष्टता इसने प्राप्त की वह एक स्वतंत्र गुण है जिसे मूढ़ता अथवा कर्त्तव्य की उपेक्षा से ही खोया जा सकता है। ऐसी धारणाओं पर आधारित विदेश नीति को गम्भीर जोखिमें उठानी पड़ती हैं, क्योंकि वह इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि उस राष्ट्र की उत्कृष्ट शक्ति केवल आंशिक रूप में ही उसके निजी गुणों का संबंधित रूप है, जबकि वह आंशिक रूप में उस राष्ट्र तथा दूसरे राष्ट्रों के गुणों की सापेक्षता का परिणाम है।"

(3) **तुलनात्मक स्वरूप** – राष्ट्रीय शक्ति का स्वरूप सदैव तुलनात्मक पद्धति से निर्धारित किया जाता है। जब हम किसी राष्ट्र को शक्तिशाली कहते हैं तो हमारे मस्तिष्क में उन राष्ट्रों का चित्र रहता है जो अपेक्षाकृत निर्बल होते हैं। किसी राष्ट्र को निर्बल कहते समय इसी प्रकार हमारे मस्तिष्क में शक्तिशाली राष्ट्रों की तस्वीर रहती है। राष्ट्र की शक्ति का निर्धारण इस प्रकार तुलनात्मक रूप से ही सम्भव है। ऐसा करते समय हम राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने वाले तत्वों को ध्यान में रखकर दूसरे राष्ट्र के तत्वों से उसकी तुलना करते हैं।

(4) **शक्ति की दृष्टि से दो राष्ट्र समान नहीं होते** – राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से कभी भी कोई दो राष्ट्र समान नहीं हो सकते। यह उसी तरह सही है जिस तरह शक्ति की दृष्टि से कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय शक्ति के सभी तत्वों का महत्व समान होता है। यदि कोई राष्ट्र शक्ति के किसी एक तत्व को अधिक महत्व देकर उसके आधार पर अपनी विदेश नीति बनाये तो उसे निश्चय ही असफलता का सामना करना पड़ेगा।

(5) **शक्ति का विश्वसनीय होना** – अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का विश्वसनीय होना परम आवश्यक है। जो धमकी विश्वसनीय नहीं होती उसका शक्ति के खेल में कोई अर्थ नहीं है। मान लीजिए कि राष्ट्र **'क'** ने राष्ट्र **'ख'** को यह धमकी दे दी कि उसकी इच्छानुसार व्यवहार न करने पर वह उसके खिलाफ बल प्रयोग करेगा और राष्ट्र **'ख'** उसकी धमकी को गीदड़ धमकी ही समझे तो वह धमकी बिलकुल व्यर्थ है।

(6) **शक्ति की विशिष्टरूपता का महत्व** – यदि एक राष्ट्र के पास परमाणु अस्त्रों का भारी संग्रह है और उसका विरोधी यह मानता है कि वह उनका उसके विरुद्ध कभी प्रयोग कर ही नहीं सकता तो उन शस्त्रों के संग्रह का कोई महत्व नहीं है। यदि किसी राष्ट्र के पास कम विनाशकारी सामान्य शस्त्र हैं और उसका विरोधी यह मानता हो कि किसी भी समय उन शस्त्रों का उसके विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है तो वे कम विनाशकारी सामान्य शस्त्र परमाणु अस्त्रों से भी कहीं अधिक प्रभावक सिद्ध हो सकते हैं।

(7) **शक्ति परिवर्तनशील है** – शक्ति एक गतिशील वस्तु है और उसके विभिन्न तत्वों की स्थिति समयानुसार बदलती रहती है। यदि कल कोई देश सर्वोच्च शक्ति था तो आवश्यक नहीं कि आज या आने वाले समय में भी वह अपनी स्थिति को बनाये रख सकेगा। इस संबंध में **पामर** एवं **पर्किन्स** ने लिखा है, "एक राज्य की सेनाओं के आकार में वृद्धि अथवा कटौती हो सकती है, उसका मनोबल गिर अथवा उठ सकता है, नेतृत्व बदल सकता है, कच्चे माल का अभाव या बाहुल्य हो सकता है, प्राविधिक प्रक्रिया में सुधार आ सकता है, युद्ध में प्रयुक्त होने वाले नवीन हथियारों का आविष्कार हो सकता है, महामारी, बाढ़ और भूचाल से उत्पादन में गिरावट आ सकती है और श्रमिकों का नाश हो सकता है तथा मनोबल गिर या टूट सकता है, संधियाँ की और तोड़ी जा सकती है – ये सभी अवस्थाएँ राष्ट्रीय शक्ति के अनेक अथवा एक तत्वों को प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं और इस प्रकार किसी भी राष्ट्र की शक्ति-स्थिति में परिवर्तन का कारण बन सकती है।"

शक्ति : मूल्यांकन की विशेष भूलें
(Power : Typical Errors of Evaluation)

प्रो. मॉरगेन्थाऊ ने शक्ति के मूल्यांकन के संदर्भ में तीन विशेष भूलों की ओर संकेत किया है। **प्रथम** भूल यह है कि जब एक राष्ट्र स्वयं एक निरंकुश शक्ति बन बैठता है और दूसरी शक्तियों के सापेक्ष महत्व की अवहेलना करता है। **दूसरी** भूल यह है कि जब कोई राष्ट्र अतीत काल में निश्चित रूप से महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले अपने किसी एक शक्ति-तत्व को ही स्थायी मान बैठता है और उस गतिमय परिवर्तन की उपेक्षा करता है जो अधिकांश शक्ति-तत्वों को शामिल करता है। **तीसरी** भूल तब होती है जब कोई राष्ट्र अपने किसी एक ही शक्ति-तत्व को निर्णयात्मक महत्व देता है और अन्य शक्ति-तत्वों की परवाह नहीं करता। दूसरे शब्दों में, "**प्रथम** भूल, एक राष्ट्र की शक्तियों का अन्य राष्ट्रों की शक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित न करने में निहित है; **दूसरी** भूल, एक समय की वास्तविक शक्ति का भविष्य की सम्भाव्य शक्ति से सामंजस्य स्थापित न करने में है और **तीसरी** भूल, एक ही राष्ट्र के एक शक्ति-तत्व का उसी राष्ट्र के अन्य शक्ति तत्वों के साथ सामंजस्य स्थापित न करने में है।"

शक्ति अवधारणा : आलोचना
(The Concept of Power : Criticism)

बट्रेण्ड रसेल वह पहला प्रमुख चिन्तक है जिसने राजनीति में शक्ति की भूमिका की कड़े से कड़े शब्दों में भर्त्सना की है। उसके अनुसार राज्य में, चाहे वह पूँजीवादी हो अथवा साम्यवादी, राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण से कहीं अधिक घातक था। वह मानता था कि राज्य की शक्ति में वृद्धि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी उतनी ही खतरनाक थी जितनी घरेलू राजनीति के क्षेत्र में। शक्ति के असीम अधिकार के प्रयोग के कारण ही वह साम्यवाद के विरुद्ध था। साम्यवाद को वह एक ऐसा "नौकरशाही कुलीनतंत्र" मानता था "जिसके हाथों में समस्त शक्ति केन्द्रित थी और जिसने एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया था जो पूँजीवाद के समान ही निर्मम और क्रूर थी।"

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'शक्ति' से क्या अभिप्राय है ? लासवेल के शक्ति सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
2. "आधुनिक राजनीति विज्ञान शक्ति विज्ञान है।" स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान में शक्ति से क्या अभिप्राय है ?
2. शक्ति और बल में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. शक्ति को बल प्रयोग के रूप में किसने दर्शाया है ?
   (अ) कौटिल्य (ब) लासवेल (स) राबर्ट डहल (द) रोवे
2. राजनीति विज्ञान को किसने शक्ति का विज्ञान बतलाया है ?
   (अ) गांधी एवं टालस्टाय (ब) प्लेटो एवं अरस्तू
   (स) गैटेल एवं गार्नर (द) कैटलिन एवं लासवेल
3. निम्नलिखित में से कौनसा कैटलिन का विचार है -
   (अ) शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।
   (ब) शक्ति से उसका अर्थ प्रभुत्व की स्थिति अथवा सैनिक शक्ति से नहीं है।
   (स) शक्ति ऐसी योग्यता है जो अपनी इच्छा को कार्यान्वित कर सकती है।
   (द) शक्ति व्यक्तियों तथा व्यवहार को नियंत्रित करने, विनियमित करने तथा निर्देशित करने की क्षमता है।
4. "हर प्रकार की राजनीति, चाहे वह घरेलू हो या अन्तर्राष्ट्रीय, शक्ति-संघर्ष की एक प्रक्रिया है।" यह कथन किसका है ?
   (अ) हेरल्ड लासवेल (ब) कैटलिन (स) कौटिल्य (द) मॉर्गेन्थाऊ
5. "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चाहे अंतिम उद्देश्य कुछ भी क्यों न हों, उसका तात्कालिक उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है।" यह कथन किसका है ?
   (अ) मॉर्गेन्थाऊ (ब) राबर्ट डहल (स) कौटिल्य (द) लासवेल
6. कौनसा वक्तव्य सही नहीं है ?
   (अ) बल और प्रभुत्व साथ-साथ रहते हैं।
   (ब) प्रभुत्व को प्रभावशाली बनाने के लिए बल का प्रयोग किया जाता है।
   (स) शक्ति निषेधात्मक भी हो सकती है और सकारात्मक भी।
   (द) बल प्रयोग शक्ति का एक उपकरण नहीं है।

उत्तर - (1) अ, (2) द, (3) ब, (4) द, (5) अ, (6) द

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

7

सत्ता की अवधारणा

(CONCEPT OF AUTHORITY)

सत्ता (प्राधिकार) का संगठन में वही स्थान है जो मानव शरीर में आत्मा का है। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर निष्क्रिय हो जाता है, उसी प्रकार जब तक हम एक संगठन में सत्ता की उचित व्यवस्था नहीं करेंगे तो वह कार्यशील नहीं हो सकेगा। साइमन, स्मिथबर्ग तथा थाम्पसन ने कार्य-विभाजन और सत्ता को किसी भी संगठन की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता माना है। उनके कथनानुसार "जब कभी हम एक संगठन का ढाँचा तैयार करते हैं तो हमको संगठन की प्रत्येक इकाई को एक स्थान देना होता है और उसके बाद इन स्थानों को कुछ श्रेणियों से संबंधित कर दिया जाता है। इन श्रेणियों को सत्ता की श्रेणी (Line of Authority) कहते हैं।" वस्तुत: 'सत्ता' (Authority) वह सूत्र है जो संगठन में विभिन्न समूहों की क्रियाओं को परस्पर जोड़ता है।

सत्ता का अर्थ
(The Meaning Of Authority)

'सत्ता' को प्रशासन में प्रबंधकीय कार्यों की कुंजी माना गया है, क्योंकि परम्परागत संगठन विचारधारा संगठन को अधिकार संबंधों का अन्तर्जाल मानती है। सत्ता को प्राय: शक्ति से संबंधित किया गया है और उसे आदेश देने एवं उसके पालन करवाने के अधिकार की संज्ञा दी गयी है।

उच्च एवं प्रवर व्यक्ति की उस क्षमता को जिसके आधार पर वह निर्णयन के साथ-साथ अधीनस्थों के व्यवहार को भी प्रभावित कर सके, 'सत्ता' की संज्ञा दी जा सकती है। यह संगठन की ओर से किसी व्यक्ति को कुछ करने के लिए दी गयी आज्ञा भी है।

हेनरी फेयोल के अनुसार, "सत्ता आदेश देने का अधिकार है और उसके पालन करवाने की शक्ति है।"

ऐलन के अनुसार, "भारार्पित कार्यों के निष्पादन को सम्भव बनाने हेतु सौंपी गयी शक्तियाँ एवं अधिकार सत्ता कहलाते हैं।"

पेटरसन के अनुसार, "आदेश देने एवं उसके पालन की आज्ञा को अधिकार सत्ता कहा जाता है।"

डेविस के अनुसार, "सत्ता निर्णय लेने एवं आदेश देने का अधिकार है।"

थियो हैमेन के अनुसार, "सत्ता, वह वैधानिक शक्ति है जिसके आधार पर अधीनस्थों को काम करने के लिए कहा जाता है तथा उन्हें बाध्य किया जा सकता है और आदेश के उल्लंघन पर आवश्यकतानुसार प्रबंधक उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है। यहाँ तक कि उनको कार्य से भी पृथक् कर सकता है।"

उपर्युक्त परिभाषाएँ औपचारिक अधिकार सत्ता के सिद्धांत पर आधारित हैं और मानकर चलती हैं कि सत्ता उच्च शिखर से पैदा होती है तथा प्रत्यायोजन (delegation) के जरिये नीचे पहुँचती है।

किन्तु मेरी पार्कर फॉलेट, रॉबर्ट टेमन बोन, बर्नार्ड, साइमन एवं अन्य मानव संबंधी स्कूल विचारकों का कहना है कि जब तक अधीनस्थ उच्चाधिकारी के आदेश या विचार को स्वीकार नहीं करते तब तक उच्चाधिकारी का वह आदेश या विचार 'सत्ता' नहीं माना जा सकता। सत्ता तब अर्थपूर्ण बनती है जबकि व्यवहार में, अधीनस्थों द्वारा उसे स्वीकारा जाता है। इस दृष्टि से साइमन की निम्न परिभाषा महत्वपूर्ण है :-

"अधिकार सत्ता, निर्णय लेने एवं अन्य व्यक्तियों की क्रियाओं को मार्गदर्शित करने की शक्ति है। यह दो व्यक्तियों के बीच उच्चाधिकारी एवं अधीनस्थ का संबंध है। उच्चाधिकारी निर्णय लेता है और

इस आशा के साथ प्रेरित करता है कि अधीनस्थ द्वारा उसका पालन किया जावेगा। अधीनस्थ ऐसे ही निर्णयों की आशा करते हैं और उनके व्यवहार उनसे निर्धारित होते हैं।"

संक्षेप में, "अधिकार सत्ता, आदेश देने, निर्णय लेने एवं उनके पालन करवाने की वह शक्ति, स्थिति या अधिकार है जो अधीनस्थों द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर अर्थपूर्ण बन जाता है और संगठनात्मक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अधीनस्थों द्वारा जिसका पालन आवश्यक होता है।"

सत्ता और शक्ति
(Authority and Power)

'सत्ता' और 'शक्ति' बहुत कुछ मिलते-जुलते शब्द लगते हैं तथापि प्रशासन की भाषा में ये दोनों शब्द अपना विशेष अर्थ रखते हैं और एक के लिए दूसरे का प्रयोग नहीं किया जा सकता। 'सत्ता' का रूप एक प्रकार से कानूनी है, जबकि शक्ति (power) का रूप कानूनी होना आवश्यक नहीं है। जब शक्ति को कानून का रूप दे दिया जाता है तो वह सत्ता (Authority) बन जाती है।

कार्ल जे. फ्रेडरिक ने लिखा है कि "सत्ता शक्ति का एक प्रकार नहीं बल्कि यह एक ऐसी वस्तु है जो शक्ति के साथ चलती है। यह व्यक्तियों और वस्तुओं में एक गुण है जो उनकी शक्तियों में वृद्धि करता है, यह ऐसी वस्तु है जो शक्ति को उत्पन्न करती है परन्तु जो स्वयं शक्ति नहीं है।"

शक्ति का अस्तित्व सत्ता के अभाव में सम्भव तो है परन्तु उसका दीर्घकालीन अस्तित्व सत्ता के अभाव में सम्भव नहीं। शक्ति के अभाव में भी सत्ता विद्यमान रह सकती है। उदाहरणार्थ, एक डॉक्टर या प्रोफेसर के पास शक्ति नहीं है किन्तु ये सत्ता का इस कारण उपयोग करते हैं कि उनके पास श्रेष्ठ ज्ञान और अनुभव है। शक्ति असंस्थागत, परिस्थितिजन्य एवं अनिश्चित होती है जबकि सत्ता संस्थागत, स्पष्ट तथा निश्चित होती है। **बायर्सटेड** के अनुसार, "सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थागत अधिकार है परन्तु स्वयं शक्ति नहीं है।" शक्ति का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता जबकि सत्ता का प्रत्यायोजन होता है। शक्ति में स्वविवेक का अभाव होता है जबकि सत्ता में स्वविवेक निहित होता है।

जब हम प्रशासन में सगठनों का अध्ययन करते हैं तो ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं जबकि पदसोपान के उच्च अधिकारी, जिनको औपचारिक रूप से अधिकार मिले हुए हैं, उनका प्रयोग नहीं करते। उनके स्थान पर अधीनस्थ इन शक्तियों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार उच्च अधिकारी केवल सत्ताधारी हैं, शक्तिवान नहीं। अधीनस्थ अधिकारी सत्ताधारी न होते हुए भी शक्तिवान हैं।

सत्ता के प्रकार
(Types of Authority)

व्यवहार में सत्ता तीन प्रकार की होती है :-

(i) रेखा अधिकार-सत्ता,

(ii) स्टाफ अधिकार-सत्ता, एवं

(iii) क्रियात्मक अधिकार-सत्ता।

(i) **रेखा अधिकार-सत्ता** (Line Authority) – रेखा अधिकार-सत्ता निर्णय लेने की अधिकार-सत्ता है जो समस्त उच्चाधिकारियों एवं समस्त अधीनस्थों के बीच विद्यमान रहती है। यदि आदेश की एकता के सिद्धांत (अर्थात् एक कर्मचारी का एक नायक) का अतिक्रमण न किया जाये तो रेखा अधिकार सत्ता संबंध संगठन के उच्च स्तर से नीचे स्तर तक के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचते हैं। थियो हैमेन लिखते हैं कि रेखा अधिकार-सत्ता, आदेश देने की अधिकार-सत्ता है। यह वह अंतिम अधिकार-सत्ता है जो अन्य व्यक्तियों को निर्देशित करती है और उन्हें निर्णयों, योजनाओं, नीतियों तथा लक्ष्यों के अनुरूप कार्य करने को कहती है। इस अधिकार-सत्ता का प्राथमिक उद्देश्य संगठन को कार्यशील बनाना है।

(ii) **स्टाफ अधिकार-सत्ता** (Staff Authority) – **ब्रेसी** एवं **सेनफोर्ड** लिखते हैं कि "स्टाफ अधिकार-सत्ता सेवा करने वाली अधिकार-सत्ता है। यह अधिकार-सत्ता अन्य व्यक्तियों को परामर्श देने एवं सहायता पहुँचाने का अधिकार है। यह अन्य व्यक्तियों के लिए निर्णय लेने की अधिकार-सत्ता नहीं है। रेखा अधिकार-सत्ता लम्बवत् प्रवाहित होती है और अधिकारी-अधीनस्थ संबंध स्थापित करती है जबकि स्टाफ अधिकार-सत्ता परामर्शात्मक संबंधों की स्थापना करती है और किसी भी दिशा में प्रवाहित

हो सकती है।" संक्षेप में, यह वह अधिकार-सत्ता है जो राय देने, मदद करने एवं अन्य विभागों को सेवाएँ देने हेतु संगठन में विद्यमान रहती है।

(iii) **क्रियात्मक अधिकार-सत्ता** (Functional Authority) – क्रियात्मक अधिकार-सत्ता निर्णय लेने की अधिकार-सत्ता है, किन्तु निर्णय लेने का ऐसा अधिकार किसी क्रिया विशेष तक ही सीमित रहता है, भले ही यह क्रिया कोई भी व्यक्ति या विभाग संगठन में कहीं भी करता हो। यह अधिकार-सत्ता द्वितीयक स्तर के अधिकारी-अधीनस्थ संबंधों को जन्म देती है। यह अधिकार-सत्ता 'आदेश की एकता' के सिद्धांत का उल्लंघन करती है जिससे विकट संगठनात्मक समस्याओं को जन्म मिलता है। यह अधिकार-सत्ता आसानी के साथ किसी भी संचालनात्मक अधिशासी के कार्यभार को बढ़ा सकती है और रेखा अधिकार-सत्ता को कम कर सकती है। थियो हैमेन इस अधिकार-सत्ता को सावधानी के साथ प्रयुक्त करने पर बल देते हैं। इस अधिकार-सत्ता को सीमित अधिकार-सत्ता भी कहा जाता है। किन्तु इसका आशय अपूर्ण अधिकार-सत्ता से नहीं है बल्कि किसी क्रिया-विशेष के संबंध में निर्णय लेने या आदेश देने तक ही सीमित होने से है।

सत्ता के स्त्रोत
(Sources of Authority)

अधिकार-सत्ता के स्त्रोत के संबंध में तीन विचारधाराएँ प्रचलित हैं :

(i) **औपचारिक सत्ता विचारधारा** (Formal Authority Theory) – **बर्नार्ड** के अनुसार, "अधिकार-सत्ता की वह अवधारणा, जिसमें अधिकारों का प्रेषण सामाजिक संस्थाओं से वैयक्तिक प्रबंधकों को होता है, औपचारिक सत्ता कहलाती है।" यह विचारधारा मानती है कि अधिकार-सत्ता का स्त्रोत देश का सर्वोच्च कानून अर्थात् संविधान होता है और संविधान को गत्यात्मक बनाये रखने का अधिकार सामाजिक संस्थाओं में निहित होता है। इसलिए प्रजातांत्रिक राष्ट्रों में सर्वोच्च अधिकार-सत्ता देशवासियों में निवास करती है। इस विचारधारा के अनुसार किसी विभाग में अधिकार-सत्ता का प्रेषण संविधान से प्रधानमंत्री, विभागीय मंत्री, विभागीय सचिव, निदेशक तथा उनसे उनके सहायक निदेशकों को होता है।

(ii) **स्वीकृति विचारधारा** (Acceptance Theory) – यह विचारधारा अधिकार-सत्ता का स्त्रोत अधीनस्थों को मानती है। इस विचारधारा की मान्यता है कि औपचारिक अधिकार-सत्ता तो नाममात्र की सत्ता है और वह उस समय ही वास्तविक तथा अर्थपूर्ण बन पाती है जिस समय अधीनस्थ उसे पालन हेतु स्वीकृति देते हैं। इसलिए, अधिकार-सत्ता का वास्तविक स्त्रोत उन अधीनस्थों में निहित है जिन पर अधिकार-सत्ता का प्रयोग किया जाना है और जो कि एक ऐसे प्रयोग की स्वीकृति देते हैं।

व्यवहारवादी प्रबंध स्कूल में निष्ठा रखने वाले विचारक अधिकार-सत्ता की 'स्वीकृति विचारधारा' का समर्थन करते हैं और वर्तमान परिस्थितियों में औपचारिक सत्ता विचारधारा को प्रशासन के संचालन में बाधक मानते हैं क्योंकि उसमें अधिनायकवादिता है; स्वामी-सेवक की भावना निहित है किन्तु इस विचारधारा के आलोचकों का कहना है कि यह विचारधारा सत्ता को अनुज्ञा (sanction) से पृथक् करके देखती है। जबकि व्यवहार में अनुज्ञारहित सत्ता निरर्थक प्रमाणित होती है। इसके अतिरिक्त अनुज्ञा एवं दण्ड भय से रहित सत्ता की विद्यमानता संगठन में उसी प्रकार अराजकता को जन्म दे सकती है जिस प्रकार कानून एवं पुलिस के अभाव में समाज और राष्ट्र अराजकता का शिकार हो सकता है।

(iii) **सक्षमता विचारधारा** (Competence Theory) – यह विचारधारा इस मान्यता पर आधारित है कि विश्व भर में योग्य एवं सक्षम व्यक्ति स्वत: नेतृत्व की बागडोर संभाल लेते हैं, भले ही उन्हें संगठनों में कोई विशिष्ट स्थान या पद न दिया जाये। वह विचारधारा तकनीकी क्षमता एवं व्यक्तित्व की प्रभुता को अधिकार-सत्ता का स्त्रोत मानती है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्री, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, प्रोफेसर आदि अपने क्षेत्र में सक्षम होने के कारण उनकी अधिकार-सत्ता को स्वत: स्वीकार कर लिया जाता है।

सत्ता के कार्य
(Functions of Authority)

सत्ता का महत्व एक साधन तथा सिद्धांत के रूप में होता है जिसके द्वारा कुछ लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। कहा जाता है कि सत्ता द्वारा दूसरे व्यक्तियों के संचारित निर्णयों के अधीन व्यक्ति के

निर्णयों को रखकर समूह में समन्वित व्यवहार कायम किया जाता है। जब एक समूह के कार्यों का समन्वय करने के लिए सत्ता का साधन के रूप में उपयोग किया जाता है तो सत्ता मुख्य रूप से तीन प्रकार के कार्य करती है। साइमन ने इन कार्यों का निम्न प्रकार से उल्लेख किया है – (i) यह उन लोगों को कुछ उत्तरदायित्व सौंपती है जो सत्ता का प्रयोग करते हैं। (ii) यह निर्णय लेने में विशेषज्ञता को काम में लाती है। (iii) यह क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करती है।

सत्ता के कानूनी समर्थकों का कहना है कि सत्ता का **एक** प्रमुख कार्य यह है कि वह व्यक्तिगत कार्यों की समाज द्वारा स्थापित आदर्शों के साथ एकरूपता स्थापित करती है। सत्ता का **दूसरा** महत्वपूर्ण कार्य यह है कि इसके द्वारा जो निर्णय लिये जाते हैं उनमें उच्च स्तर की बुद्धि का प्रयोग किया जाता है और वे अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। सत्ता का **तीसरा** कार्य यह है कि इसके द्वारा संगठन में समन्वय स्थापित किया जाता है। सत्ता की तुलना एक मानव शरीर से करते हुए कुछ विचारक यह मानते हैं कि जिस तरह मस्तिष्क शरीर के अन्य भागों को निर्देशित करता है और बदले में उनके कार्यों की सूचनाएँ प्राप्त करता है, उसी प्रकार संगठन में एक सत्ताधारी व्यक्ति का यह प्रमुख कर्त्तव्य होता है कि अन्य सदस्यों को वह आवश्यक निर्देश और आदेश देता रहे तथा उन सदस्यों से संगठन की गतिविधियों का परिचय प्राप्त करता रहे।

सत्ता पालन के आधार
(The Bases of It's Obedience)

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि लोग सत्ता का पालन क्यों करते हैं? साइमन, आदि विचारकों का मत है कि व्यक्ति निम्नलिखित कारणों से ही किसी की आज्ञा का पालन करता है – (i) विश्वास, (ii) एकरूपता, (iii) दबाव तथा (iv) वैधानिकता।

एक व्यक्ति उस व्यक्ति के प्रस्तावों को स्वीकार करता है जिसमें उसका गहरा **विश्वास** है। इसी प्रकार मानव स्वभाव की यह विशेषता है कि उन लोगों के परामर्शों और सुझावों को अधिक महत्व देता है जो उससे कुछ **एकरूपता** रखते हैं। कभी-कभी अनेक प्रकार के दबावों के कारण व्यक्ति को दूसरों की बात माननी पड़ती है। सर्वोच्च अधिकारी का अधीनस्थों से कार्य करवाने का साधन **दबाव** ही है। अन्ततः संगठन में व्यक्ति दूसरे लोगों की सत्ता को इसलिए भी स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि उनको इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। प्रायः लोगों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि सत्ता के **वैधानिक** रूप को मान्यता प्रदान की जाये। संगठन में पदसोपान के कारण सत्ता के क्रियान्वयन को वैधता प्रदान की जाती है। साइमन के मत में, "सत्ता को इसलिए माना जाता है क्योंकि उच्च प्राधिकारी के आदेशों का पालन किया जाना चाहिए।"

सत्ता की अवधारणा : मैक्स वेबर के विचार
(The Concept of Authority : Views of Max Waber)

नौकरशाही की अवधारणा का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने वाले विद्वानों में जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर का नाम उल्लेखनीय है। उसने नौकरशाही को प्रशासन की तर्कपूर्ण व्यवस्था माना है। उसके अनुसार संस्थागत मानव व्यवहार में तर्कपूर्णता लाने का सर्वोत्तम साधन नौकरशाही है। क्स वेबर ने अधिकार सत्ता (Authority) के वर्गीकरण का प्रयास किया था। वेबर का नौकरशाही द्धांत **'सत्ता के सिद्धांत'** का ही एक अंग है। सत्ता अथवा प्रभुत्व का अर्थ है नियंत्रण की अधिकारिक । दूसरे शब्दों में कहें तो वेबर ने यह प्रश्न उठाया कि कैसे एक व्यक्ति दूसरों पर अपना प्रभुत्व है और इसी के उत्तर में यह भी कहा कि प्रभुत्व का प्रयोग यदि तर्कसंगत और वैध हो तो वह र्ण हो जाता है। मैक्स वेबर ने अधिकार सत्ता या प्रभुत्व के तीन प्रकार मानें –

1. पारम्परिक प्रभुत्व या सत्ता
2. करिश्माती या श्रद्धा पर आधारित सत्ता
3. वैधानिक सत्ता

1. **पारम्परिक प्रभुत्व या सत्ता** (Traditional Authority) – जब आम जनता और अधीनस्थ न किसी शासक अथवा वरिष्ठ अधिकारी के आदेशों का पालन करते हैं तो यह सत्ता का परम्परागत

आधार होता है। उनके आदेश इसलिए वैध होते हैं क्योंकि वे किसी परम्परा (Custom) या प्रथा (Usage) पर आधारित होते हैं। ऐसी सत्ता की दो विशेषताएँ मानी जाती है – रीतिरिवाज (Custom) पर आधारित होना तथा व्यक्तिगत स्वैच्छाचारिता (Personal Arbitrariness)। जो व्यक्ति आदेश का पालन करते हैं उन्हें 'अनुयायी' (Followers) कहा जाता है। वे मालिक के आदेशों का पालन व्यक्तिगत वफादारी तथा उनकी सम्माननीय स्थिति होने के कारण करते हैं। सामंतवादी व्यवस्था में सत्ता का यह रूप देखने को मिलता है। आज भी धर्मगुरुओं-पोप, इमामों और महन्तों को परम्परागत सत्ता का प्रतीक माना जाता है। राजतंत्रात्मक व्यवस्था में भी ऐसी ही सत्ता का रूप पाया जाता है। इसके अन्तर्गत अधीनस्थ 'सेवक' समझे जाते हैं।

2. **करिश्माती या श्रद्धा पर आधारित सत्ता** (Charismatic Authority) – जब अधीनस्थ वरिष्ठ सत्ताधारी या आम जनता नेताओं के आदेशों को इस आधार पर न्यायसंगत मानते हैं कि उन पर सत्ताधारी का व्यक्तिगत जादुयी प्रभाव है तब इसे करिश्मात्मक सत्ता कहते हैं। आम जनता नेताओं के निर्देशों का इसलिए पालन करती है कि वह उनकी अभूतपूर्व योग्यताओं और दैवीय गुणों (करिश्मा) में विश्वास करती है न कि किसी पद या नियमों में। इसमें अधीनस्थ अनुयायी होते हैं और अपने प्रिय नेता के करिश्माती एवं आदर्शवादी व्यक्तित्व के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं। उदाहरणार्थ, तीसरी दुनिया के अनेक देशों में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद करिश्माती नेतृत्व का उदय हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों के लम्बे कालों में ऐसे देव तुल्य नेता (जैसे महात्मा गाँधी) जनमानस में समा गये थे। इस कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ऐसे नेताओं के कार्यपालिका अध्यक्ष बनने पर उनको आदर व असाधारण प्रतिभा का प्रतीक ही नहीं वरन् राष्ट्र का पिता मान लिया गया। जोमों केन्याता, सुकार्णो बोर्गिबा, नासर, नेहरू, ऐनक्रूबा नेरेरे, शेख मुजीब, जिन्ना, यूनू, टीटो इत्यादि अपने अद्वितीय व्यक्तित्व के कारण लम्बी अवधि तक राजनीतिक व्यवस्थाओं पर छाये रहे और लोगों की श्रद्धा के पात्र रहे।

3. **वैधानिक सत्ता** (Legal Authority) – जब अधीनस्थ किसी आदेश को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ऐसा करना तार्किक, कानूनी और सांविधानिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण है तो इस स्थिति में सत्ता को वैधानिक (बौद्धिक-कानूनी) माना जाता है। यह सत्ता संवैधानिक नियमों के अन्तर्गत धारण किये गये पद की स्थिति से निःसृत होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जब राष्ट्रपति पद का कोई प्रत्याशी निर्वाचक मण्डल का बहुमत प्राप्त कर लेता है अथवा जब भारत में लोकसभा के बहुमत प्राप्त दल द्वारा किसी को अपना नेता निर्वाचित कर उसे प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है तब उनकी सत्ता का यह बौद्धिक-तार्किक या वैधानिक आधार ही होता है। इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन तार्किक आधार पर किया जाता है और अधीनस्थ वैधानिक रूप से स्थापित निर्वेयक्तिक आदेशों के आधार पर आज्ञापालन करते हैं। मैक्सवेबर नौकरशाही को तार्किक-वैधानिक सत्ता का प्रतिरूप मानता है। विधिक सत्ता से पोषित एवं समर्थित नौकरशाही को वह संगठन का सबसे प्रभावशाली तत्व बतलाता है।

सत्ता की अवधारणा : मेरी पार्कर फॉलेट के विचार
(The Concept of Authority : Views of Mary Parker Follett)

मेरी पार्कर फॉलेट ने 'सत्ता' की अवधारणा को नये संदर्भ में परिभाषित किया। उसने संगठन में उच्च पदस्थ अधिकारियों द्वारा कनिष्ठ कार्मिकों को दिये जाने वाले आदेशों के मनोवैज्ञानिक पहलुओं का विश्लेषण किया और कहा कि "एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को दिया गया आदेश उस दूसरे व्यक्ति को अप्रतिष्ठित कर देता है।" उसका मत था कि कई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के साथ स्वेच्छा से काम करना (Work with) चाहेंगे किन्तु अपने ऊपर व्यक्तियों के होने (People beeing over them) की स्थिति को प्रगाढ़ता से नापसंद करेंगे।

फॉलेट ने 'स्थिति के नियम' (The Law of situation) का प्रतिपादन किया और इसका संगठनों में आदेश देने के संबंध में किया। प्रायः संगठनों में आदेश जारी करने व उन्हें स्वीकार के संबंध में कई समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कार्मिकों द्वारा आदेशों का विरोध अवहेलना अतिरिक्त, कई बार अधिकारी भी आदेश सत्ता के गर्व से अपने कार्मिकों को अपमानित करते उनमें हीन भावना का संचार करते हैं। अतः इस समस्या के समाधान के लिए फॉलेट ने 'आदेश निर्वेयक्तिकरण' (To Depersonalize Orders) करने पर जोर दिया।

प्रबंधक एवं कर्मचारियों (उच्च एवं अधीनस्थों को) को 'स्थिति की तर्क संगतता' (Logic of the situation) को देखना चाहिए तथा 'स्थिति' के समस्त घटकों का संयुक्त अध्ययन करना चाहिए। फॉलेट ने यह प्रतिपादित किया कि एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर आदेश जारी नहीं करने चाहिए वरन् उन्हें **स्थिति** से ही आदेश प्राप्त कर लेने चाहिए। "किसी एक व्यक्ति को किसी अन्य को आदेश नहीं देना चाहिए, बल्कि **परिस्थिति** से आदेश लेने पर सहमत होना चाहिए। यदि आदेश एकदम **परिस्थिति** का भाग है तो किसी के द्वारा आदेश देने अथवा किसी के द्वारा आदेश लेने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।"

फॉलेट इस मान्यता का भी विरोधी है कि किसी संगठन में **सत्ता** शीर्ष पर केन्द्रित रहे। उसके अनुसार संगठन में **'अंतिम सत्ता'** (Ultimate authority) व 'सर्वोच्च नियंत्रण' (Supreme Control) जैसे शब्दों का प्रयोग अत्यन्त भ्रामक है। 'अंतिम अधिकार मात्र एक भ्रम है' (The final authority is only an illusion)। उसने इंगित किया कि एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति की अधीनता रूपी स्थिति से मानवीय मनोभावों को ठेस पहुँचती है। प्रभुत्व अधिकारी में अंतिम सत्ता के निहित होने की अवधारणा के स्थान पर **'कार्य से उत्पन्न अधिकार'** की प्रतिस्थापना होनी चाहिए। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को 'कार्य सत्ता' (Authority of function) दी जानी चाहिए। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति जिसे जो कार्य सौंपा जाए व उस कार्य के लिए अंतिम रूप से उत्तरदायी होना चाहिए। उसे अपने 'कार्य के क्षेत्र' (Job area) के बारे में अधिकार मिला होना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में "अधिकार कार्य से संबंधित है तथा कार्य के साथ ही रहते हैं (Authority belongs to the Job and stays with the Job)।"

फॉलेट की मान्यता थी कि संगठन में प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता 'प्रत्यायोजित सत्ता' (delegated Authority) न होकर कार्य से जुड़ी सत्ता होनी चाहिए तथा वह स्वयं ही उसके लिए अंतिम रूप से जिम्मेदार होना चाहिए। वे लिखती हैं : "प्रत्यायोजित सत्ता का आशय तो यह होगा कि आपका मुख्य अधिकारी उस संपूर्ण सत्ता पर 'अधिकार' रखता है यद्यपि वह इसके कुछ भाग का प्रत्यायोजन करना लाभप्रद मानता है। मैं नहीं मानती कि एक अध्यक्ष को उसके कार्य से अधिक सत्ता रखनी चाहिए।" इस प्रकार फॉलेट सत्ता के प्रत्यायोजन को ठीक नहीं मानती और कहती हैं कि "सत्ता वास्तव में किसी की किसी को प्रदान नहीं की जा सकती वरन् यह वह शक्ति है जो कार्य में अन्तर्निष्ठ है।"

सत्ता की अवधारणा : चेस्टर बर्नार्ड के विचार
(The Concept of Authority : Views of Chester Barnard)

चेस्टर बर्नार्ड लिखते हैं कि यदि किसी व्यक्ति को दिया गया आदेश उसके द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो यह उसके ऊपर सत्ता का होना प्रमाणित करता है और वह व्यक्ति कार्य करने के लिए बाध्य होता है, किन्तु आदेश की अवहेलना करने का आशय उसके ऊपर स्थापित की गई सत्ता को अस्वीकार करना है। अतः बर्नार्ड ने सत्ता के संबंध में यह निष्कर्ष निकाला कि "यह निर्णय करना कि कोई आदेश सत्ता रखता है अथवा नहीं उन व्यक्तियों पर निर्भर है जिन्हें यह आदेश दिया जाता है, उन व्यक्तियों पर नहीं जो कि सत्ता में है अथवा जो ये आदेश जारी करते हैं।" यह सिद्धांत इस बात पर जोर देता है कि एक अधिकारी की सत्ता सदैव उसके अधीनस्थों द्वारा सत्ता के प्रति दी गई स्वीकृति या अनुमति पर निर्भर करती है (Authority rests upon the acceptance or consent of individuals)।

बर्नार्ड की सत्ता विचारधारा 'नीचे से ऊपर' (From Bottom to top) की ओर जाने वाली सत्ता है जो कि अधीनस्थों की स्वीकृति पर आधारित होती है। उन्होंने प्रबंधकीय सत्ता का वास्तविक स्रोत उच्च पद अथवा स्थिति को नहीं माना बल्कि अधीनस्थ कर्मचारी और उसके द्वारा प्रदान की गई स्वीकृति को सत्ता का वास्तविक उद्गम बिन्दु माना। बर्नार्ड का मत है कि एक अधीनस्थ कर्मचारी स्वयं ही अपने लिए सत्ता को स्थापित करता है। उन्होंने आगे यह भी बताया कि निम्नांकित दशाओं में ही एक व्यक्ति अपने अधिकारी के आदेश को स्वीकार करेगा :-

(i) जब वह दिये आदेश को पूर्ण रूप से समझ पाता है। अतः एक अधीनस्थ कर्मचारी के लिए आदेश की भाषा व विवेचन अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है।

(ii) जब वह यह समझता है कि उसे दिया आदेश संगठन के उद्देश्य के प्रतिकूल नहीं हैं। विरोधी व प्रतिकूल उद्देश्यों वाले आदेशों की पालना नहीं हो पाती है।

(iii) जब वह यह समझता है कि कुल मिलाकर यह आदेश उसके निजी हितों के अनुकूल है तथा उसके लिए किसी भी प्रकार से अहितकर नहीं है।

(iv) जब वह मानसिक व शारीरिक रूप से उस आदेश का पालन करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार बर्नार्ड ने इस बात पर जोर दिया कि जिन आदेशों का व्यवहार में अधीनस्थ कर्मचारियों से पालन करवाया जाना कठिन अथवा असंभव हो, वे आदेश नहीं दिये जाने चाहिये, किन्तु यदि प्रबंधक को अस्वीकार्य (Unacceptable) आदेश देने ही पड़े तो उसे अपने अधीनस्थों को पर्याप्त शिक्षा, प्रशिक्षण, प्रोत्साहन व प्रेरणाएँ प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि वास्तविक सत्ता का निर्धारण अधीनस्थ कर्मचारी ही करते हैं। उसके अनुसार उच्च एवं वरिष्ठ सत्ता (Superior Authority) वास्तविक नहीं है, वरन् एक कल्पना (Fiction) है। नीचे से ऊपर की ओर चलने वाली सत्ता ही वास्तविक है क्योंकि इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति संगठनात्मक निर्णय के उत्तरदायित्व को ऊपर की ओर सौंपता (Delegates Upward) है।

आदेशों की स्वीकृति के संबंध में बर्नार्ड ने 'उदासीनता के क्षेत्र' (Zone of Indifference) की अवधारणा का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार स्वीकृति योग्यता की दृष्टि से समस्त आदेशों को **तीन श्रेणियों** में विभाजित किया जा सकता है। कुछ आदेश ऐसे होते हैं जो स्वीकृति योग्य नहीं होते अर्थात् अधीनस्थों द्वारा उनका पालन नहीं किया जाता है। कुछ आदेश तटस्थता की पंक्ति पर होते हैं अर्थात् वे मुश्किल से ही स्वीकार या अस्वीकार किये जाते हैं। तीसरी श्रेणी में वह आदेश आते हैं जो अधीनस्थों द्वारा निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिये जाते हैं। बर्नार्ड के अनुसार 'उदासीनता के क्षेत्र' में ये तीसरे प्रकार के आदेश ही सम्मिलित किये जाते हैं। व्यक्ति कुछ आदेशों के प्रति सत्ता की दृष्टि से उदासीन होते हैं। वे यह जानने की परवाह नहीं करते हैं कि आदेश क्या है क्योंकि सामान्य रूप से वे उनके परिणामों व प्रभावों का संगठन में आने के समय ही पूर्वानुमान कर लेते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति को, जो 'भारतीय प्रशासनिक सेवा' (I.A.S.) में प्रवेश कर रहा है, यह पता है कि इस सेवा में दो-तीन साल बाद स्थानान्तरण होना एक सामान्य बात है तो वह स्थानान्तरण आदेश के प्रति ज्यादा चिन्तित नहीं रहेगा, वरन् उदासीन ही रहेगा चाहे उसका स्थानान्तरण कहीं भी कर दिया जाये। दूसरे शब्दों में जिन आदेशों के प्रभावों से व्यक्ति परिचित होता है, उनके प्रति प्राय: उदासीन हो जाता है। ऐसे आदेश उसके 'उदासीनता के क्षेत्र' के अन्तर्गत आते हैं।

सत्ता की सीमाएँ
(Limits Of Authority)

अधिकार-सत्ता की सीमाओं से आशय उन घटकों एवं परिस्थितियों से है जो कि उसके प्रयोग पर अंकुश का कार्य करती हों या उसकी प्रभावशीलता को कम करती हों। व्यक्तियों की योग्यताएँ, तकनीकी ज्ञान, क्षमता, अनुभव, विश्वास, कानून, आर्थिक दशाएँ, प्रकृति आदि वे घटक हैं जो अधिकार-सत्ता को सीमित करने की क्षमता रखते हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :-

(i) **तकनीकी सीमाएँ** (Technical Limits) – प्रौद्योगिकी का विकास काफी तीव्रता से हो रहा है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को वही काम सौंपा जाना चाहिए जिसमें वह दक्ष हो। यदि आवश्यक तकनीकी ज्ञान किसी व्यक्ति में न हो तो, वह अपनी अधिकार-सत्ता की प्रयुक्ति भली प्रकार नहीं कर सकेगा।

(ii) **जैविक सीमाएँ** (Biology Limits) – किसी भी प्रबंधक को अपने अधीनस्थों को ऐसे आदेश नहीं देने चाहिए जिन्हें अधीनस्थ इसलिए पूरा न कर सकें क्योंकि उनकी पूर्ति से जीवन समाप्त होने का खतरा हो; जैसे, जहर चखने का आदेश देना, बिना उपकरण के बिजली का कार्य करने का आदेश देना, आदि।

(iii) **कानूनी सीमाएँ** (Legal Limits) – देश का कानून प्रबंधकों की अधिकार-सत्ता को सीमित करने की क्षमता रखता है। प्रबंधकों के उन आदेशों का पालन करने हेतु अधीनस्थ विवश नहीं किये जा सकते जिससे कानूनी व्यवस्थाओं का उल्लंघन होता हो।

(iv) **मनोवैज्ञानिक सीमाएँ** (Psychological Limits) – प्रबंधकों की अधिकार-सत्ता को अधीनस्थों की प्रतिक्रियाएँ भी प्रभावित करती हैं। इसलिए अधिकार-सत्ता का प्रयोग करते समय प्रबंधकों को सम्भावित प्रतिक्रियाएँ ध्यान में रखनी चाहिए।

(v) **आर्थिक सीमाएँ** (Economic Limits) – प्रबंधकों की सत्ताएँ यद्यपि काफी विस्तृत हो सकती हैं फिर भी संस्था के पास उपलब्ध आर्थिक साधन उनकी अधिकार-सत्ता को सीमित करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

(vi) **प्राकृतिक सीमाएँ** (Natural Limits) – जलवायु, वातावरण, भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक संकट आदि भी अधिकार-सत्ता की सीमित करने की क्षमता रखते हैं।

(vii) **अन्य सीमाएँ** (Other Limits) – जनसाधारण, श्रम-संघों की कार्यवाही, सामाजिक परम्पराएँ एवं प्रथाएँ, समूह व्यवहार आदि भी अधिकार-सत्ता को सीमित करने वाले घटक हैं।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सत्ता से क्या अभिप्राय है? शक्ति और सत्ता में अन्तर कीजिए।
2. सत्ता की अवधारणा के बारे में मैक्स वेबर के विचारों का परीक्षण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सत्ता और शक्ति में अन्तर समझाइये।
2. सत्ता से क्या अभिप्राय है ?
3. सत्ता के स्रोत बतलाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. प्रशासन में प्रबंधकीय कार्यों की कुंजी माना जाता है -

   (अ) शक्ति (ब) वैधता (स) सत्ता (द) कानून
2. उच्च एवं प्रवर व्यक्ति की उस क्षमता को जिसके आधार पर वह निर्णयन के साथ-साथ अधीनस्थों के व्यवहार को भी प्रभावित कर सके, क्या कहते हैं ?

   (अ) शक्ति (ब) दण्ड (स) वैधता (द) सत्ता
3. "सत्ता आदेश देने का अधिकार है और उसके पालन करवाने की शक्ति है।" यह परिभाषा निम्नलिखित में से किसकी है ?

   (अ) लूथर गुलिक (ब) हेनरी फेयोल (स) उर्विक (द) हर्बर्ट साइमन
4. सत्ता की विशेषता नहीं है -

   (अ) यह एक प्रबंधकीय अधिकार है। (ब) इसका प्रत्यायोजन ऊपर से होता है।

   (स) इसका प्रत्यायोजन नीचे से होता है। (द) यह अधीनस्थों को कार्य सौंपने का अधिकार है
5. सत्ता की विशेषता नहीं है -

   (अ) यह निर्णय लेने का अधिकार है।

   (ब) यह अधीनस्थों से संतोषप्रद निष्पादन की अपेक्षा रखने का अधिकार है।

   (स) यह आदेश देने का अंधिकार है।

   (द) यह अधीनस्थों द्वारा लिए गए निर्णयों को स्वीकार करने का सिद्धांत है।
6. निम्नलिखित में से कौनसा वक्तव्य सही नहीं है ?

   (अ) सत्ता का रूप एक प्रकार से कानूनी है जबकि शक्ति का रूप कानूनी होना आवश्यक नहीं है।

   (ब) जब शक्ति को कानून का रूप दे दिया जाता है तो वह सत्ता बन जाती है।

   (स) शक्ति के अभाव में भी सत्ता विद्यमान रह सकती है।

   (द) सत्ता का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता जबकि शक्ति का प्रत्यायोजन होता है।

उत्तर - (1) स, (2) द, (3) ब, (4) स, (5) द, (6) द

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

8

राज्य : परिभाषाएँ और उसके मूल तत्व

(STATE : DEFINITIONS AND ITS ELEMENTS)

राजनीतिशास्त्र राज्य का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसके अध्ययन का मुख्य विषय राज्य ही है। राज्य क्या है, यह प्रश्न राजनीति विज्ञान में अत्यन्त जटिल प्रश्न है। सभी व्यक्ति राज्य के अन्दर निवास करते हैं तथापि राज्य के बारे में हमेशा से अधिकांश लोग बहुत कम जानते हैं। राजनीति विज्ञान में 'राज्य' शब्द का प्रयोग एक निश्चित और वैज्ञानिक अर्थ में किया जाता है।

राज्य राजनीति विज्ञान का केन्द्र बिन्दु है। प्राचीन यूनानी लेखकों ने राज्य के लिए 'पॉलिस' शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ था नगर राज्य। परन्तु अब नगर राज्यों का युग समाप्त हो गया है: 'राज्य' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग सर्वप्रथम मैकियावेली ने किया था। 16वीं शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग आंग्ल भाषा में तथा 17 वीं शताब्दी में फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं में हुआ। सन् 1576 में बोदां ने राज्य सम्बन्धी अपनी विवेचनात्मक पुस्तक का नाम 'रिपब्लिक' रखा किन्तु उसने राज्य की आधारभूत विशेषता-सम्प्रभुता का उल्लेख करके राज्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया।

राज्य का अर्थ (Meaning of the State)

राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है। सुन्दर एवं नैतिक जीवन की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति राज्य है। समाज के अन्तर्गत राज्य ही एकमात्र सर्वोत्तम सत्ता है। राज्य समाज की शक्ति का प्रतीक है और सामाजिक जीवन की प्रथम आवश्यकता है। राज्य के सुप्रबन्ध पर ही किसी देश की जनता का सुख और उन्नति निर्भर है।

'राज्य' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। राजनीति विज्ञान के लेखकों और विचारकों में राज्य की परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लेखक राज्य को एक वर्ग रचना मानते हैं, तो कुछ अन्य विद्वान राज्य को समस्त जनसमुदाय की प्रतिनिधि संस्था मानते हैं। कतिपय विचारक इसे शक्ति का केन्द्र मानते हैं तो कुछ अन्य विचारक इसे एक लोककल्याणकारी संस्था के रूप में देखते हैं।

'राज्य' शब्द के अशुद्ध प्रयोग (Incorrect uses of the term 'State')

राज्य शब्द का अर्थ करना बड़ा कठिन है। राज्य जैसे सार्वभौम शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं किया गया है। राज्य शब्द अंग्रेजी भाषा के 'State' शब्द का पर्यायवाची है। परन्तु यूनानी दार्शनिक इसे पॉलिस कहते थे। **'पॉलिस'** शब्द से 'नगर समुदाय' का परिचय मिलता है। रोमन विचारकों के समय 'सिविटाज' शब्द राज्य का पर्याय माना जाने लगा। राज्य शब्द को लेकर आज भी भ्रांति फैली हुई है। उदाहरणार्थ, भारत या संयुक्त राज्य अमेरिका की संघात्मक शासन व्यवस्था के अन्तर्गत संघ के एककों को राज्य या State कहा जाता है। जब हम कहते हैं कि छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश राज्य हैं तो राजनीति विज्ञान की धारणा के रूप में हम यहाँ पर राज्य शब्द का अशुद्ध प्रयोग करते हैं। राजनीति विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अमेरिका और भारत तो राज्य हैं परन्तु इनकी घटक इकाइयाँ राज्य नहीं कहला सकतीं। इसका मुख्य कारण यह है कि राजनीतिशास्त्र में राज्य उस समुदाय को कहा जाता है जिसके पास जनसंख्या, भूमि, सरकार तथा प्रभुसत्ता हो। भारत और अमेरिका के घटक राज्यों के पास जनसंख्या, भूमि तथा सरकार तो मौजूद हैं किन्तु प्रभुसत्ता नहीं है अत: उन्हें राज्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

राज्य की परिभाषा (Definitions of the State)

राजनीति विज्ञान के विद्वानों में राज्य के स्वरूप के बारे में मतभेद पाया जाता है जिसका प्रभाव उसकी परिभाषाओं पर भी पड़ा है। प्रत्येक विचारक अपनी मान्यताओं के अनुसार राज्य पर विचार करता है और फिर उस राज्य का स्वरूप भी बदलता रहा है। अत: राज्य की कोई परिभाषा सार्वदेशीय या सार्वकालिक नहीं हो सकती। **शुल्जे** ने ठीक ही कहा है कि,"राज्य शब्द की उतनी परिभाषाएँ हैं जितने

राजनीति के लेखक।" संक्षेप में, राज्य का विश्लेषण तथा उसकी परिभाषा निम्न आधारों पर की जा सकती है– (1) शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर। (2) तत्वों के आधार पर। (3) कानूनी दृष्टिकोण के आधार पर। (4) उद्देश्य तथा कार्य के आधार पर। (5) शक्ति की धारणा के आधार पर। (6) बहुसमुदायवाद के आधार पर। (7) उत्पत्ति के आधार पर।

(1) शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर– राज्य शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर 'स्टेट' है। स्टेट शब्द लैटिन भाषा के 'स्टेट्स' शब्द से निकला है। 'स्टेट्स' का शाब्दिक अर्थ किसी व्यक्ति का सामाजिक स्तर होता है। धीरे-धीरे इस शब्द का अर्थ बदलता गया और **सिसरो** के समय इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज के स्तर से माना जाने लगा। जब इस शब्द का प्रयोग इंगलैंड में किया जाने लगा तो उस समय एक प्रभुत्व सम्पन्न संस्था के रूप में राज्य का स्तर और भी बढ़ गया। **बार्कर** के अनुसार 16वीं शताब्दी के इंग्लैंड में उस समय राज्य शब्द का प्रयोग हुआ तो वह अपने साथ इटली से महान राज्य अथवा किसी व्यक्ति विशेष अथवा रामुदाय विशेष में निहित महानता का एक विचार लाया।

(2) तत्वों के आधार पर– कुछ विद्वानों ने राज्य की परिभाषा राज्य के निर्माणक तत्वों के आधार पर की है। हॉलैंड ने राज्य के दो तत्व बतलाये हैं। उसके शब्दों में, "राज्य मनुष्यों के उस समूह अथवा समुदाय को कहते हैं जो साधारणत: किसी प्रदेश पर बसा हुआ हो और जिसमें किसी एक श्रेणी अथवा बहुसंख्या की इच्छा अन्य सब की तुलना में क्रिया में परिणत होती है।" **गिलक्राइस्ट** के अनुसार, " राज्य उसे कहते हैं जहाँ कुछ लोग एक निश्चित प्रदेश में एक सरकार के अधीन संगठित होते हैं। यह सरकार आन्तरिक मामलों में अपनी जनता की सम्प्रभुता को प्रकट करती है और बाहरी मामलों में अन्य सरकारों से स्वतन्त्र होती है।"

गार्नर के अनुसार, "राज्य बहुसंख्यक व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जो किसी प्रदेश के निश्चित भाग में स्थायी रूप से रहता हो, बाहरी शक्ति के नियन्त्रण से पूर्णत: या अंशत: स्वतन्त्र हो और जिसमें ऐसी सरकार विद्यमान हो जिसके आदेश का पालन नागरिकों के विशाल समुदाय द्वारा स्वाभाविक रूप से किया जाता हो।"

फिलिमोर के अनुसार, "राज्य वह जन समाज है जिसका एक निश्चित भू- भाग पर स्थायी अधिकार हो, जो एक से कानूनों आदतों व रिवाजों द्वारा बंधा हुआ हो, जो एक संगठित सरकार के माध्यम द्वारा अपनी सीमा के अन्तर्गत सब व्यक्तियों तथा वस्तुओं पर स्वतन्त्र सम्प्रभुता का प्रयोग एवं नियन्त्रण करता हो तथा जिसे भू मण्डल के राष्ट्रों के साथ युद्ध एवं सन्धि करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार हो।"

(3) कानूनी दृष्टिकोण के आधार पर – कुछ विद्वानों ने राज्य की परिभाषा कानूनी दृष्टिकोण से की है। वे मानते हैं कि राज्य कानून बनाने वाली संस्था है। इस दृष्टिकोण के समर्थकों में विलोबी, विल्सन, हॉल तथा जेलीनिक के नाम उल्लेखनीय हैं।

विलोबी के अनुसार,"राज्य एक ऐसा कानूनी व्यक्ति या स्वरूप है जिसे कानून के निर्माण का अधिकार प्राप्त है।" **विल्सन** के अनुसार, "राज्य एक निश्चित प्रदेश के अन्तर्गत नियम या विधि द्वारा संगठित लोगों का नाम है।"

(4) उद्देश्य तथा कार्य के आधार पर – उद्देश्य एवं कार्य के आधार पर राज्य की परिभाषा की जा सकती है। व्यक्तिवादी, आदर्शवादी, समाजवादी, तथा साम्यवादी विचारकों ने राज्य की परिभाषा उसके उद्देश्यों एवं कार्यों के सम्बन्ध में ही करने का प्रयास किया है। व्यक्तिवादी विचारक, राज्य को मनुष्य की अपूर्णता का परिचायक बतलाते हैं। **हर्बर्ट स्पेंसर के अनुसार,** "राज्य दुर्गुणों की सन्तान है और उसे त्यागकर मनुष्य उस समाज में प्रवेश करेगा जहाँ स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है।" आदर्शवादी विचारकों ने राज्य की परिभाषा एक आदर्श अथवा नैतिक विचार के रूप में की है। **बोसांके के शब्दों में,** "राज्य एक नैतिक विचार का मूर्त रूप है।" **प्लेटो के अनुसार** – "राज्य व्यक्ति का विराट रूप है" उपयोगितावादी विचारकों ने राज्य का लक्ष्य "अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख" बतलाया है। समाजवादी विचारक राज्य को व्यक्ति की पूर्णता तथा स्वतंत्रता का प्रतीक मानते हैं। साम्यवादी विचारक राज्य को एक वर्ग का प्रतिरूप मानते हैं। **कार्ल मार्क्स** के शब्दों में, "राज्य केवल एक ऐसी मशीन है जिसके द्वारा एक वर्ग, दूसरे वर्ग का शोषण करता है।" **एंजिल्स** के शब्दों में, "राज्य बुर्जुआ वर्ग की एक समिति मात्र है।"

(5) शक्ति की धारणा के आधार पर – राज्य संस्था को शक्ति और सत्ता का प्रतीक माना गया है। मैकियावेली के शब्दों में, "चाहे राजतन्त्र हो या गणतन्त्र, समस्त शक्तियाँ, जिनका आधार जनता होती हैं, राज्य की संज्ञा दी जाती है।" **ट्रीट्स्के के अनुसार**, "राज्य एक शक्ति है और हमें उसकी उपासना करनी चाहिए।"

वेटिल के शब्दों में, "राज्य मानव समाज या राजनीतिक संस्था का वह रूप है जो अपनी शक्तियों के मिश्रण द्वारा सर्वसाधारण के हित की कामना करता है।" **गांधी जी** के शब्दों में, "राज्य एक केन्द्रित व्यवस्थित रूप में हिंसा का प्रतिनिधि है।"

(6) बहु-समुदायवाद के आधार पर– कतिपय विचारकों ने राज्य तथा अन्य समुदायों के सम्बन्धों के आधार पर राज्य की परिभाषा की है। राज्य की परिभाषा पर विचार करने वाले ऐसे विद्वानों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (1) एकलवादी तथा (2) बहुलवादी। एकलवादी विचारक राज्य को समाज में सर्वोपरि स्थान देते हैं। वे राज्य को अन्य समुदायों से उच्च मानते हैं तथा समस्त समुदायों में केवल राज्य को ही प्रभुता सम्पन्न मानते हैं। **बोदाँ के अनुसार**, "राज्य कुटुम्बों तथा उसके सामूहिक अधिकार की वस्तुओं का एक ऐसा समुदाय है जो सर्वश्रेष्ठ शक्ति तथा तर्क - बुद्धि से शासित होता है।"

बहु-समुदायवादियों ने राज्य की एकलवादी परिभाषा को अस्वीकार कर दिया। वे राज्य को सर्वश्रेष्ठ समुदाय नहीं मानते। **मैकाइवर के अनुसार**, "राज्य उस समुदाय को कहते हैं जो अपनी सरकार द्वारा लागू किये जाने वाले कानून के अनुसार कार्य करता है जिसे इसके लिए बल प्रयोग की अनुमति है तथा जो एक निश्चित सीमा-क्षेत्र में सामाजिक व्यवस्था की सर्वमान्य बाह्य स्थितियाँ बनाये रखता है।"

लॉस्की के अनुसार, "राज्य एक ऐसा प्रादेशिक समाज है जो शासन और प्रजा में विभक्त होता है, जिसमें प्रजा व्यक्ति अथवा समुदायों के रूप में होती है और शासन सर्वोपरि बल प्रयोग पर आधारित अपनी शक्ति द्वारा प्रजा के साथ अपने सम्बन्ध निर्धारित करता है।"

(7) उत्पत्ति के आधार पर – राज्य की उत्पत्ति के आधार पर भी कुछ विद्वानों ने उसकी परिभाषा करने का प्रयास किया। मैकियावेली, ऑपेनहीम तथा सीमेल ने शक्ति को राज्य के जीवन में प्रमुख तत्व माना है और उसी परिप्रेक्ष्य में राज्य की परिभाषा की है। कुछ विद्वानों ने राज्य की उत्पत्ति का कारण ईश्वर को माना है और राज्य को ईश्वर की रचना ही कह डाला है। हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते से मानी है। पितृ प्रधान तथा मातृ प्रधान सिद्धान्तों में राज्य को कुटुम्ब का ही वृहत रूप माना गया है।

राज्य की परिभाषाओं का विश्लेषण (Analysis of the Definitions of State)

राजनीतिक दार्शनिकों तथा विद्वानों ने राज्य की अलग-अलग परिभाषाएँ की हैं। अधिकांश परिभाषाएँ एकपक्षीय हैं। इन परिभाषाओं में वस्तुपरकता का अभाव है। इस स्थिति पर खेद प्रकट करते हुए **मैकाइवर** ने ठीक ही कहा है कि "यह आश्चर्य की बात है कि राज्य जैसे स्पष्ट शब्द की परिभाषाएं विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की हैं।" उनके विचारों में बहुत अधिक विरोधाभास भी है। कुछ लेखक राज्य को कानूनी संरचना मानते हैं तो कुछ लोग उसे आवश्यक बुराई मानते हैं। कुछ विचारक उसे एक शक्ति सम्पन्न संरचना बतलाते हैं तो कुछ लोग उसे एक लोक कल्याणकारी संस्था मानते हैं।

राज्य की सर्वोत्तम परिभाषा गार्नर ने दी है। उसकी परिभाषा में राज्य के सभी आवश्यक तत्वों, जनसंख्या, निश्चत भू-भाग, शासन या सरकार और सम्प्रभुता का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

राज्य के तत्व (Elements of the State)

आधुनिक राजशास्त्रियों के अनुसार राज्य के चार आवश्यक तत्व हैं :

(1) जनसंख्या (Population)

(2) निश्चित भू-भाग (Territory)

(3) शासन या सरकार (Government)

(4) सम्प्रभुता (Sovereignty)

(1) जनसंख्या (Population)

राज्य मनुष्यों की एक संस्था है। मनुष्यों के बिना कोई मानव समुदाय नहीं बन सकता। मनुष्यों के अभाव में राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। **लीकॉक के अनुसार,** "बिना जीवित मनुष्यों के पृथ्वी के किसी खाली भाग में राज्य नहीं बन सकता।" **गेटिल के अनुसार,** "मनुष्य के शाश्वत अन्त: सम्बन्ध की प्रक्रिया द्वारा ही राज्य की उत्पत्ति हुई है।"

जनसंख्या का होना राज्य की बुनियादी आवश्यकता है। फिर यह प्रश्न उठ सकता है कि राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए? यदि किसी प्रदेश में एक या पाँच सात परिवार रहते हैं, तो उसको राज्य की सज्ञां नहीं दी जा सकती। राज्य के निर्माण के लिए एक प्रदेश में बहुसंख्यक परिवारों का होना आवश्यक है। राज्य की न्यूनतम और अधिकतम जनसंख्या कितनी हो, इस विषय में कोई निश्चित नियम नहीं है। आज भी ऐसे अनेक राज्य हैं जिनकी जनसंख्या करोड़ों में है और ऐसे भी राज्य हैं जिनकी जनसंख्या कुछ ही हजार है। उदाहरणार्थ भारत, चीन, रूस, अमेरिका आदि राज्यों की जनसंख्या करोड़ों में है। दूसरी तरफ मोनाको, सेण्ट मैरीनो आदि राज्यों की जनसंख्या केवल कुछ ही हजार है। प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने एक आदर्श राज्य के लिए 5040 जनसंख्या निश्चित की थी। अरस्तू ने राज्य के लिए कोई निश्चित जनसंख्या नहीं बतलायी। उसने सिर्फ इतना कहा कि जनसंख्या न तो बहुत अधिक होनी चाहिए और न बहुत कम। रूसो ने राज्य के लिए 10,000 की जनसंख्या बतलायी थी। रूसो ने यह भी कहा था कि राज्य की जनसंख्या का निश्चय उसके भू-विस्तार तथा उसकी प्राकृतिक क्षमता को देखकर किया जाए।

गार्नर के अनुसार, " जनसंख्या राज्य के संगठन को चलाने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए, जो राज्य की प्रादेशिक सीमा व प्राकृतिक क्षमता से अधिक नहीं रहनी चाहिए।" **सॉलटाऊ** ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि जनता की संख्या का सम्बन्ध प्रयोग की वस्तुओं की उपलब्धि, वांछित जीवन स्तर तथा सुरक्षा एवं उत्पादन की आवश्यकता से होना चाहिए। अधिक जनसंख्या का होना राज्य की शक्ति एवं समृद्धि के लिए उंचित नहीं है। भारत और चीन की जनसंख्या बहुत अधिक है। किन्तु अनेक छोटे-छोटे राज्यों की तुलना में वे न तो शक्तिशाली हैं और न औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध ही। कभी-कभी तो जनसंख्या का अधिक होना राज्य में निर्धनता और अभाव पैदा करता है। संक्षेप में, इस सम्बन्ध में, यही कहा जा सकता है कि राज्य की जनसंख्या सन्तुलित होनी चाहिए।

जनसंख्या के गुणात्मक पक्ष पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि किसी राज्य की जनसंख्या का बौद्धिक व नैतिक स्तर ऊंचा है तो निश्चित रूप से राज्य शीघ्र ही प्रगति कर सकता है। वस्तुत: राज्य की पहचान उसके नागरिकों की सच्चरित्रता एवं सद्‌गुण-सम्पन्नता से होती है।

(2) निश्चित भू-भाग (Territory)

राज्य का दूसरा आवश्यक तत्व भूमि है। बिना निश्चित भू-भाग के राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। **गिलक्राइस्ट के अनुसार,** "बिना निश्चित भूखण्ड के कोई भी राज्य सम्भव नहीं हो सकता। **ब्लंश्ली** के शब्दों में, "जैसे राज्य का व्यक्ति विषयक आधार जनता है उसी प्रकार उसका भौतिक आधार प्रदेश है। जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक कि उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो।"

कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि भूमि राज्य का अनिवार्य तत्व नहीं है। **दुग्वी** कहता है कि, "भू-भाग राज्य का आवश्यक तत्व नहीं है।" हॉल ने लिखा है कि, "कोई कारण नहीं कि भावात्मक रूप से घूमने वाला एक कबीला या समाज अपने आपको नियमबद्ध किसी निश्चित जाति के अन्तर्गत न माने जैसा कि एक राज्य में होता है।" किन्तु आज इस विचार को अस्वीकार किया जा चुका है। सभी समकालीन विचारक इस बात पर एकमत हैं कि जब तक मनुष्य खानाबदोश बनकर विचरण करते रहते हैं, वे राज्य नहीं बन पाते। इसका एक उत्तम उदाहरण यह है कि यहूदियों को जब तक फिलिस्तीन में भू - भाग प्राप्त नहीं हुआ, तब तक उनका राज्य नहीं माना गया।

जिस प्रकार जनसंख्या के बारे में निश्चित सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती, उसी प्रकार राज्य के क्षेत्र के बारे में भी कोई सीमा नहीं बतलायी जा सकती। क्षेत्रफल की दृष्टि से आधुनिक विश्व के समस्त राज्य एक दूसरे से बड़ी भिन्नता रखते हैं। सैन मेरिनो का क्षेत्रफल 38 वर्ग मील है ; लक्जमवर्ग का क्षेत्रफल 999 वर्ग मील है, और अमेरिका का क्षेत्रफल 35,70,982 वर्ग मील है।

संक्षेप में, राज्य की भूमि के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य बड़े महत्वपूर्ण हैं - **प्रथम**, राज्य की सीमाएं निश्चित होनी चाहिए। **द्वितीय**, राज्य के लिए भूमि का महत्व सिर्फ भौतिक दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी है। निश्चित भू-भाग के बिना लोगों में राष्ट्र प्रेम, एकता, बन्धुत्व आदि की भावनाएं नहीं आ सकती। **तृतीय**, प्रदेश और उसकी जनसंख्या में उचित अनुपात होना चाहिए। अधिक जनसंख्या और कम प्रदेश वाला राज्य निर्धन बना रहता है। **चतुर्थ**, आज विशाल प्रदेश वाले राज्यों का युग है। बड़े प्रदेश में अधिक प्राकृतिक साधन मिलने की संभावना होती है। ऐसा भी कहते हैं कि बड़े प्रदेश पर दुश्मन शीघ्र कब्जा नहीं कर पाता।

(3) शासन या सरकार (Government)

राज्य का तीसरा आवश्यक तत्व जिसके बिना राज्य का निर्माण पूर्ण नहीं होता, शासन तन्त्र अथवा सरकार होता है। किसी निश्चित भू-भाग पर रहने वाले लोगों को तब तक राज्य नहीं कहा जा सकता जब तक कि वहाँ कोई सरकार न हो। वस्तुत: राज्य राजनीतिक रूप से संगठित एक समाज है। बिना सरकार के राज्य नहीं हो सकता, यद्यपि बिना राज्य के सरकार का अस्तित्व सम्भव है। **गिलक्राइस्ट** के अनुसार, "सरकार वह मशीनरी है जिसके माध्यम से राज्य की अभिव्यक्ति होती है। किसी निश्चित भू-भाग पर स्थित जनसमुदाय उस समय तक राज्य का निर्माण नहीं कर सकता जिस समय तक उसके राजनैतिक संगठन का निर्माण सम्पन्न न हो गया हो।"

सरकार राज्य का संगठनात्मक रूप है। इसके बिना राज्य एक संकल्पना अथवा विचार बनकर रह जायेगा। वस्तुत: सरकार राज्य का बाहरी रूप है। सरकार की अनुपस्थिति में राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकता, लोकहित की अभिवृद्धि नहीं कर सकता। सरकार के अभाव में राज्य बिखर जायेगा और कानून एवं व्यवस्था के भंग होने पर अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। सरकार के माध्यम से ही राज्य के संकल्प बनते हैं और उनकी अभिव्यक्ति होती है। **गार्नर** के शब्दों में, "सरकार राज्य का वह साधन या यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य के उद्देश्य अर्थात् सामान्य नीतियों और सामान्य हितों की पूर्ति होती है।"

यदि सरकार राज्य का अभिन्न अंग है तो उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए? सरकार के कई रूप हो सकते हैं। सरकार के रूपों में एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, राजतन्त्र और लोकतन्त्र प्रमुख हैं। आज सर्वत्रलोकतन्त्रात्मक सरकारें ही दिखाई देती हैं किन्तु लोकतन्त्र के कई रूप हैं। भारत में संसदात्मक लोकतन्त्र प्रचलित है तो अमेरिका में अध्यक्षात्मक लोकतन्त्र। एक राज्य में एक ही सुसंगठित सरकार का रहना उत्तम रहता है। कभी-कभी सरकार की शक्तियाँ विभाजित भी होती हैं। संघीय व्यवस्था वाले राज्यों में ऐसा ही होता है। सरकार के सम्बन्ध में पोप की यह उक्ति ठीक ही है, "सरकार के रूप के विषय में मूर्खों को लड़ने दो। वह सरकार सर्वोत्तम है जो भली प्रकार से शासन करे।" अराजकतावादी और साम्यवादी विचारक भी शासन का विरोध करते हुए यह मानते हैं कि किसी न किसी रूप में अनुशासन और आज्ञापालन राज्य के लिए नितान्त आवश्यक हैं।

(4) सम्प्रभुता (Sovereignty)

राज्य का चौथा मूल तत्व सम्प्रभुता है। यह राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। इसे राज्य का प्राण कहा जा सकता है। सम्प्रभुता का अर्थ है 'सर्वोच्च शक्ति'। प्रभुसत्ता ही राज्य का वह तत्व है जो उसे समूहों और समुदायों से पृथक करता है। इसी शक्ति के आधार पर राज्य को अन्य समुदायों से श्रेष्ठतर माना जाता है।

निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बस जाने तथा राजनैतिक संगठन की रचना कर लेने के पश्चात् भी सम्प्रभुशक्ति के अभाव में राज्य का निर्माण सम्भव नहीं है। अन्य संघों के सदस्य होते हैं, उनके पास भूमि हो सकती है, कार्य-संचालन के हेतु नियम भी होते हैं। लेकिन उनमें सम्प्रभु शक्ति नहीं

होती। यह तत्व केवल राज्य में ही पाया जाता है। डॉ. आशीर्वादम् के शब्दों में, 'अपनी इस सम्प्रभु शक्ति के कारण, आधुनिक राज्य आन्तरिक मामलों में सर्वोच्चता तथा अन्य सरकारों के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता का दावा करते हैं।' सम्प्रभुता के अभाव के कारण ही राजस्थान, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश आदि 'सच्चे' राज्य नहीं हैं। हमारा देश 15 अगस्त 1947 से पूर्व राजनीतिक दृष्टि से राज्य नहीं था क्योंकि उसके पास सम्प्रभु शक्ति नहीं थी। भारत ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन था और ब्रिटिश संसद द्वारा पारित अधिनियमों से शासित होता था।

राज्य की सम्प्रभुता को दो रूपों में देखा जा सकता है- आन्तरिक तथा बाह्य सम्प्रभुता। आन्तरिक सम्प्रभुता से तात्पर्य है कि राज्य अपनी सीमा के अन्तर्गत सर्वोच्च है और उसके अन्तर्गत रहने वाले सभी व्यक्तियों तथा समुदायों पर उसके कानून लागू होते हैं। बाह्य सम्प्रभुता से अभिप्राय है कि राज्य बाहरी नियन्त्रण से मुक्त है। वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पूर्णत: स्वतन्त्र है। वह अपनी विदेश नीति स्वयं निर्धारित कर सकता है, अन्य राज्यों के साथ स्वेच्छा से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है तथा किसी अन्य राज्य का उस पर कोई दबाव नहीं हो सकता।

निष्कर्ष

राजनीति विज्ञान की परिभाषा के अनुसार राज्य में उपर्युक्त चारों तत्वों का होना आवश्यक है। इन तत्वों के अभाव में किसी भी संगठन को राज्य कहकर सम्बोधित नहीं किया जा सकता। राज्य के तत्वों पर विचार करते समय निम्नलिखित दो प्रश्न प्राय: हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं- (1) क्या संघ की इकाइयाँ राज्य है ? (2) क्या संयुक्त राष्ट्र संघ एक राज्य है ?

(1) क्या संघ की इकाइयाँ राज्य हैं ?

संघ का निर्माण उसकी घटक इकाइयों से होता है। भारत और अमेरिका संघात्मक शासन प्रणाली के अच्छे उदाहरण हैं। भारतीय संविधान के अन्तर्गत राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, गुजरात इत्यादि भारतीय संघ की इकाइयों के लिए राज्य शब्द का प्रयोग किया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अन्तर्गत भी संघ की इकाइयों के पास राज्य का निर्माण करने वाले प्रथम तीन तत्व-भूमि, जनसंख्या तथा सरकार पूर्ण रूप से विद्यमान हैं परन्तु इनके पास सम्प्रभु शक्ति नहीं है। इनकी आन्तरिक सम्प्रभुता केन्द्रीय सरकार द्वारा नियन्त्रित होती है और इन्हें बाह्य सम्बन्ध बनाने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार सम्प्रभु शक्ति के अभाव के कारण इन्हें राज्य नहीं कहा जा सकता।

(2) क्या संयुक्त राष्ट्र संघ एक राज्य है ?

कभी-कभी यह भी प्रश्न पूछा जाता है कि क्या संयुक्त राष्ट्र संघ एक राज्य है ? **औपेनहीम** के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का एक कानूनी निकाय है। इसे कानूनी व्यक्तित्व प्राप्त है जो इसके सदस्यों के व्यक्तित्व से विशिष्ट है। जिस प्रकार विभिन्न राज्य विभिन्न कार्यों को अपने 'नाम' से करते हैं उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम से ही संगठन एवं एजेन्सियाँ कार्यरत हैं। जिस प्रकार राज्य के राजनयिक प्रतिनिधियों को अनेक उन्मुक्तियाँ एवं विशेषाधिकार दूसरे देशों में प्राप्त हैं, उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधियों को भी इसके सदस्य देशों में उन्मुक्तियाँ एवं विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। राज्यों की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ का भी अपना विशिष्ट झण्डा है। औपेनहीम के अनुसार राज्य के चारों निर्णायक तत्वों के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि थोड़ी सीमा तक ये सभी तत्व संयुक्त राष्ट्र संघ में हैं। विश्व की समस्त जनता के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ कार्यरत है। भूमि की दृष्टि से सदस्य राष्ट्रों की सीमाएं एवं क्षेत्र संघ की कर्मस्थली कहा जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रशासनिक ढाँचा एक रूप में उसकी सरकार ही है।

फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा, सुरक्षा परिषद् आदि की सिफारिशें राज्यों के लिए सम्प्रभु आदेश के समान नहीं है। प्राय: यह देखा गया है कि विभिन्न राज्य इसके आदेशों की अवहेलना करते हैं। ऐसी स्थिति में इसे राज्य नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य की परिभाषा विस्तृत रूप में दीजिए।
2. राज्य के तत्वों की विवेचना कीजिए।
3. उद्देश्य तथा कार्य के आधार पर राज्य को समझाइये।
4. जनसंख्या का होना राज्य की बुनियादी आवश्यकता है समझाइये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सम्प्रभुता से आप क्या समझते हैं?
2. क्या संघ की इकाइयाँ राज्य हैं ?
3. क्या संयुक्त राष्ट्र संघ एक राज्य है ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'राज्य' शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर 'स्टेट' है जो 'स्टेटस' (Status) शब्द से निकला है जिसे निम्नांकित भाषा से उत्पन्न माना जाता है:
   (अ) जर्मन (ब) लेटिन (स) फ्रेन्च (द) इटालियन।
2. आधुनिक युग में सर्वप्रथम 'राज्य' शब्द का प्रयोग करने वाला था :
   (अ) अरस्तू (ब) रूसो (स) प्लेटो (द) मेकियावेली।
3. राज्य की आधारभूत विशेषता - 'सम्प्रभुता' का उल्लेख करने वाली बोदां की कृति है :
   (अ) रिपब्लिक (ब) पॉलिटिक्स (स) प्रिन्स (द) लेवियाथन।
4. राज्य के लिए 'पॉलिश' शब्द का प्रयोग करने वाले दार्शनिक हैं :
   (अ) रोमन (ब) ईसाई (स) यूनानी (द) अंग्रेज।
5. राज्य कानून बनाने वाली संस्था है - इस दृष्टिकोण के समर्थक विचारक हैं :
   (अ) प्लेटो एवं अरस्तू (ब) मैकाइवर एवं लास्की
   (स) विलोबी एवं विल्सन (द) हीगल एवं मेकियावेली।
6. "राज्य एक ऐसा कानूनी व्यक्ति या स्वरूप है जिसे कानून के निर्माण का अधिकार प्राप्त है।" यह कथन किसका है ?
   (अ) विलोबी (ब) हालैंड (स) गार्नर (द) लास्की।
7. राज्य के बारे में कानूनी दृष्टिकोण के समर्थक हैं :
   (अ) बोदां, मिल, बेन्थम तथा हॉब्स (ब) अरस्तू, हॉब्स, बेन्थम तथा लास्की
   (स) बोदां, हॉब्स, बेन्थम तथा प्लेटो (द) बोदां, हॉब्स, बेन्थम तथा आस्टिन।

उत्तर- (1) ब, (2) द, (3) अ, (4) स, (5) स, (6) अ, (7) द

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

9

राज्य : उत्पत्ति एवं विकास

(STATE : ORIGIN AND DEVELOPMENT)

राज्य की उत्पत्ति मानव सभ्यता के विकास में एक परम महत्वपूर्ण चरण माना जाता है। राज्य की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई, इसका कोई निश्चित व प्रमाणिक उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उसकी उत्पत्ति प्राचीन काल के गर्भ में समाहित है। राजनीति दर्शन में इस विषय को दो प्रकार से देखा जा सकता है– प्रथम, ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य की वास्तविक उत्पत्ति किस प्रकार हुई, राज्य की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में हमको कौन-कौन से ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। द्वितीय, काल्पनिक तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से हम दार्शनिकों द्वारा इस विषय पर दिये गये विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन कर सकते हैं।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने समय-समय पर विविध विचार व्यक्त किये हैं। वास्तव में राज्य की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस प्रश्न का निश्चित उत्तर अब तक नहीं दिया जा सका है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में इतिहास भी अब तक खामोश है। वस्तुत: राज्य की उत्पत्ति तो पूर्व ऐतिहासिक समय में हुई है जहाँ से इतिहास शुरू होता है, राज्य तो उससे पहले ही अस्तित्व में आ चुका था। ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लेखकों ने अनुमान और कल्पना का सहारा लेकर विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तों में से कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं जिनके विवेचन और इन विभिन्न दृष्टिकोणों के उचित समन्वय से ही हम राज्य की उत्पत्ति का सही अनुमान लगा सकते हैं–

(1) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त (Divine Origin Theory)

(2) शक्ति सिद्धान्त (Force Theory)

(3) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory)

(4) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त (Historical or Evolutionary Theory)

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
(Divine Origin Theory)

दैवी सिद्धान्त की व्याख्या –

राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त बहुत पुराना है। इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य की उत्पत्ति की बहुत साधारण व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार ईश्वर सृष्टि की अन्य सभी चीजों का रचयिता है, उसी प्रकार वह राज्य का भी रचयिता है। हम इस तथ्य से परिचित हैं कि जब किसी वस्तु की उत्पत्ति के कारण स्पष्ट नहीं होते, तब प्राय: उन्हें 'दैवी' कह दिया जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की सृष्टि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ईश्वर ने की है। राज्य मानव निर्मित संस्था न होकर दैवी संस्था है। राज्य ईश्वर का अभिकर्ता अथवा प्रतिनिधि है। मानव जाति के कल्याण के लिए ईश्वर ने राज्य का निर्माण किया है, इसलिए मानव का एकमात्र कर्तव्य है राज्य के आदेशों का बिना किसी शर्त के पालन करना।

गेटेल के अनुसार, "मानव इतिहास में दीर्घ काल तक राज्य को ईश्वरकृत या दैवी समझा जाता था और सरकार का स्वरूप धार्मिक था।" दैवी सिद्धान्त के प्रचलन काल में जनता के जीवन में धर्म का अत्यधिक महत्व था और ईश्वर के प्रति भय की भावना विद्यमान थी। इसीलिए राज्य का निर्माता भी ईश्वर को मान लिया गया। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया जो अपने कार्यों के प्रति सिर्फ

NOTES

ईश्वर के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया। चूंकि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, इसीलिए उसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रजा का पुनीत कर्त्तव्य माना गया। उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अर्थ है ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लंघन करना अर्थात् पाप करना।

संक्षेप में, दैवी सिद्धान्त की व्याख्या तीन रूपों में की गई है– **प्रथम**, ईश्वर ने स्वयं इस पृथ्वी पर आकर शासन की स्थापना की; **द्वितीय**, ईश्वर ने अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता पर शासन स्थापित किया; **तृतीय**, ईश्वर ने मनुष्यों में ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कीं जिनसे शासन और व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई और उनमें अनुशासन व आज्ञापालन की भावना का जन्म हुआ।

दैवी सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास –

दैवी सिद्धान्त पर प्रागैतिहासिक काल के विचारों की छाप है। उन दिनों मनुष्य की बुद्धि का विकास नहीं हुआ था। उसने वैज्ञानिक कारणों को खोजना नहीं सीखा था। अतएव सभी क्रियाओं के पीछे किसी दैवी शक्ति अथवा अदृश्य सत्ता का हाथ माना जाता था।

राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के सर्वप्रथम प्रवर्तक यहूदी थे। उनके धार्मिक ग्रन्थ **'ओल्ड टेस्टामेंट'** (Old Testament) में कहा गया है कि राजाओं की नियुक्ति ईश्वर करता है, उन्हें इस पद से हटाता है, दण्ड देता है तथा दुष्ट राजाओं की हत्या भी करता है। यूनान व रोम में भी इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में समर्थन मिला। यूनानी यद्यपि राज्य को मनुष्य की स्वाभाविक या प्राकृतिक संस्था मानते थे परन्तु उन्होंने राज्य के धार्मिक स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया। रोमवासियों का यह विश्वास था कि ईश्वर अपरोक्ष रूप से शासन-व्यवस्था का संचालन करता है। प्लूटार्क के शब्दों में, "एक नगर की स्थापना भूमि के बिना सम्भव है परन्तु ईश्वर में विश्वास के बिना राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।" मिश्र के प्राचीन निवासी तो राजा को साक्षात् ईश्वर मानते थे। चीन में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि अथवा देवताओं का वंशज समझा जाता था। जापान में राजाओं को सूर्यपुत्र माना जाता था और नेपाल, तिब्बत आदि देशों में राजा को ईश्वर का अवतार समझा जाता था।

मनुस्मृति में इस बात का उल्लेख मिलता है कि निर्बलों की बलवानों से रक्षा करने हेतु ईश्वर ने राज्य की स्थापना की। महाभारत में भी स्पष्टत: उल्लेखित है कि जब लोगों के लिए अराजकता असहनीय हो गयी तो वे परमात्मा के पास गये और प्रार्थना की कि "हे प्रभु ! मुखिया के बिना हमारा विनाश हो रहा है।" तब ईश्वर ने मनु को उनका राजा नियुक्त किया।

जब योरोप में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ तो दैवी उत्पत्ति को काफी समर्थन प्राप्त हुआ। बाइबिल में लिखा है :"प्रत्येक प्राणी को दैवी शक्ति के अधीन रहना चाहिए क्योंकि परमात्मा के अलावा कोई दूसरी शक्ति है ही नहीं।"

राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त –

राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त ने धीरे-धीरे राजाओं के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त का रूप ले लिया। यद्यपि राजाओं के दैवी अधिकारों का सिद्धान्त और राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त एक दूसरे से भिन्न है तथापि दैवी अधिकार का सिद्धान्त इस सिद्धान्त का ही उपनियम है।

16वीं और 17वीं शताब्दी में इस सिद्धान्त के आधार पर राजाओं के दैवी अधिकार प्रतिपादित हुए। राबर्ट फिल्मर और इंग्लैंड का राजा जेम्स प्रथम इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक थे। इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए **जेम्स प्रथम** ने कहा था कि, "राजा लोग पृथ्वी पर ईश्वर की श्वास लेती हुई मूर्तियाँ हैं और उनके आदेशों की अवज्ञा ईश्वर की अवज्ञा है। जिस तरह परमात्मा के कृत्य का विरोध करना नास्तिकता और ईश्वर की निंदा है, उसी तरह एक प्रजाजन में यह भाव होना कि राजा क्या कर सकता है अथवा यह कहना कि राजा यह नहीं कर सकता, अधर्म और ईश्वर विरोध है।..... इस धरती पर राजतन्त्र का राज्य सर्वोच्च है; क्योंकि राजा लोग धरती पर भगवान के केवल सहायक और भगवान के सिंहासन पर बैठने वाले भगवान के अभिकर्ता ही नहीं, अपितु स्वत: भगवान द्वारा वे भगवान रूप कहे जाते हैं।"

जेम्स प्रथम का दृढ़ विश्वास था कि राजा बुद्धिमान और अच्छे होते हैं और प्रजा मूर्ख और कमजोर होती है। यदि राजा बुरा हो तो प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं है। राजा के प्रति विद्रोह करना स्वयं ईश्वर के प्रति विद्रोह करना है क्योंकि राजा तो ईश्वर का ही प्रतिनिधि है। दुष्ट राजा प्रजा के पापों का प्रायश्चित स्वरूप ईश्वर द्वारा प्रजा को दिया गया दण्ड है। जेम्स प्रथम के शब्दों में, "राजाओं को देवता कहना बिल्कुल ठीक है क्योंकि वे पृथ्वी पर दैवी शक्ति की तरह ही व्यवहार करते हैं।" इस सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताएँ हैं– (1) राजसत्ता ईश्वर द्वारा नियुक्त है; (2) वंशानुगत अधिकार अटल हैं; (3) राजा केवल अपने ईश्वर के प्रति जिम्मेदार है; (4) किसी वैधानिक राजा के प्रति विद्रोह करना केवल अपराध ही नहीं अपितु एक पाप है। आगे जाकर यह सिद्धान्त राजाओं की निरंकुशता का प्रबल समर्थक बन गया।

दैवी सिद्धान्त की मान्यताएँ –

दैवी सिद्धान्त की निम्नलिखित प्रमुख मान्यताएँ हैं– (1) ईश्वर का प्रतिनिधि राजा है तथा राज्यसत्ता ईश्वर प्रदत्त है। (2) राजा का पद पैतृक है। (3) राजा ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, जनता के प्रति नहीं। (4) राजा की अवज्ञा करना पाप है। (5) राजा की शक्ति असीमित है, जनता को उसके विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वे उसके खिलाफ विद्रोह नहीं कर सकते।

दैवी सिद्धान्त का पतन –

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस सिद्धान्त का पतन होने लगा। जैसे -जैसे मनुष्य का बौद्धिक विकास हुआ, इस सिद्धान्त के समर्थन में कम प्रमाण दिखाई देने लगे। गिलक्राइस्ट के अनुसार इस सिद्धान्त के ह्रास के तीन प्रमुख कारण थे– **प्रथम**, सामाजिक समझौता सिद्धान्त द्वारा इस धारणा का प्रतिपादन करना कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा न होकर लोगों के आपसी समझौते के परिणामस्वरूप हुई। **द्वितीय**, चर्च की शक्ति का ह्रास होना अर्थात् चर्च का राज्य से पृथक किया जाना और जीवन में लौकिक प्रश्नों के महत्व का सर्वोपरि माना जाना। **तृतीय**, इस सिद्धान्त को सबसे करारी चोट लोकतन्त्र की भावना के विकास से मिली। लोकतन्त्रवाद ने राजा के स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन का विरोध और खण्डन किया।

दैवी सिद्धान्त की आलोचना –

दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की आलोचना की गई है। बर्टेण्ड रसल के शब्दों में, "यह सम्पूर्ण सिद्धान्त आधुनिक मस्तिष्क को इतना विचित्र लगता है कि यह विश्वास नहीं होता कि लोगों ने कभी गम्भीरता से इसकी व्याख्या की होगी।" निम्नलिखित तर्कों के आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है :–

(i) **अवैज्ञानिक** – यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक तथा तर्कहीन है। यह विश्वास पर आधारित है न कि तर्क या विवेक पर। डार्विन ने विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर इस बात को सिद्ध कर दिया है कि विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका निर्माण ईश्वर ने किया हो। सभी वस्तुएं ऐतिहासिक विकास का परिणाम हैं। अतएव राज्य की उत्पत्ति को ईश्वर द्वारा निर्मित बतलाने वाला दैवी सिद्धान्त डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर अवैज्ञानिक सिद्ध होता है।

(ii) **अनैतिहासिक** – यह सिद्धान्त अनैतिहासिक है। इसके पीछे ठोस ऐतिहासिक आधार नहीं है। इतिहास में ऐसे किसी राजा का उल्लेख नहीं मिलता जो ईश्वर का प्रतिनिधि होने का दावा करने के लिए ईश्वर-प्रदत्त कोई ऐसा प्रमाण-पत्र प्रस्तुत कर सका हो जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि ईश्वर का वह सच्चा प्रतिनिधि है। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, "यह कहना कि परमात्मा इस या उस व्यक्ति को शासक बनाता है, अनुभव एवं सामान्य बुद्धि के प्रतिकूल हैं।

(iii) **निरंकुशता का पोषक** – यह सिद्धान्त राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर उसकी स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता का समर्थन करता है। इससे राजाओं को मनमाने ढंग से शासन करने का अधिकार मिल जाता है। यह राजा को अत्यधिक शक्तिशाली बना देता है तथा उसे किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं रखता। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, "दैवी सिद्धान्त का प्रधान लक्ष्य निरंकुशतावाद का समर्थन करना था, राज्य की उत्पत्ति बतलाना तो इसके लिए गौण वस्तु था।"

(iv) **लोकतन्त्र विरोधी** – यह सिद्धान्त लोकतन्त्र विरोधी है। यह जनता के किसी अधिकार को नहीं मानता तथा इस तथ्य को विस्मृत कर देता है कि राज्य मनुष्य की भलाई के लिए स्थापित किये जाते हैं। राजा भी जनता की भलाई के लिए है और यदि राजा बुरा है तो जनता को निश्चय ही उसे बदलने का अधिकार मिलना चाहिए।

(v) **धार्मिक सिद्धान्त, न कि राजनीतिक सिद्धान्त** – यह सिद्धान्त धार्मिक है न कि राजनीतिक, इसलिए राज्य जैसी राजनीतिक संस्था की उत्पत्ति की यह सिद्धान्त सन्तोषजनक व्याख्या नहीं कर सकता। ईश्वर ने जो भी कुछ कहा है, वह धर्म के मामलों में कहा है, न कि राजनीतिक मामलों में। अत: इस धार्मिक सिद्धान्त द्वारा राज्य की व्याख्या करना अनुचित है।

(vi) **रूढ़िवादी** – यह सिद्धान्त रूढ़िवादी है। यह मानव प्रकृति की परिवर्तनशीलता के अनुकूल नहीं है। यह सदा के लिए राजतंत्र का समर्थन करता है। वस्तुत: यह यथास्थिति रखने के पक्ष में है।

(vii) **राज्य मानवीय संस्था है, न कि दैवी** – यह सिद्धान्त राजनीतिक विकास में मनुष्य के योगदान की उपेक्षा करता है। इतिहास बताता है कि राज्य एक मानवीय अथवा मानव निर्मित संस्था है, न कि दैवी। राज्य स्वत: विकसित नहीं हो गया अपितु उसको विकसित करने में मनुष्य का भी बड़ा हाथ रहा है। राज्य मनुष्य की सामाजिकता एवं उसकी राजनीतिक प्रवृत्ति का परिणाम है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। किसी समुदाय या संगठन में रहना उसकी प्रकृति में निहित है। इसलिए यह कहना कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर की इच्छा से हुई, तर्क संगत नहीं है।

(viii) **दैवी सिद्धान्त का महत्व** – यह सिद्धान्त आज मृतप्राय हो चुका है फिर भी राज्य के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त की उपयोगिता है। **सर्वप्रथम** यह सिद्धान्त राज्य के नैतिक आधार पर जोर देता है। राज्य को ईश्वर की कृति मानने का अर्थ राज्य को उच्च नैतिक स्तर प्रदान करना है। राजा का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि सुराज्य स्थापित करे अर्थात इसमें अर्थ निहित है कि राज्य का उद्देश्य लोककल्याण है। **द्वितीय,** अराजकता और अव्यवस्था को समाप्त कर समाज में शान्ति व सुव्यवस्था कायम करने में यह सिद्धान्त काफी सहायक सिद्ध हुआ है। प्रारम्भिक मनुष्य ईश्वर से डरता था, धर्म प्रेमी था, इसलिए शासकों के लिए इस सिद्धान्त के आधार पर जनता पर शासन करने में बड़ी सुविधा हो गई। इससे लोगों में आज्ञाकारिता की भावना का विकास हुआ। **गेटेल** के शब्दों में, "इस सिद्धान्त ने उस समय लोगों को आज्ञा का पालन करना सिखाया, जिस समय वे अपने ऊपर शासन करने के लिए तैयार नहीं थे।" **गिलक्राइस्ट** ने भी लिखा है, "यह कितना ही गलत और विवेकशून्य सिद्धान्त क्यों न हो, कम से कम अराजकता के निवारण का श्रेय इसे अवश्य प्राप्त है।"

शक्ति सिद्धान्त
(The Force Theory)

शक्ति सिद्धान्त की व्याख्या

राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि राज्य का निर्माण शक्ति या बल के आधार पर हुआ है। दूसरे शब्दों में, राज्य का एकमात्र निर्माणकारी तत्व शक्ति है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में शक्ति का प्रयोग बलवानों ने कमजोर व्यक्तियों को दबाने के लिए किया। इसी प्रकार, कम शक्ति वाली जातियों को अधिक शक्ति वाली जातियों ने दबा लिया। इस प्रकार शक्ति के उपयोग से संगठन का प्रारम्भ हुआ और धीरे-धीरे राजनीतिक संगठन का विकास हुआ।

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि मनुष्य अपनी प्रकृति से झगड़ालू तथा सत्ताप्रेमी होता है। प्राचीन समाजों में जो व्यक्ति बलवान होता था, वह अपनी शक्ति के द्वारा कमजोर व्यक्तियों को पराजित कर अपने वश में करता था। धीरे-धीरे उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ जाती और वे एक कबीला अथवा जनजाति बन जाते। फिर यह मुखिया इस जनजाति की सहायता से अन्य जनजातियों को अपने अधीन कर लेता था। युद्ध, विजय और आधिपत्य जमाने का यह क्रम तब तक चलता जब तक विजयी

जनजाति अपनी मुखिया के नेतृत्व में एक निश्चित भू-भाग पर अपना अधिकार न जमा लेती। लीकॉक ने शक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है,"ऐतिहासिक दृष्टि से शक्ति सिद्धान्त का अर्थ यह है कि शासन मानव के आक्रमण का परिणाम है। राज्य का जन्म एक मानव द्वारा दूसरे मानव को दास बनाने तथा दुर्बल कबीले पर सबल कबीले की विजय से हुआ। साधारण तथा श्रेष्ठ भौतिक बल द्वारा जो स्वार्थपरायण आधिपत्य प्राप्त किया गया उसी से राज्यसत्ता का उदय हुआ। कबीले से राज्य और राज्य से साम्राज्य की प्रगतिशील उन्नति इसी प्रक्रिया का क्रम मात्र है।" **ब्लंश्ली** के शब्दों में, "राज्य हिंसात्मक आधिपत्य की रचना है, यह शक्ति के आधार पर टिका हुआ है।" **डेविड ह्यूम** ने लिखा है, "राज्य की उत्पत्ति उसी समय हुई होगी जब किसी मानव दल के नेता ने शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होकर, अपने अनुयायियों पर अधिकार जमाकर, अपना शासन स्थापित कर लिया।" वाल्टेयर का कहना था कि "प्रथम राजा एक योद्धा था।" **जेंक्स** ने तो यहाँ तक कह दिया कि "इतिहास द्वारा यह अत्यन्त सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि आधुनिक राजनीतिक संगठनों का प्रादुर्भाव युद्ध के कारण हुआ है।"

शक्ति सिद्धान्त के मूल तत्व – शक्ति सिद्धान्त के निम्नलिखित प्रमुख तत्व हैं :

(1) शक्ति ही राज्य की उत्पत्ति के एकमात्र तत्व के रूप में उभरकर सामने आती है। यह शक्तिशाली व्यक्तियों का कमजोर व्यक्तियों पर आधिपत्य करने का परिणाम है।

(2) शक्ति ही न्याय है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' प्रकृत्ति का महत्वपूर्ण नियम है।

(3) आज भी बाह्य सुरक्षा और आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिए राज्यों को शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है।

(4) इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि राज्यों की स्थापना शक्ति का परिणाम है। सभी जानते हैं कि स्पेन और लोम्बार्डी के राज्य इसी प्रकार स्थापित हुए।

शक्ति सिद्धान्त का इतिहास व विकास – यह सिद्धान्त भी दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त की भाँति काफी पुराना है। प्राचीन यूनान के सोफिस्ट विचारकों की यह धारणा थीं कि 'न्याय शक्तिशाली व्यक्तियों के हित के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' 'निर्बल से बलवान श्रेष्ठ होता है।' वस्तुत: इन सोफिस्टों ने राज्य की उत्पत्ति के दो कारण बताये– **प्रथम,** शक्तिशाली व्यक्तियों ने निर्बलों को मार भगाया और **द्वितीय,** शक्तिशालियों ने निर्बल व्यक्तियों को अपनी अधीनता में रहने के लिए विवश कर दिया।

मध्यकाल में जब चर्च और राजाओं के बीच सत्ता के लिए संघर्ष छिड़ गया था तब धर्माधिकारियों ने राज्य की सत्ता को बदनाम करने के लिए शक्ति सिद्धान्त की एक नये रूप में व्याख्या की थी। उन्होंने राज्य की उत्पत्ति का कारण पाशविक शक्ति बतलाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ऐसे राज्य को चर्च की श्रेष्ठ व्यवस्था के अधीन होना चाहिए और उसके आदेशों का पालन करना चाहिए। पोप ग्रेगरी सप्तम ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि "हममें से कौन इस बात से अपरिचित है कि राजाओं और सामन्तों की उत्पत्ति उन क्रूर आत्माओं में से है जो परमात्मा को भूलकर उद्दण्डता, लूटमार, कपट, हत्या और प्रत्येक अपराध से संसार के शासक के रूप में बुराई का प्रसार करते हुए अपने साथी मनुष्यों पर मदान्धता और असहनीय धारणा के साथ राज्य करते रहे हैं।"

व्यक्तिवादी दार्शनिकों ने भी राज्य को शक्ति और हिंसा पर आधारित बतलाया है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है कि राज्य नित्य प्रति हिंसा का प्रयोग करता है और मानव स्वतन्त्रता का हनन करता है; इसलिए राज्य एक बुराई है। साम्यवादी विचारक भी शक्ति सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। वे मानते हैं कि राज्य शक्तिशाली व्यक्तियों के हाथ में शक्तिहीन व्यक्तियों का शोषण करने वाला एक माध्यम है। मार्क्स, लेनिन और एंगेल्स ने यह मत व्यक्त किया कि राज्य वर्ग संघर्ष के आधार पर बना है। पूँजीपति राज्य की शक्ति के सहारे श्रमिकों का शोषण एवं दमन करते हैं। इसी प्रकार **अराजकतावादियों** ने राज्य की बाध्यकारी शक्ति की कटु आलोचना करते हुए उसे एक अनावश्यक बुराई माना। बाकुनिन और क्रोपाटकिन के अनुसार राज्य एक ऐसी बुराई है, जिसका मूल उद्देश्य श्रमिक वर्ग का शोषण करना है। आधुनिक युग में शक्ति सिद्धान्त का समर्थन फासिस्टवादियों से लेकर यथार्थवादी विचारकों तक ने किया है। जर्मन लेखकों– ट्रीटस्के, बर्न, हार्डी, सोरल, नीत्शे आदि- ने 'शक्तिशाली का निर्बल पर शासन एक प्राकृतिक सत्य' बतलाया तथा शक्ति सिद्धान्त के आधार पर युद्ध को न्यायोचित ठहराया। **बर्नहार्ट** के शब्दों में,

"शक्ति ही सर्वोच्च सत्य है और इस बात का निर्णय कि सत्य क्या है, युद्ध के द्वारा होगा।" जर्मन विचारक लुडविग वॉन हालर ने तो यहाँ तक कहा कि, "सबल द्वारा निर्बलों पर शासन प्रकृति के सभी विभागों का नियम है। वनस्पति जगत में, मनुष्यों में, पशुओं में, सर्वत्र शक्ति का ही बोलबाला रहता है। जो व्यक्ति शक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे तत्व को राज्य का आधार मानते हैं, वे वास्तव में सत्य खोकर भावुकता में फंसे हैं।"

जर्मनी व इटली के अनेक शासकों ने शक्ति सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने का प्रयास किया। बिस्मार्क ने 'रक्त और लौह नीति' अपनाई और शक्ति उसकी नीति का प्रमुख आधार रही। हिटलर और मुसोलिनी ने भी शक्ति को राज्य का आधारभूत तत्व माना और साम्राज्य के विस्तार के लिए युद्ध का सहारा लिया।

शक्ति सिद्धान्त की आलोचना – शक्ति सिद्धान्त वास्तव में राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। इसमें कई त्रुटियाँ हैं, जो इस प्रकार हैं–

(1) **शक्ति राज्य निर्माण का सहायक तत्व है, निर्णायक नहीं** – यह सत्य है कि राज्य के विकास में शक्ति भी एक महत्वपूर्ण तत्व रही है परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि राज्य की उत्पत्ति केवल शक्ति के द्वारा हुई। राज्य की उत्पत्ति और विकास में शक्ति की अपेक्षा कई अन्य तत्वों का अधिक महत्वपूर्ण हाथ रहा है, जैसे रक्त सम्बन्ध, आर्थिक हित, मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति आदि। लीकॉक का कथन है कि "शक्ति सिद्धान्त की भूल यह है कि समाज के विकास में जिस वस्तु का स्थान केवल एक तत्व का रहा है, उसे यह एकमात्र नियामक तत्व की महानता प्रदान कर देता है।" इस प्रकार यह सिद्धान्त एकांगी है।

(2) **राज्य का आधार शक्ति नहीं, बल्कि इच्छा है** – शक्ति सिद्धान्त के समर्थक यह मानते हैं कि राज्य के आदेशों का पालन जनता स्वेच्छा से न करके, राज्य की दमनकारी सत्ता के कारण करती है। परन्तु सत्यता इसके बिल्कुल विपरीत है। जनता राज्य के आदेशों का पालन स्वेच्छा से करती है। जनता यह समझकर कि राज्य उनके अधिकारों का रक्षक तथा उनका सहायक है, उसके आदेशों का अपनी इच्छा से प्रसन्नतापूर्वक पालन करती है, किसी डर या भय के कारण नहीं। इसीलिए तो टी.एच. ग्रीन ने अत्यन्त तार्किक भाषा में कहा था कि "राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।"

(3) **शक्ति पर आधारित राज्य स्थायी नहीं हो सकते** – शक्ति पर आधारित राज्य अधिक दिनों तक कायम नहीं रह पाते। जब तक उस राज्य में शक्ति बनी रहती है तब तक राज्य कायम रहता है, परन्तु जैसे ही उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है वैसे ही वह समाप्त हो जाता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "नैतिक बल के अभाव में पशुबल राज्य का केवल अस्थायी आधार ही बन सकता है।" लिंकन ने भी कहा था," शक्ति द्वारा सब कुछ विजय किया जा सकता है परन्तु शक्ति द्वारा प्राप्त विजय दीर्घजीवी नहीं होती।"

(4) **यह एक खतरनाक सिद्धान्त है** – शक्ति सिद्धान्त पशुबल को अत्यधिक महत्व देता है। यह सिद्धान्त मानता है कि शक्ति ही सत्य, न्याय और सब कुछ है। शक्ति के आधार पर जो कुछ होता है, वह उचित है। यथार्थ में यह एक खतरनाक धारणा है। यह सिद्धान्त नैतिकता की उपेक्षा करता है।

(5) **युद्ध का समर्थक** – शक्ति सिद्धान्त युद्ध का समर्थक है। यह युद्ध द्वारा ही राज्य की उत्पत्ति मानता है। इसके फलस्वरूप सभी देश आक्रामक नीतियाँ अपनायेंगे जिससे विश्वशांति खतरे में पड़ जायेगी।

संक्षेप में, शक्ति सिद्धान्त से निरंकुशता को प्रोत्साहन मिलता है, लोकमत का अनादर होता है और पशुबल का बोलबाला बढ़ता है। यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का एकपक्षीय दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करता है, इसीलिए इस सिद्धान्त को भी अधिक मान्यता नहीं मिल सकी।

शक्ति सिद्धान्त में सत्य के अंश – इन आलोचनाओं के बावजूद शक्ति सिद्धान्त में सत्य का अंश अवश्य विद्यमान हैं। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि राज्य के लिए शक्ति का होना नितांत आवश्यक है जिसका उपयोग आज्ञाओं और कानूनों को मनवाने के लिए किया जा सकता है। बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा और आन्तरिक शांति की स्थापना के लिए आज भी प्रत्येक राज्य को शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। बिना शक्ति के किसी राज्य का काम नहीं चल सकता। संक्षेप में, शक्ति सिद्धान्त एक ऐसे तथ्य पर जोर देता है जो राज्य की स्थिरता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। फिर भी हम **रूसो** के इस विचार की उपेक्षा नहीं कर सकते कि शक्ति के सम्मुख व्यक्ति आज्ञापालन के लिए विवश हो सकता है, किंतु शक्ति पर आधारित किसी संस्था को न तो स्थायी रखा जा सकता है और न उसका कोई नैतिक आधार ही होता है।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(Social Contract Theory)

समझौता सिद्धान्त की व्याख्या

17 वीं और 18 वीं शताब्दियों में राजनैतिक दार्शनिकों ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त प्रचलित किया था और राज्य का निर्माण उसके सदस्यों की इच्छा पर आधारित बतलाया था। इस सिद्धान्त का उद्‌भव दैवी सिद्धान्त के विरोध में हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक ईश्वरीय रचना नहीं है, वह एक मानव निर्मित संस्था है। वह प्राकृतिक नहीं है, कृत्रिम है। राज्य मनुष्यों की स्वेच्छा से हुए संविदा अथवा समझौते का परिणाम है। राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्य का जीवन राजनीतिक दृष्टि से संगठित नहीं था, उसमें अनेक प्रकार की असुविधाएं थीं और उनसे ऊबकर ही उसने राज्य का निर्माण किया। इस सम्बन्ध में विलोबी का कथन है कि, "सामाजिक समझौता सिद्धान्त राज्य को समाज के उन व्यक्तियों द्वारा किये समझौते का परिणाम मानता है जो उस संगठन के निर्माण के पूर्व सब प्रकार के राजनीतिक नियन्त्रण से पूर्णत: मुक्त थे।"

सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अनुसार मानव इतिहास को दो भागों में बाँटा जा सकता है- (i) **पूर्व राज्यकाल,** अर्थात् वह काल जब राज्य की स्थापना नहीं हुई थी। इस काल को अराजक अवस्था या प्राकृतिक अवस्था कहते हैं। (ii) **दूसरा काल, उत्तर राज्य काल** अर्थात् राज्य की स्थापना के पश्चात् का काल है। प्राकृतिक अवस्था किस प्रकार की थी, उसमें लोगों का स्वभाव क्या था, मनुष्य के कौन-कौन से अधिकार थे, लोगों ने समझौता किस प्रकार किया और समझौते के द्वारा किस प्रकार के राज्य की स्थापना हुई, आदि बातों के बारे में इस सिद्धान्त के समर्थकों में पर्याप्त मतभेद पाये जाते हैं। परन्तु मूल रूप से सभी इस बुनियादी प्रश्न पर एकमत हैं कि प्राकृतिक अवस्था की कठिनाइयों तथा असुविधा से घबराकर लोगों ने आपसी समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। सामाजिक समझौता सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए डॉ. आशीर्वादम् ने लिखा है– "इस सिद्धान्त का कहना है कि राज्य का जन्म जान-बूझकर किये गये करार से हुआ है। यह करार आदिम मनुष्यों ने उस समय किया था जब वे प्राकृतिक अवस्था को पार कर रहे थे। यह सिद्धान्त मानता है कि मानव इतिहास में ऐसा युग भी था जब राज्य या राजनीतिक कानून था ही नहीं। कुछ लेखकों ने इस पूर्व नागरिक या पूर्व राजनीतिक युग को पूर्व सामाजिक भी माना है। अर्थात् उस युग में समाज भी नहीं था। इस प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों के आपसी सम्बन्ध प्राकृतिक नियम के अनुसार होते थे। सामाजिक संविदा सिद्धान्त के समर्थक इस विषय पर एकमत नहीं है कि यह प्राकृतिक नियम वास्तव में किस तरह का था। यह प्राकृतिक अवस्था मनुष्य के लिए या तो अत्यन्त आदर्श थी या बहुत असुविधाजनक व असहनीय थी। इसलिए लोगों ने शीघ्र ही इस प्राकृतिक अवस्था से छुटकारा पाकर प्रसंविदा (Covenant) द्वारा राजनीतिक समाज कायम किया।

समझौता सिद्धान्त का इतिहास

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त एक पुराना सिद्धान्त है। प्राचीन साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है। महाभारत के शान्ति पर्व में इस सिद्धान्त का उल्लेख इस प्रकार किया गया है – राज्यहीन अवस्था से तंग आकर दु:खी जनता ने पितामह ब्रह्मा से एक राजा नियुक्त करने की माँग की। भगवान ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर मनु को राजा नियुक्त किया। शुरू में मनु ने आनाकानी की, परन्तु जब जनता ने उन्हें यह वचन दिया कि वह उनके आदेशों का सहर्ष पालन करेगी तथा उन्हें कुछ पारिश्रमिक भी देगी, तब

वे उसकी रक्षा करने और उस पर शासन करने के लिए तैयार हुए। चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में इस सिद्धान्त का वर्णन करते हुए लिखा है कि राज्य की स्थापना के पूर्व 'मत्स्य-न्याय' प्रचलित था। इस कष्ट से छुटकारा पाने के लिए लोगों ने मनु को अपना राजा चुना और उन्हें विश्वास दिलाया कि वे उन्हें कर देंगे। इस शर्त पर मनु ने उन पर शासन करने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया। प्राचीन भारतीय राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान प्रो. अलटेकर ने भी लिखा है कि बौद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य में भी सामाजिक समझौते का वर्णन मिलता है।

प्राचीन यूनान में भी यह सिद्धान्त प्रचलित था। रिपब्लिक में ग्लॉकन ने उस युग के सोफिस्टों द्वारा वर्णित सामाजिक समझौते का स्पष्ट रूप चित्रित किया है। सोफिस्टों ने कहा कि राज्य एक मानव निर्मित कृत्रिम संस्था है। इसकी सृष्टि मनुष्यों ने अपने पारस्परिक समझौते द्वारा की। एपीक्यूरियन्स ने भी सोफिस्टों के समान कहा कि समाज और राज्य का आधार मनुष्य और उनका आपसी करार है। रोमन विचारधारा में भी इस सिद्धान्त की चर्चा की गई है। प्रसिद्ध मध्यकालीन विचारक सन्त टॉमस एक्वीनास ने भी इस धारणा की पुष्टि की है। इस सिद्धान्त का सर्वाधिक समर्थन 16 वीं तथा 17 वीं शताब्दी में किया गया। सन् 1594 ई. में रिचर्ड हूकर ने कहा, "मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था अशांतिपूर्ण और संघर्षमय थी, इसीलिए उन्होंने समझौता किया और राज्य को उत्पन्न किया।" 17 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ग्रोशियस ने भी बताया कि राज्य समझौते का परिणाम है। इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित करने वाले दार्शनिकों में इग्लैंड के टॉमस हॉब्स और जॉन लॉक तथा फ्रांसीसी दार्शनिक रूसो के नाम उल्लेखनीय हैं। सामाजिक समझौता सिद्धान्त की महत्ता को समझने के लिए हम इन लेखकों के विचारों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

टॉमस हॉब्स
(Thomas Hobbes : 1588 - 1679)

हॉब्स का परिचय

हॉब्स राजनीति चिन्तन के क्षेत्र में असाधारण महत्व रखता है। हॉब्स का जन्म सन् 1588 में इंग्लैण्ड में हुआ। वह प्रारम्भ से ही एक शांतिप्रिय बालक था। संयोग की बात है कि उसका जन्म उस समय हुआ जब इंग्लैण्ड में आर्मेडा का युद्ध हो रहा था और ऐसा प्रतीत होता है जैसे हॉब्स को भीरू प्रकृति उसके माता के गर्भ से ही प्राप्त हुई हो। इंग्लैण्ड का उस समय का वातावरण उथल-पुथल व अशांति का वातावरण था। इंग्लैण्ड की संसद इतनी अधिक महत्वाकांक्षी हो रही थी कि वह अपरिमित शक्ति प्राप्त करना चाहती थी। देश में गृह युद्ध चल रहा था। हॉब्स स्वभाव से भीरू होने के कारण गृहयुद्ध में होने वाली मार-काट व हिंसा को देखते रहने में असमर्थ था। अत: वह इंग्लैण्ड छोड़कर फ्रांस चला गया। फ्रांस में रहते हुए उसने देखा कि वहाँ इंग्लैण्ड जैसी अशांति न होकर पूरी शांति व सुव्यवस्था है। उसने यह अनुभव किया कि ऐसा वहाँ इसलिए था कि वहाँ एक निरंकुश व शक्तिशाली राजा का राजतन्त्रीय शासन है। इंग्लैण्ड में अराजकता और अशांति का मुख्य कारण यह है कि वहाँ का शक्तिहीन राजतन्त्र शांति व व्यवस्था बनाये रखने में असमर्थ है। अत: उसके मस्तिष्क में यह बात आई कि कहीं भी यदि शांति व व्यवस्था की स्थापना करनी है तो उसके लिए एक शक्तिशाली राजतन्त्र का होना आवश्यक है और यही कारण है कि उसने समझौता सिद्धान्त के आधार पर एक निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया। हॉब्स के समझौता सिद्धान्त सम्बन्धी विचार उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवियाथन'(The Leviathan) में विस्तार से अंकित हैं। उसके सामाजिक समझौता सिद्धान्त की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है–

मानव स्वभाव का स्वरूप

हॉब्स राज्य का अध्ययन मानव स्वभाव के विश्लेषण से आरम्भ करता है। वह मनुष्य को अत्यन्त स्वार्थी, झगड़ालू, नीच, दुष्ट, विवेकहीन, संवेगों का पुंज तथा आत्मकेन्द्रित मानता है।

प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान बनाया है। शारीरिक और मानसिक शक्तियों के संयोग से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति शारीरिक बल की दृष्टि से दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा निर्बल हो, किन्तु वह मानसिक दृष्टि से बुद्धिमान व धूर्तता और मक्कारी में उसकी अपेक्षा अधिक बलवान हो सकता है। इस समानता के कारण मनुष्यों में संघर्ष छिड़ जाता है। वे एक दूसरे को हराना

और नष्ट करना चाहते हैं। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी व अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है। मनुष्यों में तीन कारणों से निरन्तर संघर्ष चलता रहता है– प्रतिद्वन्द्विता, भय और कीर्ति पाने तथा उसे बढ़ाने की लालसा। यद्यपि मनुष्य शांति चाहता है किन्तु उसे सदैव दूसरों से भय लगा रहता है। वह अपनी सम्पत्ति और अधिकार बढ़ाना चाहता है, अत: अपने साथियों के साथ शाश्वत संघर्ष में संलग्न रहता है।

प्रतिद्वन्द्विता, भय और कीर्ति प्राप्त करने की आकांक्षा संतत् संघर्ष उत्पन्न करती है। जब दो व्यक्ति वस्तु को पाने के लिए प्रयास करते हैं तो उनमें प्रतिद्वन्द्विता शुरू हो जाती है। जब एक व्यक्ति इस आकांक्षा में व्यथित रहता है कि दूसरे की शक्ति उससे अधिक न बढ़ जाय तो वह भयाक्रांत होता है। मनुष्य में यह इच्छा भी स्वाभाविक है कि अन्य व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें, उसे अपने से बड़ा तथा ऊंचा समझें। अत: सब व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्पर्धा, अविश्वास और कीर्ति की कामना से निर्धारित होते हैं तथा इसके फलस्वरूप सब एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं, जंगली जानवरों की तरह एक-दूसरे पर हमला करते हैं।

प्राकृतिक अवस्था

हॉब्स राज्य की उत्पत्ति से पहले की स्थिति को प्राकृतिक दशा का नाम देता है। इस दशा में मनुष्य अपने उपर्युक्त स्वभाव के कारण सबसे लड़ता रहता था। इस समय 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम था। शक्तिशाली निर्बल व्यक्तियों के अधिकारों को हड़प रहे थे। सर्वत्र शक्ति, धोखाधड़ी और प्रवंचना का बोलबाला था। इस दशा में उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म का कोई विचार नहीं था। **हॉब्स** के शब्दों में, "जब तक समस्त मानवों के ऊपर एक सामूहिक सत्ता नहीं रहती तब तक कोई कानून नहीं होता और जहाँ कोई कानून नहीं होता, वहाँ कोई न्याय विद्यमान नहीं रह सकता। वहाँ उचित तथा अनुचित, न्याय तथा अन्याय की कोई धारणा अपना अस्तित्व नहीं रखती।" इसके अभाव में प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे के साथ संघर्ष की स्थिति में रहता है। यह संघर्ष 'प्रत्येक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ युद्ध'(war of every man against every man) के रूप का होता। इसमें न तो नये आविष्कारों का लाभ किसी को हो सकता है, न उद्योगों का विकास हो सकता है और न संस्कृति का। कला, साहित्य, समाज, कृषि, व्यवसाय, यातायात, आदि किसी क्षेत्र में प्रगति नहीं हो सकती। परिणाम यह होता है कि मनुष्य का जीवन **एकाकी, निर्धन, कुत्सित, पशुतुल्य,** और **क्षणिक** (Solitary, poor, nasty, brutish and short) होता है। यह एकाकी इसलिए होता है कि इस दशा में सब एक-दूसरे के शत्रु हैं और अपने से भिन्न व्यक्तियों को प्रबल आशंका, भय और अविश्वास के कारण देखते हैं। इस हालत में उनमें किसी प्रकार का कोई सहयोग न होने से उन्हें एकाकी जीवन बिताना पड़ता है। वाणिज्य, व्यवसाय, कला और उद्योग धन्धों का विकास न होने के कारण इस जीवन में निर्धनता का साम्राज्य था। यह **कुत्सित** (nasty) इसलिए था कि इसमें युद्ध, मारकाट, हिंसा और हत्या का बोलबाला था। यह जीवन **पशुतुल्य** इसलिए था कि मनुष्य आपस में जंगली पशुओं जैसा व्यवहार करते थे। यह **क्षणिक** इसलिए था कि किसी भी क्षण कोई शक्तिशाली दूसरे व्यक्ति के जीवन का अन्त कर सकता था।

संक्षेप में, मनुष्य प्राकृतिक दशा में नरपशु और रक्तपिपासु थे। शत्रुओं का दमन करने, शक्ति बढ़ाने और यश प्राप्त करने के लिए वे सब प्रकार की हिंसा और हत्या का अवल म्बन कर सकते थे। प्राकृतिक दशा की तीन मोटी विशेषताएं हैं। (i) इसमें नैतिकता का सर्वथा अभाव था तथा सत् और असत् का कोई विचार नहीं होता था। (ii) इसमें न्याय और अन्याय के विचार का अभाव था। (iii) इस दशा में वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव था।

प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अधिकार से अभिप्राय है अपने जीवन के संरक्षण के लिए मनुष्य को कोई भी कार्य करने की स्वतन्त्रता होना। वह अपने जीवन को बनाये रखने के लिए किसी को लूटने, पीटने या जान से मार डालने की पूरी स्वतन्त्रता रखता है। टी.एच. हक्सले ने ऐसे अधिकार को 'शेर का अधिकार' (Tiger right) कहा है। किन्तु सब मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकार समान होने से सबको एक-दूसरे की हत्या और लूटपाट करने का अधिकार मिल जाता है। इसरो जीवन सर्वथा असुरक्षित हो जाता है। किन्तु सभी मनुष्य इसे सुरक्षित बनाए रखना चाहते हैं। अत: वे प्राकृतिक अवस्था में आपसी सुरक्षा के लिए बुद्धि द्वारा कुछ नियम बनाते हैं। ये प्राकृतिक नियम कहलाते हैं। हॉब्स ने विभिन्न प्रकार

के 19 प्राकृतिक नियम गिनाये हैं। इनमें तीन प्रमुख हैं– **पहला,** व्यक्ति को शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। **दूसरा,** प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति स्थापना के लिए तथा व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि से अपने सब अधिकारों का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए; बशर्ते अन्य व्यक्ति भी ऐसा करने के लिए सहमत हों। **तीसरा,** व्यक्ति को अपने समझौतों का पालन करना चाहिए।

समझौते के कारण

प्राकृतिक अवस्था में शाश्वत संघर्ष की स्थिति से संत्रस्त और चिन्तित होकर मनुष्य की बुद्धि और विवेक ने यह सोचा कि आत्म-संरक्षण के लिए इस भयावह दशा का अन्त किया जाना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, प्राकृतिक अवस्था की कुछ कठिनाईयाँ थीं और उन्हीं के कारण हॉब्स के अनुसार राज्य की स्थापना या उत्पत्ति होती है। संक्षेप में, राज्य की उत्पत्ति के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं– **पहला,** प्राकृतिक अवस्था में अशान्ति, हिंसा, युद्ध, घृणा और सुरक्षा का वातावरण था। ऐसी दशा में यह आवश्यक था कि ऐसी सम्प्रभु सत्ता की स्थापना की जाये जो सुरक्षा की व्यवस्था कर सके। **दूसरा,** प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियम थे जिनका पालन मनुष्य स्वत: इसलिए करते थे क्योंकि उनसे वे शान्ति या सुरक्षा की प्राप्ति की आशा करते थे। इन पर नियमों की व्याख्या करने वाली कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं थी और नियमों का अर्थ इस प्रकार मनमाना लगाया जाता था कि उससे मनुष्य की स्वार्थ-सिद्धि हो सके। अत: विधि व्याख्याकार की आवश्यकता के कारण सम्प्रभु सत्ता की स्थापना हुई। **तीसरा,** प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक नियमों का पालन कराने वाली कोई सत्ता नहीं थी। अपने स्वार्थ के वशीभूत होने के कारण लोग उनका उल्लंघन करते थे जिससे संघर्ष पनपता था। इस स्थिति के निवारण के लिए भी सम्प्रभु सत्ता की आवश्यकता हुई। **चौथा,** प्राकृतिक विधियों का पालन लगातार तभी हो सकता था जब उनका उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देने वाली किसी दण्डशक्ति का अस्तित्व हो। अत: इस कारण भी एक सम्प्रभु सत्ता की स्थापना आवश्यक हो गई।

सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति

प्राकृतिक अराजक अवस्था से छुटकारा पाने के उद्देश्य से हॉब्स के अनुसार, मनुष्यों ने आपस में एक समझौता, संविदा, अनुबन्ध करार (Contract) करके अराजक दशा का अंत किया। प्रत्येक व्यक्ति इस आशय की शपथ लेता है– "मैं इस व्यक्ति समूह को इस शर्त पर अपना अधिकार देता हूँ तथा स्वयमेव अपने पर शासन करने के अधिकार का परित्याग करता हूँ कि तू भी अपने अधिकार इसी प्रकार व्यक्ति को देगा और स्वशासन के अधिकार छोड़ देगा।"

ऐसा करने पर सारा जनसमुदाय एक व्यक्ति हो जाता है, इसे राज्य (Commonwealth) या लैटिन भाषा में 'नगर' (civita) कहते हैं। इससे पहले समाज और राज्य की सत्ता नहीं थी। इस तरह जब सभी मनुष्य संविदा की प्रतिज्ञा करते हैं तो संविदा करने वाले व्यक्तियों का समूह 'राज्य' कहलाता है। जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को संविदा करने वाले मानव अपने अधिकार सौंपते हैं, वह दीर्घकाय (Leviathan) है और वह जनता की शान्ति व प्रतिरक्षा के लिए पृथ्वी में मानव देव की भाँति है।

राज्य का स्वरूप

हॉब्स का लेवियाथन अथवा राज्य पूर्ण रूप से निरंकुश है। संविदा द्वारा अनेक इच्छाओं के स्थान पर एक इच्छा का निर्माण होता है। सम्प्रभु के आदेश ही कानून हैं और उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण होता है। प्रभुसत्ता को प्रयोजनों पर अपरिमित, असीम अधिकार प्राप्त हैं। इन्हें लोगों ने प्राकृतिक दशा की अराजकता से परित्राण पाने तथा जीवन की रक्षा के लिए प्रदान किए हैं, एक बार इन्हें देने के बाद उनके पास कोई अधिकार नहीं रह जाते, उनका एकमात्र कार्य प्रभु के आदेशों का पालन करना है। संक्षेप में सामाजिक समझौते के द्वारा हॉब्स निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करता है।

विशेषताएँ – राज्य को उत्पन्न करने वाले हॉब्स के इस समझौते या अनुबन्ध की कई उल्लेखनीय विशेषतांए हैं :

(1) राज्य तथा शासन की उत्पत्ति स्पष्टतया मनुष्यों की पारस्परिक संविदा के आधार पर होती है।

(2) शासक या संप्रभु की उत्पत्ति तो संविदागत है, परन्तु संविदा शासक या शासितों के मध्य नहीं होती। संविदा करने वाले पक्ष व्यक्ति हैं जो आपस में एक-दूसरे के साथ संविदा करके संप्रभु (शासक) की सृष्टि करते हैं। अतएव संविदा की शर्त शासक पर लागू नहीं होती।

(3) संप्रभु सत्ता समझौते में किसी भी पक्ष के रूप में सम्मिलित नहीं है। अत: समझौते के उद्देश्य के अनुसार कार्य करने तथा उसकी किन्हीं शर्तों का पालन करने के लिए वह किसी भी तरह बाध्य नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, वह जो कुछ भी करती है, उसके लिए वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता तथा वह पूर्णत: निरंकुश होती है।

(4) शासक सर्वोच्च विधायक होता है। उसके आदेश ही नियम अथवा विधि होते हैं। वह अपनी प्रजा के साथ कोई अन्याय नहीं कर सकता क्योंकि वह उनका प्रतिनिधि है।

(5) संविदा द्वारा विविध संघर्षरत इच्छाओं का स्थान एक प्रतिनिध्यात्मक इच्छा ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार शासक के हाथ में एक सामूहिक सत्ता आ जाती है। वह एक कृत्रिम व्यक्ति है। चूंकि वह संविदा करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को प्राप्त कर लेता है अत: वह प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिनिधि है।

(6) इस समझौते से प्राकृतिक अवस्था में एकाकी रहने वाले व्यक्तियों ने समाज का निर्माण किया है, अत: यह सामाजिक समझौता है।

(7) प्रजा द्वारा किसी भी कारण से किया जाने वाला आज्ञा-भंग अन्यायपूर्ण है, क्योंकि यह अपनी वैयक्तिक इच्छा को प्रभु की इच्छा में विलीन कर देने वाले उपर्युक्त समझौते के प्रतिकूल है।

हॉब्स के समझौता सिद्धान्त की आलोचना

आलोचकों ने हॉब्स के विचारों का कड़ा विरोध किया है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'लेवियाथन' के बारे में **क्लेरेण्डन** ने तो यहाँ तक कहा कि, "मैंने कभी कोई पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें इतना राजद्रोह, विश्वासघात एवं धर्मद्रोह भरा हो।" **ह्वाइटल** के मतानुसार 'लेवियाथन' वैसी ही निन्दनीय सम्मतियों से भरा हुआ है, जैसे (Toad) विष से परिपूर्ण होता है। **बैमहिल** का विचार था कि "यह ग्रंथ सबको आग लगाने वाला है.... उसने जितनी गड़बड़ पैदा की है, उतनी वनस्पतियों के बगीचे में सूअर भी पैदा नहीं कर सकता।" निम्नलिखित तर्कों के आधार पर हॉब्स के सिद्धान्त की आलोचना की जाती है :

(1) **मानव स्वभाव का दोषपूर्ण चित्रण** – हॉब्स ने मानव स्वभाव का एकांगी, दूषित और निराशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी कपटी और क्रूर बतलाता है, जबकि सहानुभूति, उदारता, परोपकार और प्रेम आदि मानवीय गुण भी उसमें पाये जाते हैं। हॉब्स इन्हें सर्वथा भुला देता है, वह केवल उसकी पाशविक प्रवृत्तियों पर ही बल देता है। ऐसे एकपक्षीय दृष्टिकोण के आधार पर राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो सकता।

(2) **प्राकृतिक अवस्था अस्वाभाविक** – हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था असत्य, अस्वाभाविक और अनैतिहासिक है। प्राकृतिक दशा में मनुष्य एकाकी और ऐसी दशा में रहता था जिसमें हत्या, हिंसा, छल, कपट का साम्राज्य था। किन्तु समझौता होने के बाद वह सामाजिक बनकर शांतिपूर्ण समाज में रहने लगा। उसके स्वभाव में इस प्रकार एकाएक परिवर्तन कैसे आ गया कि उसने अराजकता और अव्यवस्था को सुव्यवस्था में परिणित कर लिया। एक ही क्षण में प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने संघर्षपूर्ण जीवन को छोड़कर सहयोगी जीवन की पद्धति को कैसे अपना लिया ?

(3) **प्राकृतिक दशा में प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता असंगत है** – प्राकृतिक दशा का वर्णन करते हुए हॉब्स ने यह भी प्रतिपादित किया है कि उसमें व्यक्ति को कुछ अधिकार भी प्राप्त होते हैं जिनका रूप प्राकृतिक होता है। 'अराजकतापूर्ण प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति का कोई अधिकार हो सकता है' यह न कहा जाना ही असंगत है।

(4) **अतार्किक** – हॉब्स की यह भ्रान्त धारणा है कि आदिम समाज में मनुष्य एकाकी रहता है। उसे यह ज्ञात नहीं था कि मनुष्य में सामाजिक जीवन के तत्वों का कभी अभाव नहीं रहा। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि व्यक्ति कभी इस प्रकार अकेले नहीं रहे, वे किसी न किसी प्रकार के समाज में रहते आए हैं।

(5) **निरंकुशता का समर्थन** – हॉब्स द्वारा स्थापित शासन पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं है और वह पूरी तरह से निरंकुश है। उन पर न तो कानून का कोई अंकुश है और न व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का ही कोई अंकुश है। वस्तुत: हॉब्स ने अपने समझौता सिद्धान्त द्वारा मनुष्य को सर्वथा अधिकार-शून्य करके लेवियाथन की दासता के पाश में जकड़ दिया है। इसमें मनुष्यों की स्थिति लेवियाथन-रूपी चरवाहे के द्वारा हाँके जाने वाले पशुओं के रेवड़ जैसी लगती है।

हॉब्स के विचारों का महत्व

हॉब्स के चिन्तन में अनेक कमियाँ तथा अंसगतियाँ हैं तथापि उनकी पुष्टि के निमित्त उसने जिस क्रमबद्ध ढंग से तर्क दिये हैं, वे उसे एक वैज्ञानिक चिन्तक होने की स्थिति प्रदान करते हैं। हॉब्स को राज्य की प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा की पुष्टि करने वाला सबसे प्रथम चिन्तक मानना चाहिए। उसके विचारों ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को निर्मूल सिद्ध किया। राज्य की कानूनी सर्वोच्च प्रभुसत्ता की धारणा हॉब्स के विचारों का ही फल है। हॉब्स का मूल्यांकन करते हुए वेपर ने लिखा है, बाद के युग के लोग साधरणत: उससे सहमत नहीं हुए, पर यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उसके विचारों से उन्हें उनके काम की एक ऐसी खान मिल गयी, जिसमें पाये जाने वाले खनिज को समृद्ध बनाने के लिए वे कार्य कर सकते हैं।

जॉन लॉक
(John Locke : 1632 - 1704)

लॉक का परिचय

जॉन लॉक का जन्म समरसेट के रिंगटन नामक स्थान पर इंग्लैण्ड में सन् 1632 में हुआ था। इस समय इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट राजा चार्ल्स प्रथम से अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही थी। उसके होश संभालते ही इंग्लैण्ड का गृहयुद्ध आरम्भ हो गया, जिसमें एक ओर राजा की निरंकुश सत्ता के समर्थक और दूसरी ओर जनता की प्रतिनिधि संस्था संसद की सत्ता के समर्थक थे। गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप प्रजा के पक्ष की विजय हुई तथा सत्ता क्रामवेल के हाथों में आई। उसकी अध्यक्षता में जनता के विजय के प्रतीक-स्वरूप एक गणतन्त्र की स्थापना हुई। पर लॉक ने यह देखा कि क्रामवेल के निरंकुश शासन में शांति अवश्य रही, पर वह शांति व्यक्ति की स्वंतन्त्रता के मूल्य पर बनाई गयी। परिणामस्वरूप जब सन् 1658 में क्रामवेल की मृत्यु हुई तथा निर्वासित स्टुअर्ट वंश के उत्तराधिकारी को चार्ल्स द्वितीय के नाम से पुन: इंग्लैण्ड का सम्राट बनाया गया, तो उसके उत्तराधिकारी जेम्स द्वितीय से फिर संसद के अधिकारों के विषय में विवाद हुआ तथा जनता के अधिकारों की प्रतिनिधि संसद के अधिकार की स्थापना हो सके, इसके लिए इंग्लैण्ड के राजकुमार ऑरेन्ज के विलियम को राजा बनाया गया तथा उसके राजा बनाये जाते ही संसद ने एक अधिकार पत्र (Bill of Rights) पारित करके राजा के अधिकार सीमित कर दिये तथा वैयक्तिक अधिकारों को सुरक्षित कर दिया। इस प्रकार लॉक ने उस घटना को देखा जिसे इंग्लैण्ड के इतिहास में 'गौरवपूर्ण रक्तहीन क्रांति' कहा जाता है। इसी घटनाक्रम से प्रभावित होकर लॉक ने अपने ग्रंथ 'शासन पर दो निबन्ध' (Two Treatises on Government) में जन-सहमति पर आधारित एक ऐसी राजसत्ता का समर्थन किया जिसकी शक्ति मर्यादित तथा जिसका उद्देश्य निश्चित हो। लॉक के सामाजिक समझौते का यही सार है कि निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर

वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना और पार्लियामेण्ट की अन्तिम सत्ता को स्वीकार करना नितान्त न्यायसंगत था। लॉक के समझौता सम्बन्धी विचार हॉब्स के विचारों से मेल नहीं खाते। उसके समझौता सम्बन्धी विचारों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है–

मानव स्वभाव की धारणा

हॉब्स मनुष्य में केवल पाशविक प्रवृत्तियों का दर्शन करता है किन्तु लॉक उसके मानवीय गुणों पर बल देता है। लॉक के अनुसार मनुष्य की बड़ी विशेषता बुद्धिमान तथा विचारवान प्राणी होना है। वह अपनी विवेक बुद्धि से एक नैतिक व्यवस्था की सत्ता स्वीकार करता है और इसके अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य समझता है। उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति, प्रेम और दयालुता के गुण होते हैं। संक्षेप में, लॉक की कल्पना का मनुष्य हॉब्स की कल्पना के मनुष्य की तरह केवल स्वार्थी ही नहीं होता वरन् वह परमार्थी होता है। मानव स्वभाव के विषय में हॉब्स एवं लॉक की कल्पना के अन्तर को जोन्स ने बड़े सुन्दर ढंग से इन शब्दों में व्यक्त किया है, "हॉब्स के लिए मनुष्य जहाँ केवल भौतिक सुख की पाशविक भावनाओं के प्रभाव में ही रहता है, लॉक का मनुष्य कर्त्तव्य की पुकार भी सुनता है और कम से कम कभी-कभी उस पर ध्यान भी देता है; तथा हॉब्स का मनुष्य पूर्णत: स्वार्थी होता है, लॉक का मनुष्य कभी-कभी वस्तुत: परमार्थी होता है।"

प्राकृतिक अवस्था

हॉब्स ने मनुष्य को घोर स्वार्थी बतलाया था तथा प्राकृतिक अवस्था को तदनुसार सतत् संघर्ष और युद्ध की दशा माना था। परन्तु लॉक ने मनुष्य को स्वभावत: परमार्थी, दयालु, सहयोगी व समाजप्रिय माना है तथा उसी के अनुसार उसकी प्राकृतिक अवस्था की कल्पना भी इस प्रकार की है जिसमें मनुष्य 'पारस्परिक युद्ध' की अवस्था में न रहकर 'पारस्परिक-सहयोग' की अवस्था में रहते हैं। लॉक की प्राकृतिक अवस्था की कई विशेषताएं हैं– (i) **प्रथम**, प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य समान हैं क्योंकि सभी सृष्टि के एक ही स्तर पर और सब एक ही सर्वशक्तिमान और अनन्त बुद्धिसम्पन्न सृष्टा की कृतियाँ हैं। (ii) **द्वितीय**, प्राकृतिक अवस्था शांति व पारस्परिक सद्भावना पर आधारित होने के कारण सभी व्यक्ति समान व स्वतन्त्र माने जाते हैं, कोई किसी को हानि पहुंचाने का प्रयत्न नहीं करता, सब समान रूप से प्राकृतिक समाज के लाभों को प्राप्त करते हैं और कोई किसी के अधीन नहीं होता। (iii) **तृतीय**, प्राकृतिक अवस्था में लोग पूर्णत: स्वतन्त्र होते हैं। किन्तु यह स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या स्वेच्छाचारिता नहीं है क्योंकि प्राकृतिक अवस्था का नियन्त्रण प्राकृतिक नियम हैं। उदाहरणार्थ, दूसरे की हत्या करना प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल है, क्योंकि इसका ज्ञान हमें इस प्रकार के तर्क से होता है, जैसे व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने का अधिकार नहीं रखता, वैसे ही वह दूसरों के जीवन को भी नष्ट नहीं कर सकता। वह जो व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता, उसे वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिए। संक्षेप में, प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित होने के कारण लॉक की प्राकृतिक दशा हॉब्स की नैसर्गिक दशा की भाँति अतीव भयावह और संघर्षमय नहीं है। मनुष्य में स्वभावत: सामाजिकता की प्रवृत्ति है। अत: यह अवस्था शांति, सौहार्द, पारस्परिक सहयोग और आत्मरक्षा की अवस्था है।

प्राकृतिक अधिकार

लॉक के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में सभी व्यक्तियों को तीन प्रकार के अधिकार प्राप्त थे– (1) जीवन का अधिकार, (2) स्वतन्त्रता का अधिकार, और (3) सम्पत्ति का अधिकार। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार का उपयोग इस प्रकार करता था कि दूसरों के अधिकारों पर आँच न आये।

समझौते के कारण

प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियम के अनुसार शांतिमय जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य को तीन प्रकार की असुविधाएं थीं– (I) प्रथम, प्राकृतिक अवस्था की एक कठिनाई यह है कि उसमें ऐसी कोई निश्चित, प्रकट एवं सर्वसम्मत विधि नहीं होती, जिसके द्वारा उचित- अनुचित तथा मतभेदों का निर्णय हो सके। (II) दूसरी कठिनाई यह है कि प्राकृतिक नियम या विधान को तथा इसके अनुरूप निर्णयों को

कार्यान्वित करने के लिए प्राकृतिक दशा में कोई साधन या संस्था नहीं होती। (III) तीसरी कठिनाई यह है कि इसमें सब व्यक्तियों को न्याय करने और दण्ड देने का अधिकार होता है, अर्थात दण्ड देने वाली कोई निष्पक्ष सत्ता नहीं होती।

प्राकृतिक अवस्था की उपर्युक्त तीन असुविधाओं को दूर करने की दृष्टि से मनुष्यों ने एक सामाजिक समझौते या संविदा द्वारा राज्य का निर्माण किया। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि लॉक के अनुसार राज्यसत्ता की स्थापना मनुष्यों के पारस्परिक भय से छुटकारा पाने के उद्देश्य से नहीं होती है वरन् प्राकृतिक अवस्था में रहने की कुछ कठिनाइयों के निवारण के उद्देश्य से होती है।

सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति

प्राकृतिक अवस्था की उपर्युक्त असुविधाओं को दूर करने के लिए लॉक के मतानुसार मनुष्यों ने एक समझौता किया। सब मनुष्यों के समान होने के कारण यह समाज के सब व्यक्तियों का सब व्यक्तियों के साथ किया जाने वाला अनुबंध था, अतएव इसे सामाजिक अनुबन्ध कहते हैं। इसमें सभी व्यक्तियों ने भाग लिया था। इसमें प्रत्येक व्यक्ति ने अपना केवल प्राकृतिक कानून को लागू करने का तथा उनका उल्लंघन के लिए दण्ड देने का अधिकार सारे समाज को अर्पित कर दिया, शेष सभी प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के जो प्राकृतिक अवस्था में थे, वह उसने प्रदान नहीं किये। इस तरह जो शक्ति समाज को प्रदान की गई वह सीमित थी। इस संविदा से **'सिविल समाज'** उत्पन्न हुआ और यह प्राथमिक संविदा थी। इसके उपरांत एक दूसरी गौण संविदा के माध्यम से शासन की स्थापना की गई। शासन की स्थापना एक साधन के रूप में की गई जिससे राजनीतिक समाज के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके। मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों को कानूनी रूप देने के लिए तथा इन कानूनों को दण्ड व भय से कार्यान्वित करने के लिए शासन स्थापित किया गया। लॉक के समझौते की व्याख्या करते हुए डॉ. आशीर्वादम् ने लिखा है – "लॉक ने जिन दो संविदाओं की चर्चा की है उनमें से पहली संविदा द्वारा नागरिक समाज की व दूसरी द्वारा सरकार की स्थापना होती है, अर्थात् पहली संविदा जनता के बीच हुई थी और दूसरी समूची जनता तथा शासक के बीच हुई। पहले समझौते द्वारा समाज को जो अधिकार व्यक्तियों ने सौंपे, वे समाज द्वारा (दूसरा समझौता होने पर) सरकार को प्रदान कर दिये जाते हैं। सरकारी समझौते में चूंकि सरकार भी एक पक्ष होती है अत: उसके ऊपर समाज द्वारा कुछ शर्त लगा दी जाती है जिनका पालन यदि सरकार नहीं करती तो उसे समाप्त कर नई सरकार का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार लॉक ने एक **सीमित व उत्तरदायी** (Limited and Responsible) सरकार की कल्पना की थी।"

राज्य का स्वरूप

लॉक के अनुसार समझौते से बनने वाला राज्य लोकहित का साधन होता है। दूसरे शब्दों में उसके अनुसार राज्य साध्य न होकर सार्वजनिक हित का साधन मात्र है। दूसरे, राज्य के निर्माण व अस्तित्व का आधार जनसहमति होती है। राज्य का शासन विधि पर आधारित होना चाहिए। लॉक ने स्पष्ट कहा कि यदि शासन को जनता की सहमति प्राप्त न हो, वह अपने न्यास या ट्रस्ट के विरुद्ध आचरण करे और वैधानिक शासन के स्थान पर स्वेच्छाचार बरतने लगे, अपनी मर्यादाओं का पालन न करे तो जनता को शासन सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने तथा उसे बदलने का अधिकार है। विद्रोह द्वारा सरकार के भंग हो जाने पर भी समाज बना रहता है। विद्रोह का अधिकार लॉक केवल बहुसंख्या को ही देता है। इस प्रकार अपने 'सीमित सरकार' के सिद्धान्त द्वारा उसने ब्रिटेन में हुई 1988 ई. की क्रान्ति को न्यायोचित सिद्ध किया।

विशेषताएँ – लॉक के समझौता सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

(1) लॉक ने दो प्रकार के समझौते की चर्चा की है– सामाजिक और शासन सम्बन्धी समझौता।

(2) राज्य की सत्ता जनता के लिए है न कि जनता राज्य के लिए।

(3) राज्य नागरिकों की सहमति (consent) पर आधारित हैं। नागरिक अपने हितों की सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के आदेशों का पालन करना स्वीकार करते हैं। यदि शासक इन हितों के प्रतिकूल आचरण करते हैं तो वे उनकी सहमति के बिना शासन करते हैं और इस दशा में जनता को विद्रोह करने का अधिकार है।

(4) राज्य निरंकुश नहीं हो सकता क्योंकि लॉक ने राज्य के अधिकारों को दो प्रकार से सीमित और मर्यादित कर दिया। एक तो राज्य अपनी सत्ता जनता से ग्रहण करता है और दूसरे, राज्य को यह सत्ता या अधिकार न्यास (Trust) के रूप में विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है। राज्य कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता, जो इस मूल उद्देश्य के प्रतिकूल हो। राज्य तो उद्देश्य रूपी न्यास का संरक्षक है। संक्षेप में, लॉक का राज्य स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता क्योंकि उसकी शक्ति निश्चित होती है, उद्देश्य निश्चित होते हैं जिनकी पूर्ति के लिए उसे क्रमशः कार्य करना होता है।

लॉक के समझौता सिद्धान्त की आलोचना

लॉक के समझौता सिद्धान्त की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है :

(1) **मानव स्वभाव सम्बन्धी आदर्शात्मक दृष्टिकोण** – लॉक ने मनुष्यों में केवल अच्छाइयाँ ही अच्छाइयाँ देखीं। वह मनुष्य को नैतिक, दयालु, सहयोगी एवं सामाजिक मानता है। मानव स्वभाव की यह कल्पना यथार्थ कम और आदर्श अधिक है।

(2) **प्राकृतिक अवस्था का अवास्तविक चित्रण** – लॉक ने प्राकृतिक अवस्था को शान्त व नैतिक बतलाया है। उसके मतानुसार इसमें न केवल अखण्ड शांति का साम्राज्य था, किन्तु सब मनुष्य न्याय की स्थापना करने वाले प्राकृतिक नियम का पालन करते थे। सच्चाई यह है कि आज इतनी अभूतपूर्व प्रगति होने के बाद भी ऐसी शांत स्थिति नहीं आ पाई है। आज भी घोर अशांति, अराजकता और भय का साम्राज्य है तो यह कैसे माना जाये कि लॉक द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था सही है।

(3) **राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र कारण जनसहमति नहीं हो सकता** – लॉक राज्य-निर्माण में जनसहमति को अत्यधिक महत्व देता है परन्तु इतिहास में ऐसे ही राज्यों का उल्लेख है जो बल व शक्ति के आधार पर बने व नष्ट हुए।

(4) **लॉक का समझौता अस्पष्ट है** – लॉक के विचार हॉब्स की भाँति सुस्पष्ट और तर्कसंगत नहीं हैं। लॉक ने समझौते के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है,उसमें उसने यह बात स्पष्ट नहीं कही है कि समाज व शासन की स्थापना के लिए अलग-अलग दो समझौते हुए हैं या एक, पर जो कुछ उसने कहा है उससे कुछ विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि समझौते दो हुए हैं। कुछ विचारकों ने यह निष्कर्ष भी निकाला है कि समझौता केवल एक ही हुआ है तथा उससे एक राजनैतिक समाज की स्थापना हुई है।

(5) **प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों को मान्यता देना नितान्त भ्रमपूर्ण** – लॉक ने प्राकृतिक अवस्था में जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों के अस्तित्व की बात कही है। राजनीतिक समाज के निर्माण से पूर्व अधिकारों का अस्तित्व मात्र काल्पनिक है।

लॉक का महत्व

लॉक की विचारधारा ने 18वीं शताब्दी की फ्रांसीसी क्रान्ति तथा अमरीकी स्वतन्त्रता की क्रान्ति को सर्वाधिक प्रभावित किया है। स्वतन्त्रता के प्रति उसका असीम प्रेम, बहुमत की सहमति द्वारा शासन तथा शासन में शक्ति के पृथक्करण की धारणाएं आज भी लोकतन्त्र के लिए उसकी महान देन मानी जाती हैं। लॉक के विचार यही दर्शाते हैं कि जनता अपनी सर्वोच्च सत्ता के द्वारा उस सरकार को वैधानिक ढंग से बदल सकती है जो जनता के प्राकृतिक विचारों की सुरक्षा करने में असमर्थ हो।

NOTES

जीन जैक्स रूसो
(Jean Jacques Rousseau : 1712 - 1778)

रूसो का परिचय

रूसो का जन्म सन् 1712 में स्विट्जरलैंड के जेनेवा शहर में आइजक नामक निर्धन घड़ीसाज के घर में हुआ। उसके पैदा होते ही उसकी माता का देहान्त हो गया था। अत: उसका पालन-पोषण उसके पिता के द्वारा हुआ। रूसो का पिता अपने काम में चतुर था, पर उसने अपने पुत्र के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नहीं किया। रूसो का पिता उसको रात को रोमांचकारी तथा भद्दी पुस्तकें पढ़वाकर सुना करता था। रूसो ने अपना अधिकांश समय आवारागर्दी में बिताया, किसी धन्धे या पेशे को सीखने में सफलता नहीं पाई और न ही किसी स्थान पर टिका।

रूसो के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन आया। सन् 1741 में वह पेरिस में बस गया। यहाँ पर वह दिदरो आदि अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आया। सन् 1746 ई. में उसने एक गीत-नाट्य लिखा। सन् 1749 ई. में डिजोन की अकादमी द्वारा घोषित निबंध प्रतियोगिता में उसने एक स्वर्णपदक तथा 300 फ्रांक का पुरस्कार प्राप्त किया। इस निबंध में उसने प्रतिपादित किया कि विज्ञान और कला की प्रगति ने मनुष्य का नैतिक पतन किया है, अत: यदि उसे जीवन को सरल, सुखी सद्गुणी बनाना है तो पुन: प्राकृतिक जीवन अपनाना चाहिए। पेरिस के साहित्यिक क्षेत्र में इस निबंध से रूसो को बड़ा सम्मान मिला। उसका निबंध उस सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध था जिसे लोग भौतिक दृष्टि से उन्नत समाज की व्यवस्था कहते थे यद्यपि जिसके कारण समाज सम्पन्न व विपन्न लोगों के दो विषम वर्गों में बंटा हुआ था। रूसो के निबंध ने आर्थिक विषमता पर आधारित तत्कालीन समाज में एक ऐसी हलचल मचा दी जिसे हम फ्रांस की प्रसिद्ध क्रान्ति का बीजारोपण कह सकते हैं।

सन् 1754 से 1762 तक की 8 वर्षों की अवधि रूसो के ग्रन्थों की रचना का काल था। सन् 1762 में उसकी रचनाएं, 'सामाजिक संविदा' (The Social Contract) तथा 'दि एमिलि' (The Emile) प्रकाशित हुई। 'सामाजिक संविदा' नामक पुस्तक में ही उसने समझौता सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया है।

मानव स्वभाव की धारणा

रूसो प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को स्वाभाविक रूप से अच्छा, सुखी, सीधा, चिन्तारहित, स्वस्थ, शान्ति प्रेमी और एकान्तप्रिय समझता था। इस विषय में रूसो का विचार हॉब्स तथा लॉक दोनों से भिन्न है। हॉब्स का कहना था कि प्राकृतिक दशा में रहने वाला मनुष्य न केवल हिंस्त्र और क्रूर था, प्रत्युत कपटी भी था। दूसरी ओर लॉक ने मनुष्य को प्राकृतिक नियम और ईश्वरीय नियम से अनुशासित होने वाला माना था। रूसो प्राकृतिक दशा में नैतिकता के ऐसे उच्च विकास को भी असम्भव मानता है। अत: इन दोनों विचारों को गलत मानते हुए रूसो ने आदिम मनुष्य को पशुतुल्य, निष्पाप, निर्दोष तथा स्वाभाविक रूप से अच्छा माना है।

प्राकृतिक अवस्था

प्राकृतिक अवस्था के आदिकाल में मनुष्य प्रकृति की गोद में रहता था। उसका जीवन पशुओं जैसा व एकाकी था। वह अपना जीवन वनों में विचरण करके बिताता था। किसी व्यक्ति का न कोई घर था और न उसकी कोई सम्पत्ति थी। इस प्रकार रूसो के अनुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी, स्वतन्त्र, नैतिक तथा अनैतिक भावनाओं से मुक्त, नि:स्वार्थ, सम्पत्ति और परिवार से रहित आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में रहा था।

यह प्राकृतिक दशा अधिक दिनों तक कायम नहीं रह सकी। मानव में ज्ञान की वृद्धि हुई। मनुष्य को अग्नि का ज्ञान हुआ। कुछ मोटे ढंग के हथियार व औजार अस्तित्व में आये। लोगों का घुमक्कड़ जीवन छूट गया और वे निश्चित स्थान पर बसने लगे। स्त्री-पुरुषों का आकस्मिक मिलन कुछ स्थायी होने लगा और परिवार अस्तित्व में आये। मनुष्यों में परिवार के साथ-साथ सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता के कारण लोगों में परस्पर कलह, द्वेष, हिंसा व युद्ध आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इससे 'उदात्त वनेचर'(Noble Savage) की स्वाभाविक समानता व स्वतन्त्रता समाप्त हो

गई एवं दास-प्रथा आदि की बुराइयाँ उत्पन्न हुई। सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ दरिद्रता, शोषण, हत्या और बीमारी बढ़ती चली गई। रूसो ने लिखा– "मनुष्य स्वतन्त्र रूप में पैदा हुआ है, किन्तु सर्वत्र वह बेड़ियों से जकड़ा हुआ है।" इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को स्वतन्त्र एवं स्वाधीन होना चाहिए, यही उसके लिए सर्वोत्तम दशा है। किन्तु समाज के नियम, रूढ़ियाँ तथा प्रतिबन्ध उसे दास बना रहे हैं, उसकी विशुद्ध प्राकृतिक दशा के जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार से उसे वंचित कर रहे हैं। वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए इन बन्धनों से किस प्रकार मुक्त हो, यह रूसो के राजनीतिक चिन्तन की मूल समस्या है।

सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य की उत्पत्ति

रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा समाज की सुव्यवस्था में समन्वय स्थापित करने के लिए एक सामाजिक समझौते की कल्पना करता है।

रूसो के अनुसार राज्य एक बुराई है किन्तु मनुष्यों की असमानताओं के कारण राज्य अनिवार्य हो जाता है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' में राज्य सम्बन्धी अपने विचारों में संशोधन कर यह माना है कि नागरिक राज्य के लाभ प्राकृतिक अवस्था के लाभों से कहीं अधिक हैं। उन्हीं के शब्दों में, "सामाजिक संविदा से मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वच्छन्दता को और अपनी पसन्द की सारी वस्तुओं को अपने कब्जे में कर लेने के असीमित अधिकार को खो देता है। इसके बदले में उसे नागरिक स्वतन्त्रता मिलती है और अपनी सम्पत्ति पर अधिकार मिलता है।"

रूसो के अनुसार मनुष्यों ने आपस में एक समझौता किया। इस समझौते में सभी व्यक्तियों ने भाग लिया। प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों को किसी व्यक्ति-विशेष को अर्पित न कर सम्पूर्ण समाज को अर्पित करता है। इस प्रकार यह समझौता लोगों के निजी स्वरूप और सामूहिक समझौते के मध्य हुआ। अ.ब.स.द आदि ने अपने अधिकारों को अ + ब + स + द के सामूहिक स्वरूप को सौंप दिया। इसमें किसी की हानि नहीं, वरन् सबका लाभ ही होता है : क्योंकि उनमें से जब किसी एक के व्यक्तिगत अधिकारों पर आक्रमण होता है तो उसकी रक्षा के लिए सारा समाज उपस्थित हो जाता है। रूसो की कल्पना के अनुसार, "हममें से प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और सभी शक्तियों को समान रूप से सार्वजनिक इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अन्तर्गत रखता है और हम संयुक्त रूप से प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण संगठन के अखण्ड हिस्से के रूप में पाते हैं।"

राज्य का स्वरूप

सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित राज्य को 'सामान्य इच्छा'(General Will) कहा जाता है। सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति सामान्य इच्छा में ही होती है। सभी व्यक्ति सामान्य इच्छा के अधीन रहते हुए अपना कार्य करते हैं। प्रत्येक नागरिक का सम्प्रभुता में एक भाग होता है और एक साथ ही वह जनता भी है क्योंकि उसे एक कानून को मानना पड़ता है जिसे उसने स्वयं सम्प्रभु के रूप में बनाया है। इस प्रकार रूसो के दर्शन में हमें जनप्रिय सम्प्रभुता और लोकतन्त्रीय सरकार की आधारशिला मिलती है।

विशेषताएँ – रूसो के समझौता सम्बन्धी विचारों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

(1) समझौता मनुष्य को उस स्थिति से निकालकर जिसमें वह प्राकृतिक अवस्था से गिरकर पहुंच जाता है, पुन: वैसी ही स्थिति में पहुंचाता है जैसी स्थिति में वह प्राकृतिक अवस्था में था।

(2) सामाजिक समझौते के अन्तर्गत व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति व अपने अधिकारों को सबको समर्पित कर देता है।

(3) समझौते की क्रिया के द्वारा अलग-अलग व्यक्तियों के निजी व्यक्तित्व के स्थान पर एक सामूहिक व्यक्तित्व स्थापित हो जाता है, जिसकी एक पृथक, एकता, पहचान, जीवन तथा इच्छा होती है।

(4) सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप मनुष्य की परतन्त्रता का अन्त हो जाता है, वह वास्तविक रूप से स्वतन्त्र हो जाता है और जीवन की एक निश्चित विधि में ढल जाता है।

(5) समझौते के परिणामस्वरूप व्यष्टि का स्थान समष्टि तथा व्यक्तिगत इच्छा का स्थान सामान्य इच्छा ले लेती है।

(6) रूसो के अनुसार समझौते से किसी सरकार की स्थापना नहीं होती, वरन् उससे सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न एक ऐसे समाज की स्थापना होती है जिसके संचालन का आधार समाज की सामान्य इच्छा होती है। समझौते द्वारा स्थापित सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न समाज अपनी सामान्य इच्छा के अनुसार समाज का संचालन करने के लिए सरकार की नियुक्ति करता है जो उस समाज का एक यंत्र मात्र होती है। तथा ऐसी सरकार यदि सामान्य इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करती, तो उसे बदला व हटाया जा सकता है।

रूसो के समझौता सिद्धान्त की आलोचना

रूसो के विचार की आलोचना जिन आधारों पर की जाती है, उनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं :-

(1) **रूसो का मानव स्वभाव सम्बन्धी आदर्शात्मक विचार**– रूसो का मानव स्वभाव सम्बन्धी विचार काल्पनिक व आदर्शात्मक है। वह मनुष्य को सज्जन वृत्ति का मानता है जबकि मनुष्य के स्वभाव में अच्छाई व बुराई दोनों ही पायी जाती हैं।

(2) **रूसो का प्राकृतिक दशा का चित्रण काल्पनिक है** – रूसो ने मनुष्य की प्राकृतिक दशा को एक आदर्श अवस्था माना है तथा सभ्यता के विकास को मानव के पतन की ओर ले जाने वाला माना है। इस आधार पर रूसो की विचारधारा को मनुष्य को फिर से पशु बनाने वाली विचारधारा कहा गया है।

(3) **सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राज्य की निरंकुशता का समर्थन करता है** – सामाजिक संविदा के परिणामस्वरूप व्यक्ति की सब शक्तियाँ व उसका व्यक्तित्व समाज की उस सामान्य इच्छा के अधीन हो जाते हैं जिसे रूसो सर्वोच्च मानता है। इस प्रकार 'सामान्य इच्छा' की निरंकुशता स्थापित हो जाती है।

(4) **विरोधाभास** – रूसो के विचारों में विरोधाभास एवं असंगतियाँ हैं। वह एक ओर तो राज्य का प्रबल पोषक है और दूसरी ओर व्यक्ति का उग्र समर्थक। एक ओर वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, दूसरी ओर वह उसे राज्य का दास बनाता है।

रूसो का महत्व

राजनीतिक विचारों में रूसो का नाम अमर है। उसने लोकतन्त्र, समानता तथा स्वतन्त्रता के विचारों का शंखनाद किया। उसने इस तथ्य पर सर्वाधिक बल दिया कि जनता ही सारी राजनीतिक सत्ता का मूल स्त्रोत है, प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित है, सरकार सर्वोच्च सत्ता रखने वाली जनता की सेवक मात्र है। रूसो के इन विचारों ने फ्रेंच राज्य-क्रान्ति को प्रभावित किया। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की सफलता के साथ लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के विचारों का प्रसार योरोप के सभी देशों में हुआ। इससे आधुनिक जगत के राजनीतिक विचारों का निर्माण हुआ। कोल का यह मत है कि उसका 'सामाजिक समझौता' राजनीतिशास्त्र की सर्वोत्तम पाठ्य-पुस्तक है ; रूसो का महत्व न केवल वर्तमान काल के लिए है, अपितु सभी काल के लिए है।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त
(The Concept of General Will)

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त है। कुछ विचारक इस सिद्धान्त को सबसे अधिक खतरनाक सिद्धान्त मानते हैं जबकि अन्य विचारकों की राय में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त लोकतन्त्र तथा राजनीतिदर्शन की आधारशिला है।

सामान्य इच्छा क्या है ?

सामान्य इच्छा क्या होती है, इसे समझने के लिए रूसो द्वारा प्रतिपादित मानव इच्छा के विश्लेषण को समझना आवश्यक है। यह सभी जानते हैं कि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। किसी न किसी प्रकार के विचार या इच्छायें उसके हृदय में सदा उठती रहती हैं। मनुष्य की ये इच्छायें सामान्यतः दो प्रकार की होती हैं – प्रथम, यथार्थ ; तथा द्वितीय, आदर्श इच्छायें।

यथार्थ इच्छा – मनुष्य की यथार्थ इच्छा स्वार्थ-प्रधान होती है। वह मनुष्य की अविवेकपूर्ण संकीर्ण प्रवृत्ति का परिणाम होती है, स्वार्थ तथा वैयक्तिक हित को दृष्टि में रखती है तथा सामाजिक हित का विचार नहीं करती। उदाहरणार्थ खाद्य पदार्थों में मिलावट करने वाले व्यापारी का लक्ष्य केवल लाभ कमाने का विचार होता है, वह इससे समाज को पहुंचने वाली हानि को कभी नहीं देखता। संक्षेप में, यथार्थ इच्छा संकुचित, अविवेकपूर्ण, अस्थायी और क्षणिक इच्छाएँ होती हैं।

आदर्श इच्छा (Real Will)– मनुष्य की यह इच्छा उसके व्यापक दृष्टिकोण का परिणाम होती है। यह सामाजिक हित से सम्बद्ध होने के कारण अस्थायी और क्षणिक नहीं होती। यह मनुष्य की बुद्धि के चिन्तन का परिणाम और वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होने के कारण व्यक्ति की वास्तविक इच्छा होती है। संक्षेप में, दृष्टिकोण की व्यापकता, दूरदर्शिता, स्थायित्व, व्यक्ति व समाज के हित का सामंजस्य, पूर्णता व विवेकशीलता व्यक्ति की आदर्श इच्छा की विशेषतायें होती हैं।

सामान्य इच्छा (General Will)

समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आदर्श इच्छा (Real Will) का सर्वयोग ही सामान्य इच्छा है। रूसो की मान्यता है कि सब नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्य हित हो, सामान्य इच्छा कहलाती है। सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए बोसाँके ने कहा है कि, "सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की सामूहिक अथवा सभी व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह होती है जिनका लक्ष्य सामान्य हित हो।" संक्षेप में, किसी इच्छा को सामान्य इच्छा होने के लिए यह आवश्यक है कि वह सामान्य व्यक्तियों की इच्छा हो और उसका आधार सामान्य हित हो। अर्थात् सामान्य इच्छा के दो अंग हैं : (1) सामान्य व्यक्तियों की इच्छा, और (2) सामान्य हित पर आधारित इच्छा।

सामान्य इच्छा का निर्माण

प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार की-यथार्थ और आदर्श-इच्छाएँ होती हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति हर सार्वजनिक प्रश्न पर अपने ढंग से विचार करता है। परन्तु यदि समाज सभ्य है और उसमें नागरिकता की भावना मौजूद है तो व्यक्तियों की इच्छाओं से स्वार्थपूर्ण तत्व एक-दूसरे को नष्ट कर देते हैं और ऐसा हो जाने पर सामान्य इच्छा बन जाती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति में स्वार्थी और सामाजिक इच्छाएं शेष रहती हैं। सभी व्यक्तियों की इन सामाजिक इच्छाओं के मिश्रण से सामान्य इच्छा का निर्माण होता है।

सामान्य इच्छा तीन दृष्टियों से सामान्य होनी चाहिए–

(i) **उद्गम की दृष्टि से** – इसमें सब नागरिकों की सहमति प्राप्त होनी चाहिए।

(ii) **क्षेत्र की दृष्टि से** – यह राज्य की समस्त जनता से सम्बन्धित होनी चाहिए।

(iii) **ध्येय की दृष्टि से** – यह समाज के हित के अनुकूल होनी चाहिए।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ

रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी धारणा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

(1) **अखण्डता** – सामान्य इच्छा एक होती है और उसके कोई खण्ड नहीं हो सकते। यह अखण्ड है क्योंकि सामान्य होने के कारण यह अंशों में विभाजित नहीं की जा सकती है। यह एकत्व वाली होती है तथा राज्य को एकता के सूत्र में पिरोती है।

(2) **स्थायित्व** – सामान्य इच्छा में स्थायित्व का गुण होता है। इसका अर्थ यह है कि सामान्य इच्छा किन्हीं आवेशों, आवेगों या सनक का परिणाम नहीं होती, वरन् यह सुनिश्चित विचारों का परिणाम होती है।

(3) **अप्रतिनिधिक** – सामान्य इच्छा प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किये जाने योग्य नहीं है। इसमें सब व्यक्ति अपनी इच्छा को स्वयमेव प्रकट करते हैं, दूसरे व्यक्तियों अथवा प्रतिनिधियों द्वारा इसे प्रकट करना व्यक्तियों के बहुमूल्य अधिकारों का हनन करना है।

(4) **उचित** – सामान्य इच्छा हमेशा उचित या सही होती है क्योंकि यह हमेशा पूरे समाज के कल्याण की भावना से प्रेरित होती है।

(5) **सर्वोच्चता व निरंकुशता** – सामान्य इच्छा सर्वोच्च व निरंकुश होती है। इसके ऊपर समाज की कोई अन्य शक्ति नहीं हो सकती।

(6) **अदेयता** – सामान्य इच्छा की एक अन्य विशेषता उसका अदेय होना है। दूसरे शब्दों में, उसे किसी को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता।

(7) **लोकहितकारिता** – सामान्य इच्छा की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता उसका लोककल्याणकारी होना है। सामान्य इच्छा का ध्येय समाज के किसी अंग का कल्याण न होकर सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है।

सामान्य इच्छा और बहुमत

रूसो की सामान्य इच्छा बहुमत से भिन्न है। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति में संख्या का कोई मूल्य नहीं है। वह किसी एक या कुछ व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है। यदि समाज का एक बहुसंख्यक वर्ग अपने अनुचित निर्णयों को अल्पसंख्यक वर्ग पर थोपने का प्रयत्न करे तो उसके इस कार्य को समाज की सामान्य इच्छा का प्रतीक नहीं माना जा सकता।

सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति

सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति में अन्तर करते हुए रूसो ने लिखा है कि प्रथम लक्ष्य सार्वजनिक हित होता है, जबकि द्वितीय लक्ष्य व्यक्तिगत लोगों का हित होता है। सर्वसम्मति समाज के सब व्यक्तियों की इच्छा होती है जबकि सामान्य इच्छा एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या सब व्यक्तियों द्वारा व्यक्त इच्छा भी हो सकती है। सर्वसम्मति व्यक्तियों के हितों से भी सम्बन्धित हो सकती है, पर सामान्य इच्छा अनिवार्यत: समस्त समाज के कल्याण से ही सम्बन्धित होती है।

सामान्य इच्छा और लोकमत

सामान्य इच्छा व लोकमत को भी एक नहीं समझना चाहिए। लोकमत का रूप कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है जिसका सम्बन्ध समाज के हित से न हो, पर सामान्य इच्छा सदा समाज के स्थायी हित का भी प्रतिनिधित्व करती है। समाचारपत्र, रेडियो आदि प्रचार-साधनों द्वारा लोकमत भ्रष्ट किया जा सकता है, पर सामान्य इच्छा कभी विकृत नहीं होती।

रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त के दोष

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में निम्नलिखित दोष हैं :

(1) **सामान्य इच्छा की धारणा अस्पष्ट है** – सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अस्पष्ट है। कभी रूसो कहता है कि सामान्य इच्छा और सभी की इच्छा में महान अन्तर है। कहीं-कहीं पर उसने बहुमत की इच्छा को ही सामान्य इच्छा मान लिया है। **वेपर** के अनुसार, "जब रूसो ही हमको सामान्य इच्छा का पता नहीं दे सका तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ ? रूसो ने हमें एक अन्धकार में छोड़ दिया है जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।"

(2) **सामान्य इच्छा अनैतिहासिक तथा काल्पनिक है** – इतिहास में इस प्रकार के समझौते का वर्णन नहीं मिलता जैसा रूसो ने किया है। उसकी सामान्य इच्छा भी अनैतिहासिक और काल्पनिक है।

(3) **यथार्थ और आदर्श इच्छा का काल्पनिक भेद** – रूसो ने व्यक्ति की इच्छाओं को दो भागों में बाँटा है– यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा। वास्तव में इच्छाओं का इस प्रकार विभाजन सम्भव नहीं है। व्यक्ति की इच्छा ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है कि उसका यह विभाजन सम्भव नहीं है।

(4) **सामान्य इच्छा निरंकुशता को प्रोत्साहन देती है** – सामान्य इच्छा अधिनायकवाद तथा सर्वाधिकार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। रूसो कहता है कि कानून इस सामान्य इच्छा के द्वारा ही बनाए जाते हैं। सामान्य इच्छा का कोई भी व्यक्ति उल्लंघन नहीं कर सकता। सामान्य इच्छा के नाम पर शासक द्वारा व्यक्ति पर मनमाने अत्याचार किए जा सकते हैं।

(5) **सार्वजनिक हित की परिभाषा करना कठिन** – सामान्य इच्छा का विचार सार्वजनिक हित के विचार पर आधारित है लेकिन सार्वजनिक हित की परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है। एक निरंकुश तानाशाह भी अपने कार्यों को सार्वजनिक हित के नाम पर उचित ठहरा सकता है।

(6) **सामान्य इच्छा व्यक्ति की महत्ता को नष्ट कर देती है** – सामान्य इच्छा से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है। सामान्य इच्छा के सामने व्यक्ति की इच्छा को कोई महत्व नहीं दिया गया है। रूसो सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने वाले को इसके पालन के लिए बाध्य करता है। यह स्थिति प्राय: अत्याचारपूर्ण तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास में बाधक होती है।

सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का मूल्यांकन

इन आलोचनाओं के उपरान्त भी रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में असाधारण महत्व रखता है। **प्रथम**, सामान्य इच्छा का विचार लोकतन्त्र का पोषक है क्योंकि वह प्रभुसत्ता का आधार जन-स्वीकृति मानता है। **द्वितीय**, इसने यह प्रतिपादित किया कि राज्य का उद्देश्य किसी वर्ग-विशेष का नहीं, किन्तु समूचे समाज का कल्याण और जनता का हित-सम्पादन करना होना चाहिए, सामाजिक और सामान्य हित वैकल्पिक हितों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट है। **तृतीय**, यह सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज में शरीर तथा उसके अंगों के समान सम्बन्ध स्थापित करके सामाजिक स्वरूप को सुदृढ़ करता है। सामान्य इच्छा सिद्धान्त के महत्व का प्रतिपादन करते हुए **जोन्स** ने लिखा है कि, "सामान्य इच्छा की कल्पना रूसो के राजनीतिक सिद्धान्त का एक केन्द्रीय विचार ही नहीं है, यह सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र के लिए भी उसकी एक अत्यन्त मौलिक, अत्यन्त रुचिकर तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण देन हैं।"

हॉब्स, लॉक और रूसो की तुलना
(Hobbes, Locke and Rousseau : Comparison)

हॉब्स, लॉक तथा रूसो संविदावादी विचारक हैं। वे राज्य की उत्पत्ति तथा निर्माण का मूल कारण एक समझौते या संविदा (Contract) को समझते थे। फिर भी मनुष्य के स्वभाव, प्राकृतिक दशा, प्राकृतिक नियम, राज्य के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में उनके विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर था। हॉब्स, लॉक तथा रूसो के विचारों की तुलना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है–

(1) **मानव स्वभाव** – हॉब्स के अनुसार मनुष्य स्वार्थी क्रूर, दुष्ट, हिंसक, भय, शक्ति तथा कीर्ति की भावना से प्रेरित होने वाला और पाशविक एवं बुरी प्रवृत्तियों की प्रधानता रखने वाला है। लॉक मनुष्य को अच्छी एवं मानवीय प्रवृत्तियों- प्रेम, दयालुता, सहयोग आदि- की उदात्त भावनाओं से युक्त मानता है। रूसो के अनुसार मनुष्य आरम्भ में स्वाभाविक रूप से अच्छा, दैवी प्रवृत्तियों वाला तथा उदार भावना रखने वाला था। धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा मेरे-तेरे की भावना उत्पन्न हो जाने के कारण मानव स्वभाव में अनेक बुराईयाँ प्रवेश करने लग गई थीं।

(2) **प्राकृतिक दशा** – हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक दशा सतत् संघर्ष, युद्ध और विषमता की दशा है। इसमें किसी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं है। इसमें नैतिकता का सर्वथा अभाव है। सब मनुष्य अपने लिए हिंसा और हत्या को ठीक समझते हैं। लॉक के अनुसार प्राकृतिक दशा शांति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता और स्वतन्त्रता की अवस्था है। लॉक प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों की भी कल्पना करता है। रूसो के अनुसार प्राकृतिक दशा परम आनन्द और सुख की अवस्था है, इसमें मनुष्य आदिम स्वर्णयुग की स्वर्गीय दशा में बड़े संतोष और आनन्द के साथ रहता था। वैयक्तिक सम्पत्ति न होने से विषमता का अभाव था।

(3) **समझौते के कारण** – हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक दशा में सतत् संघर्ष से उत्पन्न अराजकता को दूर करने के लिए सामाजिक समझौते की आवश्यकता होती है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्रमुख रूप से तीन असुविधाएं होती थीं– प्राकृतिक नियम स्पष्ट नहीं थे, प्राकृतिक नियमों की व्याख्या करने वाली और इन नियमों को लागू करने वाली सत्ता का अभाव था। अत: इन असुविधाओं को दूर करने के लिए ही राज्य के निर्माण का निश्चय किया गया। रूसो के अनुसार, वैयक्तिक सम्पत्ति के निर्माण से पैदा हुई सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए सामाजिक समझौता किया गया।

(4) **सामाजिक समझौते का स्वरूप** – हॉब्स के अनुसार, राज्य का निर्माण करने के लिए एक ही समझौता किया गया। **लॉक** के अनुसार दो प्रकार के समझौते हुए– पहला सामाजिक और दूसरा राजनीतिक। पहले समझौते द्वारा समाज की स्थापना हुई और दूसरे समझौते द्वारा सरकार की स्थापना की गई। रूसो के अनुसार मनुष्य समझौता करने के बाद सामान्य इच्छा के निर्माण में भाग लेता हुआ दूसरों के प्रति कर्त्तव्य का पालन करने वाले विवेकशील नैतिक मानव का रूप धारण करता है।

(5) **सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार** – हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया; लॉक ने सीमित अवस्था वाले वैधानिक राजतन्त्र का और रूसो ने लोकप्रिय संप्रभुता का समर्थन किया है।

हॉब्स प्रजा के विरुद्ध क्रान्ति करने का अधिकार नहीं देता। शासक अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि वह संविदा का एक पक्ष नहीं है, वह तो संविदा का परिणाम है। लॉक शासक की शक्तियों को सीमित मानता है। जनता ही संप्रभु है किन्तु वह सोई हुई संप्रभु (sleeping sovereign) है। जनता को अपना शासक बदलने का अधिकार है। रूसो के अनुसार, जनता ही सक्रिय प्रभु (acting sovereign) है। सम्प्रभुता असीमित है। परन्तु वह जनता के पास है, न कि शासक के पास। संप्रभुता सामान्य इच्छा में निवास करती है।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना
(A Critique of Social Contract Theory)

17 वीं तथा 18वीं शताब्दियों में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय रहा, परन्तु रूसो की मृत्यु के उपरान्त इसका ह्रास आरम्भ हुआ और धीरे-धीरे इसका पूर्ण पतन हो गया। बेन्थम, सर फ्रेडरिक पोलक, वाहन, एडमण्ड बर्क आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। सर हेनरी मेन ने तो स्पष्ट कहा कि, "समाज तथा सरकार की उत्पत्ति के इस वर्णन से बढ़कर व्यर्थ की वस्तु और क्या हो सकती है?" निम्नलिखित तर्कों के आधार पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है–

(1) **यह सिद्धान्त केवल काल्पनिक है** – आलोचकों का यह विचार है कि सामाजिक समझौता सिद्धान्त केवल कल्पना मात्र है। इस सिद्धान्त का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। इतिहास में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि आदिम लोगों ने आपस में समझौता कर राज्य की स्थापना की। **ग्रीन** के शब्दों में, " ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्धान्त कोरी कल्पना है।"

(2) **मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है** – मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। मानव इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं रहा जब व्यक्ति राज्य के बिना रहा हो, वह एकाकी और असामाजिक रहा हो। अत: हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण किया गया है वह अशुद्ध और भ्रमात्मक है। मानव इतिहास को दो कालों में- राज्य बनने से पूर्व और उसके बाद-विभाजित करना केवल कल्पना की उड़ान है।

(3) **यह सिद्धान्त तर्क विरुद्ध है** – यह सिद्धान्त अशुद्ध तर्क पर आधारित है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के सभी समर्थक समझौते के पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करते हैं जिसमें मनुष्य के स्वभाव को स्वार्थी, झगड़ालू, एवं उद्दण्ड तथा प्राकृतिक अवस्था को असामाजिक एवं अराजनीतिक माना गया है। जब प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य जगंली था तो सामाजिक समझौता करते समय तथा उसके बाद उसमें एकाएक ऐसी राजनीतिक चेतना कैसे जाग्रत हो गई कि वह एक ही रात्रि में समझौता करके सभ्य समाज (राज्य) की स्थापना कर डाले तथा सहयोगपूर्वक रहने लगे। इस सिद्धान्त के समर्थक इस बात का उत्तर नहीं देते कि जंगली एवं असभ्य लोगों में समझौता करने की उच्च सामाजिक भावना किस प्रकार जाग्रत हो सकती थी।

(4) **राज्य विकसित एवं स्वाभाविक है न कि निर्मित एवं कृत्रिम** – समझौता सिद्धान्त के समर्थकों का यह मत सत्य से परे है कि राज्य एक मानव निर्मित एवं कृत्रिम संस्था है। वस्तुत: राज्य एक कृत्रिम संस्था नहीं है। यह मनुष्य की सामाजिक प्रवृति का स्वाभाविक परिणाम है। राज्य का विकास हुआ है, निर्माण नहीं।

(5) **अधिकारों के सम्बन्ध में गलत धारणा** – यह सिद्धान्त अधिकारों के सम्बन्ध में गलत धारणा रखता है। इसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में जो कि पूर्व राजनीतिक थी, अधिकारों का अस्तित्व था। वस्तुत: समाज के बिना अधिकारों का अस्तित्व असंभव है क्योंकि समाज के बिना अधिकारों को किसी प्रकार की मान्यता प्रदान करना सम्भव नहीं है।

(6) **राज्य अनिवार्य संस्था न कि ऐच्छिक** – समझौता सिद्धान्त के समर्थकों ने राज्य को एक ऐसे संगठन के रूप में चित्रित किया है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक हो। किन्तु राज्य एक अनिवार्य संस्था है, न कि ऐच्छिक। मनुष्य राज्य में ही जन्म लेता है, बढ़ता है और उसी में उसकी मृत्यु होती है, उसके लिए राज्य की सदस्यता अनिवार्य है। वह राज्य को अन्य ऐच्छिक समुदायों के समान स्वेच्छापूर्वक स्थापित और विघटित नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में **बर्क** ने लिखा है, "राज्य को काली मिर्च और कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही घटिया कारोबार की हिस्सेदारी के समझौते के समान नहीं समझना चाहिए जिसे छोटे से अस्थायी स्वार्थ के लिए जब चाहे कर लिया और जब दोनों पक्षों में से किसी ने चाहा तो भंग कर दिया।" अर्थात् समझौता सिद्धान्त के समर्थकों ने राज्य को साधारण साझेदारी पर आधारित ऐच्छिक समुदाय बतलाया है जबकि यथार्थ में राज्य ऐसे साधारण समझौते का परिणाम नहीं हो सकता।

(7) **यह सिद्धान्त कानून के विरुद्ध है** – कानूनी दृष्टि से समझौते का कोई आधार नहीं क्योंकि समझौते को लागू करने के लिए किसी स्वतन्त्र, सर्वोच्च शक्ति की आवश्यकता होती है जबकि सामाजिक समझौता सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि समझौते के फलस्वरुप कामनवेल्थ (राज्य) का निर्माण हुआ। जब समझौते की अनुपालना के लिए कोई शक्ति नहीं थी और उसका उल्लंघन करने वालों को दण्डित करने वाली शक्ति नहीं थी तो समझौता निराधार बनकर रह जाता है।

आलोचकों का यह भी कहना है कि कानूनी दृष्टि से कोई समझौता केवल उन्हीं लोगों पर लागू होता है जिन्होंने इसे स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया है। प्रत्येक पीढ़ी का नवकरण (renewal) किये जाने

NOTES

पर ही समझौता पीढ़ी दर पीढ़ी लागू रह सकता है। इतिहास में नवकरण का हमें कोई उदाहरण नहीं मिलता। अत: इसकी वैधता स्वीकार नहीं की जा सकती।

इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए ब्लंश्ली ने कहा है कि "सामाजिक समझौते का सिद्धान्त न केवल अनैतिहासिक है वरन् अत्यन्त भयंकर है, क्योंकि वह राज्य और उसकी संस्थाओं को मन की लहर का परिणाम मानता है।"

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का महत्व
(Significance of the Social Contract Theory)

यह सच है कि सामाजिक समझौता अनेक दोषों से युक्त है तथापि राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में इनका पर्याप्त महत्व है। 17 वीं और 18वीं शताब्दियों में इसे अत्यधिक लोकप्रियता तथा मान्यता प्राप्त हुई। फ्रांस की महान् क्रान्ति (1789) तथा अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम (1776) को इस सिद्धान्त से ही प्रेरणा मिली। इस सिद्धान्त का महत्व इस प्रकार है–

(1) **लोकतंत्र के विकास में योग** – इस सिद्धान्त ने प्रजातन्त्रात्मक धारणाओं के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। इसने हमारे सामने यह महान आदर्श रखा कि राज्य का आधार शासितों की सहमति है।

(2) **दैवी सिद्धान्त का खण्डन** – इस सिद्धान्त ने दैवी अधिकारों के सिद्धान्त का खण्डन किया। इसने इस बात पर जोर दिया कि राज्य एक मानवी संस्था है, न कि दैवी; और राज्य की उत्पत्ति मानव ने की है, न कि ईश्वर ने। इस सिद्धान्त के कारण दैवी सिद्धान्त का प्रभाव कम हो गया।

(3) **व्यक्ति के महत्व का प्रतिपादन** – इस सिद्धान्त ने व्यक्ति की महत्ता को बढ़ाया। यह सिद्ध किया कि अन्तत: जनता ही सम्प्रभु है और राजनीतिक सत्ता पर अन्तिम अधिकार उसका है।

(4) **सम्प्रभुता की धारणा के विकास में योगदान** – समझौता सिद्धान्त ने प्रभुसत्ता की आधुनिक धारणा के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है। हॉब्स ने कानूनी सम्प्रभुता के जन्मदाता ऑस्टिन के लिए मार्ग तैयार किया, लॉक ने राजनीतिक सम्प्रभुता का प्रतिपादन किया और रूसो ने जनता की प्रभुसत्ता का समर्थन किया।

समझौता सिद्धान्त के योगदान की चर्चा करते हुए **गेटेल** ने लिखा है, "इस सिद्धान्त ने व्यक्ति के महत्व को स्थापित किया, इस तथ्य पर जोर दिया कि राजनीतिक संस्थाओं में मनुष्य के प्रत्यक्ष प्रयत्नों द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है और अन्तिम राजनीतिक सत्ता जनता में निहित है।"

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त
(Historical or Evolutionary Theory)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त आदि हमारी कल्पना पर आधारित हैं और राज्य को एक निर्मित संस्था मानते हैं। अब हमारे पास इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के माध्यम से इतने तथ्य एकत्रित हो गये हैं कि हमको कल्पना का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं रह गई है। आज राज्य के विकास के सम्बन्ध में अधिक से अधिक तथ्यों को एकत्रित करना संभव हो गया है और उन तथ्यों के आधार पर अब हम कह सकते हैं कि राज्य को न तो भगवान ने जन्म दिया, न दैवी इच्छा से उसकी उत्पत्ति हुई, न केवल बल के प्रयोग से उसका उद्भव हुआ और न समझौते से बना है। इस संबंध में गार्नर ने स्पष्ट लिखा है, "राज्य न तो ईश्वर की कृति है और न प्रबल शक्ति का परिणाम है और न वह किसी प्रस्ताव अथवा समझौते की सृष्टि है।"

विकासवादी सिद्धान्त की व्याख्या

इस सिद्धान्त के समर्थक इस बात में विश्वास नहीं करते कि मानव इतिहास में सहसा ही किसी दिन राज्य की उत्पत्ति हो गई होगी। इसके विपरीत उनका विचार है कि राज्य मानव समाज के अनुक्रमिक विकास का परिणाम है। राज्य हमेशा से विद्यमान रहा है और इसका विकास धीरे-धीरे परन्तु निरन्तर होता रहता है। जिस प्रकार भाषा का ज्ञान लोगों को धीरे-धीरे हुआ उसी प्रकार राज्य का विकास भी धीरे-धीरे हुआ है। राज्य के मूल तत्व सदा से ही उपस्थित रहे हैं और राज्य का वर्तमान जटिल स्वरूप

इन्हीं तत्वों के क्रमिक विकास का परिणाम है। **गार्नर** के शब्दों में, "राज्य न तो आविष्कार की ही कोई वस्तु है और न कोई बनावटी मशीन ही है, वरन् ऐतिहासिक विकास का परिणाम है।" **बर्गेस** के अनुसार, "राज्य इतिहास का फल है। इस अवधारणा का अर्थ यह है कि मानव समाज का क्रमिक एवं निरन्तर विकास हुआ है।" **लीकॉक** ने भी यह कहा है कि "राज्य ऐसी क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम है जो मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञात इतिहास तथा अज्ञात भूतकाल तक फैली हुई है।"

राज्य के विकास में सहायक तत्व

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति किसी एक निश्चित समय पर नहीं हुई है और न किसी एक कारण व तत्व के प्रभाव से हुई है। राज्य एक कृत्रिम संस्था नहीं है जिसको मनुष्यों ने अपनी इच्छा से किसी एक समय में जन्म दिया हो। राज्य तो ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। इस विकास क्रम में ही राजनीतिक संगठनों का भी आरम्भ हुआ और उसने शताब्दियों में क्रमशः विकसित होते हुए आधुनिक राज्य का रूप प्राप्त किया। वस्तुतः राज्य की उत्पत्ति तथा विकास को किसी एक तत्व अथवा एक कारक ने ही प्रभावित नहीं वरन् विभिन्न तत्वों के योगदान से इसका विकास हुआ है। यह भी कहना सम्भव नहीं है कि राज्य के विकास में किस तत्व ने कब और कितना योगदान दिया है। विभिन्न युगों तथा विभिन्न परिस्थितियों में विविध तत्वों ने भिन्न-भिन्न मात्रा में राज्य के विकास को प्रभावित किया।

राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में कुछ तत्वों का विशेष भाग रहा है। इन तत्वों में निम्नलिखित प्रमुख हैं–

(1) मूल सामाजिक प्रवृत्ति (Natural Social Instinct)

राज्य मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता या सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है। अरस्तू ने बहुत पहिले बतलाया था कि मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है जो मनुष्य समाज के बाहर रहता है, वह या तो देवता है या पशु। सामान्यतयाः मनुष्य बिना समाज तथा राज्य के नहीं रह सकता। सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह सामाजिक भावना दृढ़ होती गई और सामाजिक चेतना का उदय हुआ। सामाजिक चेतना के विकास के साथ-साथ नियंत्रण, संगठन और राजनीतिक संस्थाओं का विकास तथा अन्त में राज्य का उदय हुआ। अरस्तू ने लिखा है, "मानव एक सामाजिक प्राणी है जिसे प्रकृति ने राजनीतिक जीवन के लिए नियत किया है।"

(2) रक्त सम्बन्ध (Kinship)

अधिकांश आधुनिक विचारक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि रक्त सम्बन्ध अथवा सजातीयता राज्य की उत्पत्ति एवं विकास का एक प्रमुख तत्व है। आरम्भ में सामाजिक संगठन का आधार वंश सम्बन्ध था। रक्त सम्बन्ध, चाहे वह वास्तविक रहा हो या अनुमानित, एकता का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र था। इसने जातियों एवं उपजातियों को एक सूत्र में बाँधा।

सर हेनरी मेन के शब्दों में, "समाज के प्राचीनतम इतिहास की आधुनिकतम गवेषणाएं इस निष्कर्ष की ओर इंगित करती हैं कि समूहों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला प्रारम्भिक बन्धन रक्त सम्बन्ध था। **मैकाइवर** ने लिखा है कि, "रक्त सम्बन्ध समाज को जन्म देता है और समाज अन्त में राज्य को।"

अनेक उपलब्ध प्रमाणों से यह प्रकट होता है कि प्रारम्भिक समुदाय रक्त के आधार पर स्थापित हुए। रक्त सम्बन्ध पर आधारित संगठनों में प्रथम संगठन परिवार है। एक परिवार के अन्तर्गत समान रुधिर या सामान्य उत्पत्ति से सम्बन्धित व्यक्ति संगठित हो गये। एक परिवार के सदस्यों ने साथ रहना शुरू किया। परिवार के सभी व्यक्ति, परिवार के सबसे वयोवृद्ध पुरुष या स्त्री की आज्ञाओं का पालन करते थे। धीरे-धीरे परिवारों का रूप विस्तृत हो गया। परिवार से जन (Clan) और जनों (Tribes) से कबीलों की उत्पत्ति हुई। परिवार एक सामाजिक व्यवस्था थी और कबीला एक राजनीतिक व्यवस्था। प्रत्येक कबीले का वयोवृद्ध व्यक्ति समूह का सरदार होता था। सभी सदस्य उसकी आज्ञा का पालन करते थे। वह कबीलों में होने वाले विवादों एवं झगड़ों का निपटारा करता था। कबीले का सरदार ही कबीले के रीतिरिवाज के अनुसार न्याय करता था। इस प्रकार आदेश प्रदान करने एवं आदेश पालन करने की प्रणाली, जो राजनीतिक संगठन का आधार है, सबसे पहले परिवार में ही देखने को मिली। आगे जाकर

कबीले में इस पद्धति का विस्तार हुआ। कबीले का मुखिया पूरे कबीले को अनुशासित तथा नियन्त्रित रखने लगा। इस प्रकार सजातीयता से ही मनुष्य में अनुशासन, आज्ञापालन और सामूहिक जीवन की भावना आयी जो राज्य के स्थायी अस्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। **गेटेल** के शब्दों में, "रक्त सम्बन्ध के सूत्र ने ही एकता तथा सुदृढ़ता की उस भावना को प्रबल बनाया जो राजनीतिक जीवन के लिए अनिवार्य है।"

रक्त सम्बन्ध में संदर्भ में दो प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं – पितृ– प्रधान सिद्धान्त तथा मातृ–प्रधान सिद्धान्त। पितृ प्रधान के समर्थक प्रारम्भिक परिवारों को पितृ-प्रधान मानते हैं तथा मातृ-सिद्धान्त के समर्थक यह मानते हैं कि प्राचीन परिवारों में माता का शासन चलता था। संक्षेप में, आरम्भिक परिवारों के स्वरूप के बारे में मतभेद होते हुए भी सभी विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति में रक्त सम्बन्धों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

(3) धर्म (Religion)

राज्य के उद्‌भव तथा विकास में रक्त सम्बन्ध की भाँति धर्म का भी उल्लेखनीय योग रहा है। जैसा कि गेटल ने कहा है, "रक्त सम्बन्ध और धर्म एक ही बात के दो पहलू हैं।" प्राचीन समाज में सजातीयता तथा धर्म का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। परिवार धर्मप्रधान हुआ करते थे। प्रत्येक कबीले का अपना पृथक धर्म हुआ करता था। जो लोग सजातीय थे, उनके देवता भी एक ही थे। धर्म कबीले के व्यवहारों को संचालित करने लगा। मानव व्यवहार के नियम बनने लगे और मानव जीवन उसी के द्वारा संचालित होने लगा। धर्म के साथ-साथ धर्म गुरू भी उत्पन्न हुए और वे सार्वजनिक नैतिकता के नियम प्रतिपादित करने लगे। सार्वजनिक जीवन पर धर्म का प्रभुत्व बढ़ने लगा। **डॉ. आर्शीर्वादम्** के शब्दों, "आदिम मनुष्य को सत्ता और अनुशासन का आदी बनाने में और उसमें सामाजिक एकता की भावना का विकास करने में वंश सम्बन्ध की अपेक्षा एक देवी या देवता की पूजा अधिक जरूरी थी।" गिलक्राइस्ट ने तो यहाँ तक कहा है कि, 'प्रारम्भिक समाज का परिवार केवल एक स्वाभाविक संघ ही न था, वह मूलत: एक धार्मिक संघ भी था। लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने और उनमें आज्ञापालन की भावना उत्पन्न करने में धर्म का महत्वपूर्ण हाथ रहा है।" **गेटल** के शब्दों में, "राजनीतिक विकास के प्रारम्भिक एवं अत्यन्त कठिन काल में धर्म ही बर्बरतापूर्ण अराजकता का नाश कर सका। इस अनुशासन तथा सत्ता के प्रति आदर-भाव उत्पन्न करने में, जो शासन के आधार हैं, सहस्त्रों वर्ष लगे।"

प्रारम्भिक धर्म के दो महत्वपूर्ण अंग थे– पितृ-पूजा और प्रकृति-पूजा। पितरों की पूजा का भाव प्राय: सभी प्राचीन जनसमुदायों में पाया जाता है। पितृ-पूजा के कारण मनुष्यों में सजातीयता का विचार जीवित रहता था।

मनुष्यों के प्रारम्भिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूप होते थे। प्रकृति की जिन शक्तियों के साथ मनुष्यों का हित व कल्याण घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध था उन्हें वे सूर्य, अग्नि, वरुण आदि विभिन्न रूपों में पूजते थे। जिन लोगों के उपास्य देव एक थे, उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे परस्पर एकानुभूति रखें। इस भावना से समुदाय को सुदृढ़ता मिली। इस प्रकार पितृ-पूजा और प्रकृति-पूजा ने पारिवारिक संघ के बन्धनों को सुदृढ़ बनाया।

प्राचीन समय में जातियों के ऊपर पुजारियों का बहुत अधिक प्रभाव होता था। बहुधा धार्मिक नेता ही राजनीतिक नेता भी होते थे। इस प्रकार प्रारम्भ में धर्म और राजनीति में कोई विशेष अन्तर नहीं था। कहीं-कहीं धार्मिक पुजारी ही पूर्ण राजनीतिक शक्ति रखते थे और फलस्वरूप प्राचीन काल में राजा धार्मिक क्षेत्र में भी प्रधान था। संक्षेप में, मनुष्य को इस प्रकार राजनीतिक संगठन में बाँधने में धर्म का महत्वपूर्ण भाग रहा है।

(4) शक्ति (Force)

इतिहास इस बात का साक्षी है कि पाशविक शक्ति अथवा युद्धों ने राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में पर्याप्त सहयोग दिया है। यह आज एक प्रसिद्ध कथन बन गया है कि युद्ध ने राजा को जन्म दिया (War begot the king)। प्राचीनकाल में शक्तिशाली पुरुष दुर्बल व्यक्तियों को दबाकर अपने अधीन कर लेते थे। जीतने वाले शासक बन जाते थे और हारने वाले उनकी प्रजा। कबीलों का आपस में लड़ना

एक आम बात थी। इन कबीलों के युद्ध में जब एक शाक्तिशाली कबीला कमजोर कबीले पर अपना अधिकार कर लेता था तो कबीले का सरदार समस्त समुदाय का मुखिया या राजा बन जाता था।

संक्षेप में, युद्धों के द्वारा जो प्रदेश जीते गये, शक्तिशाली कबीलों ने निर्बल कबीलों पर आधिपत्य जमाया और इस प्रकार राज्य को प्रादेशिकता तथा प्रभुसत्ता के तत्व प्राप्त हुए। समाज में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए भी एक शक्तिशाली राजा की आवश्यकता हुई। इस आवश्यकता ने राज्य की उत्पत्ति में पर्याप्त् योग दिया। औपेनहीम के शब्दों में, "युद्ध में विजय के परिणामस्वरूप राज्य की स्थापना हुई।" फिर भी, शक्ति या युद्ध को राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र कारण मानना गलत होगा।

(5) आर्थिक आवश्यकताएं (Economic Needs)

राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में मनुष्य की आवश्यकताओं का भी विशेष महत्व रहा है। प्राचीन काल से ही आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य में सहयोग पैदा हुआ। जीवित रहने के लिए मनुष्य को भोजन-पानी चाहिए और बिना मिल-जुलकर काम किए वे अपना जीवन-निर्वाह भी नहीं कर सकते थे।

मनुष्य की प्रथम आवश्यकता भोजन है और इसे प्राप्त करने के प्रयत्नों से ही राज्य के विकास का क्रम प्रारम्भ होता है। भोजन की तलाश में मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर फिरन्दरों की तरह घूमता रहता था। जब उसे पता चला कि पशु-पक्षियों से भी उसके आहार में बहुत सहायता मिल सकती है तो उसने पशु पालने प्रारम्भ कर दिये। भोजन की तलाश ने ही उसे कृषि करना सिखाया। कृषि के साथ आदिम घुमक्कड़ कबीलों का जीवन स्थिर हो गया। वे अपने खेतों के आस-पास बसने लगे। धीरे-धीरे सम्पत्ति का जन्म हुआ। सम्पत्ति की सुरक्षा करना आवश्यक हो गया। ग्राम और नगर बसने लगे। कबीलों का जीवन संगठित होने लगा। सम्पत्ति के कारण आर्थिक वाद-विवाद उत्पन्न होने लगे, और उनके समाधान हेतु व्यवस्था एवं नियमों की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ में यह नियम रीति-रिवाज पर आधारित थे परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ कानूनों एवं न्यायालयों की स्थापना हुई। **गेटल** ने भी लिखा है कि, "आर्थिक चेष्टाएं राज्य-निर्माण में महत्वपूर्ण तत्व रही हैं।" **मैकाइवर** के अनुसार, यौन सम्बन्ध और सम्पत्ति सामाजिक ढाँचे के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। **कार्ल मार्क्स** तथा कुछ अन्य आधुनिक दार्शनिक ने राज्य को आर्थिक कारणों का परिणाम बताया है। **मार्क्स** की 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' के अनुसार आर्थिक तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं।

(6) राजनीतिक चेतना (Political Consciousness)

गिलक्राइस्ट ने 'राजनीतिक चेतना' के उदय एवं विकास को राज्य की उत्पत्ति का सबसे प्रमुख तत्व माना है। अरस्तू ने बतलाया है कि सभी मनुष्य स्वभावत: एक राजनीतिक प्राणी है, परन्तु प्रारम्भिक काल में राजनीतिक चेतना विकसित नहीं हुई थी। उन दिनों सजातीयता और धर्म के तत्व अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। रक्त सम्बन्ध और धर्म के आधार पर संगठित मानव समूह ने जब एक निश्चित भू-भाग पर निवास आरम्भ किया तो अपनी आर्थिक आवश्यकताओं तथा बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के प्रश्न ने धीरे-धीरे इनमें राजनीतिक चेतना की भावना जाग्रत की। प्रारम्भ में यह चेतना कुछ ही लोगों में आयी होगी। किन्तु धीरे-धीरे इस चेतना का विस्तार हुआ और अन्य लोगों के मन में भी फैल गयी। एक ऐसे संगठन की आवश्यकता का तीव्र अनुभव होने लगा जो शांति और व्यवस्था की रक्षा करते हुए पारस्परिक संघर्षों का निपटारा कर सके। जेलिनिक के शब्दों में, "राज्य की उत्पत्ति का आन्तरिक कारण व्यक्तियों के समूह में चेतनशील ऐक्य भावना है। इस भावना को वे सामूहिक व्यक्तियों के एक समूह में संगठित होकर अभिव्यक्त करते हैं और स्वयं इसके कार्यशील सदस्य बन जाते हैं।"

विकासवादी सिद्धान्त की समीक्षा

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवादी सिद्धान्त ही सर्वाधिक मान्य है। इस सिद्धान्त का सार यह है कि राज्य की उत्पत्ति तथा विकास में अनेक तत्वों ने अपना योग दिया है जिनमें रक्त सम्बन्ध, धर्म, शक्ति, सामाजिक प्रवृत्ति, आर्थिक गतिविधियाँ और राजनीतिक चेतना अधिक महत्वपूर्ण हैं। **डॉ.**

NOTES

गार्नर ने कहा भी है कि इनमें से किसी भी एक तत्व के कारण राज्य का उदय नहीं हुआ है; वरन् सबके सामूहिक रूप से कार्य करने के परिणास्वरूप ही राज्य अस्तित्व में आया है।

मैकाइवर के अनुसार यह कहना बहुत कठिन है कि राज्य का प्रारम्भ कब हुआ ? राज्य के जन्म की कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती है और न राज्य की उत्पत्ति का कोई निश्चित विस्तृत विवरण ही दिया ज' सकता है। अधिक से अधिक हम उन तत्वों की विवेचना कर सकते हैं, जिन्होंने राज्य के निर्माण में सक्रिय योग दिया।

संक्षेप में, विकासवादी अथवा ऐतिहासिक सिद्धान्त यह स्पष्ट कर देता है कि "राज्य न तो शक्ति पर आधारित है और न समझौते पर, यह तो सहयोग की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित है।" राज्य एक प्राकृतिक संस्था है और उसका शनैः-शनैः विकास हुआ है।

निष्कर्ष – उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार के दृष्टिकोण प्रचलित हैं– परम्परावादी और आधुनिक। दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त आदि परम्परावादी दृष्टिकोण हैं और आधुनिक दृष्टिकोण दो प्रकार के हैं– प्रथम, उदारवादी और द्वितीय मार्क्सवादी दृष्टिकोण। उदारवादी दृष्टिकोणों में दो सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं– सामाजिक समझौते का सिद्धान्त जिसका प्रतिपादन हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने किया, और विकासवादी सिद्धान्त जिसका प्रतिपादन बेजहाट, स्पेन्सर, गिडिंग्स, लोवी आदि लेखकों ने किया। आज सभी उदारवादी लेखक, जिनमें गार्नर और मैकाइवर भी शामिल हैं, राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवादी सिन्द्धान्त को ही मानते हैं। इसके विपरीत मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन आदि साम्यवादी लेखक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वर्ग-व्यवस्था के सिद्धान्त को मानते हैं। उदारवादी और मार्क्सवादी लेखक वस्तुतः समान रूप से राज्य को एक विकासजन्य संस्था मानते हैं। मैकाइवर और एंगेल्स दोनों ही राज्य की उत्पत्ति में रक्त, वंश, धर्म, शक्ति, आर्थिक कारणों और राजनीतिक चेतना के महत्व को कम या अधिक मात्रा में स्वीकार करते हैं।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
4. राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों के नाम लिखिए। इनमें से कौन सा सिद्धान्त संतोषप्रद है और क्यों ?
5. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. शक्ति सिद्धान्त के मूल तत्व समझाइये।
3. 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, बल्कि इच्छा हैं' समझाइये।
4. जॉन लॉक के समझौता सिद्धान्त की विशेषताएँ लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राज्य की उत्पत्ति का सबसे प्राचीनतम सिद्धान्त कौन सा है :
   (अ) विकासवादी सिद्धान्त (ब) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त
   (स) शक्ति सिद्धान्त (द) पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक सिद्धान्त।
2. निम्न में से कौन से सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का उदारवादी सिद्धान्त माने जाते हैं :
   (अ) दैवीय उत्पत्ति सिद्धान्त एवं सामाजिक समझौता सिद्धान्त

(ब) शक्ति सिद्धान्त एवं दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त

(स) विकासवादी एवं शक्ति सिद्धान्त

(द) सामाजिक समझौता एवं विकासवादी सिद्धान्त।

NOTES

3. राज्य की उत्पत्ति के उदारवादी सिद्धान्त ने निम्न में से किस सिद्धान्त की जड़ें नहीं उखाड़ी हैं :

(अ) दैवी शक्ति का सिद्धान्त (ब) शक्ति सिद्धान्त

(स) सामाजिक समझौता सिद्धान्त (द) प्राकृतिक सिद्धान्त।

4. प्लेटो तथा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त है :

(अ) प्राकृतिक सिद्धान्त (ब) शक्ति सिद्धान्त

(स) समझौता सिद्धान्त (द) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त।

5. राज्य का निर्माण ठीक उसी तरह स्वाभाविक तथा प्राकृतिक है जिस तरह मानव का जन्म - राज्य की उत्पत्ति के बारे में उक्त धारणा में निम्न में से कौन से विचारक विश्वास करते हैं:

(अ) हीगल तथा ग्रीन (ब) प्लेटो तथा अरस्तू

(स) रूसो तथा लॉक (द) हॉब्स तथा लॉक।

6. निम्न में से शक्ति सिद्धांत का समर्थक कौन है :

(अ) ग्रीन (स) लास्की (ब) नीत्शे (द) प्लेटो।

7. शक्ति सिद्धांत के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का मुख्य कारण है :

(अ) शक्ति या बल (स) आध्यात्मिक शक्ति (ब) नैतिक शक्ति (द) राजनीतिक शक्ति।

8. शक्ति सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार मनुष्य स्वभावत :

(अ) समझदार और सहयोगी होता है

(ब) शान्ति प्रेमी और नियमों को मानने वाला होता है

(स) झगड़ालू तथा सत्ताप्रेमी होता है

(द) सभ्य और शिष्ट होता है।

उत्तर - (1) ब, (2) द, (3) स, (4) अ, (5) ब, (6) ब, (7) अ, (8) द

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

10

राज्य : प्रमुख दृष्टिकोण

(STATE : DOMINANT PERSPECTIVES)

सामान्य परिचय (Introduction)

राज्य की उत्पत्ति और उसके विकास पर विचार करने की अपेक्षा उसके औचित्य और उद्देश्य पर विचार करना अधिक महत्वपूर्ण है। केवल यह तथ्य उजागर करना ही काफी नहीं है कि राज्य किन कारणों से बना? सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि राज्य मनुष्य के लिए क्यों आवश्यक है? राज्य के क्या उद्देश्य हैं? क्या राज्य का कोई युक्ति-संगत आधार है? राज्य स्वयं ही साधन है अथवा एक साध्य है? एक बार राज्य के अस्तित्व को उचित सिद्ध करने और दूसरी ओर इसके अस्तित्व को अनुचित साबित करने की कोशिशें की गयी हैं। राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में सर्वाधिक विवादाग्रस्त प्रश्न यह है कि राज्य अपने आपमें साध्य है या व्यक्तियों के हित और कल्याण का साधन मात्र?

राज्य साध्य है अथवा साधन?
(Is the State an End or Means?)

राज्य स्वयं में साध्य है (State as an end)

कतिपय विद्वान राज्य को साध्य मानते हैं। प्लेटो, अरस्तू, हीगल, बोसाँके आदि विचारक राज्य को मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य और अपने आप में एक साध्य मानते हैं। प्लेटो और अरस्तू के मतानुसार समाज एवं राज्य एक महान नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है। **प्लेटो** के शब्दों में, "राज्य वृक्षों या चट्टानों से उत्पन्न नहीं होते। ये उन व्यक्तियों के चरित्र से उत्पन्न होते हैं जो उनमें निवास करते हैं।" प्लेटो की यह भी धारणा है कि राज्य "सद्‌गुण और अच्छाई में साझेदारी है (A Partnership in virtue and goodness)।" अरस्तू का भी मत है कि "राज्य का उद्‌भव जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुआ पर वह अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है।"

आदर्शवादियों के अनुसार राज्य व्यक्तियों की यथार्थ इच्छा का प्रतीक है। मनुष्य का पूर्ण विकास राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते। वे राज्य को उत्कृष्ट सामाजिक समुदाय मानते हैं। उनके अनुसार राज्य से पृथक व्यक्तियों का कोई अस्तित्व नहीं होता। बोसाँके ने लिखा है कि "राज्य विश्वव्यापी नैतिक संगठन का एक अंग न होकर समस्त नैतिक विश्व का अभिभावक है।" **जोड** के मतानुसार, "क्योंकि राज्य एवं समाज मनुष्यों की सभी भावनाओं एवं कामनाओं का प्रतीक है और साथ ही उनकी सामाजिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है, अत: राज्य व्यक्ति से जो माँग करता है, उसे पूरा करने के लिए व्यक्ति को तत्पर रहना चाहिए।"

हीगल राज्य को स्वयं में साध्य ही नहीं मानता था अपितु उसे सम्पूर्ण विवेक भी कहता था। हीगल के लिए राज्य "पृथ्वी पर ईश्वरीय रूप है। राज्य नैतिक पूर्णता है और स्वतन्त्रता का दाता है।" **ट्रीटश्की** का मत है कि "राज्य शक्ति है और हमारा यह कर्त्तव्य है कि नतमस्तक होकर उसकी पूजा करें।"

जो विचारक राज्य को स्वयं में साध्य मानते हैं, उन्होंने व्यक्ति की इच्छा को राज्य की इच्छा के साथ एकरूप बना दिया। इस सिद्धान्त का परिणाम फासिस्टवाद है। इटली के लेबर चार्टर की पहली धारा इस प्रकार है– "इटालियन राष्ट्र एक संगठन है, जिसके अपने उद्देश्य, अपना जीवन और अपने साधन हैं, जो शक्ति और स्थायित्व में उन व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों से श्रेष्ठ है जिनको मिलाकर राष्ट्र बनता है।" फासिस्टवादी मानते हैं कि "सब कुछ राज्य के लिए, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं।" संक्षेप में, आदर्शवादी, समष्टिवादी और समग्रवादी विचारक राज्य को एक साध्य के रूप में देखते हैं।

राज्य एक साधन है (State is a Means)

राज्य को साधन मानने वाले विचारक राज्य और व्यक्ति में अन्तर स्थापित करते हैं। उनके लिए राज्य स्वयं में साध्य नहीं बल्कि मानव के हितों की पूर्ति के लिए साधन है। उनकी धारणा है कि समस्त संस्थाएं मानव के कल्याण और समृद्धि के लिए हैं न कि मानव उन संस्थाओं के लिए है। राज्य का एकमात्र उद्देश्य व्यक्तियों का कल्याण करना है। ये विचारक राज्य को लोककल्याण का एक साधन मानते हैं। राज्य एक मानव संस्था है जो मनुष्यों के लिए बना है।

व्यक्तिवादी, अराजकतावादी और बहुलतावादी विचारक राज्य को एक साधन मानते हैं। व्यक्तिवादी लोग राज्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं परन्तु राज्य को कदापि साध्य नहीं मानते। जे.एस. मिल एवं हर्बर्ट स्पेन्सर राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। वे राज्य के कार्यों को पुलिस कार्यों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। अराजकतावादी यह मानते हैं कि व्यक्ति का कल्याण राज्य की सत्ता की समाप्ति में निहित है। उनके लिए राज्य अनुपयुक्त, अनावश्यक, अवांछनीय तथा अस्वाभाविक संस्था है। बहुलतावादी विचारक राज्य को अन्य समुदायों के समतुल्य ही एक समुदाय मानते हैं।

निष्कर्ष

दोनों ही विचार एकपक्षीय हैं। ब्लंश्ली के मतानुसार राज्य एक साधन भी है और साध्य भी। एक ओर वह नागरिकों के हित-साधन की एक संस्था है तो दूसरी तरफ वह स्वयं एक साध्य है क्योंकि राज्य के अस्तित्व पर ही व्यक्ति की सुख-सुविधा निर्भर करती है। ब्लंश्ली राज्य के दोहरे स्वरूप की विवेचना चित्र और चित्रकार की उपमा देते हुए करता है : "एक चित्र किसी चित्रकार के जीविकोपार्जन का साधन होता है, साथ ही उसकी सच्ची कलाकृति कलाकार के उच्चतर सुख का लक्ष्य भी होती है। इस प्रकार उसकी वह कला स्वयं एक साध्य बन जाती है।"

लास्की के मतानुसार राज्य स्पष्टत: एक साधन है, वह साध्य नहीं हो सकता है। उनके मन में राज्य की सत्ता का औचित्य इस बात पर निर्भर है कि वह अपने नागरिकों के लिए क्या करता है और उसने अब तक क्या किया है ?

राज्य के उद्देश्य
(Ends of the State)

राज्य को मानव कल्याण का एक साधन स्वीकार करने के उपरान्त उसके उद्देश्यों की चर्चा करना अपरिहार्य है। राज्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों में मतैक्य नहीं है।

प्राचीन यूनानी चिन्तकों ने राज्य के उद्देश्य तथा उसके स्थापित होने के कारणों को बड़े साफ तरीके से बताया है। **प्लेटो** के अनुसार राज्य की स्थापना का कारण मनुष्यों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पारस्परिक निर्भरता है। **अरस्तू** के अनुसार "राज्य जीवन के हेतु जन्म लेता है और सद्जीवन की प्राप्ति के लिए कायम रहता है।"

जॉन लॉक के अनुसार शासन का उद्देश्य लोक कल्याण है। एडम स्मिथ के अनुसार राज्य के तीन उद्देश्य हैं– विदेशी आक्रमण से रक्षा, उत्पीड़न से रक्षा व सार्वजनिक संस्थाएं स्थापित करना। **वर्जिस** के अनुसार राज्य के उद्देश्य हैं– सरकार स्थापित करना, राष्ट्रीयता का समर्थन तथा मानवता को प्रोत्साहन देना। **सिजविक** के अनुसार राज्य का उद्देश्य सामान्य हितों का सम्पादन है। गार्नर के अनुसार, राज्य के उद्देश्य हैं -व्यक्ति की भलाई, सामाजिक हित और सभ्यता की उन्नति।

एडमण्ड बर्क ने राज्य के व्यवहारिक और यथार्थवादी उद्देश्य बताए हैं। उसका विचार था कि राज्य का उद्देश्य हमारे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, हमारे अधिकारों का संरक्षण करना नहीं है। **बेन्थम** के अनुसार, " राज्य का ध्येय अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख है।" **हर्बर्ट स्पेन्सर** के अनुसार, राज्य का ध्येय व्यक्ति की अधिकतम स्वतन्त्रता का संरक्षण करना है। **हेरल्ड लास्की** के अनुसार, राज्य का ध्येय समाज के हित की अधिकतम मात्रा में पूर्ति करने में व्यक्तियों की सहायता करना है। भारत के प्राचीन दार्शनिकों का विचार था कि धर्म का बिल्कुल अन्त न हो जाए, इस उद्देश्य से ईश्वर राज्य की स्थापना करता है।

NOTES

राज्य के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य बतलाये जा सकते हैं :

(1) **सार्वजनिक सुख** – बेन्थम का कहना है कि राज्य का उद्देश्य 'अधिक से अधिक लोगों के अधिक से अधिक सुख' की वृद्धि करना हैं। राज्य को ऐसे कानून बनाने चाहिए जिनसे लोगों का अधिकतम कल्याण हो सके।

(2) **शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना** – अधिकांश विचारकों द्वारा यह बात स्वीकार की गई है कि राज्य का उद्देश्य शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना है। राज्य का काम तो लोगों को बाहरी तथा भीतरी संकटों से सुरक्षित रखना है जिससे लोग शांतिपूर्वक रह सकें।

(3) **न्याय** – आदर्शवदी लेखक राज्य का मूल उद्देश्य न्याय करना मानते हैं। हेदरिंगटन एवं म्योरहेड ने यह मत प्रकट किया है कि राज्य का प्रधान कर्तव्य सदैव न्याय की व्यवस्था करना ही रहा है।

निष्कर्षत : राज्य के प्रमुख उद्देश्य हैं– (i) शांति, व्यवस्था एवं सुरक्षा की स्थापना (ii) व्यक्तियों की संतुष्टि; (iii) राज्य तथा वैयक्तिक सत्ता के मध्य समन्वय स्थापित करना ; (iv) सामूहिक हित के कार्यों का सम्पादन ; (v) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं मानव सभ्यता का विकास; तथा (vi) सामरिक अधिकारों की रक्षा करना। राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में समय-समय पर दृष्टिकोण बदलते रहे हैं। राज्य का सर्वमान्य उद्देश्य तो लोकहित ही हो सकता है।

राज्य का कार्य क्षेत्र (Function of the State)

राज्य के कार्यों के लिए कोई निश्चित नियम निर्धारित नहीं किए जा सकते। राज्य के कार्यों का स्वरूप समय, परिस्थिति, विचारधारा एवं आवश्यकता के अनुसार बदलता रहता है। राज्य के कार्य आर्थिक स्त्रोतों, प्राकृतिक साधनों, लोगों की जागरूकता एवं राजनीतिक चेतना के विकास पर निर्भर हैं। आधुनिक राज्यों के कार्यों को मुख्यत: निम्न दो भागों में बॉटा जा सकता है :- (1) अनिवार्य कार्य। (2) ऐच्छिक कार्य।

(1) अनिवार्य कार्य (Compulsory Functions)

अनिवार्य कार्यों से हमारा अभिप्राय उन कार्यों से हैं जिनका करना प्रत्येक सरकार के लिए अपरिहार्य हो, अर्थात् जिनके न करने से राज्य का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता हो। राज्य के अनिवार्य कार्य मुख्यत: निम्न हैं –

(i) **बाहरी आक्रमण से रक्षा** – राज्य का सर्वोत्तम कार्य अपने अस्तित्व की रक्षा करना है। इसके लिए राज्य के पास यथेष्ट जल, थल और नौ-सेनाएं होनी चाहिए।

(ii) **आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था** – राज्य को अपनी सीमा के अन्तर्गत शांति और व्यवस्था बनानी होती है। इसके लिए राज्य नागरिकों और समुदायों के अधिकारों और कर्तव्यों की स्पष्ट घोषणा करता है और अपराधियों को दण्ड देता है। आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखकर राज्य न्यायालय का प्रबन्ध करता है।

(iii) **न्याय-प्रबन्ध** – न्याय की समुचित व्यवस्था किए बिना राज्य शान्ति व्यवस्था नहीं बनाए रख सकता। आपसी विवादों के निपटारे के लिए तथा संविदाओं को लागू करने के लिए राज्य लोगों के जीवन, सम्पत्ति और स्वतंत्रता की रक्षा करता है।

(iv) **राजस्व एकत्रित करना** – बिना धन के राज्य का कोई भी कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता। अत: कर लगाकर राज्य राजस्व एकत्रित कर सकता है।

(v) **विधि निर्माण** – विधियों का निर्माण भी राज्य का अनिवार्य कार्य होता है। विधियों के द्वारा ही राज्य अपनी सम्प्रभुता को यथार्थ रूप प्रदान कर सकता है।

(vi) **विदेश सम्बन्ध** – अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना भी राज्य का अनिवार्य कार्य है। दूसरे राज्यों से मैत्री सम्बन्ध बनाने हेतु राज्य राजदूतों का आदान-प्रदान करते हैं।

(2) ऐच्छिक कार्य (Optional Functions)

ऐच्छिक कार्यों से हमारा अभिप्राय उन कार्यों से है जिनके न करने से राज्य के अस्तित्व पर कोई आँच नहीं आती तथापि जिनको सभी आधुनिक राज्य करते हैं। ये कार्य देश-काल के अनुसार बदलते रहते हैं। सामाजिक कल्याण की भावना से इन कार्यों में लगातार वृद्धि होती जा रही है। ये कार्य हैं –

(i) **शिक्षा की व्यवस्था करना** – एक अच्छे राज्य में जनसाधारण में शिक्षा और राजनैतिक चेतना होनी चाहिए। अतएव राज्य का यह कर्तव्य माना जाता है कि वह सामान्य जनता की शिक्षा का उचित प्रबन्ध करे।

(ii) **सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य** – राज्य सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य की भी व्यवस्था करता है। राज्य को बीमारी की रोकथाम एवं चिकित्सालयों की व्यवस्था करनी चाहिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से उसे खाने-पीने की वस्तुओं को शुद्ध और बेमिलावट रखने का प्रयास भी करना चाहिए।

(iii) **व्यापार एवं उद्योग पर नियंत्रण** – राज्य को व्यापार एवं उद्योगों पर यथोचित नियन्त्रण रखना चाहिए जिससे लोगों की अधिकतम भलाई हो और देश की प्रगति हो। उद्योगों के सम्बन्ध में कानून बनाते समय राज्य को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि श्रमिकों के साथ किसी भी प्रकार का अन्याय न हो।

(iv) **भारी उद्योगों का संचालन** – बड़े-बड़े उद्योगों तथा व्यापार का संचालन सामाजिक हित की दृष्टि से राज्य को करना चाहिए।

(v) **मनोरंजन की सुविधाएं** – राज्य को नागरिकों के मनोरंजन के लिए पार्कों, आकाशवाणी, चलचित्र, वाचनालयों आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।

(vi) **समाज सुधार** – सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन कर व्यक्तियों को अंधकार से निकालना राज्य का कर्तव्य है। राज्य का कर्तव्य है कि अपाहिजों, अंधों, गूंगों, पागलों आदि के उपचार तथा सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करे।

(vii) **यातायात का प्रबन्ध** – यातायात के साधनों की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है। सड़क, रेल, वायु, जल, आदि सभी साधनों का प्रयोग राज्य को करना चाहिए। आवागमन के सुलभ साधनों द्वारा सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है।

निष्कर्षत : राज्य के कार्यों का यह वर्गीकरण बहुत पुराना है। राज्य के ऐच्छिक कार्यों के आधार पर हम यह पता लगा सकते हैं कि राज्य कितना लोक कल्याणकारी एवं समाजवादी है।

प्रो. लास्की के अनुसार, "राजनीतिक सिद्धान्त की सभी समस्याओं में राज्य के कार्यक्षेत्र के निर्धारण की समस्या सबसे कठिन है।" **मैकाइवर व पेज** के शब्दों में, "राज्य के कार्यों को लेकर निरन्तर मतभेद बना रहता है। ये दलीय संघर्ष सामने लाते हैं। एक राज्य से दूसरे में, एक युग से दूसरे युग में, यहाँ तक की एक वर्ष से दूसरे वर्ष में इनमें भिन्नता पायी जाती है। इस प्रश्न के समाधान को लेकर पूंजीवादी और साम्यवादी राज्य विरोधी खेमों में बँटे हुए हैं।

राज्य के कार्य सम्बन्धी प्रमुख दृष्टिकोण

(Dominant Perspectives of the State Functions)

राज्य द्वारा कौन से कार्य किये जाने चाहिए, इस प्रश्न पर दार्शनिकों में उग्र मतभेद रहा है। इस सम्बन्ध में व्यक्तिवादी और समाजवादी दृष्टिकोण प्रमुख हैं, जो इस प्रकार हैं :-

व्यक्तिवाद
(Individualism)

व्यक्तिवादी विचारधारा का केन्द्रबिन्दु व्यक्ति है। इस सिद्धान्त का वैकल्पिक नाम यथेच्छाकारिता (लैसे-फेयर) है। उसका उद्देश्य राज्य के कार्यक्षेत्र का निश्चय करना है। यथेच्छाकारिता का अर्थ है कि

व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार काम करने दिया जाये, क्योंकि वह अपने निजी हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है। यह व्यक्ति की प्रधानता को स्वीकार करता है और व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है। इस सिद्धान्त को 'हस्तक्षेप न करने की नीति' (Theory of non-interference) भी कहा गया है। यह सिद्धान्त व्यक्ति, समाज व राज्य के सम्बन्ध में व्यक्ति को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देता है। इस सिद्धान्त का मूल मन्त्र यही है कि "व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है, अपितु राज्य व्यक्ति के लिए है।" राज्य तथा अन्य संस्थाओं का लक्ष्य व्यक्ति की उन्नति करना है, न कि व्यक्ति का लक्ष्य राज्य की सेवा करना। राज्य को चाहिए की वह व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करे तथा उसके कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करे।

व्यक्तिवाद का विकास

सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन रूप में व्यक्तिवाद 19 वीं शताब्दी की देन है। इस रूप में सर्वप्रथम बेन्थम और जेम्स मिल द्वारा इसका प्रवर्तन हुआ और इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति लगभग 19 वीं शताब्दी के मध्य में जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हरबर्ट स्पेन्सर की रचनाओं में देखी जा सकती है।

यथार्थ में व्यक्तिवाद के बीज यूनान के सोफिस्ट विचारकों में पाये जाते हैं। सोफिस्ट विचारकों ने व्यक्ति को राज्य के ऊपर स्थान दिया है। यूनान के ईपीक्यूरिन दार्शनिकों ने व्यक्तिगत स्वार्थों से पृथक राज्य का कोई महत्व नहीं बतलाया। आधुनिक व्यक्तिवाद औद्योगिक क्रान्ति का ही परिणाम है। धर्म सुधार आन्दोलन के फलस्वरूप इस बात का चलन हुआ कि व्यक्ति को धर्म-ग्रंथों तथा ईश्वरीय आज्ञाओं का अर्थ अपनी बुद्धि से लगाना चाहिए। इस प्रकार धार्मिक व्यक्तिवाद का जन्म हुआ और धार्मिक व्यक्तिवाद से राजनीतिक व्यक्तिवाद उत्पन्न हुआ। हॉब्स, लॉक आदि अनुबन्धवादी विचारकों के दर्शन में राजनीतिक व्यक्तिवाद प्रकट हुआ। 18 वीं शताब्दी में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद उभरा। अर्थशास्त्रियों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। व्यक्तिवाद का प्रारम्भिक ध्येय राज्य के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप का विरोध करना था। ऐडम स्मिथ, रिकार्डो तथा माल्थस ने आर्थिक व्यक्तिवाद का जोरदार समर्थन किया। बाद में बेन्थम, मिल तथा स्पेन्सर ने व्यक्ति को अपने राजनीतिक चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान देकर राजनीतिक विचारधारा के रूप में व्यक्तिवाद की स्थापना की। मिल का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि यदि राज्य व्यक्तियों के मामलों में न्यूनतम हस्तक्षेप करे तो वह व्यक्ति को अधिकाधिक सुख दे सकता है। स्पेन्सर के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उस हद तक पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जब तक वह दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधक न हो। राज्य को व्यक्ति के लिए कम से कम कार्य करना चाहिए।

व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्त

व्यक्तिवाद के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं :-

(1) राज्य एक आवश्यक बुराई है

व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य सत्ता और शक्ति का प्रतीक है, राज्य अयोग्य एवं अत्याचार करने वाली संस्था है। राज्य उच्च नैतिक संस्था नहीं है अपितु व्यक्ति की सेवा करने वाली संस्था है। व्यक्ति के लिए ऐसे घटिया राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह व्यक्ति के जीवन तथा स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करता है। परन्तु वर्तमान अवस्था में व्यक्ति अपूर्ण है, व्यक्तियों में भी स्वार्थ के कारण संघर्ष होते हैं, अत: राज्य आवश्यक है। राज्य व्यक्तियों के स्वार्थों एवं संघर्षों में एकता एवं सामंजस्य बनाये रखता है। कतिपय कार्य व्यक्ति नहीं कर सकता इसलिए उनका सम्पादन राज्य ही करेगा, जैसे सुरक्षा, शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना, न्याय की स्थापना करना आदि। इस प्रकार व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य बुरा है और हिंसा का प्रतीक है, फिर भी आवश्यक है। उनके अनुसार राज्य आवश्यक होते हुए भी एक दुर्गण ही है। फ्रीमैन के अनुसार, "किसी भी रूप में सरकार का अस्तित्व मनुष्य की अपूर्णता का प्रतीक है। आदर्श व्यवस्था वह है जिसमें सरकार बिल्कुल न हो।"

(2) वह सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम शासन करती है

व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है और उसका कार्यक्षेत्र जितना सीमित रहे, उतना ही अच्छा है। राज्य को केवल निषेधात्मक कार्य ही करने चाहिए और कोई भावनात्मक कार्य नहीं करने चाहिए। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और जनहित के कार्यों का राज्य द्वारा किया जाना समुचित नहीं है। राज्य को शिक्षा के प्रसार के लिए विद्यालय नहीं खोलने चाहिए, मजदूरों की दशा सुधारने के लिए 'कारखाना कानून' नहीं बनाने चाहिए। निर्धनों को राज्य की ओर से भरण-पोषण की सहायता नहीं देना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार राज्य के कार्यों में वृद्धि समाज या व्यक्ति के हित में नहीं है। फ्रीमैन के अनुसार, "वही सरकार सबसे अच्छी है जो कम से कम शासन करती है।"

(3) व्यक्ति साध्य है तथा राज्य साधन

व्यक्तिवादियों के अनुसार, राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की सेवा करना है। राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए। राज्य व्यक्तियों का समूह मात्र है तथा व्यक्तियों के सुख में ही राज्य की उन्नति सम्भव है। बेन्थम के अनुसार "व्यक्ति के हित को समझे बिना समष्टि या समुदाय के हित की कल्पना करना कोरी बकवास है।"

(4) व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता

व्यक्तिवाद का एक सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान की जाएं। व्यक्तिवादी "लैसे फेयर" अर्थात् 'चीजों को अपने हाल पर छोड़ दो।' के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

(5) व्यक्तिवादी चिन्तन के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

व्यक्तिवादियों के अनुसार, राज्य एक आवश्यक बुराई है तथा उसे निम्नलिखित कार्य ही करने चाहिए– बाहरी आक्रमण से रक्षा, आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना व न्याय करना आदि। व्यक्तिवादी चाहते हैं कि राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिक से अधिक सीमित कर दिया जाए। राज्य के कार्यक्षेत्र बढ़ाकर व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य को स्कूल, चिकित्सालय, रेल, डाक, व्यापार आदि के कार्य नहीं करने चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य को नितान्त अपरिहार्य कार्य ही करने चाहिए।

व्यक्तिवाद के समर्थन में तर्क

व्यक्तिवादी विचारधारा के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं :-

(1) आर्थिक तर्क

व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों में एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो तथा मिल प्रमुख हैं। इनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपने लाभ-हानि को भली-भाँति समझता है, अत: राज्य को व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वस्तुओं का मूल्य मांग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होता है। यदि वस्तु की मांग अधिक होगी और पूर्ति कम होगी तो मूल्य बढ़ जायेगा। मांग कम होगी और उत्पादन अधिक होगा तो कीमत घट जायेगी। अत: राज्य को इस क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, भावों का नियमन नहीं करना चाहिए और न ही मूल्य निर्धारित करना चाहिए। स्वतन्त्र आर्थिक प्रतियोगिता होना चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक परिश्रम कर सके और अपने हितों की पूर्ति कर सके। यदि राज्य उत्पादन वितरण का नियमन करने लग जायेगा तो व्यक्ति के काम करने का उत्साह और प्रेरणा शिथिल हो जाएगी। एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों का मत है कि आर्थिक विकास के लिए राज्य का आर्थिक क्षेत्र में नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। राज्य का हस्तक्षेप होने पर उत्पादन के साधनों का लाभ उतना नहीं हो पाता जितना राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में होता है।

(2) नैतिक तर्क

व्यक्तिवाद के समर्थन में नैतिक तर्क यह है कि व्यक्ति का अपना अलग व्यक्तित्व और अपनी अलग विशेषता होती है। अत: राज्य का दायित्व है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही ढंग से अपने व्यक्तित्व

का विकास करने दे। राज्य को सभी व्यक्तियों को लाठी से हाँकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अत: प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार शिक्षा, व्यवसाय, मनोरंजन तथा विचार अपनाने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिसे वह नैतिक दृष्टि से समुचित समझता हो। इस प्रकार व्यक्तिवादियों के अनुसार नैतिक विकास व्यक्ति के जीवन का महत्वपूर्ण पहलू है और इसका विकास तभी सम्भव है जब राज्य इसे निर्बाध स्वतन्त्रता प्रदान करें।

(3) ऐतिहासिक तर्क

ऐतिहासिक उदाहरणों से व्यक्तिवादी यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि राज्य द्वारा आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप सदा हानिकारक रहा है। जब भी राज्य ने व्यापार तथा मजदूरी का नियमन किया तब उसे असफलता मिली है। राज्य की नियन्त्रण-व्यवस्था से चोरबाजारी बढ़ी, उत्पादन घटा तथा मूल्य वृद्धि हुई। सामाजिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप के कारण क्रान्तियाँ हुई हैं। धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप के कारण राज्यों को असफलता मिली। अधिनायकवादी शासन-व्यवस्था में वैयक्तिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने से अधिनायकों की ही कब्र खुद गई। भारत में जीवन के जिन क्षेत्रों में राज्य ने हस्तक्षेप किया वहाँ कोई चमत्कारिक सफलता नहीं मिली। हमारे सरकारी संस्थान घाटे, भ्रष्टाचार तथा कम उत्पादन के पर्यायवाची बन गए। अत: व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य को अहस्तक्षेप की नीति का ही अनुसरण करना चाहिए।

(4) व्यावहारिक तर्क

व्यक्तिवादी विचारकों के अनुसार सभी कार्यों के सम्पादन की योग्यता राज्य में नहीं है। व्यवसाय, कृषि आदि कार्यों में तो राज्य को कदापि सफलता नहीं मिल सकती। राज्य के कर्मचारी भी योग्य नहीं होते क्योंकि वे उस प्रतिबद्धता और समर्पण की भावना से कार्य नहीं करते, जिस प्रतिबद्धता से वैयक्तिक व्यवसाय का स्वामी करता है। राज्य की कार्यशक्ति और दक्षता वैयक्तिक कार्यशक्ति और दक्षता से उत्कृष्ट नहीं, अपितु निम्नतर होती है।

(5) वैज्ञानिक तर्क

हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्राणी-विज्ञान से नयी युक्तियाँ लेकर व्यक्तिवाद का समर्थन किया। उसके अनुसार जीवन-संघर्ष में जो व्यक्ति योग्य होते हैं वे आगे बढ़ जाते हैं और अयोग्य तथा दुर्बल व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं यह प्रकृत्ति का नियम है जो समाज में भी लागू होना चाहिए और समाज में यह तभी लागू हो सकता है जब हम व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ दे। इस युक्ति के आधार पर व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य को दुर्बल, निर्धन तथा असहाय व्यक्तियों की सहायता नहीं करनी चाहिए। यदि राज्य सहायता करता है तो अयोग्य व्यक्तियों की बढ़ोत्तरी हो जायेगी। इस प्रकार प्राणी शास्त्र के अनुसार राज्य को प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रापूर्वक अपना विकास करने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

व्यक्तिवाद की आलोचना

व्यक्तिवाद की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है :

(1) व्यक्ति सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक नहीं होता

आज यह स्वीकार नहीं किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित भली-भाँति समझता है और उसमें अपने हित-साधन की पूरी क्षमता है। अब यह माना जाता है कि समाज में कई ऐसे अंग होते हैं जो अपेक्षाकृत निर्बल और असहाय हैं और समाज को उनकी भलाई की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

(2) राज्य कल्याणकारी संस्था है

वर्तमान में राज्य एक बुराई नहीं दिखलाई देता। राज्य सभी देशों में प्रगति और विकास की संस्था है। आज तक जितनी भी उन्नति हुई है वह राज्य के अन्तर्गत ही हुई है। राज्य द्वारा व्यक्ति के कल्याण के लिए विभिन्न क्षेत्रों में अनेक कार्य किये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में राज्य बुराई न रहकर एक कल्याणकारी संस्था के रूप में दिखलायी दे रहा है।

(3) राज्य और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नहीं हैं

व्यक्तिवादी राज्य और स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी मानते हैं। किन्तु आज यह सैद्धांतिक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि राज्य का उद्देश्य विभिन्न व्यक्तियों और वर्गों के हित में सामंजस्य स्थापित करना है जिससे समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो सके। आज इस विचार को नहीं माना जाता कि राज्य स्वतन्त्रता में बाधक है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि सच्ची स्वतन्त्रता मनमाने ढंग से काम करने में नहीं है, अपितु सामाजिक नियमों के अनुसार काम करने में है।

(4) स्वतन्त्रता नकारात्मक न होकर सकारात्मक होती है

व्यक्तिवादियों के अनुसार स्वतन्त्रता नकारात्मक वस्तु है अर्थात् अहस्तक्षेप ही स्वतन्त्रता है। परन्तु वर्तमान में राज्य अनेक लोक-कल्याणकारी कार्य कर रहा है, सुविधाएं प्रदान कर रहा है और व्यक्ति के जीवन का नियमन करता है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तियों को यदि खुली छूट दे दी जाए तो निर्धन व्यक्तियों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। अत: राज्य के हस्तक्षेप के बिना सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग संभव नहीं है।

(5) समाज एवं राज्य की उपेक्षापूर्ण धारणा

व्यक्तिवादी विचारक राज्य को केवल व्यक्तियों का योग मात्र मानते हैं तथा व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। पर यथार्थ में व्यक्ति समाज पर निर्भर है। आज जो कुछ भी वह है उसका कारण समाज व राज्य है। व्यक्ति का समाज अथवा राज्य से पृथक कोई अस्तित्व नहीं होता। मनुष्य का विकास समाज में ही होता है। अत: व्यक्तिवादियों की व्यक्ति को समाज से अलग करने की मान्यता दोषपूर्ण है।

(6) प्राणीशास्त्र की दोषपूर्ण धारणा

प्राणीशास्त्र की तार्किक व्यक्तिवादी धारणा मनुष्यों पर लागू नहीं की जा सकती। मनुष्य पशु न होकर मानवीय दायित्वों और नैतिक कर्तव्यों को समझने वाला प्राणी है। उसका यह धर्म और कर्तव्य है कि निर्बलों-असहायों की सेवा करे, सहायता करे।

(7) राज्य का सुधार सम्भव है

व्यक्तिवादी राज्य की यह कहकर आलोचना करते हैं कि वह अकुशल, खर्चीला, भ्रष्ट तथा नौकरशाही का शासन है। परन्तु राज्य में जो दोष आ गये हैं उनकी रोकथाम की जा सकती है और आवश्यक सुधार किये जा सकते हैं। फिर, कई बार राज्य लाभ के लिए ही कोई कार्य नहीं करता। अनेक बार वह घाटा उठाकर भी जनसेवा के कार्य करता है।

व्यक्तिवाद का महत्व

19 वीं शताब्दी के अन्त में व्यक्तिवाद का ह्रास होने लगा और जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य की गतिविधियाँ बढ़ने लगी। राज्य श्रमजीवियों की रक्षा के लिए एक कल्याणकारी संस्था के रूप में आगे आया और वर्तमान में 'झूले से कब्र' तक का सारा जीवन राज्य के अन्तर्गत ही व्यतीत होता है। व्यक्तिवाद की प्रतिक्रियास्वरूप साम्यवादी व समाजवादी विचारधाराओं का अभ्युदय हुआ और आज व्यक्तिवाद इतिहास की धरोहर बन गया है।

फिर भी व्यक्तिवाद की सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति पर अधिक नियन्त्रण नहीं होना चाहिए और राज्य का हस्तक्षेप केवल उन्हीं परिस्थितियों में होना चाहिए जिनमें उनके बिना काम न चल सके। वैयक्तिक स्वतन्त्रता, वैयक्तिक अधिकार और व्यक्तित्व जैसे तत्वों पर कम से कम राजकीय बन्धन की वकालत पर व्यक्तिवादी चिन्तन शाश्वत सत्य बन चुका है। निष्कर्षत: इस मन्तब्य के रूप में कि 'व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन है'– व्यक्तिवादी विचारधारा समस्त लोकतान्त्रिक देशों का युग-युग तक मार्ग प्रशस्त करती रहेगी।

NOTES

समाजवाद
(Socialism)

कार्ल मार्क्स के उपरान्त समाजवाद दो विचारधाराओं में विकसित हुआ -क्रांतिकारी समाजवाद और विकासवादी समाजवाद। क्रांतिकारी समाजवाद साम्यवाद है जो हिंसा में विश्वास करता है। जो विचारधाराएँ शांतिपूर्ण एवं वैध तरीकों से सामाजिक परिवर्तन चाहती हैं उन्हें विकासशील समाजवाद का नाम दिया गया है। इनमें राज्य समाजवाद, फेबियनवाद, श्रेणी समाजवाद प्रमुख् हैं। इसका प्रादुर्भाव मुख्य रूप से इंग्लैण्ड में हुआ। ये विचाराधाराएं शनैः-शनैः क्रमिक विकास द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहती हैं।

समाजवाद की परिभाषा

समाजवाद से अभिप्राय है– समाज को महत्व देने वाला सिद्धान्त। समाजवाद में समाज को प्रधानता देते हुए उसके हित एवं कल्याण की दृष्टि से व्यक्ति को कार्यों को नियन्त्रित किया जाता है। यह राज्य की सहायता से समाजवाद स्थापित करने का प्रयत्न है, अतः इसे राजकीय समाजवाद कहते हैं। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में कहा गया है कि "समष्टिवाद वह नीति या सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य एक केन्द्रीय लोकतन्त्रीय सत्ता या राज्य द्वारा सम्पत्ति का वर्तमान समय की अपेक्षा अधिक अच्छा वितरण करना तथा उत्पादन करना है।" **एली** के अनुसार, "समाजवाद वह है जो समाज को ऐसे राजकीय संगठन के रूप में देखता है, जिस संगठन का उद्देश्य आर्थिक वस्तुओं का और अधिक पूर्ण वितरण तथा मानवता को ऊँचा उठाना है।" लास्की के अनुसार, "समाजवाद का आशय उत्पादन और वितरण पर ऐसा आधिपत्य स्थापित करना है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की उन समस्त भौतिक और अभौतिक वस्तुओं तक पहुंच हो सके और जिनके द्वारा वह अपने जीवन को सुखी बना सकता है। बट्रेण्ड रसेल के अनुसार, समाजवाद का अर्थ भूमि तथा पूंजी पर सार्वजनिक अधिकार स्थापित करना है, साथ ही लोकतन्त्रीय शासन भी स्थापित करना है।

कोल के अनुसार, समाजवाद में सिद्धान्त की अपेक्षा विश्वास की भावना अधिक है। यह एक समाज को स्थापित करने की इच्छा और योजना है जिसका आधार सहयोग और भ्रातृभाव है। रैम्जे म्योर के अनुसार, समाजवाद गिरगिट के अनुसार रंग बदलने वाला मन्तव्य है। यह वातावरण के अनुसार रंग बदलता है। जोड़ के अनुसार, समाजवाद एक सिद्धान्त होने के साथ-साथ एक आन्दोलन भी है। इसीलिए इन्होंने लिखा है– "समाजवाद उस टोपी की भाँति है, जिसका अपना आकार नष्ट हो गया है, क्योंकि इसे प्रत्येक व्यक्ति धारण करता है।"

समाजवाद की सही परिभाषा नहीं की जा सकती, अतः उसकी प्रमुख धारणाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है:

प्रथम : समाज को व्यक्ति के बराबर महत्व देना,

द्वितीय : उन्नति के अवसरों में समानता देना,

तृतीय : पूंजीवाद का उन्मूलन करना,

चतुर्थ : जमींदारों से भूमि लेना एवं कृषकों में बाँटना,

पंचम : व्यक्तिगत जोखिम का अन्त कर देना, तथा

षष्ठ : हानिकारक स्पर्द्धा को जड़ से उखाड़ फेंकना।

समाजवाद के सिद्धान्त व लक्षण

समाजवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ या प्रधान लक्षण हैं :

(1) **विकासवाद में विश्वास** – समाजवादी क्रमिक विकास के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। वे क्रान्ति द्वारा आकस्मिक परिवर्तन नहीं चाहते। वे धीरे-धीरे जनमत द्वारा सामाजिक परिवर्तन करना चाहते हैं। उनके अनुसार विकासमूलक एवं वैधानिक उपायों द्वारा समाजवाद की स्थायी रूप से स्थापना की जा सकती है।

(2) **लोकतन्त्र में विश्वास** – समाजवादी लोकतन्त्र के माध्यम से समष्टिवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं। समाजवादियों का मुख्य कार्यक्षेत्र संसद है और उनका कार्यक्रम संसद में बहुमत प्राप्त करके कानूनों द्वारा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करना है। वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के समर्थक हैं।

(3) **वर्ग सहयोग में आस्था** – समाजवादी सम्पूर्ण समाज के सहयोग एवं सामंजस्य में विश्वास करते हैं ये पूंजीपतियों से घृणा नहीं करते अपितु गरीब और अमीर के सहयोग की व्यवस्था चाहते हैं।

(4) **राज्य पर भरोसा** – समाजवादी राज्य को न तो बुराई मानते हैं और न एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का साधन। वे राज्य को एक लोक-कल्याणकारी संस्था मानते हैं। राज्य के माध्यम से ही समस्त आर्थिक व्यवस्था का संचालन करना चाहते हैं।

(5) **नूतन-उत्पादन वितरण व्यवस्था** – समाजवादी उन वस्तुओं का उत्पादन करना चाहते हैं जो जनता के लिए उपयोगी व अनिवार्य हों। वे मुनाफा कमाने के लिए उत्पादन नहीं चाहते। वे उत्पादन व वितरण व्यवस्था पर राज्य का नियन्त्रण चाहते हैं। वे समान वितरण् के लिए राष्ट्रीयकरण पर जोर देते हैं।

(6) **व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता** – वे वैयक्तिक सम्पत्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वे मार्क्सवादियों की भाँति पूंजीपतियों की सम्पत्ति जब्त नहीं करना चाहते। वे किसी उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने पर मुआवजा देने के पक्ष में है। छोटे-छोटे उद्योगों को वे व्यक्तिगत क्षेत्र में बनाए रखना चाहते हैं।

(7) **आर्थिक विषमता दूर करना** – वे समाज में विषमता दूर करना चाहते हैं। धन का वितरण लोगों की योग्यता तथा कार्य के अनुसार चाहते हैं। अमीरों पर कर लगाना चाहते हैं ताकि उपलब्ध धनराशि को सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च किया जा सके।

(8) **व्यक्ति तथा समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध** – समाजवादी व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को उसी रूप में मानते हैं जिस रूप में हमारे शरीर का उसके अंगों से सम्बन्ध होता है। समष्टिवाद व्यक्ति एवं समष्टि दोनों के हितों का समन्वय और उनकी रक्षा करना अपना प्रधान कर्तव्य समझता है।

समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापकतम होना चाहिए। समाजवादी व्यवस्था में राष्ट्र के सभी साधनों पर राज्य का नियन्त्रण रहेगा तथा उद्योगों और व्यवसायों का एकमात्र प्रबन्ध राज्य द्वारा किया जाएगा। शोषण का सभी प्रकार से अन्त कर दिया जाएगा और उत्पादन के सभी साधनों पर सरकार का नियंत्रण रहेगा, अर्थात् उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया जायेगा। सभी के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य पर होगा। राज्य सभी को कुछ न कुछ काम देगा और यदि वह किसी को काम देने में असमर्थ होगा तो भरण-पोषण के लिए आवश्यक सहायता या वृत्ति देगा। समाजवादी राज्य जनकल्याण के लिए सार्वजनिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना, आर्थिक विषमता का अन्त करना, मनोरंजन की व्यवस्था करना, अपाहिज और बूढ़े व्यक्तियों की सहायता करना आदि कार्य करता है। गार्नर के शब्दों में, "इस सिद्धान्त के समर्थक व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य पर अविश्वास करके एवं उसे बुराई मानकर उसके कार्यक्षेत्र को कम से कम करने के विपरीत राज्य को सर्वोच्च एवं निश्चित रूप से लाभप्रद मानते हैं और चाहते हैं कि राज्य के कार्य जनता के सामान्य, आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक हितों की अभिवृद्धि करें।

NOTES

समाजवाद की आलोचना

समाजवाद की अनेक आधारों पर आलोचना की गई है–

(1) **समाजवाद राज्यवाद है** – समाजवाद में राज्य के कार्य बढ़ जाने के कारण यह समाजवाद न रहकर "राज्यवाद" (Statism) में परिवर्तित हो जाता है। सरकारी कर्मचारियों को भ्रष्टाचार एवं पक्षपात करने का मौका मिल जाता है। सभी उद्योगों व व्यवसाय का प्रबन्ध कर्मचारियों के हाथों में रहेगा अत: नौकरशाही का बोलबाला हो जायेगा।

(2) **कार्य करने के प्रोत्साहन का अभाव** – समाजवादी व्यवस्था में लोगों को परिश्रम व प्रयत्न करने का कोई प्रलोभन ही नहीं रहेगा। व्यक्ति किसी भी उद्योग को जब तक अपना व्यक्तिगत कार्य समझता है तो लगन व प्रेरणा से कठोर श्रम करता है। किन्तु जब उसके श्रम के प्रतिफल का अधिकांश राज्य द्वारा करों के रूप में ले लिया जायेगा तो वह श्रम ही क्यों करेगा ?

(3) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अभाव** – समाजवाद में राजनीतिक व आर्थिक शक्तियों पर राज्य का स्वामित्व व नियन्त्रण स्थापित होगा। इसके फलस्वरूप व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अनेक प्रतिबन्ध लग जाएंगे तथा व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का पुर्जा बन जायेगा। वैलोक के शब्दों में, "व्यक्ति राज्य का दास बन जाएगा और समाजवाद एक गुलाम राज्य की नींव डालता है।"

(4) **दोषपूर्ण कर पद्धति** – समाजवादी अधिक आय पर अधिक कर लगाने के पक्ष में हैं। किन्तु यदि बहुत अधिक कर लगाये गये तो करों में चोरी की प्रवृत्ति पैदा होगी।

(5) **राजकीय पूँजीवाद** – समाजवाद राजकीय पूंजीवाद का पर्याय है। पूँजीवाद में पूँजीपति व्यक्तिगत रूप से पूँजी के स्वामी होते हैं जबकि समाजवाद में सारे पूँजीपति लोग राजसत्ता ग्रहण कर लेंगे और व्यक्तिगत पूँजीवाद राज्य पूँजीवाद में परिवर्तित हो जाएगा।

(6) **केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति** – समाजवादी राज्य में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप वैयक्तिक पहल समाप्त हो जायेगी।

समाजवाद का समर्थन

समाजवाद के समर्थन में अनेक सबल दलीलें दी जा सकती हैं। **प्रथम**, यह नियोजित समाज व्यवस्था का सिद्धान्त है। **द्वितीय**, समाजवादी व्यवस्था में वे बुराइयाँ नहीं पनप पाएंगी जो व्यक्तिवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजीवाद के कारण उत्पन्न होती हैं। **तृतीय**, यह सामाजिक न्याय की स्थापना को लेकर चलने वाला सिद्धान्त है। **चतुर्थ**, वैधानिक और शांतिपूर्ण तरीकों से समाज में न्याय और समानता लाने का सुन्दरतम प्रयास है। **पंचम**, राजकीय समाजवाद के माध्यम से ही लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सकती है। **षष्ठ**, यह समाजवाद और लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता और समानता का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष

समाजवाद का यह समष्टिकवादी रूप यूरोप में और खासकर इंग्लैण्ड में अधिक लोकप्रिय रहा है। एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश भी इसे अपनाते हैं। अमेरिका जैसे पूंजीवादी देश में भी इसके अनेक सिद्धान्त कार्यान्वित हुए हैं। 'राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन' 'समान कार्य के लिए समान वेतन', 'काम करने के घण्टों में कमी' आदि सर्वमान्य सिद्धान्त आज सभी देशों ने स्वीकार कर लिए हैं।

प्रश्न

1. राज्य के कार्य सम्बन्धी प्रमुख दृष्टिकोणों का परीक्षण कीजिए।
2. राज्य के कार्यों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'राज्य एक आवश्यक बुराई है।' समझाइये।
2. 'वह सरकार श्रेष्ठ है जो न्यूनतम शासन करती है।' समझाइये।
3. समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्य क्षेत्र बतलाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राज्य को साधन मानने वाली कौन सी विचारधारा नहीं है :
   (अ) व्यक्तिवादी (ब) बहुलवादी (स) अराजकतावादी (द) फासीवादी।
2. निम्न में से कौन से विचारक राज्य के कार्यों को पुलिस कार्यों तक ही सीमित रखना चाहते हैं :
   (अ) प्लेटो एवं अरस्तू (ब) प्लेटो एवं हीगल
   (स) जे. एस. मिल एवं हरबर्ट स्पेन्सर (द) हीगल एवं ग्रीन।
3. वह कौन सी विचारधारा है जो मानती है कि व्यक्ति का कल्याण राज्य की सत्ता की समाप्ति में निहित है :
   (अ) अराजकतावादी (ब) समाजवादी (स) आदर्शवादी (द) मार्क्सवादी।
4. निम्न में से कौन सा विचार अधिक तर्कसंगत है :
   (अ) राज्य एक साधन है (ब) राज्य एक साध्य है
   (स) राज्य एक साधन भी है और साध्य भी (द) इनमें से कोई भी नहीं।
5. लास्की के मतानुसार :
   (अ) राज्य एक साधन है (ब) राज्य एक साध्य है
   (स) राज्य, साधन और साध्य दोनों है (द) इनमें से कोई भी नहीं।
6. निम्न में से कौन सा विचारक राज्य के अत्यंत व्यापक कार्यक्षेत्र का समर्थक था :
   (अ) हरबर्ट स्पेन्सर (ब) जे. एस. मिल (स) अरस्तू (द) इनमें से कोई नहीं।
7. बेन्थम के अनुसार राज्य का उद्देश्य है :
   (अ) अधिकतम स्वतंत्रता का संरक्षण (ब) अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख
   (स) लोककल्याण (द) विदेशी आक्रमण से रक्षा।
8. हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार राज्य का उद्देश्य है :
   (अ) सार्वजनिक संस्थाएँ स्थापित करना (ब) अधिकतम स्वतंत्रता का संरक्षण
   (स) जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना (द) शांति एवं व्यवस्था बनाए रखना।

उत्तर - (1) द, (2) स, (3) अ, (4) स, (5) अ, (6) स, (7) ब, (8) ब

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

11

सम्प्रभुता : बहुलतावादी आलोचना

(SOVEREIGNTY : PLURALISTIC CRITICISM)

'प्रभुसत्ता' अथवा 'सम्प्रभुता' राज्य का आवश्यक तत्व है। वस्तुत: यही वह तत्व है जो राज्य तथा अन्य समुदायों के बीच प्रभेद स्थापित करता है। प्रभुसत्ता के कारण ही राज्य देश के अन्दर सर्वोपरि होता है तथा समुदायों के बीच प्रभेद करता है। प्रभुसत्ता के कारण ही राज्य देश के अन्दर सर्वोपरि होता है तथा विदेशी हस्तक्षेप से स्वतन्त्र होता है। राजनीतिक चिन्तकों का यह मत है कि राज्य बाह्य रूप से तो स्वतन्त्र होता ही है, किन्तु उसमें एक ऐसी आन्तरिक सत्ता भी होनी चाहिए जो सर्वोपरि हो, अर्थात् जिसकी अधीनता सभी व्यक्ति और व्यक्ति-समूह स्वीकार करते हों। इसी सत्ता को उन्होंने 'प्रभुसत्ता' (Sovereignty) का नाम दिया है।

सम्प्रभुता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning & Definitions of Sovereignty)

सम्प्रभुता का आंग्ल पर्यायवाची शब्द 'सॉवरेन्टी' शब्द लैटिन भाषा के शब्द 'सुपर' और 'एनस' से बना है जिसका तात्पर्य उस भाषा में 'सर्वोच्च शक्ति' होता है। साधारण शब्दों में प्रभुसत्ता सबसे उच्चतम शक्ति को कहते हैं। राज्य में ऐसी शक्ति का होना आवश्यक है अन्यथा हर व्यक्ति व समूह अपनी इच्छानुसार कार्य करने लग जायेगा और एक संघर्ष एवं अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

यह सच है कि "सम्प्रभुता का प्रश्न राजनीति विज्ञान के सर्वाधिक विवादास्पद और उलझे हुए प्रश्नों में से एक है" तथापि विद्वानों ने समय-समय पर इसका अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। राजनीतिशास्त्र में सम्प्रभुता का अर्थ राज्य की सर्वोच्च सत्ता से है जिसके आदेश व कानून सर्वोपरि अथवा अन्तिम रूप से मान्य होते हैं। यह वह शक्ति है जिसकी अन्तिम अभिव्यक्ति राज्य में पुलिस और सेना के द्वारा होती है। आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में इस सत्ता की आज्ञाओं के विरुद्ध अन्य कोई व्यक्ति या संघ कार्य नहीं कर सकता और न ही इसके विरुद्ध कानूनी रूप से कहीं कोई अपील की जा सकती है।

प्रभुसत्ता की अनेक परिभाषाएं दी गई हैं जिनमें से कतिपय महत्वपूर्ण परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

बोदाँ – "प्रभुसत्ता नागरिकों तथा प्रजा के ऊपर वह उच्चतम शक्ति है जिस पर कोई वैधानिक नियन्त्रण नहीं है।"

ग्रोशियस – "प्रभुसत्ता वह उच्चतम शक्ति है जो उस व्यक्ति में निहित होती है जिसके कार्यों को किसी अन्य व्यक्ति की इच्छा शून्य करार नहीं दे सकती।"

जेलीनेक – "सम्प्रभुता राज्य की वह विशेषता है जिसके कारण राज्य पर उसकी इच्छा के अलावा अन्य कोई भी बन्धन लागू नहीं होता और जिसे स्वयं की शक्ति के अतिरिक्त अन्य शक्ति द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता।"

बर्गेस – "सम्प्रभुता व्यक्तियों और उनके समुदायों के ऊपर प्राप्त् राज्य की मौलिक, निरपेक्ष एवं असीमित शक्ति है।"

डूग्वे – "सम्प्रभुसत्ता राज्य की आदेश देने की शक्ति होती है; राज्य के रूप में संगठित राष्ट्र की यह इच्छा होती है; यह वह अधिकार है जिसके आधार पर राज्य के निश्चित क्षेत्र में सभी व्यक्तियों को असीमित आदेश दिये जा सकते हैं।

विलोबी – "प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोत्तम इच्छा होती है।"

जेंक्स – "सम्प्रभुता वह अन्तिम व अमर्यादित अधिकार है जिसकी इच्छा द्वारा ही नागरिक कुछ कर सकते हैं।"

पोलक – "प्रभुसत्ता वह शक्ति है जो न तो अस्थायी होती है, न किसी अन्य द्वारा प्रदान की हुई होती है, न किन्हीं ऐसे विशिष्ट नियमों द्वारा बंधी हुई होती है जिन्हें वह स्वयं न बदल सके और न जो पृथ्वी पर अन्य किसी शक्ति के प्रति उत्तरदायी होती है।"

लास्की – "राज्य अपने प्रदेश में स्थित सभी व्यक्तियों तथा व्यक्ति-समुदाय को आदेश देता है परन्तु वह इनमें से किसी के द्वारा आदेश प्राप्त नहीं करता।"

प्रभुसत्ता सम्बन्धी उपर्युक्त परिभाषाओं का सार यही है कि – एक निश्चित क्षेत्र में राज्य की सर्वोपरि शक्ति होती है। किन्तु इनमें से अधिकांश परिभाषाएँ एक पक्षीय हैं। वे प्रभुसत्ता के केवल एक पक्ष-आन्तरिक प्रभुसत्ता-का ही विमोचन करती हैं, जबकि प्रभुसत्ता के दो पक्ष-आन्तरिक प्रभुसत्ता तथा बाह्य प्रभुसत्ता- होते हैं। यहाँ प्रभुसत्ता के दोनों पक्षों पर संक्षिप्त विचार किया जा सकता है–

आन्तरिक प्रभुसत्ता – आन्तरिक प्रभुसत्ता से तात्पर्य केवल इतना है कि राज्य की भौगोलिक सीमा में निवास करने वाले कोई भी व्यक्ति समुदाय व संगठन, चाहे वे कितने ही बड़े, पुराने व शक्तिशाली क्यों न हों, राज्य की प्रभुसत्ता के ऊपर नहीं हो सकते। लास्की ने लिखा है कि राज्य प्रदेश के सब मनुष्यों व समुदायों को आज्ञा प्रदान करता है और उसे इनमें से कोई भी आज्ञा नहीं देता। गार्नर के शब्दों में, "सम्प्रभुता राज्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में विस्तृत होती है और एक राज्य के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्ति और समुदाय इनके अधीन होते हैं।"

बाह्य प्रभुसत्ता – प्रभुसत्ता के बाह्य पक्ष से तात्पर्य यह है कि कोई भी सम्प्रभु राज्य अपनी विदेश नीति बनाने व विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने में पूर्णत: स्वतन्त्र होता है। लास्की प्रभुसत्ता को स्वतन्त्र राष्ट्रों की इच्छा व्यक्त करने वाली शक्ति बतलाता है, जिस पर किसी बाह्य शक्ति का कोई प्रभाव पड़ने की आवश्यकता नहीं है।

निष्कर्षत : प्रभुसत्ता राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके द्वारा राज्य के निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियों एंव समुदायों पर नियन्त्रण रखा जाता है और जिसके फलस्वरूप एक राज्य अपने ही समान अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

सम्प्रभुता के लक्षण (Characteristics of Sovereignty)

प्रभुसत्ता के कुछ लक्षण सर्वमान्य बन गए हैं। नीचे हम उन पर एक-एक करके विचार करेंगे–

1. **निरंकुशता (Absoluteness)**– इस लक्षण से तात्पर्य है कि जनता के लिए राज्य की शक्ति से बढ़कर कोई अन्य शक्ति न राज्य के भीतर और न राज्य के बाहर हो। ऐसी सर्वोच्च शक्ति केवल एक ही हो सकती है। इस शक्ति के प्रयोग में चाहे कुछ सीमाएं माननी पड़ें, पर ये सीमाएं केवल राज्य की ओर से इस शक्ति का प्रयोग करने वालों के ऊपर लागू होती है। यह शक्ति स्वयं असीमित है और इसके ऊपर कोई अन्य मानव शक्ति नहीं हो सकती।

2. **स्थायित्व (Permanence)**– प्रभुसत्ता एक स्थायी वस्तु है। जब तक राज्य का अस्तित्व है तब तक उसका पाया जाना आवश्यक है। राज्य की आत्मा होने के कारण उसे राज्य का जीवन कहा जा सकता है। सरकार व शासन बदलते रहते हैं किन्तु प्रभुसत्ता का अन्त नहीं होता। प्रभुसत्ता का अन्त राज्य के अन्त का लक्षण है। राज्यतन्त्र में यदि कोई राजा मर जाता है तो प्रभुसत्ता अपने आप उसके उत्तराधिकारियों को चली जाती है। इसी कारण ब्रिटिश शासन विधान में यह कहावत प्रचलित हो गई है कि "राजा मृत है, राजा चिरायु हो" (king is dead, long live the king)। इस सम्बन्ध में गार्नर ने लिखा है," स्थायित्व से तात्पर्य कि जब तक राज्य कायम रहता है तब तक प्रभुसत्ता भी कायम रहती है। प्रभुत्वधारी की मृत्यु अथवा अल्पकालीन पदच्युति तथा राज्य के पुन: संगठन के कारण प्रभुता नष्ट नहीं होती।" दूसरे शब्दों में, जब तक राज्य का अस्तित्व रहेगा, प्रभुसत्ता भी रहेगी।

NOTES

3. **सर्वव्यापकता (Comprehensiveness)**– इससे तात्पर्य है कि प्रभुसत्ता का प्रभाव राज्य की सीमा के अन्तर्गत सभी मनुष्यों, समुदायों और व्यक्तियों पर होता है। राज्य का कोई भी भाग, व्यक्ति या संस्था उसके प्रभाव व अधिकारों से मुक्त नहीं होती है। सम्प्रभुता अपनी इच्छा से किसी को भी अपने नियन्त्रण से मुक्ति प्रदान कर सकती है, उदाहरण के लिए विदेशी राजदूतावास, अपने राज्य के भीतर से गुजरती विदेशी सेनाओं, व्यापारिक प्रतिनिधियों आदि को अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार के कारण सम्प्रभु के नियंत्रण से कुछ रियायतें प्राप्त होती हैं। इसे 'राज्येतर सम्प्रभुता का सिद्धान्त' कहते हैं। यदि कोई राज्य चाहे तो इन रियायतों को वापिस ले सकता है।

4. **अदेयता (Inalienability)**– प्रभुसत्ता को राज्य से अलग नहीं किया जा सकता। उसे किसी को नहीं दिया जा सकता। राज्य से प्रभुसत्ता को पृथक करने का अर्थ राज्य को समाप्त करना होगा। जिस प्रकार शरीर से प्राण निकल जाने पर शरीर निर्जीव हो जाता है, उसी प्रकार यदि राज्य से सत्ता को पृथक कर दिया जाये तो राज्य का अन्त हो जाता है। इसी विचार को स्पष्ट करते हुए लीवर ने लिखा है कि प्रभुसत्ता का अपृथक्करणीयत्व उसी प्रकार का है जैसा कि वृक्ष का अंकुरित होने का अधिकार जिन्हें हस्तान्तरित करने से वृक्ष एवं व्यक्ति स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे।

5. **एकत्व (Indivisibility)**– प्रभुसत्ता एक होती है, अनेक नहीं। प्रभुसत्ता को टुकड़ों में बाँटा जा सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य में कोई समानान्तर सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता नहीं हो सकती। जॉन कैल्हन के अनुसार,"प्रभुसत्ता एक सम्पूर्ण वस्तु है। उसको विभाजित करना, उसे नष्ट करना है।" रूसो के शब्दों में, "प्रभुसत्ता का विभाजन केवल एक धोखा है।" गैटेल के कथनानुसार, "जहाँ तक प्रभुसत्ता अनियन्त्रित नहीं है वहाँ राज्य का अस्तित्व भी नहीं है, यदि प्रभुसत्ता विभाजित है तो एक से अधिक राज्य हैं। वह स्पष्टतया कहता है कि "विभाजित प्रभुता अपने आप में एक विरोधाभास है।"

प्रभुसत्ता के एकतत्व के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। लॉवेल के अनुसार एक प्रदेश में दो सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शक्तियाँ हो सकती हैं, जो उन्हीं प्रजाजनों को विभिन्न मामलों में आदेश दें, जैसा कि संघीय राज्य में होता है। लार्ड ब्राइस का भी यही मत है कि एक राज्य में दो सत्ताएं हो सकती हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये विद्वान वस्तुतः राज्य और शासन में प्रभेद को भूल गये हैं। विभाजन सरकार की सत्ता का भी हो सकता है, प्रभुत्व शक्ति का नहीं। इस सम्बन्ध में गैटेल ने लिखा है, "संघीय शासन व्यवस्था में सम्प्रभुता का विभाजन नहीं होता, जो कि समस्त राज्य में निहित होती है, परन्तु इसकी अनेक शक्तियों का विभाजन होता है जो कि वैधानिक रीति से शासन के विविध अंगों में विभक्त होती है।"

6. **मौलिकता (Originality)**– प्रभुसत्ता मौलिक होती है, वह किसी के द्वारा प्रदत्त नहीं हो सकती है। प्रभुसत्ता का अस्तित्व स्वयं अपने ही अधिकार से है। यदि वह किसी के द्वारा प्रदत्त है तो प्रदत्त करने वाली शक्ति उससे उच्चतर हो जाएगी।

7. **चिरभोगिता (Imprescriptibility)** – इससे तात्पर्य है कि राज्य यदि किसी भी क्षेत्र में अपनी प्रभुसत्ता का एक लम्बे समय तक प्रयोग नहीं करता है तब भी इसका यह परिणाम निकलेगा कि उसकी प्रभुसत्ता का उस क्षेत्र पर अन्त हो गया है। निरन्तर उपभोग में न लाने पर भी राज्य की सर्वोच्च शक्ति उसी में निहित रहती है।

संक्षेप में, उपर्युक्त लक्षणों से हमको प्रभुसत्ता के स्वभाव का अच्छा बोध होता है।

सम्प्रभुता के प्रकार
(Kinds of Sovereignty)

"सम्प्रभुता" शब्द का प्रयोग विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न उद्देश्यों से तथा विभिन्न रूपों में किया गया है। अतः जब तक प्रभुसत्ता के प्रचलित प्रकार का वर्णन न किया जाये तब तक उसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता। प्रभुसत्ता के प्रचलित रूप इस प्रकार हैं :-

(1) औपचारिक तथा वास्तविक सम्प्रभुता (Nominal and Real Sovereignty)

औपचारिक सम्प्रभुता का मतलब उस शासक, राजा या सम्प्रभु से होता है जिसे वास्तविक अधिकार तो नहीं मिले होते परन्तु सरकार का प्रमुख या प्रतीक रूप में अध्यक्ष वही माना जाता है तथा सरकार के सभी महत्वपूर्ण कार्य उसी के नाम से किये जाते हैं। गैटेल के अनुसार यदि राज्य का प्रधान औपचारिक, रस्मी या नाममात्र का सत्ताधारी है तो वह औपचारिक प्रभुसत्ता कहलाएगी। संवैधानिक अथवा कानूनी रूप में समस्त शक्तियाँ औपचारिक सम्प्रभु को प्राप्त होती है, परन्तु उनका प्रयोग उसके नाम पर अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। इंगलैण्ड का सम्राट तथा भारत का राष्ट्रपति ऐसे ही औपचारिक सम्प्रभु हैं। ब्रिटेन का सम्राट वैधानिक अध्यक्ष है। यद्यपि सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ उसी के नाम से की जाती है, सारे महत्वपूर्ण निर्णय उसके माने जाते हैं, सभी न्यायालय उसी के न्यायालय कहे जाते हैं, परन्तु सच्चाई यह है कि वास्तविक रूप से उन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल करता है। भारत में भी संघीय कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्रपति है, परन्तु वास्तविक शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के द्वारा किया जाता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि इंग्लैण्ड का राजा तथा भारत के राष्ट्रपति राज्य करते हैं, शासन नहीं।

यदि राज्य के प्रधान अधिकारी के हाथों में वास्तविक सत्ता होती है तो उसे वास्तविक सम्प्रभु कहा जाता है। उदाहरणार्थ, भारत में और इंग्लैण्ड में प्रधान मंत्री तथा कैबिनेट वास्तविक सत्ताधारी हैं।

संक्षेप में, वास्तविक और औपचारिक प्रभुसत्ता का यह भेद संसदात्मक शासन प्रणाली में ही होता है। संसदीय शासन वाले देशों में कार्यपालिका दो भागों में विभक्त की जा सकती है। राज्य के प्रधान के अधिकार नाममात्र के होते हैं तथा वास्तविक शक्तियाँ मंत्रिपरिषद के हाथ में रहती हैं। सिद्धान्त में शासन की समस्त शक्तियाँ उसी में निहित रहती हैं परन्तु व्यवहार में उसकी शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमण्डल करता है।

(2) विधित: और यथार्थ सम्प्रभुता (De Jure and De Facto Sovereignty)

विधित: सत्ताधारी उसे कहना चाहिए जिसकी सत्ता संविधान की दृष्टि से नियमित और न्यायपूर्ण (de jure) हो। इसके प्रतिकूल यदि उसकी सत्ता केवल शक्ति पर आधारित है तो उसे हम यथार्थ सत्ताधारी (de facto) कहेंगे। **लार्ड ब्राइस** के शब्दों में, "यथार्थ सम्प्रभु वह है जिसकी आज्ञाओं और आदेशों का वास्तव में पालन होता है, चाहे उसकी प्रभुता का आधार कानूनी हो या न हो।"

वास्तविक या यथार्थ सम्प्रभु लोगों को अपने प्रति भक्ति रखने के लिए बाध्य कर सकता है। कोई एक मंत्री, अधिनायक या सेना का जनरल जब सत्ता हस्तगत कर लेता है तो वह यथार्थ सम्प्रभु होता है। उसे सत्ता हस्तगत करते समय विधित: सम्प्रभुता प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ 1917 में रूस में क्रान्ति के बाद लेनिन की साम्यवादी सरकार को केवल यथार्थ सत्ताधारी माना गया, परन्तु कुछ समय तक विधित: सम्प्रभुता जार राजा की ही मानी जाती रही। चीन में साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् वर्षों तक अनेक पश्चिमी देशों ने च्यांग काई शेक की सरकार को ही वैधानिक सम्प्रभु माना, जबकि यथार्थत: शासन पर साम्यवादियों का ही प्रभावशाली नियन्त्रण रहा। यथार्थ सत्ताधारी को जनता द्वारा मान्यता मिल जाने पर उसे वैधानिक दर्जा प्राप्त हो जाता है। रूस और चीन में जब साम्यवादी सरकारें सुदृढ़ हो गयीं तो उसे वैध सत्ताधारी मान लिया गया। इस प्रकार यथार्थ सम्प्रभु अनेक बार वैध सम्प्रभु का रूप ग्रहण कर लेता है।

जैसा कि **गार्नर** ने लिखा है कि, "जो सम्प्रभु अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा स्थापित करने में सफल हो जाता है, वह कालान्तर में, जनता द्वारा मान लिए जाने अथवा राज्य के पुनर्गठन के कारण वैध सम्प्रभु बन जाता है।"

वस्तुत: इन दोनों प्रकार के सम्प्रभुओं की स्थिति का पता विद्रोह के समय चलता है। यथार्थ सम्प्रभु क्रान्ति अथवा विद्रोह का फल होता है। जब कोई व्यक्ति या गुट प्रचलित संविधान की उपेक्षा कर क्रान्ति या शक्ति के प्रयोग द्वारा शासन शक्ति अपने हाथ में ले लेता है तो वह यथार्थ सम्प्रभु कहलाता है तथा पुरानी सरकार विधित: सम्प्रभु रहती है। यथार्थ सम्प्रभुता के कई उदाहरण हैं, जैसे हिटलर द्वारा बेल्जियम तथा फ्रांस को जीतकर वहाँ स्थापित सरकार (1939-40); इंग्लैण्ड की संसद को भंग कर क्रामवेल द्वारा स्थापित सरकार (1949); फ्रांस में नेपोलियन की सरकार, पाकिस्तान में अयूब (1958) तथा जनरल जिया

(1976) की सरकार आदि। किन्तु विधित: सम्प्रभु और यथार्थ सम्प्रभु अधिक समय तक एक दूसरे से अलग-अलग नहीं रह सकते। जनता की स्वीकृति मिलने पर यथार्थ सत्ता वैधानिक सत्ता का रूप ले लेती है और जनता द्वारा मान्यता न दिये जाने पर वह पलट जाती है। इस प्रकार जनता द्वारा मान्यता मिलने पर अथवा अधिक समय तक स्थिर रहने पर यथार्थ सत्ता को वैधानिक पद प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ जुलाई 1973 में सरदार मोहम्मद दाऊद ने क्रान्ति के आधार पर अफगानिस्तान के शाह जहीरशाह को पदच्युत कर सत्ता प्राप्त कर ली। इस प्रकार मोहम्मद दाऊद की सरकार यथार्थ सम्प्रभु थी और थोड़े ही समय में व्यापक जन-समर्थन के आधार पर उसे विधित: सम्प्रभुता भी प्राप्त हो गयी। इसी प्रकार जब नेपोलियन फ्रांस का सम्राट बन गया तो उसे जनता ने स्वीकृति देकर वैध सम्प्रभु बना दिया।

एक ही सत्ताधारी वैधानिक और यथार्थ दोनों ही हो सकता है। एक दृष्टि से भारत के राष्ट्रपति तथा इंग्लैण्ड का सम्राट इसी प्रकार के सत्ताधारी हैं। विधि की दृष्टि से, जनता की इच्छा से और यथार्थ में वे अपने देश में सत्ताधीश हैं।

एक राज्य में दो प्रकार की सत्ताओं का होना तभी सम्भव है जबकि वहाँ गृहयुद्ध की स्थिति हो। किन्तु कुछ समय बाद अन्ततोगत्वा एक ही सत्ता रह जाती है।

(3) वैधानिक तथा राजनैतिक सम्प्रभुता (Legal and Political Sovereignty)

एक राज्य के अन्तर्गत कानूनों का निर्माण करने और उनका पालन करने की सर्वोच्च शक्ति जिस सत्ता के पास होती है उसे वैधानिक अथवा कानूनी सम्प्रभु कहा जाता है। वैधानिक सम्प्रभु वह है जिसे न्यायालय स्वीकार करता है, जिसे कानून अथवा विधि बनाने तथा बिगाड़ने का पूर्ण अधिकार हो। वैध सम्प्रभु किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय, नैतिक तथा प्राकृतिक नियमों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। कानूनी सम्प्रभु न्यायालय तथा वकीलों का सम्प्रभु है। न्यायालय केवल वैध सम्प्रभु की आज्ञाओं का पालन करते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुयायियों में बोदाँ, हॉब्स, बेन्थम, ऑस्टिन इत्यादि प्रमुख हैं। इनके मतानुसार प्रभुसत्ता एक निश्चित और प्रत्यक्ष व्यक्ति-समूह में निहित होनी चाहिए और राज्य में जिसे कानून बनाने का अधिकार है, उसी को कानून की दृष्टि में प्रभुसत्ताधारी माना जायेगा।

वस्तुत: कानून निर्मात्री संस्थाओं में वैधानिक सम्प्रभुता का निवास होता है। आधुनिक लोकतंत्रीय राज्यों में यह सत्ता संसद में होती है। वह सम्पूर्ण राज्य के लिए विधि निर्माण करती है और उन विधियों का पालन सम्पूर्ण राज्य के निवासियों को करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, कानूनी दृष्टि से ब्रिटिश संसद को सर्वशक्तिशाली संस्था कहा जा सकता है। डायसी ने कहा है : "संसद की सम्प्रभुता कानूनी दृष्टि से हमारी राजनीतिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण विशेषता है।" डी लोमे लिखता है कि, "ब्रिटिश संसद सब कुछ कर सकती है, केवल स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती है।"

कानूनी सत्ता को प्रभावित करने वाली शक्तियों को ही राजनीतिक सत्ता कहा जाता है। कतिपय विद्वानों का मत है कि राजनीतिक दृष्टि से सम्प्रभुता उस समूह-जनता-में निहित है जो कानूनी सम्प्रभु का मालिक है और जिसके समर्थन से ही कानूनी सम्प्रभु को उसका स्थान तथा शक्ति प्राप्त होती है। डायसी ने कहा है कि वकीलों द्वारा मान्य प्रभुसत्ताधारी के अतिरिक्त राज्य में एक अन्य प्रभुसत्ताधारी भी होता है जिसके आगे कानूनी प्रभुसत्ताधारी को भी सिर झुकाना पड़ता है। इसे उसने राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी कहा है। राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी हमेशा निश्चित और स्पष्ट नहीं होता। कहीं पर वह एक मंत्री हो सकता है कहीं पर वह एक सम्राट, कहीं पर सेनापति और कहीं पर मतदाता। कभी-कभी लोकमत तथा निर्वाचकों की इच्छा को राजनैतिक सम्प्रभु के नाम से पुकारा जाता है और उसमें जो शक्ति होती है उसे राजनैतिक सम्प्रभुता कहा जाता है। यदि इंग्लैण्ड में राजनैतिक प्रभु की खोज की जाये तो यह कहा जा सकता है कि वहाँ संसद कानूनी सम्प्रभु है तथा वहाँ का मतदाता राजनैतिक सम्प्रभु है क्योंकि उसी के द्वारा संसद की रचना होती है। इस सम्बन्ध में लीकॉक का कहना है कि राजनीतिक प्रभुसत्ता की जितनी खोज की जाए उतनी ही वह दूर भागती दिखायी देती है।

प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था वाले देशों में वैधानिक और राजनीतिक प्रभुता में कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि विधि-निर्माण प्रक्रिया में भी जनता की भूमिका रहती है। किन्तु प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि विधि-निर्माता के रूप में कार्य करते हैं। अत: वह प्रतिनिध्यात्मक विधायिका वैधानिक सम्प्रभु होती है तथा उस पर नियन्त्रण रखने वाली जनता (मतदाता) राजनीतिक सम्प्रभु कहलाती है। **गिलक्राइस्ट** के अनुसार, "राजनीतिक सम्प्रभु का अर्थ है राज्य में कानून के पीछे रहने वाला सामूहिक प्रभाव। आधुनिक प्रतिनिध्यात्मक सरकार में हम उसे मोटे तौर पर लोगों की इच्छा कह सकते हैं।"

वस्तुत: वैधानिक और राजनीतिक सम्प्रभु दो भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। यथार्थ में वह प्रभुसत्ता के दो पक्ष हैं और उनके बीच घनिष्ठ सम्बन्ध आवश्यक हैं। यदि वैधानिक प्रभु, याने संसद, और राजनैतिक प्रभु, याने मतदाता, के मध्य संघर्ष होता है तो उसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं। इसी कारण **रिची** ने लिखा है कि "एक अच्छे शासन की समस्या अधिकांश में वैधानिक सम्प्रभु तथा राजनीतिक सम्प्रभु के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की समस्या है।"

(4) लोक प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty)

लोक प्रभुसत्ता से तात्पर्य है – जनता की प्रभुसत्ता। लोकतंत्रीय राज्यों में प्रभुसत्ता अन्ततोगत्वा जनता में निहित होती है और जनता को ही सर्वोपरि माना जाता है। 'जनता' शब्द अस्पष्ट है अत: लोक प्रभुसत्ता मतदाताओं या निर्वाचकों में सन्निहित होती है। लोक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन मारसीलियो तथा विलियम आदि ने किया था। गार्नर ने लिखा है, "लोकप्रिय प्रभुसत्ता का अर्थ निर्वाचक समूह की बहुसंख्या की शक्ति से अधिक कुछ नहीं होता... और यह उन्हीं देशों में सम्भव है जिनमें व्यापक मताधिकार की प्रणाली प्रचलित है और वैध रूप में स्थापित मार्गों द्वारा उनकी इच्छा को व्यक्त और प्रसारित करने के लिये क्रियान्वित होती है।"

लोकप्रिय सम्प्रभुसत्ता सिद्धान्त का विकास 17 वीं एवं 18 वीं शताब्दी में राजाओं के दैवी अधिकारों के विरोध में हुआ था। रूसो ने अपनी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा लोकप्रिय सम्प्रभुता का जोरदार समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप फ्रांस में क्रान्ति की आग भड़की। फ्रांसीसी क्रान्ति ने अमरीकी स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त किया और अमरीकी स्वातन्त्रय – घोषणा में लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त को समुचित स्थान मिला। आज के लोकतान्त्रिक युग में लोकप्रिय सम्प्रभुता को अत्यधिक महत्व प्राप्त हुआ है। **ब्राइस** के शब्दों में, "लोकप्रिय सम्प्रभुता लोकतन्त्र का आधार और मूल मंत्र है।"

सम्प्रभुता का अधिवास (Location of Sovereignty)

सम्प्रभुता के अधिवास से अभिप्राय है कि सम्प्रभुता राज्य में कहाँ रहती है अथवा प्रभुसत्ता का निवास कहाँ है ? यह एक विवादास्पद एवं जटिल प्रश्न है, जिसका उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता। उदाहरणार्थ यदि यह खोजना हो कि भारत की प्रभुसत्ता का निवास कहाँ पर है तो उसको ढूंढ़ निकालना आसान नहीं है। राष्ट्रपति सर्वोच्च अधिकारी है, परन्तु उसे महाभियोग द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है। प्रधानमंत्री संसद का नेता होता है किन्तु संसद किसी भी समय अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा उसे हटा सकती है। संसद विधियाँ बनाती है और संविधान में मनचाहा संशोधन कर सकती है किन्तु न्यायालय संविधान के विरुद्ध विधियों को अवैध घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सम्प्रभु नहीं है, उन्हें भी संसद कतिपय परिस्थितियों में हटा सकती है। तो फिर क्या सम्प्रभुता का वास जनता में है ? जनता से अभिप्राय 'पूरी जनता' से है अथवा केवल 'निर्वाचन में भाग लेने वालों' से है। क्या जनता की भीड़ को सम्प्रभु कहा जा सकता है ?

विभिन्न मत (Different Views)

बेन्थम के मतानुसार प्रभुसत्ता विधानांग में निहित होती है। **जेनिंग्स** के अनुसार प्रभुसत्ता संविधान निर्मात्री सभा में निहित होती है। **सिसरो** ने इस विचार का प्रतिपादन किया कि प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है। 16 वीं शताब्दी में 'राजतंत्र' के युग में यह माना जाता था कि प्रभुसत्ता राजा में निहित होती है। संघीय शासन प्रणाली में प्रभुसत्ता का वास दो पृथक स्थानों–केन्द्र एवं राज्यों में माना जाता है।

NOTES

कतिपय विचारकों के अनुसार उसका निवास उस जनसमूह एवं संस्था में होता है जिसके पास संविधान में संधोधन करने की शक्ति होती है।

हॉब्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे प्रत्येक व्यक्ति से समझौता कर अपने प्राकृतिक अधिकारों को एक सम्प्रभु व्यक्ति या व्यक्तियों की सभा को सौंप देता है तदुपरान्त राष्ट्रमण्डल या राज्य की स्थापना होती है। यह व्यक्ति या व्यक्तियों की सभा, जिसे समस्त व्यक्ति अपने अधिकार देते हैं, सम्प्रभु कहलायेगी। **रूसो** ने सम्प्रभुता का निवास "सामान्य इच्छा" में माना है। **हीगल** सम्प्रभुता का निवास राज्य में मानता है। **ऑस्टिन** के अनुसार प्रभुसत्ता राज्य के अन्तर्गत किसी निश्चित व्यक्ति में निवास करती है।

सम्प्रभुता के अधिवास के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचारों का प्रतिपादन किया गया है :-

(1) **सम्प्रभुता का अधिवास राजा में है** – जब राजतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित थी तो यह माना जाता था कि 'सम्प्रभुता राजा में निहित होती है।' फ्रांस का शासक लुई चौदहवाँ तो कहा करता था कि "मैं ही राज्य हूं।" वर्तमान में कहीं लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित है, कहीं संसदात्मक शासन-पद्धति कार्यरत है तो कहीं संघात्मक व्यवस्था ; ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन प्रतीत होता है कि प्रभुसत्ता राजा जैसे सर्वस्वीकृत किसी एक व्यक्ति में निहित है।

(2) **सम्प्रभुता जनता में निहित है** – सर्वप्रथम रोमन विचारक सिसरो ने कहा कि सम्प्रभुता जनता में निहित है। 16 वीं तथा 17 वीं शताब्दी में यूरोप में जन-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तथा इस समय लॉक एवं रूसो जैसे संविदावादियों ने कहा कि शासन जन-स्वीकृति पर आधारित होता है और प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है। फ्रांस एवं अमरीकी क्रान्ति के समर्थकों ने इस मत का प्रबल समर्थन किया। जेफरसन जैसे अमरीकी विद्वान ने तो इसे उपयुक्त विचार बतलाया। वर्तमान समय में यह विचार अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। किन्तु व्यवहार में यह सिद्धान्त असंगत प्रतीत होता है क्योंकि – (a) असंगठित जनसमुदाय को सम्प्रभु नहीं माना जा सकता ; जनता असंगठित होती है। (b) निर्वाचन में भाग लेने वाले लोग संख्या में बहुत ही कम होते हैं अत: सम्पूर्ण जनता की प्रभुसत्ता उनमें कैसे निहित मानी जा सकती है ?

(3) **सम्प्रभुता का वास संविधान सभा में है** – जेनिंग्स जैसे विद्वानों का मत है कि प्रभुसत्ता संविधान – निर्मात्री सभा में निहित होती है। इस मत के अनुसार देश के सर्वोच्च कानून (संविधान) का निर्माण करने वाली सभा को सम्प्रभु कहा जा सकता है। भारत के एक भूतपूर्व मुख्य न्यायमूर्ति के. सुब्बाराव ने भी यह मत प्रकट किया था कि संविधान सभा ही सम्प्रभु होती है, किन्तु प्रभुसत्ता का एक मुख्य लक्षण उसका स्थायित्व है, जबकि लगभग सभी राज्यों में संविधान- निर्मात्री सभा स्थायी नहीं होती।

(4) **सम्प्रभुता का अधिवास विधायिका में है** – कुछ विद्वान यह मानते हैं कि प्रभुसत्ता का निवास राज्य की व्यवस्थापिका या संसद में होता है। उनका विचार है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका तो व्यवस्थापिका की इच्छा का ही पालन करती है। परन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि व्यवस्थापिका ही एकमात्र विधि-निर्माता निकाय नहीं होती। उसकी शक्तियों पर भी कई सीमाएं होती हैं। व्यवहार में व्यवस्थापिका की शक्तियाँ लोकमत, निर्वाचन, परम्पराएँ, धार्मिक नियम आदि अनेक बातों से सीमित होती हैं।

(5) **विधि निर्माण करने वाली समस्त संस्थाओं में प्रभुसत्ता** – **गेटेल** का मत है कि प्रभुसता विधानांग, न्यायालयों, संविधान-निर्मात्री परिषदों, कार्यांग की आज्ञाओं तथा मतदाताओं में निहित होती है। ये समस्त संस्थाएं विधि-निर्माण में सहयोग करती हैं, अत: प्रभुसत्ता राज्य के समस्त विधानांग में होती है।

समाज अथवा राज्य के वास्तविक 'प्रभु' अज्ञात हैं

ग्रे ने लिखा है "समाज के वास्तविक प्रभुओं की खोज नहीं की जा सकती।" व्यवहार में प्रभुसत्ता की स्थिति की खोज करना अव्यावहारिक है। प्रभुसत्ता राज्य का एक तत्व है, सरकार का नहीं। अतएव

यह अमूर्त है और इसे खोजने का प्रयास व्यर्थ है। **लीकॉक** ने ठीक ही कहा है कि प्रभुसत्ता की जितनी खोज की जाये उतनी ही वह दूर भागती दिखायी देती है।

प्रभुसत्ता अर्मूत है, प्रभुसत्ता को कभी देखा नहीं जा सकता, उसका प्रयोग होता है, उसका केवल अनुमान लगाया जाता है। प्रभुसत्ता अदृश्य है, समाज के वास्तविक प्रभुओं को कभी नहीं देखा जा सकता और न ही राज्य में कोई यह घोषित कर सकता है कि "उसमें प्रभुशक्ति निहित है।"

'राजनीतिक' दृष्टि से जो प्रभु होता है, उसे 'कानूनी' दृष्टि से प्रभु नहीं माना जाता। कभी-कभी विधित: प्रभु कोई और ही होता है और यथार्थ में प्रभुशक्ति किसी अन्य के पास होती है। साम्यवादी देशों में प्रभुता का पता लगाना और भी कठिन होता है। वहाँ सरकार, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, साम्यवादी दल आदि में प्रभुशक्ति का निर्धारण करना कठिन हो जाता है। कतिपय लोगों का मत है कि लोकतन्त्रात्मक देशों में प्रभुता का वास जनता में होता है या संविधान में। संविधान को भी संसद बदल सकती है। अत: निष्कर्षत: प्रभुसत्ता अमूर्त तथा अज्ञात है जिसे संकल्पना कहा जा सकता है।

जॉन ऑस्टिन का प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त
(John Austin's Concept of Sovereignty)

प्रभुसत्ता सिद्धान्त के विकास में जॉन आस्टिन के विचारों का विशेष महत्व है। प्रभुसत्ता की कानूनी व्याख्या करने वालों में आस्टिन का नाम प्रमुख रूप से आता है। आस्टिन इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विधि-शास्त्री थे और सन् 1832 में उन्होंने अपनी पुस्तक 'विधि-शास्त्र पर व्याख्यान' (Lectures on Jurisprudence) में सम्प्रभुता के कानूनी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आस्टिन के शब्दों में, "यदि कोई निश्चित उच्च सत्ताधारी अपने ही समान किसी उच्च सत्ताधारी की आज्ञापालन का अभ्यस्त नहीं है, किसी समाज के बहुसंख्यक सदस्यों से आदतन आज्ञापालन प्राप्त करता है, तो वह निश्चित उच्च सत्ताधारी उस समाज में सम्प्रभु है और वह समाज (उच्च को सम्मिलित करके) राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज है।"

ऑस्टिन हॉब्स और बेन्थम के विचारों से प्रभावित था। उसने कानून की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया तथा कानून को एक उच्च व्यक्ति द्वारा निम्न लोगों को दिया गया आदेश बतलाया। आस्टिन के शब्दों में, "कानून उन नियमों का संकलन है जो राजनीतिक दृष्टि से अधीन व्यक्तियों के लिए राजनीतिक दृष्टि से उच्च स्तर का व्यक्ति या सम्प्रभु बनाता है।" समाज का अधिकांश भाग उच्च कोटि के मनुष्य के आदेशों को मुख्यत: इसलिए मानता है कि उस उच्च कोटि के मनुष्य में अपने अधीन व्यक्ति या व्यक्तियों पर असीम दबाव डालने की शक्ति होती है।"

ऑस्टिन के सिद्धान्त का विश्लेषण

ऑस्टिन के प्रभुसत्ता सम्बन्धी दृष्टिकोण के विश्लेषण से निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं :-

(1) **सम्प्रभु कोई निश्चित मनुष्य होना चाहिए** – ऑस्टिन के सिद्धान्त के अनुसार सम्प्रभु एक निश्चित मनुष्य व समूह होता है। सम्प्रभु ऐसा होना चाहिए जो स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो और जिसे लोग सब अधिकारों के स्त्रोत के रूप में स्वीकार कर सकें। **गार्नर** के शब्दों में, "वह तो एक ऐसा निश्चित मनुष्य अथवा ऐसी सत्ता होनी चाहिए जिस पर स्वयं कोई कानूनी प्रतिबन्ध नहीं।"

(2) **सम्प्रभु सर्वोपरि होता है – ऑस्टिन** के अनुसार प्रभुसत्ता असीमित होती है। उसके ऊपर कोई कानूनी बन्धन नहीं होते। कोई उच्च अधिकारी उससे अपनी आज्ञाओं का पालन नहीं करा सकता।

(3) **आज्ञा-पालन तथा आज्ञा-पालन का स्थायित्व – ऑस्टिन** का मत है कि निश्चित प्रभु के प्रति आज्ञाकारिता स्थिर, निरन्तर और अप्रतिहत होनी चाहिए। सामान्य जन इसकी आज्ञा के पालन के अभ्यस्त हों। समाज के एक बड़े भाग द्वारा आज्ञा-पालन और इस आज्ञा-पालन का स्थायित्व, ये दोनों प्रभुसत्ता के आवश्यक तत्व हैं।

(4) **प्रभुसत्ता के आदेश कानून हैं – ऑस्टिन** के मत में, "उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश ही कानून होता है।" प्रभुसत्ता की अनुमति के बिना कोई कानून लागू नहीं हो सकता। प्रभुसत्ता के आदेश यानी कानून की अवहेलना करने वाला दण्ड का भागी होता है।

NOTES

(5) **एकल प्रभुसत्ता** – प्रभुसत्ता की शक्ति अखण्डित, अनियन्त्रित तथा अविभाज्य होती है। यह एक इकाई है और व्यक्तियों तथा संघों में इसका विभाजन नहीं हो सकता।

ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना

ऑस्टिन के प्रभुसत्ता सम्बन्धी दृष्टिकोण की ब्राइस, सिजविक, हेनरी मेन इत्यादि प्रख्यात लेखकों ने कड़ी आलोचना की है। उनके तर्क इस प्रकार हैं :-

(1) **निश्चित प्रभु की खोज कर पाना कठिन है** – ऑस्टिन के सिद्धान्त के केन्द्र-बिन्दु निश्चित प्रभु है, किन्तु इतिहास में इस प्रकार के निश्चित प्रभु के उदाहरण नहीं मिलते। हेनरी मेन ने लिखा है कि पूर्व के अनेक साम्राज्यों में ऐसी कोई चीज है ही नहीं जिसे ऑस्टिन का 'निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्य' (determinate human superior) कहा जा सके, उदाहरण के लिए पंजाब के सिक्ख राज्य में रणजीतसिंह ने अपनी प्रजा पर निरंकुश अधिकार से शासन किया था। उनके छोटे से छोटे आदेशों का उल्लंघन करने का दण्ड फाँसी या अंग-भंग होता था। तथापि समाज की प्रचलित प्रथाओं का उन्हें भी आदर करना पड़ता था। वह उनको बदल नहीं सकते थे। आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्यों पर भी ऑस्टिन का सिद्धान्त लागू नहीं होता क्योंकि लोकतन्त्र में प्रभुसत्ता जनता तथा निर्वाचक गणों में मानी जाती है।

(2) **कानून का स्त्रोत केवल प्रभु ही नहीं होता** – ऑस्टिन के अनुसार प्रभु के आदेश कानून होते हैं, किन्तु वस्तुत: प्रभु ही कानून का एकमात्र स्त्रोत नहीं होता है। आज प्राय: यह स्वीकार कर लिया गया है कि कानून के स्त्रोत परम्पराएं, न्यायिक निर्णय, कानूनी ग्रन्थ व टीकाएं तथा औचित्य-निर्णय भी होते हैं। कौटिल्य का यह मत सत्य के अधिक निकट है कि "धर्म, औचित्य, न्याय, पारस्परिक व्यवहार की शर्तें, परम्परागत नियम, प्रथाएं तथा राजा के आदेश कानून के स्त्रोत होते हैं।"

(3) **प्रभुसत्ता एकल तथा अखण्ड नहीं होती** – ऑस्टिन के अनुसार प्रभुसत्ता एकल, अखण्ड तथा अविभाज्य होती है, किन्तु व्यवहार में प्रभुता का विभाजन सम्भव हो गया है। वर्तमान संघात्मक राज्यों के अन्तर्गत सम्प्रभुता विभाजित होती है। ऑस्टिन का विचार संघ राज्यों पर भी लागू नहीं होता।

(4) **प्रभुसत्ता असीमित नहीं है** – ऑस्टिन ने असीमितता तथा निरंकुशता को प्रभुसत्ता की विशेषताएँ बताया है, किन्तु व्यवहार में प्रभुसत्ता पर अनेक प्रतिबन्ध पाये जाते हैं। उदहरणार्थ प्रभु की शक्ति पर **नैतिकता, रीति-रिवाज, धर्म, अन्तर्राष्ट्रीय कानून** इत्यादि की सीमाएं किसी न किसी अंश में अवश्य होती हैं। हेनरी मेन ने लिखा है – "पंजाब का निरंकुश शासक रणजीतसिंह भी ऐसे कानून लागू नहीं करता था जो समाज के प्रचलित नियमों के विरुद्ध हों" ब्लंश्ली ने भी मत व्यक्त किया है कि "राज्य अपने समस्त स्वरूप में सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता, क्योंकि बाहरी मामलों में वह अन्य राज्यों के अधिकारों से और आन्तरिक क्षेत्र में स्वयं की प्रकृति तथा अपने सदस्यों के व्यक्तित्व अधिकारों से सीमित है।"

(5) **ऑस्टिन का सिद्धान्त शक्ति को अत्यधिक महत्व देता है** – ऑस्टिन का सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि उच्च सत्ताधारी अपने आदेशों का पालन कराने की स्थिति में इसलिए होता है कि वह शक्तिशाली होता है। अर्थात ऑस्टिन ने शक्ति अथवा बल को ही निर्णायक माना है। उसके विचार में औचित्य तथा न्याय का तो प्रश्न ही नहीं है। वास्तविकता यह है कि सत्ताधारी की शक्ति के कारण जनता कानूनों का पालन नहीं करती वरन् इसलिए करती है कि कानूनों के रूप में जनता की इच्छा की ही अभिव्यक्ति होती है। इस बारे में बोसाँके का कहना है कि "ऑस्टिन की सम्प्रभुता शक्ति के विचार पर आधारित है। आदर्शवादियों के विचार में सम्प्रभुता समूची जनता की इच्छा पर आधारित है।"

(6) **ऑस्टिन का सिद्धान्त लोकतन्त्र के प्रतिकूल** – ऑस्टिन की परिभाषा लोकतन्त्र की भावना के प्रतिकूल है जिसके अनुसार प्रभुसत्ता अन्तत: जनता में निहित होती है।

(7) **ऑस्टिन का सिद्धान्त खोखला है** – प्रभुसत्ता का विश्लेषण करते हुए ऑस्टिन का दृष्टिकोण गहराई तक नहीं पहुंच पाता। वह कानूनी प्रभुसत्ता पर आकर रुक जाता है और यह नहीं देख पाता कि

इस कानूनी प्रभुसत्ता के पीछे भी कुछ ऐसे राजनीतिक प्रभाव हैं जिनके आगे इस कानूनी सत्ता को झुकना पड़ता है।

इस प्रकार ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना की गयी है और उसके सिद्धान्त को केवल कानूनी दृष्टि से ठीक कहा जा सकता है। हेनरी मेन ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रभुसत्ता का उदाहरण केवल ऐसा निरंकुश शासक हो सकता है जिसके मस्तिष्क में कुछ खराबी आ गई है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त वैधानिक निरंकुशता पैदा करेगा।

प्रभुसत्ता की एकलवादी धारणा (Monistic Conception of Sovereignty)

सर्वोच्च प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त ही 'प्रभुसत्ता की एकलवादी धारणा' कहलाता है। डॉ. महादेव प्रसाद शर्मा के शब्दों में, "सम्प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त ही एकत्ववाद कहलाता है क्योंकि इसकी मान्यता है कि प्रत्येक स्वतन्त्र देश में एक ही सत्ता-राज्य की सत्ता-सर्वप्रधान होती है और अन्य सभी व्यक्ति व समुदाय उसके अधीन होते हैं।" प्रभुसत्ता राज्य का अनिवार्य लक्षण होती है। प्रभुसत्ता के कारण राज्य अन्य संघों व समुदायों पर अपनी श्रेष्ठता का दावा करता है। एकलवादी धारणा के अनुसार, समाज की समस्त शक्ति एक ही बिन्दु पर केन्द्रित होती है और वह बिन्दु राज्य है। राज्य की श्रेष्ठता की पहचान कानून के निर्माण तथा दण्ड के क्षेत्र में उसकी शक्तियों से की जा सकती है अत: यह सिद्धान्त निरंकुश सरकार का सिद्धान्त बन जाता है। इस सिद्धान्त से अनेक बुराइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना है – **प्रथम**, इससे राज्य में शक्ति का महत्व नहीं रह जाता। **द्वितीय**, इस सिद्धान्त से यह ध्वनि निकलती है कि राज्य एक साध्य है और व्यक्ति उसके साधन। **तृतीय**, इस धारणा का परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर बहुत बुरा पड़ा है और इसने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अराजकता उत्पन्न कर दी है।

प्रभुसत्ता की बहुलतावादी धारणा (Pluralistic Conception of Sovereignty)

बहुलतावादी विचारधारा का विकास प्रथम विश्वयुद्ध के आस-पास माना जाता है। इस विचारधारा को बहुलतावादी या बहुसमुदायवादी इसलिए कहा जाता है कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में विकसित होने वाली प्रभुसत्ता की एकत्ववादी धारणा का यह प्रबल विरोध करती है। सम्प्रभुता का एकत्ववादी सिद्धान्त राज्य में राज्य की सत्ता को ही एक-मात्र, अन्तिम एवं सर्वोपरि उत्कृष्ट शक्ति मानता है। इसके सर्वथा प्रतिकूल प्रभुसत्ता-सम्पन्न तथा सर्वोच्च सत्ताधारी एक राज्य के स्थान पर अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और राज्य के समकक्ष शक्ति का अधिकार रखने वाले अनेक समुदायों में विश्वास रखने वाला सिद्धान्त बहुलतावाद (Pluralism) कहलाता है। डॉ. महादेवप्रसाद शर्मा के अनुसार, "एक स्थान पर अनेक की प्रतिष्ठा ही बहुलतावाद है। अतएव राजनीतिक बहुलतावाद वह मत या सिद्धान्त है जिसके अनुसार एक प्रभुत्व-सम्पन्न अथवा सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य के स्थान पर अपने क्षेत्र में स्वतंत्र और राज्य के ही समकक्ष अनेक समुदाय होने चाहिए। ये समुदाय राज्य के अधीन न होकर उसकी बराबरी के दर्जे पर रहें। इस प्रकार सामाजिक संगठन एकात्मक अर्थात् एकमात्र राज्य की अधीनता में न होकर संघात्मक रहें। उनका एक केन्द्र न होकर अनेक केन्द्र हों। राजनीतिक बहुलतावादी राज्य का विरोधी न होकर उसके सम्प्रभुत्व का विरोधी है।"

बहुलतावाद का अभिप्राय (Meaning of Pluralism)

अनेक विचारकों का कहना है कि अनियन्त्रित और अविभाज्य प्रभुसत्ता कहीं देखने को नहीं मिलती। वस्तुस्थिति यह है कि राज्य में शक्ति के केन्द्र एक नहीं, अनेक होते हैं, यद्यपि राज्य उनमें प्रमुख एवं सर्वोपरि है। इस विचार के मानने वाले लेखकों को बहुलतावादी कहा जाता है। इस विचारधारा के अन्तर्गत अनेक लेखक आ जाते हैं जिन्होंने राज्य के एकात्मक प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की विभिन्न दृष्टियों से कड़ी आलोचना की है। **लिण्डसे** के अनुसार, "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है। **बार्कर** के शब्दों में, "कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के सिद्धान्त से अधिक व्यर्थ तथा शुष्क नहीं है।" **प्रो. लास्की** के अनुसार, "यदि सर्वप्रभुत्व-सम्पन्नता की समस्त धारणा का परित्याग कर दिया जाये तो यह राजनीति शास्त्र के लिए चिरस्थायी लाभकारी सिद्ध होगा।"

NOTES

कतिपय प्रमुख राजनीतिशास्त्रियों की अधोलिखित परिभाषाओं से बहुलतावादी धारणा का अर्थ स्पष्ट हो जाता है:-

हेसियो – "बहुलतावादी राज्य एक ऐसा राज्य है, जिसमें सत्ता का केवल एक ही स्त्रोत नहीं है, यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजनीय है और इसे विभाजित किया जाना चाहिए।"

गेटेल – "बहुलतावादी इस बात को मान्यता नहीं देते कि राज्य एक सर्वोच्च समुदाय है, वे अन्य समुदायों को भी उसी आधार पर आवश्यक एवं प्राकृतिक स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि ये सभी समुदाय वैसे ही महत्वपूर्ण हैं, जैसे राज्य।"

डॉ. आशीर्वादम – "बहुलतावाद के अनुसार समाज में अनेक संघ होते हैं जिनकी क्षमता और जिनके अधिकार सीमित होते हैं। राज्य ऐसे संघों में से केवल एक संघ है इससे अधिक और कुछ नहीं।"

प्रमुख बहुलतावादी विचारक (Main Thinkers of Pluralism)

बहुलतावादी विचारधारा के समर्थकों में लास्की, कोल, रसेल, क्रेव, लिण्डसे, डूग्वे, विलियम जेम्स आदि प्रमुख हैं। गीयर्क, मेटलैण्ड, फिगिस, बार्कर, मैकाइवर तथा मिस फॉलेट भी बहुलतावादी ही हैं इनमें से कुछ विचारकों के प्रमुख विचार यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :-

गीयर्क (Gierke)– गीयर्क जर्मनी का प्रसिद्ध विधिशास्त्री था। उनका कहना था कि राज्य की तरह समाज में अन्य समुदाय भी व्यक्ति के लिए उपयोगी हैं। उनके शब्दों में, "राज्य को यह बात स्वीकार कर लेनी चाहिए कि प्रत्येक समुदाय व संगठन का अपना-अपना कर्तव्य होता है, भले ही राज्य उसको मान्यता दे अथवा नहीं।"

लिण्डसे (Lindsay)– लिण्डसे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे। उन्होंने भी राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता का विरोध किया है। उनका कहना था कि व्यक्तियों और उनके समुदायों पर राज्य का नियन्त्रण उतना ही होना चाहिए, जितना व्यक्ति उसे प्रदान करना चाहते हैं। लिण्डसे का यह कथन उल्लेखनीय है कि, "यदि हम वास्तविकता की ओर देखें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।"

क्रेब (Krabbe)– क्रेब हालैण्ड का विधिवेत्ता था। उसने बताया कि राज्य की प्रभुसत्ता निरंकुश नहीं है। प्रभुसत्ताधारी कानून का निर्माता नहीं है, वरन् स्वयं उसकी उत्पत्ति ही कानून द्वारा हुई है। इसीलिए उसका कहना है कि, " जितनी ही शीघ्रता से प्रभुसत्ता के विचार को राजनीतिक क्षेत्र से निकाल दिया जाये, उतना ही अच्छा है।"

लास्की (Laski)– लास्की राजनीतिशास्त्र के प्रख्यात प्रोफसर थे। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'ग्रामर ऑव् पॉलिटिक्स' में बहुलतावादी विचार पाये जाते हैं। लास्की ने लिखा है कि,"समुदायों के अनेक प्रकारों में से राज्य भी एक है और अन्य समुदायों की तुलना में वह व्यक्ति की भक्ति का उच्चतर अधिकारी नहीं है।"लास्की ने यह भी लिखा है कि, "ये समुदाय राज्य से किसी प्रकार कम प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं हैं, और इस प्रकार से जब समाज का संगठन संघीय है तो शक्ति की व्यवस्था भी संघीय होनी चाहिए।"

लास्की ने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की निन्दा की है। लास्की के शब्दों में, "**अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता** – सम्पन्न राज्य का विचार मानवता के कल्याण के लिए घातक है।" लास्की का यह भी मत है कि "यदि सर्वप्रभुत्व-सम्पन्नता की समस्त धारणा का परित्याग कर दिया जाए तो यह राजनीतिशास्त्र के लिए चिरस्थायी लाभकारी सिद्ध होगा।"

जी.डी.एच.कोल (G.D.H. Cole)– कोल मुख्यतया श्रेणी-समाजवादी है, फिर भी वह बहुलतावादियों की श्रेणी में आता है। वह राज्य की प्रभुसत्ता के एकत्व का खण्डन करते हुए व्यावसायिक लोकतन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। उसका विश्वास है कि समाज का बंटवारा उपभोक्ताओं

तथा उत्पादकों में हो जाना चाहिए। वह इन दोनों की सह-सम्प्रभुता (Co-sovereignty) का समर्थन करता है।

बार्कर (Barker) – बार्कर भी लिण्डसे की भाँति ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। उनके मत में सामाजिक जीवन में समुदायों की महत्ता कम नहीं है क्योंकि वे भी राज्य की भाँति बहुत से उपयोगी कार्य करते हैं। वह समाज की इकाई व्यक्ति को न मानकर समुदाय को मानता है। उसके शब्दों में, "हम आज राज्य बनाम व्यक्ति न लिखकर समुदाय बनाम राज्य लिखते हैं।"इसलिए वह कहता है कि राज्य को समुदायों की बढ़ती हुई महत्ता स्वीकार कर लेनी चाहिए। राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता का विरोध करते हुए वह कहता है कि, "कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना बेकार व तर्कहीन नहीं हो गया है जितना प्रभुसत्ताधारी राज्य का सिद्धान्त।"

ड्यूगिट (Duguit)– ड्यूगिट एक प्रसिद्ध विधिवेता था। वह प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को निरर्थक बताता है। उसके शब्दों में, "सर्वप्रभुत्व सत्ता मर चुकी है अथवा मरने के निकट है।" उसने यह भी कहा है कि,"प्रभुसत्ता कोई शक्ति नहीं है, राज्य की कोई उच्च और अधिकारयुक्त इच्छा नहीं है।"

बहुलतावाद की उत्पत्ति के कारण (Causes of Origin)

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अनेक कारणों से बहुलतावादी धारणा का चलन हुआ, जो इस प्रकार है–

(1) **हीगलवादी राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया –** बहुलतावादी विचारधारा के उदय में हीगल के विचारों ने बड़ा सहयोग दिया। वस्तुत: यह विचारधारा हीगल के तथा उग्र राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से राज्य को प्राप्त होने वाली असाधारण शक्ति के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया थी। हीगल ने राज्य को भगवान का रूप माना तथा व्यक्ति को दास बना लिया। हीगल की इस चरमतावादी धारणा की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था और यह प्रतिक्रिया बहुलतावाद के रूप में हुई।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय तत्व –** अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास के कारण सम्प्रभु राज्य के सिद्धान्त को भी भीषण युद्धों तथा अशान्ति का मूल कारण माना गया तथा प्रभुसत्ता को सीमित करने पर जोर दिया जाने लगा।

(3) **व्यवहारवाद का अभ्युदय –** बहुलतावाद की उत्पत्ति का एक कारण व्यवहारवाद का अभ्युदय भी है। इसके समर्थक जॉन ड्यूई, विलियम जेम्स आदि विचारक हैं। व्यवहारवाद के अनुसार राज्य निरपेक्ष, पूर्ण तथा एक सत्ता नहीं है, यह परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न परिणाम उत्पन्न करने के कारण अनेक रूपों वाला होता है। लास्की ने मनोविज्ञान की इस धारणा को राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लागू करते हुए कहा कि राज्य समाज के अन्य संगठनों की भाँति मानव-जीवन को पूर्ण एवं सुखी बनाने में लगा हुआ है। इस कार्य के लिए बनाये जाने वाले अनेक संगठनों में से एक है।

(4) **प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की प्रचलित व्यवस्था से असंतोष –** प्रारम्भ में प्रचलित प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्रों में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को अपनाया गया। किन्तु शीघ्र ही इस व्यवस्था से असंतोष उत्पन्न हुआ और गिल्ड-समाजवादियों तथा संघवादी विचारकों ने व्यावसायिक या कार्यात्मक प्रतिनिधित्व की माँग प्रस्तुत की। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के समर्थक कोल आदि विचारकों ने बहुलतावाद के पोषण में पर्याप्त सहायता दी।

(5) **विकेन्द्रीयकरण राज्य की धारणा का उदय –** राज्य के विभिन्न कार्यों के केन्द्रीयकरण के दुष्परिणामों का वर्णन करते हुए वार्ड ने लिखा है कि, "इससे केन्द्र को पक्षाघात या लकवा तथा दूरवर्ती सिरों पर पाण्डु रोग हो जाता है। "इस परिस्थिति में विकेन्द्रीकरण आवश्यक हो जाता है। बहुलतावादी राज्य की वर्तमान बुराइयों को दूर करने के लिए राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों को भी अधिकार देकर विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना चाहते हैं।

(6) **गियर्क तथा मेटलैण्ड आदि का प्रभाव** – बहुलतावाद के विकास में गियर्क और मेटलैण्ड के व्यक्तिगत विचारों ने इस बात पर बल दिया कि मध्य युग में सामाजिक व्यवस्था में प्रभुसत्ता एक स्थान पर केन्द्रित नहीं थी। इस व्यवस्था में 'आर्थिक संघों' का प्रमुख स्थान था। अत: इन विचारकों ने मध्ययुगीन 'संघ व्यवस्था' की पुर्नावृत्ति की मांग की। इन विचारकों ने राजनीतिक एकलवाद का विरोध करके बहुलतावादी समाज की स्थापना पर बल दिया।

राज्य की प्रभुसत्ता पर बहुलतावादी आक्षेप
(Pluralistic Attack on the Sovereignty of State)

बहुलतावादी विचारक अनेक तर्कों द्वारा सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। उनकी आलोचना के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं–

(1) **समाज के गठन तथा वर्तमान स्थिति के आधार पर** – एकलवादियों के अनुसार समाज में राज्य जैसा एक ही सर्वोपरि संगठन है। इसके प्रतिकूल बहुलतावादियों के अनुसार, हम एकत्व रखने वाले विश्व में न रहकर, नानात्व रखने वाले जगत में रहते हैं। समाज का संगठन एकात्मक न होकर बहुलतावादी है। एक राज्य में रहने वाले न केवल राज्य के नागरिक हैं, अपितु परिवार, चर्च, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक संगठनों के सदस्य होते हैं। हमारी निष्ठा व भक्ति न केवल राष्ट्र के प्रति है अपितु अन्य समुदायों के प्रति भी होती है। अन्य सभी समुदाय अपने सदस्यों के लिए नियमों का निर्माण करते हैं और इनके सदस्य इन नियमों का पालन करते हैं। इस समाज का संगठन एकात्मक नहीं अपितु बहुलतावादी तथा संघात्मक है। समाज में कानूनों तथा नियमों के निर्माण का स्त्रोत केवल राज्य नहीं अपितु अन्य अनेक संगठन और समुदाय भी है। **प्रो. लास्की** ने ठीक ही लिखा है,– "If society is federal, so authority must also be federal." अर्थात यदि समाज की रचना एकात्मक न होकर संघात्मक है तो इससे यह स्वाभाविक परिणाम है कि राज्य की सत्ता एवं अधिकार भी संघीय या बहुलतापूर्ण होना चाहिये।

(2) **ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर** – बहुलतावादी ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य के सम्प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उनका विचार है कि प्राचीन व मध्यकालीन राज्य प्रभुता सम्पन्न नहीं थे। उन पर सामाजिक और आर्थिक, पारम्परिक और प्रथागत प्रतिबन्ध थे। मध्य युग में धर्म राज्य पर अनेक प्रकार से नियन्त्रण स्थापित करता था। राज्य कानून के ऊपर न होकर उसके अधीनस्थ माना जाता था। इस प्रकार पूर्व के राज्य सम्प्रभुत्व-विहीन थे और आज भी उन्हें वैसा ही होना चाहिए।

(3) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आधार पर** – बहुलतावादियों के अनुसार, प्रभुसत्ता की एकलवादी धारणा व्यक्ति के विकास में बाधक है और एकमात्र राज्य ही व्यक्ति की सम्पूर्ण भक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। राज्य का लक्ष्य व्यक्ति का कल्याण एवं हित-साधन है। व्यक्ति प्रधान तथा साध्य है, राज्य इसकी तुलना में गौण स्थान रखने वाला एवं विकास का साधन मात्र है। व्यक्ति के विकास के लिए अन्य समुदाय भी उपयोगी हैं, अत: व्यक्ति की निष्ठा प्राप्त करने का एकमात्र अधिकारी राज्य नहीं हो सकता है। **लास्की** के अनुसार, "प्रभुसत्ता न तो राज्य में निहित है, न किसी अन्य समुदाय में ; यह वस्तुत: मनुष्य के विवेकशील अन्त:करण में निहित है।" उन्हीं के शब्दों में, "मेरे अन्त:करण को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह अपने नैतिक विकास की दृष्टि से राज्य के आदेश का पालन करते हुए अन्य समुदायों के आदेशों का पालन करे।"

(4) **लोकतन्त्र के आधार पर** – बहुलतावादियों के अनुसार सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना प्रभुता-सम्पन्न राज्य में नहीं, अपितु बहुलतावादी व्यवस्था में ही सम्भव है। मनुष्य में राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विविध प्रकार की इच्छाएं, आकांक्षाएं होती हैं। राज्य में उसकी केवल राजनीतिक इच्छाओं की संतुष्टि हो सकती है, अन्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के समुदायों का अस्तित्व अनिवार्य है। अत: वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना केवल ऐसे बहुलतावादी समाज में ही सम्भव है जिसमें सम्प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की संस्था न रहे।

(5) **कानूनी आधार पर** – कतिपय बहुलतावादी राज्य के सम्प्रभुत्व को वैधानिक दृष्टिकोण से अमान्य करते हैं। एकलवादियों ने राज्य को कानून का मूल स्त्रोत माना था। बेन्थम तथा ऑस्टिन के अनुसार कानून सम्प्रभु राज्य के आदेश हैं। बहुलतावादी क्रेब, डूग्वे आदि के अनुसार कानूनों का मूल स्त्रोत है– सामाजिक सुदृढ़ता या एकता। यह सामाजिक सुदृढ़ता या एकता जनता के विश्वासों, औचित्य, भावनाओं , प्रभावों आदि से बनी होती है। **डाक्टर शर्मा** के अनुसार, "राज्य कानून का निर्माता नहीं है अपितु उसका अन्वेषक और घोषणाकर्ता मात्र है।"

(6) **प्रभुसत्ता असीमित नहीं होती** – बहुलतावादी के अनुसार प्रभुसत्ता निरंकुश नहीं होती। राज्य के अन्दर उस पर जनता के रीति-रिवाजों व प्रथाओं के बन्धन होते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसे अन्य राज्यों के अधिकारों, सन्धियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन करना पड़ता है।

निष्कर्ष

बहुलतावादी विचारकों ने सम्प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के एकत्ववादी सिद्धान्त का अन्त कर देने का समर्थन किया है। **लिण्डसे** के शब्दों में, "यदि हम तथ्यों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सिद्धान्त का अन्त हो चुका है।" **लास्की** के मतानुसार, "यह बात असम्भव है कि राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में प्रभुसत्ता के कानूनी सिद्धान्त को वैध सिद्ध किया जा सके।" **क्रेब** के अनुसार, "प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को राजनीतिशास्त्र से हटा देना चाहिए।"

बहुलतावाद की प्रमुख मान्यताएँ (Main Concepts of Pluralism)

प्रभुसत्ता के बहुलतावादी सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं–

(1) **बहुलतावादी और राज्य** – बहुलतावादी राज्य की प्रभुसत्ता के विरोधी हैं न कि राज्य के। यद्यपि अराजकतावादी, श्रमिक-संघवादी तथा श्रेणी-समाजवादी भी बहुलतावादी हैं, किन्तु इन्हें वर्तमान नूतन बहुलतावाद के सच्चे प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। बहुलतावादियों का मत है कि राज्य तो बना रहना चाहिए किन्तु उसके पास प्रभुसत्ता नहीं रहनी चाहिए। राज्य की स्थिति 'सर्वोपरि सगंठन' की न होकर अन्य विद्यमान संगठनों के समकक्ष होनी चाहिए। राज्य समुदायों का समुदाय होना चाहिए। **लास्की** के शब्दों में, "समुदायों के अनेक प्रकारों में से राज्य भी एक है।" **मेटलैण्ड** के अनुसार, "राज्य भी इन्हीं समुदायों में से एक है।" बहुलतावादी राज्य को दो प्रकार के कार्य सौंपना चाहते हैं। पहले वर्ग में विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा, आन्तरिक शांति की व्यवस्था, न्याय-प्रबन्ध आदि विशिष्ट कार्य हैं। इन कार्यों की दृष्टि से राज्य अन्य समुदायों के समकक्ष होगा। दूसरे वर्ग में आने वाले राज्य के कार्य विभिन्न समुदायों के विवादों को दूर करना तथा तालमेल स्थापित करना हैं। बार्कर ने इसे राज्य का सर्वश्रेष्ठ कार्य माना है तथा इनके आधार पर राज्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। यह कार्य ऐसा है जो एकमात्र राज्य के ही पास रहेगा और इसके कारण राज्य की स्थिति अन्य समुदायों से उच्चतर हो जायेगी। इस प्रकार बहुलतावादी राज्य की सत्ता को बनाए रखते हुए उसे प्रभुसत्ता के विशेषाधिकार से वंचित करना चाहते हैं।

गियर्क के मत में राज्य को समाज के सामान्य हितों की रक्षा का सर्वोपरि अधिकार प्राप्त रहेगा। **लास्की** राज्य को समन्वय के साथ-साथ राष्ट्रीय उद्योगों के संचालन तथा व्यवस्था का महत्वपूर्ण कार्य सौंपता है।

(2) **राज्य और समाज में अन्तर** – बहुलतावादी राज्य और समाज में विभेद स्थापित करते हैं। समाज एक व्यापक इकाई है जिसमें अन्य समुदायों का अधिवास है। बहुलतावाद राज्य को अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय मानता है।

(3) **विकेन्द्रीयकरण की धारणा में विश्वास** – बहुलतावादी विकेन्द्रीकरण व्यवस्था का समर्थक है। बहुलतावादियों के मत में राज्य को चाहिए कि अपनी सत्ता को विकेन्द्रित करके अन्य समुदायों में विभाजित कर दे और इस प्रकार एक संघात्मक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाये। **लास्की** के

NOTES

अनुसार, "सत्ता का मद केन्द्रीयकरण से उत्पन्न होता है। यदि सत्ता को विभिन्न संस्थाओं में विकेन्द्रित कर दिया जाये तो शासन केन्द्रीकरण के दुष्परिणामों से बच जायेगा।"

(4) **व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की धारणा में विश्वास** – बहुलतावादी प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार एक कृषक का प्रतिनिधित्व कृषक ही अच्छी तरह से कर सकता है। अत: चुनाव क्षेत्र-व्यवसाय के आधार पर निर्मित किये जाने चाहिए।

बहुलतावाद की आलोचना (Criticism of Pluralism)

निम्नलिखित आधारों पर बहुलतावाद की आलोचना की जाती है–

(1) **समाज में अराजकता को जन्म देना** – इस समय समाज में शांति और व्यवस्था बनी हुई है; इसका कारण राज्य की प्रभुसत्ता शक्ति ही है। यदि राज्य से प्रभुसत्ता को हटा दिया जाये तो अराजकता तथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।

(2) **अन्तर्विरोधी धारणा** – बहुलतावादी एक ओर तो राज्य की प्रभुसत्ता का विरोध करते हैं तथा साथ ही दूसरी तरफ राज्य को तालमेल एवं सामन्जस्य बिठाने का कार्य सौंपते हैं। इस शक्ति के निहित होने से राज्य को प्रभुसत्ता प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार बहुलतावादी एक बड़े आत्मविरोध में फंस जाते हैं और यह सिद्ध हो जाता है कि राज्य की सम्प्रभुता समाप्त करना व्यावहारिक दृष्टि से सरल नहीं है।

(3) **राज्य अन्य समुदायों के समकक्ष नहीं है** – बहुलतावादी राज्य को अन्य समुदायों के समकक्ष मान लेते हैं, जो सर्वथा अनुचित हैं। राज्य के कतिपय विशिष्ट कार्य हैं और उनके संपादन से उसकी स्थिति अन्य समुदायों में सर्वोपरि हो जाती है।

(4) **कानून-विषयक भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण** – बहुलतावादी कानून को राज्य के व्यक्तित्व से उच्च मानते हैं, जो गलत है। समाज में जब तक कानून के पीछे राजकीय शक्ति न होगी, उस समय कानून का समुचित आदर व पालन न होगा। वर्तमान में कानून का प्रधान स्त्रोत राज्य की संसद ही है। राज्य को भले ही कानून का एकमात्र स्त्रोत माना जाये, किन्तु उसे कानून का स्वरूप निश्चित करने वाला तथा इसे घोषित करने वाला एक स्त्रोत अवश्य मानना चाहिए।

(5) **बहुलतावाद राष्ट्रवाद एवं देशभक्ति का विरोधी है** – बहुलतावादी अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्वनागरिकता आदि की चर्चा करते हैं तथा नागरिकों को देश के बजाए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रति भक्ति-भाव रखने की अपीलें करते हैं। देशभक्ति तथा राष्ट्रवाद का विरोध करना उपयुक्त नहीं है।

(6) **राजनीतिक विघटन का सिद्धान्त** – बहुलतावाद के क्रियान्वयन से राज्य व समाज का विघटन हो सकता है। राज्य का एक सर्वोपरि स्थान सामाजिक संगठन की व्यवस्था के लिए आवश्यक है। भारत के सन्दर्भ में **डॉ. आशीर्वादम्** का मत है कि, "बहुलतावाद के अर्द्धसत्य को मान लेने से अधिक खतरनाक भारत की एकता के लिए और कुछ नहीं हो सकता। पहले कभी भले ही इस बात की आवश्यकता रही हो कि सम्प्रभुता को बहुलतावाद की दिशा में मोड़ा जाये, पर आज के दिन तो सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि सम्प्रभुता को एकात्मकतावादी जामा पहनाया जाये।"

निष्कर्ष (Conclusion)

बहुलतावाद स्वस्थ, प्रजातान्त्रिक और मानवतावादी प्रतिक्रिया थी। यह एक विद्रोह था, एक नारेबाजी थी जो स्वतन्त्रता तथा उदारतावाद पर आधारित थी। यह एक राजनैतिक सिद्धान्त या दर्शन नहीं था अपितु ऑस्टिन की प्रभुसत्ता एवं हीगेल के राज्य सम्बन्धी विचारों के खिलाफ एक आन्दोलन था। राज्य को महान घोषित करने वाले सिद्धान्तों के खिलाफ अराजकतावाद तथा श्रमसंघवाद की आवाज ठण्डी पड़ती जा रही थी, तब बहुलतावाद ने राज्य को एक मानव-समुदाय के रूप में समाज के अन्दर जनहित की एक सीमित संस्था के रूप में बनाये रखने की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए इसकी प्रभुसत्ता को नष्ट करने की माँग की। वस्तुत: बहुलतावाद गोलियथ को मारना नहीं चाहता था अपितु

उसके बाल काट देना चाहता था, बिना यह समझे कि गोलियथ के बाल काटने से गोलियथ जीवित नहीं रह सकता था। बहुलतावाद की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि यह राज्य के जीवन (सम्प्रभुता) को छीनकर उसके शरीर को बनाये रखने का असफल प्रयास कर रहा था।

प्रभुसत्ता की वर्तमान स्थिति (Contemporary Status of Sovereignty)

वर्तमान युग में प्रभुसत्ता एकलवादी धारा में बह रही है। सन् 1930 की आर्थिक मंदी तथा अर्थव्यवस्था के अनवरत संकट ने केन्द्रीकृत राज्य की महान् भूमिका पर बल दिया। द्वितीय महायुद्ध से ग्रसित देशों की अर्थव्यवस्था के पुनर्निमाण के लिए राजकीय नेतृत्व एवं पहल की आवश्यकता महसूस की गयी। उदारवादी देशों में समाजवाद, कल्याणकारी राज्य आदि की विचारधारा अपनाने से राज्य की सत्ता में वृद्धि हुई है। आज तो राज्य औद्योगिक राज्य बन गया है और राज्य का एकाधिकार पूंजीवाद (State monopoly capitalism) विकसित हो रहा है। विज्ञान और तकनीकी विकास ने राज्य की प्रभुसत्ता को तथा नियन्त्रण शक्ति को निखारा है और प्रभुसत्ता को और भी शक्ति प्रदान की है। संक्षेप में, प्रभुसत्ता की स्थिति तथा राज्य की सेहत आज बहुत अच्छी है। राज्य की प्रभुसत्ता के वस्तुवादी आधार सेना, पुलिस, अफसरशाही, जेलें आदि तो हैं ही। बाह्य प्रभुसत्ता का आधार तोप या टैंक का अदना सा गोला नहीं बल्कि अणु बम है।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की बहुलवादी आलोचना का वर्णन कीजिए।
2. राज्य की सम्प्रभुता के संबंध में ऑस्टिन के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. सम्प्रभुता की परिभाषा दीजिए। किन आधारों पर सम्प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना की जाती है ?
4. संप्रभुता की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. सम्प्रभुता की परिभाषा दीजिए और इसकी विशेषताएँ बतलाइये।
6. बहुलवाद से आप क्या समझते हैं ? इस सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सम्प्रभुता के लक्षण बतलाइये।
2. विधित: और यथार्थ सम्प्रभुता में अंतर कीजिए।
3. लोक प्रभुसत्ता क्या है ?
4. बहुलतावाद की प्रमुख मान्यताएँ लिखिए।
5. बहुलतावाद की उत्पत्ति के कारण लिखिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से कौन सी विशेषता बहुलवाद से संबंधित नहीं है :
   (अ) कानून प्रभुसत्ता की आज्ञा है (ब) समाज में एकता नहीं अनेकता है
   (स) राज्य समाज के अन्य समुदायों के समान एक समुदाय है
   (द) सभी समुदाय वैसे ही महत्वपूर्ण हैं, जैसे राज्य।
2. निम्न में से कौन से विचारक बहुलवाद से संबंधित हैं :
   (अ) रूसो, लास्की, बर्क (ब) बार्कर, लास्की, मैकाइवर
   (स) मैकाइवर, अरस्तू, हीगल (द) ऑस्टिन, लास्की, ग्रीन।

3. 'यदि सर्वप्रभुत्व सम्पन्नता की समस्त धारणा का परित्याग कर दिया जाए तो यह राजनीतिशास्त्र के लिए चिरस्थायी लाभकारी सिद्ध होगा।" यह कथन किसका है :
(अ) हॉब्स (ब) लास्की (स) बेन्थम (द) ऑस्टिन।

4. बहुलवादी विचारों की दृष्टि से लास्की की प्रमुख कृति है :-
(अ) दि प्रिन्स (ब) पॉलिटिकल आब्लीगेशन
(स) ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स (द) डिस्कवरी ऑफ इण्डिया।

5. 'जब समाज का संगठन संघीय है तो शक्ति की व्यवस्था भी संघीय होनी चाहिए।' यह कथन किसका है :
(अ) ऑस्टिन (ब) बार्कर (स) हैब (द) लास्की।

6. अमेरीका में बहुलवाद के मुख्य समर्थक रहे हैं :
(अ) विलियम जेम्स, मिस फॉलेट तथा मैकाईवर (ब) गिरके, डयूगी तथा क्रैब
(स) मैटलैण्ड, फिगिस तथा लिंडसे (द) कोल, लास्की तथा बार्कर।

7. मैकाइवर की प्रसिद्ध कृति का नाम बताइए जिसमें समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से राज्य तथा प्रभुसत्ता का विवेचन मिलता है :
(अ) ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स (ब) दि मॉडर्न स्टेट
(स) गिल्ड सोशलिज्म (द) ए प्लुरालिस्टिक यूनीवर्स।

उत्तर- (1) अ, (2) ब, (3) स, (4) स, (5) द, (6) अ, (7) ब,

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

12

नागरिकता

(CITIZENSHIP)

सामान्यत: नागरिकता का अर्थ एक नागरिक के अधिकारों से लिया जाता है लेकिन नागरिकता केवल अधिकार नहीं है। यह व्यक्ति के राज्य पर दावों का भी नाम नहीं है। नागरिकता के साथ कर्तव्य अनिवार्य तौर पर जुड़े हैं। नागरिकता के एक छोर पर व्यक्ति के अधिकार होते हैं तो दूसरे छोर पर निश्चित ही इसके कर्तव्य रहते हैं। नागरिकता का एक पहलू यदि दावें हैं तो दूसरा हमारे दायित्व हैं।

नागरिकता का अर्थ – अंग्रेजी शब्दों 'सिटीजन' तथा 'सिटीजनशिप' का मूल स्रोत लेटिन भाषा का 'सिविस' शब्द है जिसका अर्थ है एक 'नगर के निवासी।' अत: नागरिक वह व्यक्ति है जो किसी नगर में रहता है तथा नागरिकता उसके नगरवासी होने के विशेष रूतबे या स्थिति का प्रमाण है। नागरिकता की निम्नांकित परिभाषाएँ महत्वपूर्ण हैं:

अरस्तू के अनुसार **"एक नागरिक वह है जिसे राज्य के शासन में कुछ भाग प्राप्त हो और जो राज्य द्वारा प्रदान किये गये सम्मान का उपभोग करता हो"**

वटल (Vattal) के अनुसार **"नागरिक समाज के वे सदस्य होते हैं जो कुछ विशेष कर्तव्यों द्वारा समाज से बँधे हों, जो समाज के नियन्त्रण में रहते हों और जो समाज द्वारा प्रस्तुत सुविधाओं का निरन्तर रूप से उपभोग करते हों।"**

सीले के अनुसार, **"नागरिक उस व्यक्ति को कहते हैं जो राज्य के प्रति भक्ति रखता हो, जिसे राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त हों तथा जो लोकसेवा की भावना से प्रेरित होता हो।"**

श्री श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है कि **"नागरिक वह व्यक्ति है जो एक राज्य का सदस्य हो और जो समस्त समाज के उच्चतम नैतिक हित की वृद्धि के साधनों को बुद्धिमानी से समझ कर राज्य की सीमा में ही अपने कर्तव्यपालन और अपने उच्चतम विकास के लिए प्रयत्नशील रहे।"**

इस प्रकार **नागरिकता व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को दृढ़ बनाने वाली उस स्थिति का नाम है, जिसके अन्तर्गत राज्य के द्वारा व्यक्ति को नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं और व्यक्ति राज्य के प्रति विशेष भक्ति रखता है।**

संक्षेप में नागरिकता की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं :

1. राज्य की सदस्यता और उसकी कानूनी मान्यता,
2. एक विशेष स्थिति या दर्जा जो कि केवल नागरिकों को ही प्राप्त है,
3. राज्य की गतिविधियों में भागीदारी,
4. राजनीतिक अधिकार जो कि भागीदारी को संभव बनाते हैं,
5. राज्य के सदस्य के रूप में कर्त्तव्यों का पालन।

नागरिक और मतदाता

एक राज्य के अन्तर्गत नागरिक और मतदाता में अन्तर होता है और एक राज्य के सभी नागरिक मतदाता नहीं होते हैं। मतदाता कौन हों, यह राज्य के कानूनों पर निर्भर करता है और किसी भी देश के अन्तर्गत अवयस्क नागरिक मतदाता नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ राज्यों में सम्पत्ति, धर्म, शिक्षा और लिंग के आधार पर भी कुछ नागरिकों को मताधिकार से वंचित रखा जाता है, लेकिन वर्तमान समय की प्रवृत्ति इस प्रकार के भेदभाव और प्रतिबन्धों के विरुद्ध है तथा अमेरिका, इंग्लैण्ड, पाकिस्तान, फ्रांस, भारत आदि विश्व के अधिकांश राज्यों में सभी वयस्क नागरिक मतदान के अधिकारी हैं।

NOTES

विदेशी
(Alien)

नागरिक और नागरिकता को भली प्रकार समझने के लिए नागरिक और विदेशी में भेद भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए। कोई भी व्यक्ति किसी देश में विदेशी तभी कहा जाता है जब वह कुछ समय के लिए किसी कार्यवश अपना देश छोड़कर दूसरे देश में रहने के लिए आया हो। ये व्यक्ति व्यापार करने, शिक्षा प्राप्त करने या भ्रमण के लिए दूसरे देश में आते हैं और जितने दिनों तक अपना देश छोड़कर बाहर रहते हैं, उतने दिनों तक उस राज्य में विदेशी कहे जाते हैं। इन विदेशियों को जान-माल की रक्षा और कुछ अन्य सामान्य सामाजिक अधिकार तो प्राप्त होते हैं, किन्तु अन्य सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। इन अधिकारों की प्राप्ति के बदले विदेशियों को सम्बन्धित देश के कानून का पूर्णरूप से पालन करना होता है। विदेशी दो प्रकार के होते हैं: (1) मित्र देश के विदेशी, और (2) शत्रु देश के विदेशी।

नागरिक तथा विदेशी में अन्तर

नागरिक तथा विदेशी में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर बताये जा सकते हैं :

(1) नागरिक सम्बन्धित राज्य का निवासी होता है, लेकिन विदेशी सामान्यतया उस राज्य में अस्थायी रूप से ही निवास करता है।

(2) नागरिक को राज्य के सभी राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं, लेकिन विदेशी को सामान्यतया सामाजिक अधिकार ही प्राप्त होते हैं, राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। अनेक बार विदेशियों को सामाजिक अधिकार भी सीमित रूप में ही प्रदान किये जाते हैं।

(3) नागरिक अपने राज्य के प्रति पूर्ण राज-भक्ति रखता है, लेकिन विदेशी जिस राज्य में अस्थायी रूप में निवास कर रहा है उस राज्य के प्रति नहीं, वरन् उस राज्य के प्रति भक्ति रखता है जिसका वह नागरिक है।

(4) नागरिक राज्य के प्रति भक्ति रखता है और उसे राज्य के प्रति कर्तव्यपालन के लिए बाध्य किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, संकट के समय नागरिक को सेना में भर्ती होने के लिए बाध्य किया जा सकता है, लेकिन विदेशी को राज्य के प्रति कर्तव्यपालन के लिए अर्थात् सेना आदि में भर्ती होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है।

(5) नागरिक को उस राज्य की भूमि पर स्थायी रूप में रहने का अधिकार होता है, लेकिन विदेशी को प्रार्थना करने पर निश्चित काल के लिए ही राज्य में रहने की अनुमति मिलती है।

(6) जब तक नागरिक कोई बहुत गम्भीर अपराध न करे, तब तक राज्य अपने नागरिक को देश से निर्वासित नहीं कर सकता है, लेकिन विदेशी को बिना कारण बताये भी देश छोड़ने के लिए बाध्य किया जा सकता है तथा युद्धकाल में निर्दोष होते हुए भी उसे बन्दी बनाया जा सकता है। विशेष रूप से ऐसा व्यवहार शत्रु देश के विदेशियों के प्रति किया जाता है।

(7) नागरिक को मकान, जमीन, जायदाद, आदि अचल सम्पत्ति खरीदने व बेचने का अधिकार होता है, लेकिन विदेशी को अचल सम्पत्ति खरीदने व बेचने का सामान्यतया अधिकार नहीं होता।

नागरिकों के प्रकार

मोटे तौर पर राज्य के सभी नागरिकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(A) **जन्मजात नागरिक** (Natural Born Citizens)

(B) **देशीयकरण से नागरिकता प्राप्त नागरिक** (Naturalized Citizens)

जन्मजात नागरिक – जन्म के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दो नियम हैं:

(1) **रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त** (Jus Sanguinis)– इस सिद्धान्त के अन्तर्गत नागरिकता रक्त अथवा वंश के आधार पर निर्धारित होती है और बच्चे का जन्म चाहे किसी स्थान पर हो, बच्चे को उस

राज्य की नागरिकता प्राप्त हो जाती है, जिस राज्य के नागरिक उसके माता-पिता हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिकन नागरिक का पुत्र अमेरिका का नागरिक होगा, चाहे उसका जन्म भारत या अन्य किसी राज्य में क्यों न हो। प्राचीनकाल में यूनान, रोम और एशियाई देशों में नागरिकता का निर्धारण इसी सिद्धान्त के आधार पर होता था और आज भी विश्व के अधिकांश देशों में यही सिद्धान्त प्रचलित है। इस सिद्धान्त के अनुसार अवैध बच्चों की नागरिकता उसकी माँ की नागरिकता से निश्चित होती है।

(2) **जन्म-स्थान का सिद्धान्त** (Jus Soli)– इस सिद्धान्त के अन्तर्गत नागरिकता जन्म-स्थान के आधार पर निर्धारित होती है और एक बालक जिस देश की भूमि पर पैदा हो वह उसी देश का नागरिक समझा जाता है, चाहे उसके माता-पिता किसी भी देश के नागरिक हों। वर्तमान समय में अर्जेण्टाइना में यही सिद्धान्त प्रचलित है।

इंग्लैण्ड, अमेरिका, आदि राज्यों में नागरिकता प्रदान करने के सम्बन्ध में इन दोनों सिद्धान्तों को मान्यता प्राप्त है। इन देशों के कानूनों के अनुसार उनकी भूमि पर जो बच्चा जन्म ले, वह उस देश का नागरिक होगा। इसके अतिरिक्त इन देशों के नागरिकों की सन्तान, चाहे वह कहीं भी पैदा हो, उसे उसके माता-पिता के देश की नागरिकता प्राप्त होगी।

जन्म के आधार पर नागरिकता प्रदान करने के सम्बन्ध में एकरूपता न होने के कारण व्यवहार में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कभी-कभी तो एक ही बालक दो देशों की नागरिकता प्राप्त कर लेता है, जैसे अमेरिका के माता-पिता की सन्तान अर्जेण्टाइना में जन्म ले और कभी-कभी एक बालक को किसी भी देश की नागरिकता प्राप्त नहीं हो पाती, जैसे यदि अर्जेण्टाइना के नागरिकों की सन्तान स्वीडन में जन्म ले। इसी प्रकार की परिस्थितियों में वयस्क हो जाने पर व्यक्ति स्वयं अपनी नागरिकता का निर्णय कर लेता है।

वास्तव में, जन्मजात नागरिकता के इन दोनों सिद्धान्तों में रक्त या वंश का सिद्धान्त ही अधिक विवेकपूर्ण है। एक विशेष भूमि पर जन्म केवल संयोग का ही परिणाम होता है और इसे नागरिकता का आधार नहीं बनाया जा सकता है। एक विशेष भूमि पर जन्म लेने से ही बालक के मन में उस भूमि के प्रति किसी प्रकार की भक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती है।

देशीयकरण (Nationalization)- देशीयकरण एक वैधानिक प्रक्रिया होती है जिसके अन्तर्गत कुछ निश्चित शर्तें पूरी कर लेने पर व्यक्ति को उस देश विशेष की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। **गार्नर** के शब्दों में, **"देशीयकरण का तात्पर्य विदेशी को नागरिकता प्रदान करने की किसी भी पद्धति से है।"** साधारणतया तो एक राज्य में दोनों ही प्रकार के नागरिकों को समान स्थिति प्राप्त होती है, लेकिन कुछ देशों में जन्मजात नागरिकों को देशीयकरण से हुए नागरिकों की अपेक्षा विशेष स्थिति प्राप्त होती है। भारत में तो दोनों प्रकार के नागरिकों में कोई भेद नहीं है, लेकिन अमेरिका में केवल जन्मजात नागरिक ही राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने की योग्यता रखते हैं।

देशीयकरण के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने की प्रक्रिया – देशीयकरण के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने की प्रक्रिया और शर्तें सम्बन्धित देश के विधान और कानून पर निर्भर करती है, लेकिन इस प्रक्रिया की कुछ सामान्य बातें हैं। सभी देशों में देशीयकरण की प्रक्रिया का प्रारंभ सम्बन्धित व्यक्ति के उस आवेदन-पत्र से होता है, जिसमें उसके द्वारा उस देश की नागरिकता प्राप्त करने की इच्छा व्यक्ति की जाती है। नागरिकता प्राप्त करने के लिए सामान्यतया उसे निम्न शर्तें पूरी करनी होती हैं:

(i) अपनी पहले की नागरिकता का परित्याग करना।

(ii) नये राज्य में निश्चित अवधि तक निवास करना।

(iii) नये राज्य के प्रति राजभक्ति और निष्ठा की शपथ लेना।

(iv) संविधान के प्रति विश्वास और निष्ठा व्यक्त करना।

(v) उस देश की राष्ट्रभाषा का ज्ञान प्राप्त करना।

(vi) व्यक्ति के पास भरण-पोषण के साधनों का होना।

NOTES

नागरिकता प्राप्त करने के लिए इनमें से प्रथम चार शर्तें पूरी करना सभी देशों में आवश्यक है। अन्य शर्तों के प्रसंग में विभिन्न देशों में अलग-अलग व्यवस्था है।

नागरिकता की प्राप्ति अथवा अपहरण

नागरिकता की प्राप्ति – प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर एक देश की नागरिकता प्राप्त की जा सकती है:

(1) **विवाह** – यदि किसी देश की स्त्री दूसरे देश के पुरुष से विवाह कर ले, तो स्त्री को अपने पति के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। अधिकांश देशों में तो यही नियम प्रचलित है, किन्तु जापान में ऐसा नियम प्रचलित है कि यदि किसी अन्य देश का पुरुष जापान की नारी से विवाह कर ले, तो पुरुष को भी जापान की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(2) **निश्चित निवास** – सामान्यतया सभी देशों में ऐसा नियम है कि राज्य के अन्तर्गत निश्चित अवधि तक निवास करने पर विदेशी अपने पहले देश की नागरिकता छोड़कर वहाँ की नागरिकता ग्रहण करने के लिए आवेदन-पत्र दे तो उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। यह अवधि विभिन्न देशों में 2 वर्ष से 10 वर्ष तक है। अमेरिका, नीदरलैण्ड, जापान और हंगरी में यह अवधि 5 वर्ष मैक्सिको, स्विट्जरलैण्ड और अर्जेण्टाइना में 2 वर्ष और स्वीडन में 3 वर्ष है।

(3) **सरकारी सेवा** – अनेक राज्यों में एक निश्चित अवधि तक राज्य की सेवा में रहने की दशा में व्यक्ति को उस देश की नागरिकता प्रदान कर दी जाती है।

(4) **सम्पत्ति खरीदना** – दक्षिणी अमेरिका के कुछ देशों, जैसे पेरू और मैक्सिको में, यह कानून है कि यदि कोई व्यक्ति वहाँ कुछ सम्पत्ति खरीद ले, तो उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(5) **विजय** – यदि किसी राज्य का कोई भाग किसी अन्य राज्य के द्वारा जीत लिया जाये अथवा एक राज्य अपनी इच्छा से अपना कुछ भाग अन्य किसी राज्य को दे दे, तो दोनों ही स्थितियों में उस भाग के नागरिकों को उस देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है जिसमें वह भाग मिलाया गया है।

(6) **दुबारा नागरिकता की प्राप्ति** – यदि किसी देश का कोई नागरिक अपनी नागरिकता छोड़कर किसी दूसरे देश की नागरिकता अपना लेता है, तो उसे दूसरे देश का नागरिक समझा जायेगा, परन्तु यदि वह अपने पहले देश की नागरिकता फिर से प्राप्त करना चाहे तो कुछ शर्तें पूरी करने पर उसे नागरिकता प्राप्त हो सकती है।

(7) **गोद लेने से** – यदि कोई व्यक्ति किसी विदेशी बच्चे को गोद ले ले, तो उस विदेशी बच्चे को अपने धर्म-पिता या धर्म-माता के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। ऐसी प्रथा प्राय: सभी देशों में है।

(8) **विद्वानों को** – कुछ देशों में विदेशी विद्वानों को नागरिकता प्राप्ति के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं, फ्रांस में ऐसी ही व्यवस्था है।

नागरिकता का अपहरण या समाप्ति – नागरिकता की प्राप्ति के समान ही उसका अपहरण भी सम्भव है। नागरिकता के अपहरण के सम्बन्ध में सामान्यतया विभिन्न देशों में निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं:

(1) **नागरिकता का त्याग** – अनेक राज्य अपने नागरिकों को अधिकार देते हैं कि यदि वे स्वेच्छा से वहाँ की नागरिकता छोड़ना और दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त करना चाहें तो वे सरकार की आज्ञा से ऐसा कर सकते हैं। इसके लिए नागरिक को सरकार के पास प्रार्थना-पत्र देना होता है। जर्मनी में ऐसा ही नियम है।

(2) **विवाह** – विवाह भी नागरिकता के अपहरण का एक साधन है। जब एक देश की स्त्री किसी दूसरे देश के पुरुष से विवाह कर लेती है तो वह स्त्री अपने पहले वाले देश की नागरिकता खो देती है।

(3) **विदेशों से सम्मान प्राप्ति** – अनेक राज्यों में ऐसा प्रचलित है कि वहाँ का नागरिक अनुमति प्राप्त किये बिना किसी अन्य देश में सरकारी नौकरी नहीं कर सकता और न ही कोई उपाधि या सम्मान

प्राप्त कर सकता है। जब नागरिक अन्य देश में शासकीय सेवा या सम्मान प्राप्त कर लेता है तो यह बात उसकी नागरिकता के अन्त का कारण बन जाती है।

(4) **लम्बे समय तक अनुपस्थिति** – अपने देश की सरकार की अनुमति बिना लम्बे समय तक देश से अनुपस्थित रहने पर भी नागरिकता का अन्त हो जाता है।

(5) **देशद्रोह या सेना से भागना** – यदि किसी व्यक्ति द्वारा देशद्रोह, सेना से भागना या अन्य कोई गम्भीर अपराध किया जाये, तो यह अपराध भी नागरिकता के अपहरण का कारण बन जाता है।

इन सबके अतिरिक्त जब एक व्यक्ति दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है, तो पहले राज्य की नागरिकता का स्वत: ही अन्त हो जाता है।

आदर्श नागरिकता

अरस्तू ने कहा कि **"श्रेष्ठ नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण कर सकते हैं, अत: राज्य के नागरिक आदर्श होने चाहिए।"** वस्तुत: आदर्श नागरिकता ही राज्य के विकास का आधार बन सकती है। आदर्श नागरिकता व्यक्ति की उस स्थिति का नाम है जिसमें उनके द्वारा आदर्श नागरिकों के रूप में जीवन व्यतीत किया जाता है। आदर्श नागरिक को अनेक बार आदर्श या उत्तम पुरुष का पर्यायवाची माना जाता है, लेकिन इन दोनों में कुछ अन्तर है। जो मनुष्य सदा सत्य बोलें, किसी को दु:ख न दें, मृदुभाषी हों, धर्म और सदाचार के नियमों का पालन करते हों, उन्हें हम आदर्श मनुष्य कहते हैं, लेकिन एक आदर्श नागरिक के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है, इनके अतिरिक्त उसमें सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि होनी चाहिए। उसके द्वारा अपने अधिकारों का ठीक प्रकार से उपभोग और कर्तव्यों का ठीक प्रकार से पालन किया जाना चाहिए।

लॉर्ड ब्राइस के अनुसार एक आदर्श नागरिक में बुद्धि, आत्मसंयम और अन्त:करण ये तीन गुण आवश्यक हैं, अर्थात् नागरिक वह है जो अपनी बुद्धि और शक्तियों का उपयोग राज्य के लाभ हेतु करता है। अपने छोटे-छोटे हित और स्वार्थ को त्यागने की भावना उसमें प्रमुख रूप से होनी चाहिए। व्हाइट के अनुसार, "एक आदर्श नागरिक में व्यावहारिक बुद्धि, ज्ञान और भक्ति ये तीन गुण आवश्यक हैं।" प्रसिद्ध विचारक **लास्की** आदर्श नागरिकता का बोध कराते हुए लिखते हैं कि **"नागरिकता मानव के शिक्षित निर्णय का जनकल्याण में प्रयोग है।"** इस प्रकार आदर्श नागरिक की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि **"सामाजिक क्षेत्र के प्रति रुचि रखने वाले उस उत्तम मनुष्य को आदर्श नागरिक कहा जा सकता है, जिसके द्वारा अपने अधिकारों का ठीक प्रकार से उपभोग और कर्तव्यों का उचित रूप से पालन किया जाता है।"**

आदर्श नागरिकता के तत्व (Elements of Ideal Citizenship)– आदर्श नागरिकता को ठीक प्रकार से समझने के लिए आदर्श नागरिकता के तत्वों का पृथक रूप से अध्ययन करना उपयोगी होगा। आदर्श नागरिकता के प्रमुख तत्व निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1)**जनकल्याण से प्रेरित अन्त:करण** – आदर्श नागरिक के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता न हो और उसका अन्त:करण जनकल्याण के उच्च आदर्शों से प्रेरित हो। वे व्यक्ति, जो स्वयं अपने परिवार या जाति के लिए समाज के हित का बलिदान कर देते हैं, आदर्श नागरिक नहीं कहे जा सकते। ऐसे स्वार्थी व्यक्ति न तो अपने मताधिकार का उचित प्रयोग कर सकते हैं और न ही दिन-प्रतिदिन के साधारण कार्य ईमानदारीपूर्वक कर सकते हैं। अत: आदर्श नागरिक केवल उसी व्यक्ति को कहा जा सकता है, जिसका अन्त:करण जनकल्याण से प्रेरित हो और जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ पर सम्पूर्ण समाज के हित को प्राथमिकता दे।

(2) **सच्चरित्रता** – केवल आदर्श व्यक्ति ही आदर्श नागरिक बन सकते हैं और आदर्श व्यक्ति केवल ऐसे ही व्यक्तियों को कहा जा सकता है, जिसमें सच्चरित्रता का बल हो। आदर्श नागरिक की कल्पना मूलत: नैतिक है और वही व्यक्ति जो सत्य और ईमानदारी के महत्व को समझता है एवं दृढ़ता और निर्भीकतापूर्वक अपने सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है, एक आदर्श नागरिक कहा जा सकता है।

(3) **चैतन्य बुद्धि** – चैतन्य बुद्धि का तात्पर्य उचित और अनुचित के बीच अन्तर कर सकने और विविध परिस्थितियों में समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने की विवेक शक्ति से

है। आदर्श नागरिक का कार्य किन्हीं व्यक्तियों का अनुसरण ही नहीं, वरन् स्वविवेक के आधार पर मार्ग निश्चित करना होता है और चैतन्य बुद्धि सम्पन्न नागरिक ही इस प्रकार की जागरुकता का परिचय दे सकते हैं। **व्हाइट** ने कहा है कि **"सामाजिक जीवन की समस्याओं को उनके सच्चे रूप से समझने के लिए, दूरदर्शिता के साथ उन समस्याओं के सूक्ष्म निरीक्षण तथा उनके हल के लिए नागरिकों में व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव का होना अत्यन्त आवश्यक है।"**

(4) **विचारों की उदारता** – आदर्श नागरिक के लिए उदार विचार अत्यन्त आवश्यक हैं। नागरिक जीवन की सफलता पारस्परिक व्यवहार में उचित सामंजस्य स्थापित करने पर निर्भर करती है। विचारों की उदारता के बिना हम दूसरों के साथ आवश्यक सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते हैं। विचारों की यह उदारता शिक्षा, व्यापक दृष्टिकोण और आत्मसंयम से उत्पन्न होती है।

(5) **आचार की शिष्टता और श्रेष्ठ आदतें** – शिष्ट व्यवहार सभ्यता का प्रतीक है और व्यवहार की शिष्टता के आधार पर हम कुछ भी व्यय किये बिना दूसरे प्राणियों को सुख पहुँचा सकते हैं। सामान्य समझी जाने वाली आदतें भी जैसे घर और आस-पास की सफाई, मित्रों, अतिथियों, महिलाओं तथा विरोधियों के प्रति भी विनम्र भाषा का प्रयोग, आदि अच्छे नागरिक जीवन के निर्माण में सहायक होते हैं।

(6) **सामान्य आर्थिक शक्ति** – वैसे तो व्यक्ति अपने आन्तरिक गुणों के आधार पर आदर्श नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत कर सकता है, लेकिन साधारणतया ऐसा देखा गया है कि चरित्र बल और चैतन्य बुद्धि से सम्पन्न नागरिक भी उस समय तक एक आदर्श नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत नहीं कर पाते हैं, जब तक कि उसके पास सामान्य आर्थिक शक्ति न हो। इस कारण वर्तमान परिस्थितियों में सामान्य आर्थिक शक्ति को भी आदर्श नागरिक का एक बाहरी तत्व कहा जा सकता है।

(7) **अधिकार तथा कर्तव्यों का ज्ञान और पालन** – आदर्श नागरिक के लिए एक बहुत अधिक जरूरी बात यह है कि व्यक्ति को अपने अधिकार और कर्तव्य का सही रूप में ज्ञान होना चाहिए। जब तक व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसके अधिकार तथा कर्तव्य क्या है, तब तक न तो वह अपने अधिकारों का उपभोग कर सकता है और न ही अपने कर्तव्यों का पालन।

(8) **सार्वजनिक क्षेत्र में रुचि** – आदर्श नागरिक के लिए आवश्यक है कि वह सम्पूर्ण समाज को अपने परिवार के समान ही समझे और समाज एवं राज्य की उन्नति में उसी प्रकार रुचि ले, जिस प्रकार की रुचि एक व्यक्ति अपने परिवार की उन्नति में लेता है। सभी गुणों से सम्पन्न लेकिन **'कोउ नृप होय, हमें का हानि'** वाली विचारधारा वाले व्यक्ति को आदर्श नागरिक नहीं कहा जा सकता है।

(9) **कर्तव्यपरायणता** – राज्य और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को ठीक प्रकार से सम्पादन करने वाले व्यक्तियों को ही आदर्श नागरिक कहा जा सकता है। इस प्रकार के कर्तव्यों के अन्तर्गत नागरिकों को प्रत्येक परिस्थिति में राज्य की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए, सार्वजनिक अधिकारियों को उनके कर्तव्यपालन में सहायता दी जानी चाहिए, कानून का विवेकपूर्ण पालन किया जाना चाहिए, और राज्य द्वारा निर्धारित कर निश्चित समय पर चुकाये जाने चाहिए। आदर्श नागरिक के सम्बन्ध में **कार्लायल** ने कहा है कि **'कर्म ही उसका धर्म होता है'** (Work is worship)।

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएँ

अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर विविध कर्तव्यों के बीच उचित क्रम निर्धारण और उसके पालन का नाम ही आदर्श नागरिकता है, लेकिन आदर्श नागरिकता के इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकना सरल नहीं है और आदर्श नागरिकता के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं:

(1) **व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता** – व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता आदर्श नागरिकता के मार्ग की सबसे प्रबल बाधा कही जा सकती है। कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में अपना स्वार्थ ही सब कुछ होता है। वे केवल अपने लिए सोचते, कार्य करते और जीवित रहते हैं और उनके द्वारा **'येन केन प्रकारेण'** अपने स्वार्थ की पूर्ति को ही सब कुछ समझ लिया जाता है। इन व्यक्तियों के लिए समाज या राज्य का हित कोई महत्व नहीं रखता। इन व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से ही मताधिकार का प्रयोग किया

जाता है, साधारण व्यापारी के रूप में कालाबाजार और सरकारी अधिकारी के रूप में भ्रष्टाचार किया जाता है तथा कुछ मुद्राओं के बदले राष्ट्रीय स्वतंत्रता का सौदा किया जा सकता है।

(2) **अकर्मण्यता** – आदर्श नागरिकता के मार्ग की एक अन्य बाधा अकर्मण्यता है। अकर्मण्य व्यक्ति किसी प्रकार का कार्य करना पसन्द नहीं करते और कर्तव्यपालन से दूर ही रहना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति न तो अपने मताधिकार का उचित रूप से प्रयोग करते हैं और न समाज तथा राज्य के प्रति अपने दायित्वों को समझकर उन्हें पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ, देश पर बाहरी आक्रमण के समय प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होता है कि वह देश की रक्षा व्यवस्था में भाग ले, पर अकर्मण्य व्यक्ति अपने इस कर्तव्य का उचित रूप में पालन नहीं कर सकते।

(3) **अज्ञान** – अज्ञानी और अशिक्षित व्यक्ति उचित और अनुचित में अन्तर नहीं कर पाते और अपने उत्तरदायित्व को पहचानने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी राजनीतिक शक्ति और सार्वजनिक कर्तव्यों का सम्पादन अपने विवेक के आधार पर नहीं, वरन् दूसरे व्यक्तियों के फुसलाने में आकर बैठते हैं। अज्ञानी व्यक्ति भेड़ों के समान ही आचरण करते हैं जिन्हें स्वार्थी व्यक्ति कहीं भी हॉक कर ले जाते हैं। साधारणतया एक शिक्षित व्यक्ति ही आदर्श नागरिक के रुप में अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। बिना शिक्षा के एक व्यक्ति न तो अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है और न राष्ट्र की उन्नति में सहायक हो सकता है।

(4) **सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति अरुचि** – अनेक व्यक्ति स्वयं और अपने पारिवारिक जीवन को ही सब कुछ समझकर समाज और राज्य के कार्यों में किसी भी प्रकार की रुचि नहीं लेते हैं और सार्वजनिक जीवन के कर्तव्यों के प्रति विमुख हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति न तो मताधिकार का सही प्रयोग करते हैं और न ही सार्वजनिक समस्याओं के हल के लिए किसी प्रकार से विचार करते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उत्पन्न इस अरुचि की ओर संकेत करते हुए अमेरिकन लेखक **सिज्बे** (Schizbe) कहते है कि **"एक व्यक्ति को मताधिकार दीजिए और वह उसे खूँटी पर टाँग देगा। लाखों ऐसे निर्वाचक हैं जो मतदाता सूची में नाम नहीं लिखवाते और लाखों ऐसे नागरिक हैं जो मतदाता सूची में नाम होने पर भी मताधिकार का प्रयोग नहीं करते।"** सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति यह अरुचि निर्धनता, अज्ञानता और व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता के कारण उत्पन्न होती है।

(5) **गम्भीर आर्थिक विषमता या निर्धनता** – आदर्श नागरिकता के मार्ग में आर्थिक बाधाएँ प्रबल होती हैं। जब एक व्यक्ति अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ ही पूर्ण नहीं कर पाता या जब इन आवश्यकताओं को पूर्ण करने में ही उसे अपनी सम्पूर्ण शक्ति और समय का उपयोग करना होता है तो ऐसा व्यक्ति अपने सार्वजनिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में सोच ही नहीं सकता। अनेक बार व्यक्ति अत्यधिक निर्धनता के कारण ही चोरी, हत्या, आदि समाज विरोधी कार्य करने की ओर प्रवृत्त हो जाता है। शास्त्रों में भी कहा गया है कि **"बुभुक्षितः किम न करोति पापम्।"** निर्धनता व्यक्ति के आत्मविश्वास को खत्म कर देती है तथा उसे भीरु और भाग्यवादी बना देती है। गम्भीर आर्थिक विषमताओं के कारण उनमें वर्ग-संघर्ष की भावना उत्पन्न हो जाती है और व्यक्ति अपने वर्ग के स्वार्थ हेतु समाज-विरोधी कार्य करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं।

(6) **संकीर्ण राजनीतिक दल** – अनेक बार जाति, धर्म, भाषा और प्रान्तीयता के क्षुद्र भेदों के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण हो जाता है और ये राजनीतिक दल साम्प्रदायिकता, जातीयता और वर्ग विशेष की राष्ट्र-विरोधी भावनाओं को प्रबलता प्रदान करते हैं। अनेक बार राजनीतिक दलों के द्वारा किसी भी प्रकार से शासन शक्ति प्राप्त कर लेना ही अपना एकमात्र उद्देश्य निश्चित कर लिया जाता है और वे सभी भ्रष्ट उपायों को अपना लेते हैं। ऐसे संकीर्ण और असंगठित राजनीतिक दल आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधक ही होते हैं।

(7) **संकुचित समुदायों को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति** – विभिन्न समुदायों के प्रति कर्तव्यों के उचित क्रम निर्धारण का नाम ही आदर्श नागरिकता है, लेकिन अनेक बार व्यक्ति अपने धार्मिक, आर्थिक या राजनीतिक समुदायों को इतना अधिक महत्व देते हैं कि इन समुदायों के वशीभूत होकर वे समाज एवं राज्य के हितों की अवहेलना करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। मध्ययुग में व्यक्तियों द्वारा चर्च के प्रति अन्ध-श्रद्धा की स्थिति को अपनाया गया था और वर्तमान समय में इस प्रकार की अन्ध-श्रद्धा अनेक

बार आर्थिक और राजनीतिक समुदायों के प्रति देखी जा सकती है। संकुचित हितों के प्रति यह अत्यधिक भक्ति राष्ट्रीय हितों के सम्पादन और आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधक होती है।

(8) **सामाजिक कुप्रथाएँ** – आदर्श नागरिकता के मार्ग में कुछ सामाजिक बाधाएँ भी होती हैं। अनेक बार समाज में वंश, जाति तथा धर्म के आधार पर भेदभाव किया जाता है और इस भेदभाव के कारण समाज का एक बड़ा वर्ग अपना विकास करने से वंचित रह जाता है। किसी समाज में पुराने समय से जो रूढ़ियाँ और प्रथाएँ चली आ रही हैं, उनका पालन करना उसी सीमा तक उपयोगी हो सकता है, जिस सीमा तक वे समाज की बदलती हुई परिस्थितियों में हानिकारक न हों। भारतीय समाज में अस्पृश्यता, जाति-पाँति का भेद, बाल-विवाह एवं दहेज प्रथा इसी प्रकार की हानिकारक प्रथाएँ हैं। पुराने समय के अभ्यासों, के कारण ही भारतीय व्यक्ति भाग्यवादी और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उदासीन हैं। प्राचीनकाल से चली आ रही ये हानिकारक प्रथाएँ भी आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधक होती हैं।

(9) **शासन की भ्रष्टता** – एक राज्य के अन्तर्गत प्रचलित शासन-व्यवस्था का देश के नागरिकों पर आवश्यक रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि शासन का स्वरूप ही भ्रष्ट हो, सरकारी अधिकारी कर्तव्यपालन के प्रति उदासीन हों और अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति में ही लगे रहते हों, तो सामूहिक रूप से नागरिकों के चरित्र पर इसका प्रभाव पड़ता है और वे आदर्श नागरिकों के रूप में अपना जीवन व्यतीत नहीं कर पाते।

(10) **उग्र राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद की संकीर्ण मनोवृत्तियां** – डॉक्टर बेनीप्रसाद ने कहा है कि **"आदर्श नागरिक द्वारा अपने देश के प्रति भक्ति का सामंजस्य मानवता के प्रति भक्ति के साथ किया जाना चाहिए।"** लेकिन उग्र राष्ट्रीयता और **साम्राज्यवाद की संकुचित** मनोवृत्ति व्यक्ति को यह सोचने के लिए प्रेरित करती है कि उसका राज्य ही सब कुछ है और **उसके** द्वारा अपने राज्य की प्रगति के लिए अन्य राज्यों के हितों का बलिदान किया जा सकता है। उग्र राष्ट्रीयता का यह विचार आदर्श नागरिकता के अन्तर्राष्ट्रीय संदेश 'जीओ और जीने दो' या 'विश्वबन्धुत्व' की भावना के विरुद्ध है और राज्यों की मानवता के विनाश की ओर प्रवृत्त करता है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध इसी प्रवृत्ति के परिणाम थे।

आदर्श नागरिकता की बाधाओं का निवारण

आदर्श नागरिकता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के लिए नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के अन्तर्गत विविध क्षेत्रों में प्रयत्न किया जाना आवश्यक है और इस प्रकार के प्रयासों के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य किये जाने चाहिए :

(1) **नैतिकता का उत्थान** – आदर्श नागरिकता रूपी भवन का निर्माण नैतिकता रूपी नींव के आधार पर ही किया जा सकता है। अत: नैतिकता के उत्थान के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए। कुटुम्ब और शिक्षण संस्थाओं द्वारा इस सम्बन्ध में विशेष कार्य किया जा सकता है क्योंकि व्यक्ति के जीवन की आधारशिला रखने का कार्य इन्हीं संस्थाओं द्वारा किया जाता है। यदि माताएँ शिक्षित हों, कुटुम्ब में प्रेम, सहिष्णुता, अनुशासन और साधारण रूप से आर्थिक सम्पन्नता का वातावरण हो, तो ठीक प्रकार के संस्कार के आधार पर नैतिक जीवन की नींव रखी जा सकती है। इसी प्रकार शिक्षण संस्थाओं द्वारा भी कुछ विशेष विषयों की सामान्य शिक्षा प्रदान करने तक ही अपने आपको सीमित नहीं रखा जाना चाहिए, वरन् विद्यार्थियों को नैतिक जीवन का मूल्य और महत्व भी समझाया जाना चाहिए। यदि इस सम्बन्ध में नेतृत्व करने वाले व्यक्ति आदर्श उपस्थित करें, तो नैतिकता के उत्थान का महान् कार्य बहुत अधिक सरल हो जायेगा।

(2) **स्वस्थ राजनीतिक दलों की स्थापना** – आदर्श नागरिकता के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का ज्ञान हो और वे इन समस्याओं को हल करने के व्यावहारिक उपायों से परिचित हों। ऐसा होने पर ही नागरिक अपने मताधिकार का उचित प्रयोग कर सार्वजनिक क्षेत्र में ठीक प्रकार से कार्य कर सकते हैं। नागरिक को सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में इस प्रकार का सम्पूर्ण ज्ञान राजनीतिक दलों के द्वारा ही प्रदान किया जा सकता है, लेकिन राजनीतिक दल यह कार्य उसी समय भली-भाँति कर सकते हैं जबकि वे आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर आधारित

हों और भली-भाँति संगठित हों। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक राजनीतिक दल में राज्य के हितों को दलीय हितों के ऊपर प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

(3) **स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का विकास** – आदर्श नागरिक में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि होना नितान्त आवश्यक है और इस प्रकार की रुचि उत्पन्न करने में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। स्थानीय स्वशासन स्थान विशेष का प्रबन्ध नागरिकों के हाथ में देकर सीमित क्षेत्र में अपने प्रत्यक्ष कार्य और अनुभव के आधार पर उन्हें महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर ठीक प्रकार से विचार करने की योग्यता प्रदान करता है।

(4) **शिक्षा का प्रचार** – शिक्षा, जिसे **महात्मा गाँधी** ने **'आत्मा की खुराक'** के नाम से पुकारा है, स्वस्थ नागरिकता का दूसरा प्रमुख आधार है। शिक्षा के अधिकाधिक प्रचार से ही नागरिकों को अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, स्वतन्त्र रूप से विचार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और व्यक्ति का मानसिक क्षितिज विस्तृत होता है, लेकिन शिक्षा के द्वारा उपर्युक्त प्रकार के कार्य किये जा सकें इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा मात्र किताबी ही नहीं होनी चाहिए, वरन् मानवीय मूल्यों पर आधारित सच्ची शिक्षा-व्यवस्था का प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

(5) **गम्भीर आर्थिक विषमताओं का अन्त और सभी व्यक्तियों के लिए न्यूनतम आर्थिक साधनों की व्यवस्था** – व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताओं के सन्तुष्ट हो जाने पर ही वे सार्वजनिक कर्तव्यों का सम्पादन कर सकते हैं। अत: ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि सभी व्यक्तियों को अनिवार्य रूप से आर्थिक न्यूनतम की प्राप्ति हो जाये। आर्थिक न्यूनतम का तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों की भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की आवश्यकताएँ अनिवार्य रूप से पूरी की जानी चाहिए। इसके साथ ही गम्भीर भेदभावों का अन्त कर अधिक-से-अधिक सम्भव सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना की जानी चाहिए। आज की परिस्थितियों को देखते हुए तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आर्थिक समानता की स्थापना के बिना आदर्श नागरिकता का निर्माण सम्भव नहीं है।

(6) **स्वतन्त्र और शक्तिशाली प्रेस** – समय-समय पर समस्याओं और घटनाओं के सम्बन्ध में सही-सही जानकारी प्राप्त न हो पाना भी आदर्श नागरिकता के कर्तव्यों के सम्पादन में बाधा सिद्ध होती है। अत: ऐसा स्वस्थ और शक्तिशाली प्रेस होना चाहिए, जो व्यक्तियों को सही सूचना प्रदान कर सके और इस प्रकार उन्हें स्वतन्त्र रूप से विचार करने के लिए प्रेरित कर सके।

(7) **सामाजिक कुरीतियों का निवारण** – वर्तमान समय की परिस्थितियों में अव्यावहारिक सामाजिक प्रथाओं को अपनाये रहने से सामाजिक विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। अत: परिवर्तित आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लेना नितान्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ, भारत में आदर्श नागरिकता के निर्माण के लिए जाति-पाँति के भेद और अस्पृश्यता के विचार का त्याग करना जरूरी है। प्राचीन प्रथाओं और रूढ़ियों के सम्बन्ध में संस्कृत भाषा के इस कवि के विचारानुसार ही आचरण किया जाना चाहिए, जो कहते हैं कि "जो बातें प्राचीनकाल से चली आ रही हैं वे अवश्य ही उपादेय हों, यह जरूरी नहीं है। साथ ही कोई बात केवल इसीलिए भी अच्छी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह नयी है। जिस प्रकार हंस दूध और पानी में भेद कर दूध को ग्रहण करता है, वैसे ही हमें बुद्धि द्वारा उपयोगी बातों को ग्रहण करना चाहिए।"

(8) **सुव्यवस्थित और जनहितकारी शासन-व्यवस्था** – आदर्श नागरिकता के निर्माण की दिशा में सुव्यवस्थित और जनहितकारी शासन का महत्व भी कम नहीं है। शासन के संचालन का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष का कल्याण न होकर सम्पूर्ण समाज का कल्याण होना चाहिए। व्यक्तियों की स्वतंत्रता को क्षति न पहुँचाते हुए राज्य के द्वारा अपने कार्यों में अधिकाधिक वृद्धि की जानी चाहिए जिससे सामान्य जनता अपनी उन्नति कर सके। इसके साथ ही शासन कार्य से विशेष रूप से सम्बन्धित व्यक्तियों का चरित्र भी अनुकरणीय होना चाहिए, जिससे सामान्य जनता उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सके।

(9) **विश्वबन्धुत्व की भावना** – आदर्श नागरिकता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उग्र राष्ट्रवाद, पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद के विचार को त्याग कर विश्वबन्धुत्व की भावना को अपनाना भी नितान्त

आवश्यक है। आदर्श नागरिकता का विचार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात 'सम्पूर्ण विश्व ही मेरा कुटुम्ब है' की धारणा पर आधारित होता है। अत: आदर्श नागरिक द्वारा अपने देश के कल्याण का इस प्रकार से प्रयत्न किया जाना चाहिए कि विश्व के अन्य देशों की प्रगति में बाधा न पहुँचे। वर्तमान समय में सहयोग एवं सह अस्तित्व की धारणा के आधार पर ही एक देश अपनी उन्नति कर सकता है और विश्व के अन्य देशों की उन्नति में योग दे सकता है।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. नागरिकता की परिभाषा कीजिए। नागरिकता कैसे प्राप्त होती है और कैसे खोई जाती है?
2. आदर्श नागरिकता के तत्वों का निर्धारण कीजिए।
3. 'नागरिक' शब्द की व्याख्या कीजिए तथा नागरिक और विदेशी में अन्तर बताइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. नागरिकों के प्रकार बतलाइये।
2. नागरिक तथा विदेशी में अंतर कीजिए।
3. नागरिकता की प्राप्ति के आधार बतलाइये।
4. नागरिक और मतदाता में अंतर कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. देशीयकरण के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने के लिए संबंधित व्यक्ति को किस शर्त को पूरा करना होता है :

   (अ) अपनी पहले की नागरिकता का परित्याग करना

   (ब) नए राज्य में संबंधित राज्य के संविधान या कानून द्वारा निर्धारित अवधि तक निवास करना

   (स) नए राज्य के प्रति राजभक्ति और निष्ठा की शपथ लेना

   (द) उपर्युक्त सभी शर्तें।

2. निम्नलिखित में से किस आधार पर एक देश की नागरिकता प्राप्त की जा सकती है :

   (अ) निश्चित निवास (ब) विवाह (स) सरकारी सेवा (द) उपर्युक्त सभी

3. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में नागरिकता संबंधी व्यवस्था की गई है :

   (अ) अनच्छेद 5 से 11 तक (ब) अनुच्छेद 12 से 21 तक

   (स) अनुच्छेद 22 से 28 तक (द) अनुच्छेद 30 से 35 तक

4. निम्न में से किस आधार पर भारतीय नागरिकता की समाप्ति हो सकती है :

   (अ) नागरिकता का परित्याग करने पर (ब) दूसरे देश की नागरिकता स्वीकार करने पर

   (स) संघ सरकार द्वारा नागरिकता का आहरण (द) उपर्युक्त सभी आधारों पर

5. "श्रेष्ठ नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण कर सकते हैं, अत: राज्य के नागरिक आदर्श होने चाहिए।" यह कथन किस विचारक का है :

   (अ) प्लेटो (ब) अरस्तू (स) हाब्स (द) रूसो

6. आदर्श नागरिकता का प्रमुख तत्व है :

   (अ) जनकल्याण से प्रेरित अन्त:करण (ब) सच्चरित्रता

   (स) विचारों की उदारता (द) उपर्युक्त सभी तत्व

उत्तर - (1) द, (2) द, (3) अ, (4) द, (5) ब, (6) द

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

13

अधिकार : अधिकार संबंधी सिद्धान्त

(RIGHTS : THEORIES OF RIGHTS)

अधिकार हमारे सामाजिक जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं जिनके बिना न तो व्यक्ति अपने व्यक्तिव का विकास कर सकता है और न ही समाज के लिए उपयोगी कार्य कर सकता है। वस्तुत: अधिकारों के बिना मानव जीवन के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस कारण वर्तमान समय में प्रत्येक राज्य के द्वारा अधिकाधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये जाते हैं और **लास्की** के शब्दों में कहा जा सकता है कि "एक राज्य अपने नागरिकों को जिस प्रकार के अधिकार प्रदान करता है उन्हीं के आधार पर राज्य को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है।"

अधिकार वे सामाजिक परिस्थितियाँ तथा अवसर हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास के लिए आवश्यक हैं। अधिकार उन सुविधाओं को कहते हैं जिनका उपयोग कर मनुष्य अपने जीवन को सुखी और सार्थक बना सकता है। किसी समाज की उन्नति का मापदण्ड उस समाज द्वारा स्वीकृत अधिकारों को समझा जाता है। जिस समाज में नागरिक के जितने अधिक अधिकार स्वीकार कर लिए जाते हैं वह समाज उतना ही अधिक उन्नतिशील माना जाता है।

अधिकार : अर्थ एवं परिभाषा (Rights : Meaning and Definitions)

व्यक्ति के अधिकार वे दावे होते हैं जिनको समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और जिन्हें राज्य संरक्षण प्रदान करता है। समाज की स्वीकृति इसलिए आवश्यक है क्योंकि अधिकारों का परिवेश समाज है। राज्य का संरक्षण भी आवश्यक है क्योंकि राज्य अधिकारों को औचित्य व परिसीमन प्रदान करता है।

अपनी आत्मोन्नति के लिए मनुष्य को एक विशेष परिवेश की आवश्यकता होती है। इस परिवेश को उत्पन्न करना और बनाये रखना समाज और राज्य का कर्तव्य है। अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। जीवन की इन्हीं परिस्थितियों को अधिकार कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य में कुछ अन्तर्निहित शक्तियाँ होती हैं। इन शक्तियों के विकास हेतु वह समाज के सामने कुछ माँगे रखता है। ये माँगे (claims) अनेक प्रकार की हो सकती हैं, कुछ नैतिक तथा सार्वजनिक कल्याण के हित में तो अन्य अनैतिक और पूर्णत: स्वार्थपूर्ण होती हैं। समाज पहले प्रकार की मांगों को स्वीकार कर लेता है तथा दूसरे प्रकार की मांगों को अस्वीकार कर देता है। जो माँगे समाज द्वारा स्वीकार कर ली जाती हैं, वे अधिकार कहलाती हैं।

विभिन्न दार्शनिकों ने अधिकार की परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं :-

वाइल्ड : "अधिकार कुछ विशेष कार्यों को करने के लिए स्वतन्त्रता की युक्तिसंगत माँग है।"

लास्की : "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना सामान्यत: कोई व्यक्ति अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता है।"

सालमंड : "सत्य (न्याय) के द्वारा रक्षित हित ही अधिकार हैं। कोई भी हित, जिसका आदर करना कर्तव्य और जिसका उल्लंघन अनुचित हो, अधिकार कहलाता है।"

ग्रीन : "अधिकार वह शक्ति है जिसकी माँग लोककल्याण के लिए की जाती है और जिसे इसी आधार पर मान्यता भी प्राप्त होती है।"

बार्कर : "अधिकार वे बाहरी परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्तित्व के अधिकतम विकास के लिए आवश्यक हैं और जिनकी उपलब्धि राज्य द्वारा संरक्षित होती है।"

NOTES

मैक्कन : "अधिकार सामाजिक हित के लिए कुछ लाभकारी परिस्थितियाँ हैं जो नागरिक के समुचित विकास के लिए आवश्यक हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाएँ अधिकार की सामाजिक उपयोगिता पर प्रकाश डालती हैं। व्यक्ति समाज के सदस्य हैं और समाज व्यक्ति के अधिकारों की आवश्यकता बतलाता है, किन्तु जब तक अधिकारों को राज्य द्वारा मान्यता न मिल जाये तब तक उन्हें हम अत्यधिक सामाजिक उपयोगिता के बाद भी अधिकार नहीं कह सकते। अतएव अधिकार का सम्बन्ध व्यक्ति, समाज तथा राज्य तीनों से ही रहता है।

अधिकार के तत्व या लक्षण (Rights : Basic Factors)

अधिकार के प्रमुख तत्व या लक्षण निम्न प्रकार दर्शाये जा सकते हैं :

(1) **अधिकार सामाजिक हित में एक स्वार्थरहित माँग हैं** – अधिकार सामाजिक हित में एक स्वार्थरहित मांग होती है, जो समाज या राज्य से की जाती है।

(2) **अधिकार समाज की सृष्टि है** – अधिकार समाज में ही सम्भव है। समाज के सदस्यों के रूप में ही हमें अधिकार मिलते हैं। बिना समाज की स्वीकृति या मान्यता के व्यक्ति की माँगें अधिकार का रूप धारण नहीं कर सकतीं। जब कोई माँग समाज द्वारा स्वीकृत हो जाती है, तब उसके पीछे समाज की समस्त नैतिक शक्ति हो जाती है। अत: अधिकार समाज की सृष्टि है।

(3) **राज्य का संरक्षण** – अधिकारों का एक आवश्यक लक्षण यह है कि राज्य उनका संरक्षक होता है। इस स्थिति में राज्य का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह देखे कि सब व्यक्ति समान अधिकारों का उपभोग करते हैं तथा कोई व्यक्ति उनका दुरुपयोग तो नहीं करता। जब तक किसी अधिकार को राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं होता तब तक उसे अधिकार नहीं कहा जा सकता।

(4) **सर्वव्यापकता** – अधिकार सार्वभौमिक होते हैं, अर्थात बिना किसी भेदभाव के अधिकार राज्य के सभी नागरिकों को प्राप्त होते हैं।

(5) **कल्याणकारी स्वरूप** – अधिकारों का सम्बन्ध अनिवार्यत: मानव के व्यक्तित्व के विकास से होता है। अधिकारों को इसलिए मान्यता प्राप्त होती हैं कि वे मानव की उन्नति में सहायक होते हैं। व्यक्ति को कोई ऐसे अधिकार नहीं मिल सकते जो उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधक हों।

(6) **अधिकार कर्तव्यों से घनिष्ठत: सम्बन्धित हैं** – अधिकार कर्तव्यों पर आश्रित होते हैं, अधिकारों का महत्व कर्तव्यों की दुनिया में ही होता है। अधिकार में कर्तव्य निहित हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। **प्रो. लास्की** ने ठीक लिखा है कि "मेरे अधिकार में तुम्हारे कर्तव्य निहित हैं।"

अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of Rights)

अधिकार का सम्बन्ध व्यक्ति, समाज तथा राज्य तीनों से रहता है। इसी दृष्टिकोण को लेकर अधिकारों से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्त विकसित हुए हैं। ये सिद्धान्त यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि इन तीनों का अधिकार से क्या सम्बन्ध होना चाहिए। यहाँ हम संक्षेप में इन सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

(1) अधिकारों का प्राकृतिक सिद्धान्त (Natural Theory of Rights) –

अधिकारों का यह सिद्धान्त काफी प्राचीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को प्रकृति द्वारा ही कुछ अधिकार प्रदान किए गए हैं। ये उसके प्रकृति द्वारा ही प्रदत्त या जन्मजात अधिकार हैं। सामाजिक और राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ होने के पूर्व ही मनुष्यों को प्रकृति की ओर से अधिकार प्राप्त थे। जिस प्रकार व्यक्ति से उसकी त्वचा का रंग अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उसके अधिकार उससे पृथक नहीं किये जा सकते। जीवित रहने का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार व आत्मनिर्णय का अधिकार कुछ जन्मजात अधिकार हैं जिनको प्राप्त करने तथा सुरक्षित रखने का अधिकार प्रत्येक को जन्म से ही प्रकृति से प्राप्त होते हैं। मनुष्य इन अधिकारों का उपयोग समाज या राज्य की स्थापना के पूर्व से कर रहा है, अत: इनके उपभोग में समाज या राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

प्राचीन काल में यूनानी दार्शनिक और मध्य काल में रोमन विचारकों ने प्राकृतिक अधिकारों की चर्चा की है। सिसरो ने कहा था कि व्यक्ति के अधिकार प्रकृति की देन हैं, इन्हें सिद्ध या साबित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में सामाजिक समझौता सिद्धान्त के समर्थकों – हॉब्स, लॉक तथा रूसो – ने प्राकृतिक अधिकारों का प्रबल समर्थन किया। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार उसकी शक्ति का ही दूसरा नाम थे। उसके शब्दों में "प्राकृतिक अधिकार ... प्रत्येक व्यक्ति की अपनी शक्ति को स्वेच्छानुसार प्रयोग करने की स्वतंत्रता है।" **लॉक** ने अधिकारों के विषय में लिखा है कि समाज के संगठन के पूर्व मनुष्य प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता था। लॉक पहला उदारवादी लेखक है जो प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का समर्थन करता हैं। उसके अनुसार जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार हैं। **रूसो** भी प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास रखता था। उसकी सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक 'सामाजिक समझौता' का पहला वाक्य "मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है, परन्तु सर्वत्र बन्धनों से जकड़ा हुआ है।" यह साबित करता है कि **रूसो** भी नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त का समर्थक है। टॉमस पेन ने भी प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का समर्थन किया है। फ्रांसीसी और अमरीकी क्रांतियों के विकास में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त ने व्यापक प्रभाव डाला। आर्थिक क्षेत्र में प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन ऐडम स्मिथ और रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों ने किया। इस प्रकार प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त उदारवादी राजनीतिक परम्परा का अभिन्न अंग रहा है।

आलोचना – आजकल प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को उचित नहीं माना जाता और निम्नलिखित आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है।

(i) **'प्राकृतिक' शब्द की कोई सर्वमान्य व्याख्या नहीं** – इस सिद्धान्त में 'प्राकृतिक' शब्द अनिश्चित, अपरिभाष्य तथा अनेकार्थक हैं। प्रकृति से भिन्न-भिन्न लेखकों के भिन्न-भिन्न अभिप्राय होते हैं। कुछ लोग प्रकृति का अर्थ सम्पूर्ण जगत मानते हैं जिसमें अचेतन तत्व शामिल हैं। कुछ उसे जड़ पदार्थों का पर्यायवाची मानकर उसमें चेतन-प्राणियों को शामिल नहीं करते। कुछ विचारकों का प्रकृति से तात्पर्य मानव स्वभाव होता है, कुछ लोग प्राकृतिक का अर्थ ईश्वरीय या नैतिक मानते हैं, अन्य लोग प्राकृतिकता से मनुष्य की प्रारम्भिक और अविकसित समाजपूर्व अवस्था का बोध कराते हैं। अतएव भिन्न-भिन्न लेखकों ने प्राकृतिक अधिकारों की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है।

(ii) **राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानना** – यह सिद्धान्त राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानता है। यह राज्य के स्वरूप का गलत चित्रण है, प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में राज्य जैसी कोई सत्ता नहीं थी। यह मत नितान्त काल्पनिक है जबकि मनुष्य सदा से ही राज्य में रहता आया है।

(iii) **बिना राज्य के अधिकार सम्भव नहीं है** – प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि राज्य के पूर्व की अवस्था अर्थात प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के पास कुछ अधिकार थे परन्तु बिना राज्य के अधिकारों की कल्पना केवल मृग-मरीचिका है। वस्तुत: अधिकार वह दावा है जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य लागू करता है।

(iv) **मनुष्य को उग्र व्यक्तिवाद की ओर ले जाना** – यह सिद्धान्त मनुष्य में यह भावना जाग्रत करता है कि बिना समाज तथा राज्य के भी मनुष्य के कुछ अपने अधिकार थे। इससे समाज व राज्य के हितों की उपेक्षा कर व्यक्ति निरन्तर स्वार्थ सिद्धि में लगा रह सकता है जिससे समाज व राज्य का अहित हो सकता है।

(v) **समाज और राज्य को अधिकारों का विरोधी समझना** – इस सिद्धान्त में यह भी दोष है कि इसके अनुसार समाज और उसके संगठन को अधिकारों का विरोधी समझा जाता है। रूसो का विचार था कि मनुष्य अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में तो स्वतंत्र था लेकिन समाज की स्थापना से उसकी प्राकृतिक स्वतंत्रता नष्ट हो गयी। **रूसो** का विश्वास था कि सामाजिक संगठन और सभ्यता के विकास से हमारा नागरिक जीवन पतन के गर्त में गिरता चला गया।

महत्व – यद्यपि आलोचक यह कहते हैं कि यह सिद्धान्त केवल कल्पना पर ही आधारित है और इसमें कोई ऐतिहासक तथ्य नहीं दिखते हैं, किन्तु यदि हम प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ ऐसे अधिकारों से लें जिन्हें चाहे समाज माने या न माने, किन्तु जिन्हें हम मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक समझते हैं तो इस धारणा का विशेष महत्व हो जाता है। स्वतंत्रता और समानता के संघर्ष में मुनष्य को जो सफलता मिली है, उसका बहुत कुछ श्रेय इस सिद्धान्त को है। अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा में प्राकृतिक अधिकारों का उल्लेख किया गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात स्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानव अधिकारों की एक सर्वव्यापी घोषणा को स्वीकार कर इस सिद्धान्त को एक सार रूप दे दिया है।

(2) **अधिकारों का विधिक या कानूनी सिद्धान्त (Legal Theory of Rights) –**

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों की उत्पत्ति वैधानिक व्यवस्था से हुई है। यह सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त के ठीक विपरीत है और अधिकारों को राज्य की सृष्टि मानता है। राज्य कानून बनाकर हमारे अधिकारों की सृष्टि करता है। कानून या विधि जो कुछ प्रदान करती है, वही अधिकार है और विधि जो प्रदान नहीं करती, वह अधिकार नहीं है। राज्य के बिना अधिकारों का उपयोग नहीं किया जा सकता। अधिकार प्रकृति की नहीं अपितु राज्य की देन हैं। ये मनुष्य को राज्य द्वारा प्रदान किये जाते हैं। जीवन, स्वतंत्रता, सम्पत्ति के अधिकार हम उसी सीमा तक प्राप्त कर सकते हैं जिस सीमा तक किसी राज्य के कानून ने उनको स्वीकार कर लिया है।

इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक **हॉब्स तथा ऑस्टिन** है। बेन्थम का कहना है कि "उचित अर्थ में अधिकार विधि की ही कृति है।" इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकारों के तीन प्रमुख पहलू हैं। **प्रथम,** राज्य ही अधिकारों का स्त्रोत है, अत: राज्य के पूर्व या राज्य से बाहर अधिकार नहीं हो सकते। **द्वितीय,** राज्य अपने साधनों से नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है और **तृतीय,** ये अधिकार गतिशील होते हैं। कानूनों में परिवर्तन के साथ अधिकारों के रूप में भी परिवर्तन होता रहता है।

आलोचना – इस सिद्धान्त की अनेक विद्वानों ने जिनमें बहुलवादी भी हैं, काफी आलोचना की है।

(i) **राज्य अधिकारों का सृष्टा नहीं अपितु रक्षक है** – अधिकारों का निर्धारण राज्य के कानूनों द्वारा होता है। **होकिंग** पूछते हैं कि क्या कानून रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार को अधिकार बना सकता हैं? **लास्की** ने तो यहाँ तक कहा है कि "अधिकार राज्य की स्वीकृति – सीमा से बाहर है।" राज्य अधिकारों को बनाता नहीं है, वरन केवल उन्हें मान्यता प्रदान करता है और उनकी रक्षा करता है।

(ii) **राज्य की निरंकुशता के पोषक** – यदि हम राज्य को अधिकारों का उद्भवकर्ता मान लें तो इस प्रकार राज्य का जो निरंकुश और स्वेच्छाचारी रूप बनेगा, उसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। इस सिद्धान्त के अनुसार संघ अथवा समुदाय के राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं है, लेकिन आधुनिक मान्यता यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों गें राज्य का विरोध किया जा सकता है।

(iii) **विधि अधिकारों का स्त्रोत नहीं** – सिद्धान्तत: केवल रीति-रिवाज, धार्मिक परम्परा, ऐतिहासिक रूढ़ियों आदि का कानूनों पर गहरा प्रभाव पड़ता है जैसा कि लास्की ने कहा है, "अधिकारों की प्रतिष्ठा का प्रश्न लिखित कानून के नियमों की अपेक्षा अभ्यास और परम्परा पर अधिक आधारित है।"

(iv) **नैतिक पहलू की उपेक्षा** – कानूनी सिद्धान्त अधिकार के नैतिक पहलू को बिल्कुल भुला देता है। अधिकार में केवल वैधानिक तत्व ही नहीं, नैतिक तत्व भी रहते हैं। जैसा कि **लार्ड** ने कहा है, एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था अधिकारों की पूर्व – धारणा के लिए आवश्यक है। उसके बिना शक्ति, प्रभाव दावे और प्रयास हो सकते हैं, किन्तु अधिकार नहीं।

महत्व – यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। फिर भी इसमें इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि राज्य से पृथक अधिकारों की कल्पना असम्भव है। किसी मांग को अधिकार कहलाने के लिए कानूनी स्वीकृति आवश्यक होती है और यह स्वीकृति राज्य ही प्रदान करता है।

(3) **अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त (Historical Theory of Rights) –**

हमारे वर्तमान अधिकार पुरानी परम्पराओं अथवा रूढ़ियों पर आधारित हैं। जो प्रथाएँ तथा परम्पराएं लम्बे समय से चली आ रही हैं, वे ही कालान्तर में अधिकार का रूप धारण कर लेती हैं, तब वे अधिकार बन जाती हैं और उनके पीछे राज्य की शक्ति हो जाती है। **रिची** के अनुसार – "प्राय: यह देखने में आता है कि लोग जिन अधिकारों को आवश्यक मानते हैं, वे ऐसे अधिकार होते हैं जिनका लोग उपभोग करते हैं अथवा जो परम्परागत हैं।" **प्रो. सुमनर** के अनुसार – "अधिकार और कुछ नहीं, केवल रिवाजों की उपज हैं।"

आलोचना – अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त काफी सत्यता लिये हुए है, परन्तु यह आलोचकों से अछूता नहीं है। इसकी प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(i) **सभी अधिकार रीति-रिवाज के परिणाम नहीं** – यद्यपि अनेक अधिकार प्रथाओं पर आधारित होते हैं तथापि यह बात सभी अधिकारों पर लागू नहीं होती। **होकिंग** के अनुसार, क्या दास प्रथा, जो कानून पर आधारित थी, न्यायपूर्ण कही जा सकती है अथवा शिशु-हत्या, बाल-विवाह कभी न्यायसंगत हो सकते हैं ? इस प्रकार की प्रथाएँ परम्परागत हो सकती हैं तथापि वे अधिकार नहीं बन सकतीं।

(ii) **नये अधिकारों की सृष्टि असम्भव** – यदि अधिकारों को रीति-रिवाजों पर ही आधारित माना जाये, तो नवीन अधिकारों की सृष्टि कैसे होगी ? उदाहरणार्थ, श्रमिकों के हड़ताल करने के अधिकार को लीजिए। यह एक नया अधिकार है। कभी इसकी परम्परा नहीं रही। तो क्या केवल इसी कारण श्रमिकों को इस अधिकार से वंचित करना न्यायसंगत होगा ?

(iii) **सुधार की सम्भावना का अन्त होना** – यदि अधिकार हमेशा प्रथाओं के अनुकूल हों तो समाज में कोई भी सुधार करना सम्भव नहीं होगा। **होकिंग** के शब्दों में, "यह कहना कि परम्परा अथवा रूढ़ि हमेशा सही होती है उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना यह कहना कि कानून किसी चीज को उचित बना सकता है।"

महत्व – इन दोषों के बावजूद भी ऐतिहासिक सिद्धान्त में सत्य का अंश है। अधिकारों पर रीति-रिवाजों का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। उन पर देश के इतिहास की छाप अवश्य रहती है। **होकिंग** के शब्दों में, "यद्यपि अधिकारों को निर्धारित करते समय इतिहास पर पूरा-पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता, किन्तु उसकी पूर्ण उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।"

(4) **अधिकारों का सामाजिक कल्याण सिद्धान्त (Social Welfare Theory of Rights) –**

इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार समाज की देन हैं और वे सामाजिक कल्याण की दशाएं हैं। अधिकारों का आधार उपयोगिता अथवा लोक-कल्याण है। उपयोगिता से तात्पर्य 'सामाजिक उपयोगिता' है। अधिकारों की सृष्टि सम्पूर्ण समाज की भलाई को ध्यान में रखते हुए की जाती है। इस सिद्धान्त के प्रमुख अनुयायी ब्रिटिश उपयोगितावादी विचारक बेन्थम और मिल, अमरीकी विधिवेत्ता डीन **पाउन्ड** और **चैफी** हैं। इनके अनुसार अधिकारों का मापदण्ड अधिकाधिक लोगों का अधिकाधिक सुख है। **लास्की** ने भी अधिकारों की परख में उपयोगिता को स्थान दिया है। उनके ही शब्दों में, "मेरे अधिकार मुझे प्रदान की गयी कुछ शक्तियाँ हैं ताकि दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर सार्वजनिक हित-प्राप्ति का प्रयत्न करूं।" लोक-कल्याण और अधिकारों का सम्बन्ध दर्शाते हुए **लास्की** ने लिखा है कि "लोक-कल्याण के विरुद्ध मेरे अधिकार नहीं हो सकते" क्योंकि ऐसा करना मुझे उस कल्याण के विरुद्ध अधिकार देना है, जिससे मेरा कल्याण घनिष्ठ तथा अविच्छिन्न से जुड़ा हुआ है।"

आलोचना – इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है।

(i) **लोक कल्याण का अर्थ अस्पष्ट एवं अनिश्चित** – यद्यपि 'लोकहित' अधिकारों का सर्वश्रेष्ठ आधार माना जा सकता है, किन्तु कठिनाई यह कि 'सामाजिक उपयोगिता तथा लोककल्याण' शब्दों की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। **बेन्थम** ने 'अधिकाधिक व्यक्तियों का अधिकतम सुख' की बात की है, परन्तु इससे भी समस्या हल नहीं होती क्योंकि सुख को स्पष्टत: परिभाषित नहीं किया जा सकता।

(ii) **व्यक्तिगत हित की उपेक्षा** – सामाजिक हित और व्यक्तिगत हित में संघर्ष भी हो सकता है और ऐसी दशा में निश्चित ही सामाजिक कल्याण सम्भव नहीं हो सकता। व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण करके प्राप्त किया हुआ सामाजिक हित निरर्थक ही कहा जाएगा। यह कहना कि व्यक्ति का अधिकार समाज के हितार्थ बलिदान किया जा सकता है, उचित नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि इसका अभिप्राय समाज के हित के लिए व्यक्ति के जीवन का बलिदान करना हो सकता है।

महत्व – यह सिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है। इस सिद्धान्त के विरोधी भी यह मानते हैं कि सामाजिक कल्याण अधिकारों की एक अत्यन्त उचित कसौटी है।

(5) **अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory of Rights)** –

इस सिद्धान्त को कभी-कभी व्यक्तिवादी सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसे व्यक्तिवादी सिद्धान्त इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सिद्धान्त मानता है कि व्यक्ति का एक अधिकार प्रथम व अन्तिम है जिसे 'व्यक्तित्व का अधिकार' (Rights to Personality) कहते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के जीवन का आदर्श है अपने व्यक्तित्व का विकास करना और इस आदर्श की प्राप्ति के लिए जो कुछ उसे प्राप्त होना चाहिए, वह उसका अधिकार है। इस सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं कि अधिकार मनुष्य के आंतरिक विकास के लिए आवश्यक बाह्य दशाएं हैं और अधिकारों के बिना किसी व्यक्ति का समुचित और पूर्ण विकास नहीं हो सकता। **ग्रीन** के अनुसार, अधिकार का तात्पर्य उन शक्तियों से है जो एक नैतिक प्रणाली के रूप में अपना पूर्णत्व प्राप्त करने के निमित्त मनुष्य के लिए आवश्यक है। चूंकि इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों का आधार एक आदर्श व्यक्तित्व के विकास की प्राप्ति माना गया है, अत: इसे आदर्शवादी सिद्धान्त कहा जाता है।

आदर्शवादी अधिकार सिद्धान्त के अनुसार अधिकारों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

(i) अधिकार व्यक्ति की एक मांग हैं।

(ii) इस माँग का उद्देश्य व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है।

(iii) व्यक्ति की प्रत्येक माँग अधिकार नहीं बन सकतीं। केवल वही माँग अधिकार का रूप धारण कर सकती है, जो नैतिक है और अन्य किसी व्यक्ति की आत्मोन्नति में बाधक नहीं है।

(iv) कोई मांग समाज द्वारा स्वीकृत होने पर ही अधिकार कहलाती है।

(v) व्यक्ति का कल्याण और समाज का कल्याण परस्पर विरोधी नहीं, वरन एक ही हैं।

(vi) अधिकार में कर्तव्य निहित हैं।

आलोचना – विद्वानों ने इसकी भी आलोचना की है। वे कहते हैं कि हमारे सामने ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जिसमें हम यह जाँच कर सकें कि कौन से अधिकार मनुष्य के आत्म-विकास के लिए आवश्यक हैं और कौन से नहीं। इसके अतिरिक्त यह मत इस समस्या का भी समाधान नहीं करता कि यदि कभी व्यक्तिगत और सामाजिक हित में अन्तर्विरोध हो तो उस स्थिति में क्या किया जाए।

फिर भी यह सिद्धान्त अधिकारों के विषय में सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। यह अधिकारों की सर्वाधिक उपयुक्त परिभाषा देता है कि 'अधिकार' वे सामाजिक दशाएँ हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं। इस सिद्धान्त में निम्नलिखित गुण हैं :

(i) **केवल एक अधिकार को ही असीमित मानना** – इस सिद्धान्त के अन्तर्गत केवल एक ही अधिकार – व्यक्तित्व का अधिकार – असीमित माना जाता है। शेष सभी अधिकार इसी एक अधिकार से सम्बन्धित हैं तथा वे सीमित अधिकार हैं।

(ii) **नैतिकता अधिकार का उचित मापदण्ड** – यह सिद्धान्त व्यक्तिगत नैतिकता को अधिकारों का मापदण्ड मानता है जो सर्वथा उचित है।

(iii) **व्यक्तिगत हित की महत्ता** – यह सिद्धान्त व्यक्तिगत हित को सर्वोपरि मानता है और इसे अन्य सब वस्तुओं से ऊँचा रखता है।

(6) **अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धान्त (Marxist Theory of Rights) –**

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कार्ल मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने किया है। कार्ल मार्क्स ने अधिकारों के सम्बन्ध में उदारवादियों का खण्डन किया। वस्तुत: मार्क्सवादी दृष्टिकोण उदारवादियों के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ। मार्क्स के अनुसार किसी समाज में अधिकारों का स्वरूप और चरित्र उस समाज की आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है। मार्क्सवाद के अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में अव्यावहारिक है। सिद्धान्तत: जहाँ सामान्य वर्ग कुछ पूंजीपतियों की तानाशाही के अधीन हों वहाँ अधिकारों की चर्चा एक कल्पना मात्र होती है क्योंकि मार्क्स के मत में जिसके पास आर्थिक शक्ति होती है, राजनीतिक शक्ति का उपयोग भी वही करता है।

मार्क्सवादी व साम्यवादी विचारधाराएँ अधिकारों के आर्थिक आधार पर अधिक बल देती हैं, उसके अनुसार स्वतन्त्रता पूर्ण आर्थिक एवं भौतिक सुरक्षा के अन्तर्गत ही सम्भव है तथा इस आर्थिक लक्ष्य की उपलब्धि और सुरक्षा साम्यवादी राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। साम्यवाद के अनुसार अधिकार राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के दावे नहीं हैं बल्कि वे समाजवादी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के प्रतिफल हैं। उन्हें व्यक्ति के हित के लिए नहीं अपितु समाजवाद की स्थापना तथा दृढ़ता के लिए व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है। वे अनवर्ती या जन्म सिद्ध दावे नहीं बल्कि समाज की ओर से व्यक्ति को दान-स्वरूप हैं।

मार्क्सवादी व साम्यवादी व्यवस्था में अधिकारों के विभिन्न आधार हैं :

(i) **समाजवादी आधार** – मार्क्स के अनुसार नागरिक अधिकारों का आधार आर्थिक व्यक्तिवाद न होकर समाजवादी व्यवस्था है जो नियोजित अर्थव्यवस्था पर आधारित है। मार्क्सवादी विश्व में व्यक्तिगत सम्पत्ति अथवा व्यक्तिगत लाभ को कोई स्थान नहीं दिया गया।

(ii) **आर्थिक आधार** – मार्क्स की मान्यता है कि जब तक कोई व्यक्ति आर्थिक रूप से स्वतन्त्र न हो, नागरिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति दुर्लभ है।

(iii) **सर्वहारा-हित आधार** – मार्क्सवाद तथा साम्यवाद ऐसे नागरिक अधिकारों को मान्यता नहीं प्रदान करते जो सर्वहारा वर्ग के हितों अथवा समाजवादी व्यवस्था के विरुद्ध हो। उदारवादी व्यवस्थाओं के विपरीत मार्क्सवादी देश भाषण, समाचार-पत्र तथा संगठन सम्बन्धी नागरिक स्वतन्त्रताओं का उपयोग समाजवादी व्यवस्थाओं के अनुरूप तथा परिप्रेक्ष्य में ही करते हैं।

(iv) **राज्य आधार** – मार्क्सवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत अधिकारों की कल्पना राज्य के साथ की गयी है। इस व्यवस्था के अनुसार, अधिकार राज्य के हस्तक्षेप पर ही निर्भर करते हैं।

(v) **कर्तव्य आधार** – मार्क्सवादी व साम्यवादी देशों में अधिकारों का अर्थ कर्तव्यों की दुनिया में समझा गया है। उनकी मान्यता है कि अधिकारों का प्रयोग सर्वहारा वर्ग के हितों की रक्षा तथा समाजवादी व्यवस्था को बल देने पर निर्भर करता है।

अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Rights)

उदारवादी लेखक अधिकारों को दो वर्गों में बाँटते हैं : (1) नैतिक अधिकार और (2) कानूनी अधिकार।

(1) **नैतिक अधिकार** – नैतिक अधिकार वे अधिकार होते हैं, जिनका सम्बन्ध मानव के नैतिक आचरण से होता है। इन अधिकारों का अवलम्बन समाज की नैतिक भावना होती है, न कि राज्य की शक्ति। नैतिक अधिकारों का राज्य के कानूनों द्वारा अनुमोदन नहीं होता। इन्हें धर्मशास्त्र, लोकमत या जनता की आत्मिक चेतना के दबाव द्वारा स्वीकार करवाया जाता है। राज्य अथवा कानून का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, अत: इनके उल्लंघन पर किसी को दण्ड भी नहीं मिलता।

(2) **कानूनी अधिकार** – कानूनी अधिकार वे हैं जिन्हें राज्य द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है और जिनकी रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर होता है। इन अधिकारों के पीछे राज्य की शक्ति होती है।

यदि कोई व्यक्ति इन अधिकारों के उपभोग में अवरोध लगाता है तो वह अपराधी माना जाता है और उसे दण्ड देता है। **लीकॉक** के शब्दों में, "उन विशेषाधिकारों को कानूनी अधिकार कहा जाता है जो एक नागरिक को अपने साथी नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त होते हैं, जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किये जाते हैं और जिनकी रक्षा राज्य करता है।" सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ इन अधिकारों में वृद्धि होती जाती है।

कानूनी अधिकारों के दो भेद किये जाते हैं : (अ) नागरिक अधिकार और (ब) राजनैतिक अधिकार।

(A) **नागरिक अधिकार (Civil Rights)** – नागरिक अधिकार राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों को, चाहे वे राज्य के नागरिक न हों, प्रदान किये जाते हैं। इनका उद्देश्य व्यक्ति के उच्च सामाजिक जीवन को सम्भव बनाना है। इनका सम्बन्ध व्यक्तियों के जान-माल आदि की रक्षा करने से है, जिनके बिना मनुष्य का श्रेष्ठ जीवन सम्भव नहीं है। यद्यपि देश की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ व्यक्तियों के नागरिक अधिकार भी बदलते रहते हैं, किन्तु आधुनिक उन्नतिशील राज्यों में सामान्यत: निम्नलिखित नागरिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं।

(1) **जीवन का अधिकार** – प्रत्येक मनुष्य को जीवन का अधिकार है। यह अधिकार मौलिक और आधारभूत है, क्योंकि इसके बिना अन्य अधिकार असम्भव है। इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति बिना किसी बाधा के अपने जीवन का उपभोग कर सके। राज्य का कर्तव्य है कि वह व्यक्ति के जीवन की रक्षा करे। व्यक्ति को स्वयं भी अपने जीवन की रक्षा करने का अधिकार प्राप्त है। यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति के जीवन का अन्त करने का प्रयास करता है, तो वह व्यक्ति आत्मरक्षा हेतु उसके जीवन को समाप्त भी कर सकता है। जीवन का अधिकार कितना बहुमूल्य है, यह इससे सिद्ध होता है कि कोई व्यक्ति स्वयं अपना जीवन भी समाप्त नहीं कर सकता, अर्थात वह आत्महत्या नहीं कर सकता। यदि आत्महत्या के प्रयास में वह विफल होकर बच जाता है, तो राज्य उसे दण्ड देता है। मानव जीवन समाज की बहुमूल्य निधि है, अत: उसे किसी प्रकार की क्षति पहुंचाना एक दण्डनीय अपराध है।

(2) **समानता का अधिकार** – समता का अर्थ यह नहीं लगाया जाता कि सभी व्यक्ति हर प्रकार से समान हों। समता का अर्थ समानीकरण नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति के रूप में व्यक्ति का बराबर सम्मान किया जाए तथा उसे उन्नति करने के समान अवसर दिए जाएँ। अमीर और गरीब, सबल या निर्बल सभी को उन्नति करने के समान अधिकार दिए जाएँ और कानून के सामने सभी बराबर हों। अधिकार के मुख्य तीन रूप हैं –

(i) **राजनैतिक समानता का अधिकार** – इसका अर्थ यह है कि शासन सम्बन्धी कार्यों में प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के, योग्यतानुसार सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त हो। वयस्क मताधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार तथा सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त होना चाहिए। इसमें धन, जाति, रंग, लिंग, वर्ण के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

(ii) **आर्थिक समानता का अधिकार** – इससे यह अभिप्राय है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति के पास कम से कम इतने साधन अवश्य हों जिनसे वह भोजन, निवास और वस्त्र की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य मिलना चाहिए तथा जीविका चलाने के अवसर सबको समान रूप से प्राप्त होने चाहिए।

(iii) **सामाजिक समानता का अधिकार** – सामाजिक क्षेत्र में समानता का यह अर्थ होता है कि समाज में किसी एक वर्ग को कोई विशेषाधिकार नहीं प्राप्त होना चाहिए। समाज में मनुष्य के नाते मनुष्य की स्थिति हो और उससे समान प्रकार का व्यवहार किया जाये। धर्म, जाति तथा धन आदि के आधार पर समाज में व्यक्ति का स्थान निर्धारित न किया जाए, वरन् समाज में उसका सम्मान मनुष्य के रूप में हो। सामाजिक समानता के अधिकार को वास्तविक बनाने हेतु भारतीय संविधान में छूत-अछूत के भेदभाव को दण्डनीय माना गया है।

(3) **स्वतन्त्रता का अधिकार** – **लास्की** के अनुसार, "इसका तात्पर्य उस शक्ति से होता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छानुसार बिना किसी बाह्य बन्धन के अपने जीवन के विकास का ढंग चुन सके।" स्वतन्त्रता की सकारात्मक परिभाषा के अनुसार इसे व्यक्तित्व के विकास का अवसर माना जाता है। नागरिकों को अपनी भौतिक और नैतिक उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। यह अवसर तभी मिल सकता है, जब समाज कुछ नियम बनाकर एक के जीवन में दूसरे व्यक्ति द्वारा अनुचित हस्तक्षेप न होने दे।

अपनी शक्तियों तथा क्षमता की वृद्धि के लिए मनुष्य को कई प्रकार की अथवा अनेक क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। उनमें से प्रमुख हैं –

(i) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार** – प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता से हमारा आशय शारीरिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से है। किसी को किसी अन्य व्यक्ति पर आघात करने, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्ति का उपयोग करने तथा किसी के रहने एवं आने-जाने पर रोक लगाने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति को न तो दास बनाया जा सकता है और न अपराध प्रमाणित किए बिना उसे बन्दी ही बनाया जा सकता है। जब तक किसी व्यक्ति के कार्य से अन्य व्यक्ति के अधिकारों को क्षति नहीं पहुंचती तब तक उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। राज्य के कानून द्वारा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की जाती है।

(ii) **भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार** – मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति करने का अधिकार मिलना चाहिए। उसे यह सुविधा मिलनी चाहिए कि वह बोलकर या लिखकर अपने विचार व्यक्त कर सके। विचार-स्वतन्त्रता के अधिकार को जे.एस. मिल तथा लास्की आदि विद्वानों ने व्यक्ति की आत्मोन्नति के लिए अपरिहार्य माना है। किन्तु यह एक असीमित अधिकार नहीं है। सरकार इस अधिकार के दुरुपयोग को रोकने के लिए इस पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। युद्धकाल में तो लोकतान्त्रिक राज्य भी इस प्रकार की स्वतन्त्रता को समाप्त कर देते हैं।

(iii) **आने-जाने की स्वतन्त्रता का अधिकार** – व्यक्ति को अपने देश के अन्दर इच्छानुसार आवागमन की सुविधा दी जानी चाहिए। यह स्वतन्त्रता उसके मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है। किन्तु इस अधिकार का दुरुपयोग न किया जाए, इस उद्देश्य से राज्य इस पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।

(iv) **संगठन बनाने का अधिकार** – समुदाय तथा संगठन जीवन के विकास तथा उन्नति के लिए आवश्यक माने जाते हैं। इसलिए यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि नागरिकों को स्वतन्त्रता पूर्वक इस प्रकार के समुदायों के निर्माण का अधिकार हो। संगठन के अधिकार के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण अधिकार राजनीतिक संगठनों का होता है क्योंकि प्रजातन्त्र के कुशल संचालन के लिए राजनीतिक दलों का निर्माण आवश्यक है। विभिन्न राजनीतिक दल लोकमत का निर्माण करके निर्वाचन-व्यवस्था को सुदृढ़ आधार प्रदान करते हैं जिस पर लोकतन्त्र टिका हुआ है। किन्तु इस अधिकार की कुछ सीमाएँ हैं। कोई राज्य ऐसे समुदायों को नहीं बनने या पनपने दे सकत जो इतने शक्तिशाली हो जाएँ कि उसी की सत्ता को चुनौती देने लगें अथवा नागरिकों के सामान्य अधिकारों का अतिक्रमण करने लगें। संगठन बनाने के अधिकार के साथ-साथ सार्वजनिक सभा का अधिकार भी महत्वपूर्ण है। ऐसी सभाओं द्वारा विभिन्न राजनीतिक दल अपनी नीतियों और विचारों को जनता के सामने रखते हैं और सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों का संचालन करते हैं। किन्तु यदि किसी संगठन या सभा से शान्ति भंग होने की आशंका हो तो सरकार उस पर प्रतिबन्ध लगा सकती है।

(v) **शिक्षा तथा संस्कृति की स्वतन्त्रता का अधिकार** – प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम स्तर की शिक्षा प्राप्त करने की पूरी सुविधा मिलनी चाहिए। इसमें व्यक्ति का ही नहीं बल्कि सारे समाज का लाभ निहित है। शासन की तरफ से पर्याप्त संख्या में स्कूल तथा उनके हर बालक-बालिका के लिए उचित शुल्क व बिना शुल्क के शिक्षा प्रबन्ध होना चाहिए। अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा उनकी

NOTES

मातृभाषा के माध्यम से उपलब्ध होनी चाहिए। समाज के सभी वर्गों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपनी इच्छानुसार विद्यालय स्थापित कर सकें।

(vi) **अन्तःकरण या धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार** – इस अधिकार का अर्थ यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म को अपनाने, प्रचार करने, पूजा-पाठ करने, धार्मिक अनुष्ठानों आदि में भाग लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य को धर्म के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु यदि धर्म के नाम पर अनाचार किया जाता है अथवा सामाजिक कुरीतियों, गंदे विचारों या अनैतिकता का प्रचार किया जाता है, तो राज्य उस पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।

(4) **सम्पत्ति का अधिकार** – इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति वैध तरीकों से सम्पत्ति का उपार्जन करता है और अपनी इच्छानुसार उसका उपभोग कर सकता है। **लॉक** का विचार था कि अपने परिश्रम से कमाए हुए धन पर प्रत्येक नागरिक का व्यक्तिगत अधिकार होना चाहिए। उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह कमाए हुए धन का उपयोग इच्छा के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कर सके। राज्य अथवा किसी अन्य व्यक्ति को उसके इस अधिकार में बाधा डालने का अधिकार प्राप्त नहीं है। यदि राज्य किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करे तो उस सम्पत्ति के मालिकों को पूरा मुआवजा मिलना चाहिए। स्वामित्व की भावना मानव स्वभाव में निहित है, इसके बिना मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्णत: विकास नहीं कर सकता, अत: लोकतांत्रिक देशों में सम्पत्ति के अधिकार पर अत्यधिक जोर दिया जाता है।

आजकल सम्पत्ति का अधिकार एक विवादास्पद अधिकार है। उदारवादी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को निजी व्यवसाय द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति अर्जित और एकत्र करने का अधिकार होता है। बेन्थम, एडम स्मिथ, रिकार्डो और जॉन स्टुअर्ट मिल सम्पत्ति के विषय में उदारवादी सिद्धान्त को मानते हैं। मार्क्सवादी और समाजवादी विचारक उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं मानते। समाजवादी देशों में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं हो सकता, वे जनता की सामूहिक सम्पत्ति माने जाते हैं। केवल उपयोग की वस्तुओं में निजी सम्पत्ति हो सकती है और अधिकांश सम्पत्ति सामूहिक अधिकार में रहती हैं। प्रत्येक मनुष्य से उसकी क्षमता के अनुसार कार्य कराया जाता है, और उसके कार्य की उपयोगिता के अनुसार ही उसे अपने श्रम का मूल्य दिया जाता है। साम्यवादी विचारक निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करने के पक्ष में हैं।

(5) **परिवार का अधिकार** – परिवार के अधिकार के बिना मानव जाति का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता। इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को विवाह करने, परिवार बनाने तथा बच्चों का पालन-पोषण करने का अधिकार है। कोई अन्य व्यक्ति उसके पारिवारिक जीवन में हस्तक्षेप न करे। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह मनुष्य को अपना पारिवारिक जीवन स्वतन्त्र रूप से बिताने का पूर्ण अधिकार दे।

(6) **रोजगार का अधिकार** – यह अधिकार जीवन के अधिकार के साथ जुड़ा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए काम करना तथा जीविका कमाना आवश्यक है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति अपनी इच्छानुसार रोजगार कर सकता है। व्यक्ति को काम प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए और इस काम के बदले में व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक प्राप्त होना चाहिए। **प्रो. लास्की** के अनुसार, अपना सर्वोत्तम रूप प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को काम करना चाहिए और काम के अभाव में उस समय तक के लिए प्रबन्ध किया जाना चाहिए, जब तक किसी व्यक्तिगत व्यवस्था में उसे पुन: काम करने का अवसर प्राप्त न हो, एक व्यक्ति को केवल काम का ही अधिकार नहीं, अपितु उसे काम के बदले उपयुक्त मजदूरी का अधिकार होना चाहिए।

(B) **राजनैतिक अधिकार (Political Rights) –**

राजनीतिक अधिकार नागरिक अधिकारों से भिन्न होते हैं। राजनीतिक अधिकार केवल देश के निवासी को ही प्राप्त होते हैं। राजनीतिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जिनके प्राप्त होने पर किसी देश के नागरिक शासन सम्बन्धी कार्यों में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से हाथ बंटाते हैं। राजनीतिक

अधिकार या तो देश के संविधान द्वारा ही नागरिकों को प्रदान कर दिये जाते हैं या शासन द्वारा बनाये गये कानूनों द्वारा। ये अधिकार विदेशियों, पागलों, दिवालियों आदि को नहीं दिये जाते। राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख अधिकार आते हैं।

(1) **मत देने का अधिकार** – मत देने का अधिकार लोकतन्त्र की देन हैं। आजकल प्राय: सभी देशों में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र प्रणाली विद्यमान है। इसके अन्तर्गत नागरिक अपने प्रतिनिधि चुनकर व्यवस्थापिका में भेजते हैं। मत देने के अधिकार से आशय है कि प्रतिनिधियों के चुनाव हेतु प्रत्येक नागरिक को मत देने का अधिकार मिलना चाहिए। लोकतन्त्र की सफलता के लिए इस अधिकार का सही प्रयोग करना आवश्यक है। यह अधिकार प्रदान करते समय किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरतना चाहिए। आजकल अधिकांश देशों ने वयस्क मताधिकार पद्धति अपनाई है जिसमें जाति, धर्म, लिंग वर्ण आदि के भेदभाव के बिना प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को चुनावों में मत देने का अधिकार दिया जाता है।

(2) **निर्वाचित होने का अधिकार** – मताधिकार के अलावा दूसरा महत्वपूर्ण अधिकार निर्वाचित होने का है। जब तक नागरिकों को यह अधिकार नहीं मिल जाता तब तक वे शासन-संचालन में भाग नहीं ले सकते। लोकतंत्र में सरकार जनता की, जनता के लिए, जनता द्वारा होती है, अत: यह आवश्यक है कि नागरिकों को व्यवस्थापिका सभा का सदस्य बनने का अधिकार दिया जाये। पंचायतें, नगरपालिकाएँ, निगम, जिला परिषदें, विधान-सभाएँ व संसद आदि संस्थाओं के सदस्य नागरिक तभी हो सकते हैं जब उन्हें निर्वाचित होने का अधिकार मिल जाता है। इस अधिकार की प्राप्ति में लिंग, जाति, सम्प्रदाय, धर्म आदि का भेदभाव नहीं होना चाहिए।

(3) **सार्वजनिक पद पाने का अधिकार** – प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के आधार पर सरकारी पद पाने की सुविधा मिलनी चाहिए। किसी भी नागरिक को जाति, धर्म, लिंग के भेदभाव के आधार पर सरकारी नौकरियों से वंचित नहीं रखा जा सकता। सभी नागरिकों को सरकारी पदों पर नियुक्त होने का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। यदि सरकारी पदों का द्वार केवल कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए ही खुला रखा जायेगा तो योग्य व्यक्तियों को देश की सेवा करने का अवसर नहीं मिलेगा और इससे जनता में असंतोष फैलेगा।

(4) **प्रार्थना पत्र देने का अधिकार** – इस अधिकार का अर्थ यह है कि नागरिकों को यदि किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट है तो प्रार्थना पत्र द्वारा राज्य का ध्यान इस ओर आकृष्ट कर सकते हैं। राज्य के अधिकारियों का कर्तव्य है कि वे इन प्रार्थना-पत्रों को ध्यानपूर्वक देखें और नागरिकों की कठिनाइयों को दूर करने का भरसक प्रयत्न करें।

आलोचना (Criticism) – मार्क्सवादियों के अनुसार उपर्युक्त अधिकार उदारवादी और व्यक्तिवादी विचारधारा के अधिकार हैं। समाजवादी समाज के नागरिकों को सामूहिक रूप से सामाजिक और आर्थिक अधिकार दिये जाते हैं। इनमें मुख्यत: काम पाने का अधिकार, बेकारी, बीमार या वृद्धावस्था में आर्थिक सहायता पाने का अधिकार, न्यूनतम वेतन का अधिकार, सामाजिक और आर्थिक न्याय पाने का अधिकार, सामाजिक समानता का अधिकार आदि शामिल हैं। स्टालिन के शब्दों में, "एक बेकार व्यक्ति के लिए, जो भूखा है और श्रम करने पर रोटी नहीं कमा सकता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता क्या हो सकती है ? वास्तव में सच्ची स्वतन्त्रता वहीं सम्भव है जहाँ शोषण खत्म कर दिया जाए, बेकारी न हो, भीख माँगने की आवश्यकता न हो तथा काम, रोटी या मकान छिन जाने का डर न हो।"

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अधिकार की परिभाषा दीजिए और इसके विभिन्न सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
2. अधिकार संबंधी विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
3. अधिकारों के प्राकृतिक सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए।

NOTES

4. अधिकारों का वर्गीकरण कीजिए।
5. अधिकारों के सामाजिक कल्याण सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अधिकारों का प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त समझाइये।
2. अधिकारों का कानूनी सिद्धान्त समझाइये।
3. अधिकारों का सामाजिक कल्याण सिद्धान्त समझाइये।
4. राजनैतिक अधिकारों के प्रकार बतलाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "यथार्थ में तथाकथित अधिकार यथार्थ में तथाकथित कानून की सृष्टि होते हैं।" उपरोक्त सिद्धान्त का प्रतिपादक था :
   (अ) जॉन लाक (ब) बेन्थम (स) जॉन स्टुअर्ट मिल(द) हर्बर्ट स्पेन्सर।
2. "अधिकार नैतिकता से संबंधित तो होते हैं, किन्तु नैतिकता से भिन्न होते हैं, वे कानून से संबंधित तो होते हैं, किन्तु कानून से रचित नहीं होते हैं।" उपरोक्त मत भाग है :
   (अ) ऐतिहासिक सिद्धान्त का (ब) नैसर्गिक सिद्धान्त का
   (स) आदर्शवादी सिद्धान्त का (द) विधिक प्रत्यक्षवाद का।
3. निम्नलिखित में से कौनसा सिद्धान्त कहता है कि "कुछ प्राथमिक अधिकार समाज के बाहर और समाज के पहले भी हो सकते हैं।"
   (अ) कानूनी सिद्धान्त (ब) ऐतिहासिक सिद्धान्त
   (स) कल्याणकारी सिद्धान्त (द) नैसर्गिक सिद्धान्त।
4. वैध अधिकार के अनुसार :
   (अ) अधिकारों का निर्माण और व्यवस्था राज्य के द्वारा होता है
   (ब) अधिकारों का निर्माण और व्यवस्था समाज के द्वारा होता है
   (स) राज्य के द्वारा न तो अधकारों का निर्माण् हुआ है न ही व्यवस्था
   (द) राज्य के प्राकृतिक दशा से मनुष्य को अधिकार मिले हैं।
5. सरकार की आलोचना का अधिकार :
   (अ) नागरिक अधिकार है (ब) राजनीतिक अधिकार है
   (स) प्राकृतिक अधिकार है (द) नैतिक अधिकार है।
6. मतदान का अधिकार है
   (अ) नागरिक अधिकार है (ब) राजनीतिक अधिकार है
   (स) प्राकृतिक अधिकार है (द) नैतिक अधिकार है।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

उत्तर- (1) ब, (2) द, (3) द, (4) अ, (5) ब, (6) ब

14

NOTES

अधिकार एवं कर्त्तव्य

(RIGHTS AND DUTIES)

यह धारणा सर्वत्र स्वीकार की जाती है कि लोकतन्त्र केवल अधिकारों पर ही जीवित नहीं रहता, उसका मूल कर्तव्य पर आश्रित है। अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठा लोकतन्त्र के जीवन का आधार हुआ करती है। व्यक्ति जो व्यवहार अपने प्रति नहीं चाहता है उसे दूसरे के प्रति न करे या जैसा व्यवहार हम दूसरों से अपने प्रति नहीं चाहते हैं वैसा दूसरों के प्रति भी न करें, इस सैद्धान्तिक आधार पर लोकतन्त्र जीवित रहता है। लोकतन्त्र मर्यादा की माँग करता है। स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व लोकतन्त्र के आदर्श हैं किन्तु ये तब तक कायम नहीं हो सकते जब तक व्यक्ति अपना सर्वोत्तम समाज को देने का संकल्प नहीं करता।

"कर्तव्य" का शाब्दिक अर्थ है, "करने योग्य काम"। कर्तव्य एक प्रकार का बन्धन है। यह कार्य करने का दायित्व है जिसे एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति या समाज के प्रति निभाना चाहिए। राजनीति विज्ञान में कर्तव्य शब्द का प्रयोग अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में होता है। यहाँ कर्तव्य केवल ऐसे ही नहीं होते जिन्हें करना अथवा न करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर हो, अपितु वे ऐसे भी होते हैं जिन्हें करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है और जिन्हें न करने पर उसे दण्ड का भागी होना पड़ता है।

कर्तव्यों के प्रकार (Kinds of Duties)

कर्तव्य के दो प्रकार होते हैं – (i) नैतिक और (ii) कानूनी। नैतिक कर्तव्य से आशय उन कर्तव्यों से है जिनका सम्बन्ध अन्त:करण, नैतिक भावना और औचित्य से होता है। नैतिक कर्तव्य बहुत व्यापक है, जैसे माता-पिता, शिक्षक का सम्मान करना, सत्य बोलना, गरीबों की मदद करना आदि। नैतिक कर्तव्यों का संरक्षण राज्य द्वारा नहीं होता। कानूनी कर्तव्य वे होते हैं जिनका पालन न करने पर राज्य द्वारा दण्ड का प्रावधान किया जाता है।

कानूनी कर्तव्यों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :

1. राजभक्ति 2. कानूनों का पालन करना 3. करों का भुगतान

विश्व के संविधानों के अध्ययन से यह तथ्य सामने आया है कि पाश्चात्य देशों के संविधानों में नागरिकों के कर्तव्यों पर जोर नहीं दिया गया है, जबकि समाजवादी देशों के संविधान में ही नागरिकों के कर्तव्यों और दायित्वों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। गैर-समाजवादी देशों में जापान और स्विटजरलैण्ड के संविधानों में ही मूलभूत अधिकारों के साथ-साथ नागरिक कर्तव्यों के भी प्रावधान दृष्टव्य हैं। भारतीय संविधान के 42वें संशोधन द्वारा संविधान में कर्तव्यों का प्रावधान किया गया है।

स्वर्णसिंह समिति ने हमारे राष्ट्र का ध्यान मौलिक कर्तव्यों की ओर आकर्षित किया। तदनुसार 42वें संविधान-संशोधन की नवीं धारा में संविधान का भाग चार 'अ' जोड़ा गया जिसमें नागरिकों के दस मूल कर्तव्य शामिल किये गये। इस संशोधन के अनुसार यह अपेक्षा की गयी है कि भारतीय नागरिक–

(क) संविधान का पालन करें और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगीत का आदर करें।

(ख) स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्ररित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोये रखें और उनका पालन करें।

(ग) भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करें और उसे अक्षुण्ण रखें।

(घ) देश की रक्षा करें और आव्हान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करें।

(ङ) भारत के सभी लोगों में समता भाव और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करें।

(च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझें और उसका परीक्षण करें।

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीवन भी है, रक्षा करें और उनका संवर्द्धन करें।

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करें।

(झ) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखें और हिंसा से दूर रहें।

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करें जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले।

(ट) 86वें संवैधानिक संशोधन, 2002 द्वारा अनुच्छेद 51 क में संशोधन करके खण्ड ञ के बाद खण्ट ट के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा को सर्वव्यापी बनाने के उद्देश्य से अभिभावकों के लिए भी यह कर्त्तव्य निर्धारित किया गया कि वे छः से चौदह वर्ष के अपने बच्चों को शिक्षा का अवसर प्रदान करें।

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध
(Rights and Duties : A Study in Relationship)

अधिकार और कर्तव्य में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। **विले** ने ठीक ही लिखा है कि, "अधिकार कर्तव्यों पर आश्रित होते हैं, अधिकारों का महत्व कर्तव्यों की दुनिया में ही होता है।" गांधीजी कहा करते थे कि व्यक्ति को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, अधिकार तो उसे स्वत: मिल जाएंगे। कर्तव्य पहले और अधिकार बाद में आते हैं, अर्थात अधिकार तो कर्तव्यों से ही उत्पन्न होते हैं।

अधिकारों का आधार है समाज के लिए कोई लाभदायक कार्य करने की व्यक्ति की क्षमता में विकास। यह समाज-सेवा हर व्यक्ति का कर्तव्य है। समाज के प्रति अपने कर्तव्य करने की क्षमता बढ़ाने के लिए अधिकार होते हैं। इस तरह कर्तव्यों के बगैर अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता। हर अधिकार की माँग के औचित्य की कसौटी यह है कि माँगा जाने वाला अधिकार किसी प्रकार व्यक्ति के लिए, समाज के लिए लाभदायक कार्य करने की क्षमता के लिए आवश्यक है। **प्रो. हॉबहाउस** ने लिखा है "अधिकार और कर्तव्य सामाजिक कल्याण की शर्तें हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य का इस कल्याण के साथ दोहरा सम्बन्ध है। उसका इसमें साझा है, यह उसके अधिकार है। इसमें उसको योग देना है, यह उसका कर्तव्य है।"

अधिकार की पहली शर्त है कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहना। राज्य में अमन-चैन या सुख-शान्ति तभी बनी रह सकती है जब प्रत्येक नागरिक केवल अधिकारों की ही मांग न करे, बल्कि अपने कर्तव्यों का भी समुचित रूप से पालन करें। इस प्रकार अधिकार में कर्तव्य निहित हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। **प्रो. लास्की** ने अधिकार और कर्तव्य के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रकाश डाला है:-

(a) **मेरे अधिकार में तुम्हारे कर्तव्य निहित हैं** – इसका आशय यह है कि मेरे अधिकार में तुम्हारा कर्तव्य छिपा हुआ है। यदि मुझे जीवित रहने का अधिकार प्राप्त है तो दूसरों का कर्तव्य है कि वे मेरे जीवन को किसी प्रकार की क्षति न पहुंचाएँ।

(b) **मेरे अधिकार के साथ मेरा कर्तव्य जुड़ा है कि मैं तुम्हारे अधिकार को स्वीकार करूँ**– इसका अर्थ है कि जो दूसरों का अधिकार है, वहीं मेरा कर्तव्य है। जैसे दूसरों को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त है तो मेरा कर्तव्य है कि मैं उनकी सम्पत्ति को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाऊँ।

(c) **मैं अपने अधिकार को सामाजिक कल्याण में प्रयुक्त करूँ** – अधिकार की माँग व्यक्ति हित के नाम पर की जाती है, किन्तु अन्ततोगत्वा उसका उद्देश्य सामाजिक कल्याण है। समाज व्यक्ति को अधिकार प्रदान करते हुए उस पर कर्तव्य थोप देता है कि वह अधिकार का प्रयोग लोक-हित को ध्यान में रखते हुए करे।

(d) **मेरा कर्तव्य है कि मैं राज्य के प्रति निष्ठावान रहूँ** – राज्य हमें अधिकार प्रदान करता है अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम राज्य के प्रति निष्ठावान रहें। राज्य के कानूनों का पालन करें तथा करों की अदायगी करें।

संक्षेप में, अधिकारों को कर्तव्यों की अग्नि में तपाकर ही कुन्दन बनाया जा सकता है। वस्तुत: अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं। **सिजविक** के शब्दों में, "थोड़ा सा मनन करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि जब हम किसी व्यक्ति के अधिकारों की कल्पना करते हैं तो उसमें यह निहित रहता है कि दूसरे को कुछ कर्तव्यों का अवश्य पालन करना पड़ेगा जिससे वह व्यक्ति अपने उन अधिकारों का उपयोग कर सके।"

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कर्त्तव्य से आप क्या समझते हैं?
2. कर्त्तव्यों के प्रकार बतलाइये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. "अधिकार और कर्त्तव्य साथ-साथ चलते हैं" समझाइये।
2. अधिकार और कर्त्तव्य का संबंध समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्त' पुस्तक की रचना किसने की थी :
   (अ) लॉस्की (ब) टी. एच. ग्रीन (स) महात्मा गाँधी (द) बेंथम
2. "व्यक्ति का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति होता है।" यह कथन किसका है :
   (अ) बेंथम (ब) जे. एस. मिल (स) महात्मा गाँधी (द) लॉस्की
3. निम्नलिखित में से कौन-सा कानूनी कर्तव्य नहीं है :
   (अ) कानूनों का पालन(ब) सत्य बोलना (स) राज्य के प्रति भक्ति (द) कर देना
4. पर्यावरण की सुरक्षा की दृष्टि से नागरिकों द्वारा कौन-सा प्रयास किया जाना चाहिए:
   (अ) जनसंख्या की रोकथाम हेतु सभी संभव प्रयत्न
   (ब) वनों, पेड़-पौधों और वनस्पति जगत की रक्षा तथा वृद्धि
   (स) नदियों और जलीय स्रोतों की रक्षा तथा उनकी स्वच्छता एवं विशुद्धता को बनाए रखना
   (द) उपर्युक्त सभी।
5. "अधिकारों का महत्व कर्तव्यों के संसार में ही है।" यह कथन किसका है :
   (अ) लॉस्की (ब) वाइल्ड (स) डॉ. बेनी प्रसाद (द) बोसांके
6. किस संवैधानिक संशोधन द्वारा भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों की व्यवस्था की गई है :
   (अ) 42 वें संशोधन द्वारा (ब) 43 वें संशोधन द्वारा
   (स) 44 वें संशोधन द्वारा (द) 45 वें संशोधन द्वारा
7. भारतीय संविधान में नागरिकों के लिये कितने मूल कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं :
   (अ) 5 (ब) 11 (स) 15 (द) 20
8. किसने कहा था कि, "कर्तव्य का पालन कीजिए और अधिकार स्वत: ही आपको मिल जाएंगे।"
   (अ) जवाहर लाल नेहरू (ब) महात्मा गांधी (स) प्रो. गोल्ड (द) जैक

उत्तर - (1) ब, (2) स, (3) ब, (4) द, (5) ब, (6) अ, (7) ब, (8) ब

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

15

स्वतन्त्रता तथा समानता

(LIBERTY AND EQUALITY)

स्वतन्त्रता के नाम पर इतिहास में बड़े से बड़े बलिदान हुए हैं। स्वतन्त्रता के लिए खून की नदियाँ बहायी गयी हैं और रोमांचकारी क्रान्तियाँ हुई हैं। संसार में स्वतन्त्रता की भावना के अतिरिक्त बहुत कम ऐसे आदर्श हैं जिन्होंने मनुष्य को इतना अधिक प्रभावित किया हो। स्वतन्त्रता मानव प्रगति की आवश्यक शर्त है। **रिची** के अनुसार, "जीवन के अधिकार के बाद साधारणतया स्वतन्त्रता के अधिकार का नाम लिया जाता है और बहुत से व्यक्तियों के लिए यह प्राथमिक और सबसे अधिक आवश्यक अधिकार है।"

स्वतन्त्रता का महत्व (Liberty : Its Importance)

यदि यह सत्य है कि बिना सत्ता के सामाजिक शांति और व्यवस्था नहीं रह सकती, तो यह भी उतना ही आवश्यक है कि सत्ता द्वारा स्थापित इस व्यवस्था के अन्तर्गत नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए स्वतन्त्रता उपलब्ध हो। मानव व्यक्तित्व के विकास में स्वतन्त्रता एकअमूल्य निधि है। वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए हजारों लोगों ने तरह-तरह की यातनाएँ हँसते-हँसते झेली हैं। **बट्रेण्ड रसेल** के अनुसार, "स्वतन्त्रता की इच्छा व्यक्ति की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है और इसी के आधार पर सामाजिक जीवन का निर्माण सम्भव है।" प्रसिद्ध विधिवेत्ता **पालकीवाला** के शब्दों में, "मनुष्य सदा ही स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर सर्वाधिक बहुमूल्य बलिदान देते रहे हैं। वे भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा आत्मा और धर्म की स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राण तक देते रहे हैं।" संक्षेप में, स्वतन्त्रता आदि मानव जाति का अन्तिम लक्ष्य नहीं, तो सदा ही उसकी प्रेरणा का अन्तिम स्त्रोत रही है। **डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी** के अनुसार, "आदर्श दृष्टिकोण से मनुष्य की स्वतन्त्रता की खोज मानव इतिहास की केन्द्रीय धारा और मनुष्य मात्र की सर्वश्रेष्ठ आकांक्षा रही है।"

स्वतन्त्रता का अर्थ एवं परिभाषा (Liberty : Its Meaning and Definitions)

राजनीतिशास्त्र की शायद ही कोई ऐसी समस्या हो जिसके सम्बन्ध में विद्वानों में इतना मतभेद पाया जाता हो जितना स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में देखने को मिलता है। प्रत्येक युग में विचारक स्वतन्त्रता की समस्या पर विचार करते रहे हैं और अलग-अलग अर्थ लगाते आये हैं।

स्वतन्त्रता के दो अर्थ लगाये जाते हैं - (1) नकारात्मक और (2) सकारात्मक।

(1) **स्वतन्त्रता की नकारात्मक धारणा** – 'स्वतन्त्रता', जिसे अंग्रेजी में 'लिबर्टी' कहते हैं, लैटिन भाषा में 'लाइबर' शब्द से बना है, जिसका अर्थ उस भाषा में 'बन्धनों का अभाव' होता है। इस धारणा के अन्तर्गत स्वतन्त्रता का अर्थ है – 'प्रतिबन्धों का न होना'(Complete absence of restraints) अर्थात् व्यक्ति के कार्यों पर किसी भी प्रकार का बन्धन न हो। मनुष्य जो चाहे कर सके। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के समर्थक **हॉब्स और रूसो** के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में इस प्रकार की स्वतन्त्रता थी। मनुष्य पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं थी। रूसो की अमर कृति "सामाजिक समझौता" का पहला वाक्य ही यही है– "मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है" (Man is born free) हॉब्स के अनुसार, "स्वतन्त्रता का अभिप्राय विरोध और नियन्त्रण का सर्वथा अभाव है। किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ भ्रमात्मक है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता रॉबिन्सन क्रूसो जैसे व्यक्ति को ही मिल सकती है जो एक निर्जन स्थान पर अपने साथी फ्राइड के साथ एकाकी जीवन व्यतीत कर रहा था। सभ्य समाज में ऐसी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। बन्धनों के पूर्ण अभावों में स्वतन्त्रता स्वेच्छाचरिता या उच्छृंखलता में बदल जाएगी। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए मनुष्य असीमित स्वतन्त्रता का उपभोग कर ही नहीं सकता।

(2) **स्वतन्त्रता की सकारात्मक धारणा** – स्वतन्त्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण में विश्वास करने वाले मानते हैं कि स्वतन्त्रता का अर्थ है सभी प्रकार के नियन्त्रणों का अभाव, परन्तु यह अर्थ संतोषजनक नहीं है, क्योंकि इस अर्थ में स्वतन्त्रता केवल प्राकृतिक अवस्था तथा अराजकता में रहने वालों को ही अनुभव हो सकती है। समाज में रहने वाले व्यक्तियों को इस अर्थ में स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। सही रूप में स्वतन्त्रता का अर्थ है मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त सुअवसर या परिस्थितियाँ प्रदान करना। ये अवसर या सुविधाएं राज्य ही प्रदान कर सकता है; अतएव सकारात्मक स्वतन्त्रता राज्य में ही सम्भव है। ऐसी स्वतन्त्रता सीमित होती है, न कि असीमित। ऐसी स्वतन्त्रता केवल वैयक्तिक नहीं, सामाजिक हित की दृष्टि से प्रदान की जाती है। स्वतन्त्रता के इसी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कतिपय विचारकों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएं इस प्रकार हैं :

स्पेन्सर – "प्रत्येक मनुष्य वह करने को स्वतन्त्र है जो वह करना चाहे। बशर्ते वह किसी अन्य मनुष्य की समान स्वतन्त्रता का हनन न करें।"

मैकेन्जी – "स्वतन्त्रता सब प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है, बल्कि तर्करहित प्रतिबन्धों के स्थान पर तर्कयुक्त प्रतिबन्धों की स्थापना है।"

लास्की –"आधुनिक सभ्यता में जो सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति के सुख के लिए आवश्यक हैं, उन पर प्रतिबन्ध का अभाव ही स्वतन्त्रता है।"

ग्रीन – "स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने अथवा उन वस्तुओं का उपभोग करने की शक्ति है जो करने अथवा उपभोग करने योग्य हों।"

गेटेल – "स्वतन्त्रता से अभिप्राय उस सकारात्मक शक्ति से है जिससे उन चीजों को करके आनन्द प्राप्त होता है, जो करने योग्य हों।"

इस प्रकार स्वतन्त्रता की सकारात्मक परिभाषाओं के अनुसार इसे व्यक्तित्व के विकास का अवसर माना जाता है। नागरिकों को अपनी भौतिक और नैतिक उन्नति का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। यह अवसर तभी मिल सकता है जब समाज कुछ नियम बनाकर एक व्यक्ति के जीवन में दूसरे व्यक्ति का अनुचित हस्तक्षेप न होने दे। **गाँधी जी** के शब्दों में, "स्वतन्त्रता का अर्थ नियन्त्रण का अभाव नहीं बल्कि व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं की प्राप्ति है।" समाज में राज्य की ओर से ऐसी परिस्थितियाँ होना चाहिए जिनमें व्यक्ति एक उन्मुक्त जीवन जी सके; उसका जीवन सुरक्षित हो, उसको आजीविका के अवसर प्राप्त हों, वह अपने विचारों की अभिव्यक्ति कर सके तथा वह अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सके।

स्वतन्त्रता के प्रकार (Kinds of Liberty)

स्वतन्त्रता शब्द बहुत व्यापक अर्थ वाला है और इसका प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है। अतएव यह उचित प्रतीत होता है कि हम इसके विभिन्न अर्थों पर संक्षेप में विचार करें –

(1) **प्राकृतिक स्वतन्त्रता** (Natural Liberty)– कुछ विचारकों के अनुसार स्वतन्त्रता प्राकृतिक होती है। वह प्रकृति की देन है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता के दो अर्थ हैं– पहला अर्थ उस स्वतन्त्रता से है जो राज्य बनने से पूर्व प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों को प्राप्त थी। हॉब्स और रूसो ने इसी अर्थ में स्वतन्त्रता को प्रयुक्त किया है। उनके अनुसार व्यक्ति प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के ऊपर किसी प्रकार के बन्धन नहीं थे। वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग करता था। इसी भाव को व्यक्त करते हुए **आशीर्वादम** ने लिखा है कि, "प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा जंगली जीवन की स्वतन्त्रता का ही दूसरा नाम है।" प्राकृतिक स्वतन्त्रता के समर्थकों का कहना है कि मनुष्य प्रकृति से ही स्वतन्त्र है और सभ्यता ही बढ़ते हुए बन्धनों के लिए उत्तरदायी है।" इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्य की स्थापना के साथ ही मनुष्य की प्राकृतिक स्वतन्त्रता का लोप हो गया और वह समाज और राज्य द्वारा लगाए बन्धनों में जकड़ा गया। रूसो के शब्दों में, "मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है, परन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में है।"

परन्तु स्वतन्त्रता की यह धारणा दोषपूर्ण है। प्राकृतिक अवस्था पूर्व राजनीतिक अवस्था थी जिसमें सच्ची स्वतन्त्रता का अस्तित्व सम्भव ही नहीं था। दूसरे अर्थ में प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा फिर भी स्वीकार्य है। इसके अन्तर्गत प्राकृतिक अवस्था से तात्पर्य है कि मनुष्य सदा से स्वतन्त्रता का पुजारी रहा है। वह **स्वभाव से स्व**तन्त्रता – प्रिय है। स्वतन्त्रता स्वाभाविक है और यह राज्य की देन नहीं है। स्वतन्त्रता इस अर्थ **में प्राकृतिक** है कि मनुष्य के व्यक्तित्व विकास तथा सामाजिक कल्याण के लिए वह वांछनीय है। ग्रीन, लास्की **और** रिची आदि विद्वानों ने इसी अर्थ में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया है।

(2) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता** (Personal Liberty)– व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अभिप्राय यह है कि मनुष्य को अपने व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कार्यों में स्वतन्त्रता होनी चाहिए, उसके व्यक्तिगत कार्यों पर केवल समाज हित को ध्यान में रखकर ही बंधन लगाया जा सकता है। **जे.एस. मिल** का विचार था कि व्यक्ति के उन कार्यों पर प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए जिनका सम्बन्ध उसके स्वयं के जीवन से है, **जैसे** वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि। व्यक्तिवादी विचारकों ने स्वतन्त्रता के इसी रूप का प्रबल **समर्थन किया** है और यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य के हित की साधना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहे तथा राज्य संस्था उसके व्यक्तिगत मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे।

(3) **नागरिक स्वतन्त्रता** (Civil Liberty) – जो स्वतन्त्रता मानव को समाज से प्राप्त होती है वह नागरिक अथवा सामाजिक स्वतन्त्रता कहलाती है। **गेटेल** के अनुसार, "नागरिक स्वतन्त्रता उन अधिकारों और विशेषाधिकारों को कहते हैं जिनको राज्य अपने नागरिकों के लिए उत्पन्न करता है और उनकी रक्षा करता है।" नागरिक स्वतन्त्रता के क्षेत्र में जीवन की सुरक्षा, स्वामित्व, कानून के सम्मुख समता, जीविकोपार्जन तथा विचार-स्वातन्त्रय आदि से सम्बन्धित अधिकारों की व्यवस्था आ जाती है। इन स्वतन्त्रताओं को प्राय: संविधान में स्थान दिया जाता है ताकि राज्य उनका अतिक्रमण न कर सके। कई देशों में नागरिक स्वतन्त्रता के संरक्षण का भार संविधान द्वारा न्यायालयों को सौंपा गया है और कोई भी व्यक्ति नागरिक स्वतन्त्रता के प्रवर्तन हेतु न्यायालय की शरण ले सकता है।

(4) **राजनीतिक स्वतन्त्रता** (Political Liberty)– राजनीतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य उन अधिकारों से है जिनके द्वारा नागरिकों को अपने देश के शासन में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर मिलता है। जहाँ नागरिकों को राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेने के अधिकार होते हैं तथा उनको स्वेच्छा से प्रयोग में लाने का अवसर रहता है, वहाँ राजनीतिक स्वतन्त्रता उपलब्ध रहती है। गिलक्राइस्ट के अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का ही दूसरा नाम है। राजनीतिक स्वतन्त्रता वह है जिसमें प्रत्येक नागरिक को मतदान करने का अधिकार हो, चुनाव में खड़े होने का अधिकार हो, सार्वजनिक पद पर नियुक्ति पाने का अधिकार हो तथा शासन की नीति पर रचनात्मक आलोचना करने का अधिकार हो।

(5) **आर्थिक स्वतन्त्रता** (Economic Liberty) – आर्थिक स्वतन्त्रता से अभिप्राय है कि व्यक्ति की आर्थिक दशा ऐसी होनी चाहिए, जिसमें वह स्वाभिमान के साथ बगैर कष्ट के, अपने जीवन और अपने कुटुम्ब के जीवन का निर्वाह कर सकता हो। आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ है आर्थिक सुरक्षा। इसका तात्पर्य है कि आर्थिक विषमता को दूर करना ताकि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय या व्यापार करने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक नागरिक अभाव, भुखमरी और बेकारी के भय से मुक्त हो, यही वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता है। **लास्की** ने लिखा है, "आर्थिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आदमी को इतनी सुरक्षा का अवसर हो कि वह अपने जीविकोपार्जन को पर्याप्त अर्थवत्ता दे सके अर्थात् बेकारी और अभाव के सतत भय से, जो व्यक्तित्व की अन्य शक्तियों को चाट जाता है, मुक्ति हो। आगामी कल की आवश्यकताओं के दानव से सुरक्षा होनी चाहिए।" **जी.डी.एच. कोल** के शब्दों में, "आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता कोरी कल्पना है।"

(6) **नैतिक स्वतन्त्रता** (Moral Liberty) – नैतिक स्वतन्त्रता से तात्पर्य व्यक्ति की उस मानसिक स्थिति से होता है जिसमें वह अनुचित लोभ-लालच के बिना अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता रखता हो। यदि लोभ-लालच के वशीभूत होकर कोई व्यक्ति नैतिक इच्छा के विरुद्ध कार्य करता

है, तो उसे नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। नैतिक स्वतन्त्रता से आशय है कि मनुष्य को अपने चरित्र और अपने मस्तिष्क का विकास करने के पर्याप्त अवसर मिलने चाहिए। कान्ट ने इसे "विवेकपूर्ण इच्छा की स्वायत्तता" कहा है। मनुष्य की अन्य स्वतंत्रताओं का उद्देश्य इस सदिच्छा को जाग्रत करना है। नैतिक भावना के परिष्कार से ही राजनीतिक, आर्थिक और राष्ट्रीय तथा अन्य स्वतन्त्रताओं की संसार में गारण्टी हो सकती है।

(7) **धार्मिक स्वतन्त्रता** (Religious Liberty) – धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्त:करण से होता है। किसी व्यक्ति को एक धर्म-विशेष के पालन के लिए बाध्य करना स्वयं में एक अधार्मिक कार्य है। प्रत्येक मनुष्य को स्वेच्छानुसार किसी भी धर्म को स्वीकार करने, उसका पालन करने, पूजा-अर्चना करने इत्यादि की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य को सभी धर्मों को समान मानना चाहिए, किसी विशेष धर्म के प्रति पक्षपात नहीं करना चाहिए। राज्य को धर्म-निरपेक्ष होना चाहिए।

(8) **राष्ट्रीय स्वतन्त्रता** (National Liberty) – राष्ट्रीय स्वाधीनता का अर्थ स्वराज अथवा स्वाधीनता से है। इस स्वतन्त्रता का सम्बन्ध राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त से हैं, जिसका अर्थ यह है कि हर राष्ट्र सामूहिक रूप से बाह्य तथा आन्तरिक मामलों के प्रबन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र हो, उस पर किसी बाहरी व्यक्ति का आधिपत्य अथवा नियन्त्रण न हो। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का मूल मन्तव्य है कि कोई राष्ट्र अपने जीवन तथा संस्कृति का पूर्ण विकास तब तक नहीं कर सकता जब तक पूर्ण स्वतन्त्र न हो। इसलिए राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर अपना आधिपत्य जमाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं हो सकता। वस्तुत: राष्ट्रीय स्वतन्त्रता ही राजनैतिक स्वतन्त्रता एवं नागरिक स्वतन्त्रता का आधार होती है।

स्वतन्त्रता के लिए दशाएं (Conditions for Liberty)

स्वतन्त्रता का संरक्षण परम आवश्यक है। स्वतन्त्रता प्राप्त करना कठिन है किन्तु उससे भी कठिन कार्य स्वतन्त्रता को बनाए रखना है। जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए आवश्यक प्रयत्न नहीं करते, उनकी स्वतन्त्रता को सदैव ही खतरा बना रहता है। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए निम्न दशाओं का होना आवश्यक है–

(1) **मौलिक अधिकार** – स्वतन्त्रता के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण आवश्यकता इस बात की है कि नागरिकों के मौलिक अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या की जाये। मौलिक अधिकारों को संविधान में स्थान दिया जाये जिससे उन्हें पूरा कानूनी संरक्षण प्राप्त हो सके। वस्तुत: स्वतन्त्रता अधिकारों की उपज होती है और बिना अधिकारों के स्वतन्त्रता नहीं हो सकती।

(2) **विशेषाधिकारों का अन्त** – **लॉस्की** के शब्दों में, "यदि समाज के किसी भाग को विशेषाधिकार दिये गये हों तो उस दशा में जन साधारण स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकता।" इसका अर्थ यह हुआ कि समाज के किसी अंग को विशेषाधिकार नहीं मिलने चाहिए और सबको समान अवसर मिलने चाहिए। विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग सदैव दूसरों की स्वतन्त्रता का शोषण करता है अत: विशेषाधिकारों का अन्त नितान्त आवश्यक है।

(3) **कानून का शासन** – स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि राज्य 'विधि-शासन' के सिद्धान्त को मान्यता दे। विधि-शासन से आशय है कि कानून की दृष्टि में सभी नागरिक समान होने चाहिए और उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए।

(4) **शक्तियों का पृथक्करण** – स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए कार्यपालिका और न्यायपालिका पृथक होनी चाहिए। **मांटेस्क्यू** ने शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए उसे स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए आवश्यक बताया था। शासन के किसी अंग के हाथों में शक्तियों के एकीकरण को रोकना चाहिए तथा न्यायापालिका की स्वतन्त्रता की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(5) **आर्थिक समता** – **लास्की** के अनुसार स्वतन्त्रता के पोषण के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों की सामान्य आवश्यकताएं पूरी होती रहें। उन्हें भूख, बेकारी, रोग, अशिक्षा आदि के भय से

NOTES

छुटकारा मिलना चाहिए। समाज में धन का वितरण इतना विषम नहीं होना चाहिए कि कुछ व्यक्तियों के पास अपार धनराशि हो और बहुसंख्यक व्यक्ति भूखे पेट सोते हों।

(6) **स्वतन्त्र न्यायपालिका** – स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका होनी चाहिए। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के अभाव में स्वतन्त्रता एक दिखावा मात्र बनकर रह जायेगी। न्यायपालिका के कार्यों में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। न्याय सस्ता और सुगम होना चाहिए ताकि गरीब व्यक्ति भी न्याय प्राप्त कर सकें।

(7) **सार्वजनिक जागरूकता** – स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा संरक्षण सार्वजनिक जागरूकता है। **लास्की** के मतानुसार, "शाश्वत जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि नागरिकों को स्वयं अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करनी चाहिए और इसके निमित्त यदि संघर्ष करना पड़े तो उन्हें उसके लिए तैयार रहना चाहिए। **लास्की** लिखते हैं कि, "कानून से उतना संरक्षण प्राप्त नहीं होता जितना नागरिकों में स्वाभिमान की भावना से प्राप्त होता है।"

स्वतन्त्रता, सत्ता और कानून (Liberty, Authority and Law)

(1) **स्वतन्त्रता और सत्ता** – कतिपय विद्वानों का विचार है कि राजनीतिक सत्ता और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी है। प्रभुसत्ता असीम होती है जबकि स्वतन्त्रता पर कोई अंकुश नहीं होना चाहिए। इसी तर्क के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि सत्ता और स्वतन्त्रता साथ-साथ नहीं रह सकती।

वास्तव में न तो प्रभुसत्ता असीमित होती है और न ही स्वतन्त्रता अप्रतिबन्धित होती है। राज्य की प्रभुसत्ता के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। राज्य को हमेशा यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसके कार्य जनहित में हों और नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास में सहायक हों। स्वतन्त्रता की प्रकृति में ही प्रतिबन्ध हैं अन्यथा स्वतन्त्रता उच्छृंखलता में बदल जायगी। स्वतन्त्रता के ऊपर अंकुश इसलिए आवश्यक है कि अन्य नागरिकों को समान अवसर प्राप्त हो सकें और सबल वर्ग समाज-हित के विरुद्ध आचरण न कर सके। लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में सत्ता और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक होती हैं। **गेटेल** ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "बिना स्वतन्त्रता के प्रभुसत्ता निरंकुश बन जाती है और बिना सत्ता के स्वतन्त्रता अराजकता को जन्म देती है।" **होकिंग** के अनुसार, "व्यक्ति जितनी अधिक स्वतन्त्रता चाहता है, उतना ही अधिक उसे सत्ता की अधीनता स्वीकार करने के लिए तत्पर होना चाहिए।"

फिर भी सत्ता का दुरुपयोग हो सकता है। **प्रो. लास्की** ने कहा है, स्वतन्त्रता के पूर्ण उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए कुछ साधन हों। सबसे अच्छा साधन यही है कि शक्ति का व्यापक वितरण हो जिससे कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह निरंकुश न बन सके।

(2) **स्वतन्त्रता और कानून** – कानून और स्वतन्त्रता का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में दो परस्पर विरोधी मत हैं।

(i) **कानून स्वतन्त्रता में बाधक है** – पहला मत यह है कि कानून स्वतन्त्रता में बाधक होता है। कुछ लोग मानते हैं कि जहाँ कानून अधिक होते हैं वहाँ स्वतन्त्रता सीमित बन जाती है। 18 वीं शताब्दी के अनेक लेखक कानून को राजसत्ता या शक्ति के प्रतीक के रूप में देखते आये हैं और व्यक्तिवादी तो स्वतन्त्रता की अधिकतम प्राप्ति हेतु यहाँ तक कह बैठे हैं कि "वह सरकार सबसे अच्छी है जो सबसे कम शासन करती है।" डायसी, गॉडविन तथा अराजकतावादी विचारकों के अनुसार राज्य की सत्ता हमारी स्वतन्त्रता का हनन करती है। **डायसी** ने कहा है कि कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विरोधी हैं, एक की मात्रा जितनी अधिक होगी, दूसरे की मात्रा उतनी ही कम हो जायेगी। **हर्बर्ट स्पेन्सर** तो यह मानता था कि राज्य कम से कम कानून बनाये। अराजकतावादियों ने तो और भी अधिक उग्र रूप अपनाया। उनके अनुसार राज्य के रहते हुए व्यक्ति स्वतन्त्रता का पूर्णरूपेण उपभोग नहीं कर सकता। अतएव राज्य को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहिए।

(ii) **कानून स्वतन्त्रता में साधक है** – दूसरा विचार यह है कि कानून स्वतन्त्रता में साधक होते हैं। कानून का पूर्ण पालन करके ही मनुष्य वास्तविक स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। बिना कानूनों के

स्वतन्त्रता अराजकता में परिवर्तित हो जाती है तथा जिसकी लाठी उसकी भैंस (Might is right) की स्थिति हो सकती है। कानून का उद्देश्य स्वतन्त्रता को समाप्त करना अथवा प्रतिबन्ध लगाना नहीं है बल्कि स्वतन्त्रता को कायम रखना तथा उसकी वृद्धि करना है। इस सम्बन्ध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त के समर्थकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। हॉब्स ने इस बात का अनुभव किया था कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता, बिना उस प्रभुसत्ता के जो कानून बनाये और उन्हें लागू करे, सुरक्षित नहीं रह सकती। **लॉक** का कहना था कि, "जहाँ कोई कानून नहीं है वहाँ कोई स्वतन्त्रता नहीं हो सकती।" वस्तुत: कानून स्वतन्त्रता की शर्त है। कानून से ही सब व्यक्तियों को अपनी आत्मोन्नति हेतु समान अवसर प्राप्त होने का आश्वासन मिलता है।

कानून तीन प्रकार से स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखता है : **प्रथम,** यह स्पष्ट करके कि व्यक्तियों के वे अधिकार – क्षेत्र क्या हैं जिनके अन्तर्गत वे बिना किसी के हस्तक्षेप के अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं। **द्वितीय,** अधिकारों की सीमा को स्थिर करके, राज्य सभी नागरिकों की समान स्वतन्त्रता का संरक्षण करता है, जिससे सभी व्यक्ति नागरिक अधिकारों का पूरा उपभोग कर सकें। **तृतीय,** कानून यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि अन्य नागरिकों के अधिकारों के साथ हस्तक्षेप करने पर अर्थात् अपनी अधिकार -सीमा से बाहर जाने पर, राज्य दण्ड देता। संक्षेप में कानून सामाजिक जीवन को नियमित कर शान्ति और व्यवस्था स्थापित करते हैं और इस प्रकार स्वतन्त्रता को सम्भव बनाते हैं।

हीगल और रूसो जैसे आदर्शवादियों ने कानून और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध के बारे में अतिरंजित दृष्टिकोण अपनाया है। **रूसो** ने कहा था कि "कानून का अधिकतम पालन ही अधिकतम स्वतन्त्रता है।" अत: व्यक्तियों को स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जा सकता है। किन्तु यह दृष्टिकोण खतरनाक है और इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन होता है। वास्तविकता यह है कि सभी कानूनों के पालन में स्वतन्त्रता निहित नहीं है। जो कानून नैतिक हैं और समूचे समाज के हित को ध्यान में रखकर बनाये गए हैं, उन्हें मानने से तो स्वतन्त्रता अवश्य मिलती है, किन्तु अनैतिक और अत्याचारपूर्ण कानूनों का विरोध करना भी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपरिहार्य है।

आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक है
(Political Liberty is Useless Without Economic Equality)

राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक समानता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आर्थिक समानता राजनीतिक स्वतन्त्रता की पूर्व शर्त है। जितनी अधिक आर्थिक समानता होगी उतनी ही अधिक राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग होगा। इन दोनों का सम्बन्ध समझने के लिए इन दोनों का अर्थ समझ लेना उपयोगी होगा।

(1) **राजनीतिक स्वतन्त्रता – प्रो. लास्की** के अनुसार राज्य के मामलों में सक्रिय होने की शक्ति का नाम ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है। इसका अर्थ यह है कि हर व्यक्ति को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वह राज्य के मामलों में अपनी राय व्यक्त कर सके और अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासन में हाथ बंटा सके। शासन-प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार केवल लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में ही दिया जाता है। निरंकुश राजतन्त्र या अधिनायकतन्त्र में राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। राजनीतिक स्वतन्त्रता का एक पहलू वैधानिक स्वतन्त्रता भी है। राज्य को कानून द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वीकार करनी पड़ती है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा का दायित्व न्यायालयों पर होता है। संक्षेप में इसके अन्तर्गत प्राय: निम्न अधिकार सम्मिलित माने जाते हैं :

(i) नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार – किन्तु यह अधिकार सबको नहीं दिया जा सकता। विदेशी, पागल तथा बच्चे इस अधिकार से वंचित रखे जाते हैं।

(ii) निर्वाचित होने का अधिकार – इसका अभिप्राय यह है कि जिस नागरिक को वोट देने का अधिकार है, उसे स्वयं चुनाव में खड़े होने का अधिकार है।

(iii) सार्वजनिक पद धारण करने का अधिकार।

(iv) राजकीय मामलों के विषय में समुचित जानकारी प्राप्त करने तथा स्वतन्त्रतापूर्वक उन पर वाद-विवाद करने का अधिकार।

(2) **आर्थिक समानता** - आर्थिक समानता का अर्थ है कि समाज से शोषण और वर्ग-संघर्ष को मिटाकर धन के न्यायपूर्ण वितरण की प्रणाली स्थापित की जाए। पूंजीवादी व्यवस्था में नागरिकों के बीच अत्यन्त भयंकर आर्थिक विषमता देखने को मिलती है। एक ओर कुछ लोगों के पास अतुल धन-सम्पत्ति होती है और उन्हें वे सब सुख-सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं जिन्हें आधुनिकतम विज्ञान जुटा सकता है और दूसरी ओर ऐसे लोग देखने को मिलते हैं जिन्हें भरपेट भोजन, तन ढकने को कपड़ा और मौसम की क्रूरता से बचने के लिए टूटी-फूटी झोपड़ी भी उपलब्ध नहीं होती। इस प्रकार की दरिद्रता का लोगों के चरित्र पर भी बुरा असर होता है। अत: इस भाँति की आर्थिक विषमता को दूर करना हर समाज में आवश्यक होता है। आर्थिक समानता का व्यावहारिक अर्थ यह है कि जब तक सब नागरिकों को जीवन की न्यूनतम सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं तब तक कुछ लोगों को विलासिता का जीवन बिताने का अधिकार नहीं हो सकता। **लास्की** के अनुसार, आर्थिक क्षेत्र में लगभग समानता से अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति के वितरण में विषमताएं न हों और जो वर्ग समाज में सत्तारूढ़ है उस पर लोकमत का अंकुश हो। आर्थिक समानता धन को बराबर बाँट देने में स्थापित नहीं हो सकती और न ऐसा करना व्यावहारिक ही है। आर्थिक समानता लाने का एकमात्र तरीका उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व हटाकर उन्हें जनता के हाथ में दे देना है, अर्थात् 'उद्योग में लोकतन्त्र' की स्थापना से है। यदि एक कारखाना किसी पूंजीपति के हाथ में है, तो उस कारखानें में केवल पूँजीपति को ही लाभ होता है और वह करोड़पति बन जाता है। यदि वही कारखाना मजदूर लोग अपने अधिकार में लेकर चलाएँ तो उसका लाभ मजदूर ही आपस में बाँट सकेंगे, जिसका नतीजा यह होगा कि मजदूरों की जिन्दगी खुशहाल हो जाएगी। श्रमिक श्रम को बेचने वाला ही नहीं रहेगा अपितु उत्पादन-व्यवस्था का निर्णायक भी हो जाएगा।

(3) **राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक समानता पर आधारित** – **प्रो. लास्की** ने लिखा कि, "राजनैतिक समानता आर्थिक समानता के बिना वस्तुत: निरर्थक है, क्योंकि राजनीतिक शक्ति आवश्यक रूप से आर्थिक शक्ति के हाथों में खिलवाड़ ही सिद्ध होगी।" यदि व्यक्ति को बहुत सारे राजनैतिक अधिकार, जैसे मत देने का अधिकार, चुनाव में प्रत्याशी होने का अधिकार, सार्वजनिक पद धारण करने का अधिकार आदि प्रदान किये जाएं किन्तु यदि उसे पेट भरने को रोटी न मिले तो सारे राजनैतिक अधिकार व्यर्थ होंगे। एक गरीब व्यक्ति का धर्म, ईमान और राजनीति सभी कुछ रोटी तक सीमित हो जाती है। भारत में नागरिकों को मत देने का अधिकार प्राप्त है किन्तु अपनी रोजी छोड़कर मतदान-केन्द्र पर जाने का परिणाम क्या होगा? लोगों को चुनाव में खड़े होने का अधिकार है किन्तु चुनाव कितने महंगे होते हैं? क्या सामान्य व्यक्ति चुनाव लड़ने का साहस कर सकता है ? यदि सामान्य व्यक्ति के पास सामान्य जीवन-यापन करने के आर्थिक साधन ही नहीं हैं तो वह राजनैतिक स्वतन्त्रता का उपभोग कैसे कर सकता है? समाजवादी विचारक इसी बात पर बल देते हैं कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ है। राजनैतिक स्वतन्त्रता की उपलब्धि के लिए आर्थिक सुरक्षा (economic security) की व्यवस्था की जानी चाहिए। आर्थिक विषमता को दूर किया जावे ताकि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो। हर नागरिक अभाव, भूखमरी और बेकारी के भय से मुक्त हो ताकि राजनैतिक स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सके।

समानता
(Equality)

समानता लोकतन्त्र का मुख्य स्तम्भ है। मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए यह एक आवश्यक शर्त है। समानता के सिद्धान्त की उत्पत्ति विशेषाधिकार-प्रथा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुई। अत्यन्त प्राचीन काल से यह धारणा चली आयी है कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान उत्पन्न किया है। वैसे तो इस सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास में अनेक बातों का योगदान रहा है किन्तु आधुनिक काल में इसका सबसे जोरदार प्रतिपादन फ्रांस की राज्यक्रांति के समय किया गया। फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने सन् 1789 ई. में 'मनुष्य के अधिकारों के घोषणा पत्र' में कहा है कि "मनुष्य स्वतन्त्र और समान पैदा हुए हैं और वे अपने अधिकारों के विषय में भी स्वतंत्र और समान रहते हैं।" इसी तरह 'अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा, 1776' में कहा गया है, "हम इस सत्य को स्वयं सिद्ध मानते हैं कि सभी मनुष्यों को समान उत्पन्न किया गया है।"

अर्थ एवं परिभाषा – कुछ लोग समानता का गलत अर्थ लगाते हैं। वे कहते हैं कि सभी मनुष्य समान पैदा होते हैं, उनमें शारीरिक और बौद्धिक समानता रहती है। अत: राज्य की ओर से भी सबके बीच पूर्ण समानता स्थापित की जानी चाहिए; सबकी आमदनी बिल्कुल बराबर रखी जानी चाहिए। किन्तु समानता की यह अवधारणा मिथ्या है। यदि इस विषय पर गम्भीरता से मनन किया जाये तो ज्ञात हो जाता है कि असमानता प्रकृति से ही है। मनुष्य शारीरिक दृष्टि से असमान होते हैं, कुछ लम्बे होते हैं, कुछ छोटे; कुछ दुर्बल होते हैं, कुछ स्वस्थ, कुछ श्वेत वर्ण के होते हैं तो कुछ श्याम वर्ण के। प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है, उसकी कमजोरियाँ और खूबियाँ होती हैं। चाहे कितनी ही कोशिश की जाये, किसी कक्षा के सभी विद्यार्थी पढ़ने में समान नहीं हो सकते, क्योंकि सभी बुद्धि में समान नहीं होते। अत: पूर्ण समानता की बात करना भ्रमात्मक है।

तब समानता का सही अर्थ क्या है ? जिस प्रकार स्वतन्त्रता के दो अर्थ हैं, उसी प्रकार समानता के भी दो अर्थ है – (1) नकारात्मक समानता और (2) सकारात्मक समानता।

(1) **नकारात्मक समानता** – इसका अर्थ होता है विशेषाधिकारों का अन्त। समाज के किसी विशेष वर्ग को जन्म, वंश, धर्म, सम्पत्ति, रंग आदि के आधार पर किसी प्रकार के विशेष अधिकार न प्रदान करना नकारात्मक समानता का द्योतक है। राज्य को चाहिए कि वह बिना किसी भेद-भाव के सभी नागरिकों को अपनी उन्नति एवं विकास करने के लिए समान अवसर प्रदान करे। कहने का मतलब यह है कि लोगों में प्राकृतिक कारणों से, अर्थात जन्मजात असमानता हो सकती है, किन्तु अप्राकृतिक कारणों से अर्थात पैतृक परिस्थितियों अथवा राज्य द्वारा किये गये भेद-भाव के परिणामस्वरूप किसी प्रकार की असमानता नहीं होनी चाहिए। भारत में छुआछूत का अन्त और सबको शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश का अधिकार नकारात्मक समानता के उदाहरण हैं।

(2) **सकारात्मक समानता** – इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास के लिए पर्याप्त या समान अवसर प्रदान किए जाएँ। राज्य द्वारा कोई ऐसी बाधा नहीं डाली जानी चाहिए जिससे व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास में किसी प्रकार की रुकावट आये। यदि सभी को समान अवसर न मिलें तो मनुष्य का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अवसर मिलना चाहिए कि अपनी योग्यता और प्रतिभा का अधिकाधिक विकास कर सके।

लास्की के अनुसार, "समानता का मतलब एक-सा व्यवहार करना नहीं है, इसका तो आग्रह इस बात के लिए है कि मनुष्यों को सुख का समान हक होना चाहिए, उनके इस हक में किसी प्रकार का आधारभूत अन्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता। समानता मूलत: समानीकरण की एक प्रक्रिया है – प्रथमत: इसका अभिप्राय विशेषाधिकारों की समाप्ति है – और दूसरे, व्यक्तियों के विकास के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराने से हैं।"

इस प्रकार राजनीति विज्ञान में समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है, जिसके कारण सब व्यक्तियों को व्यक्तित्व-विकास के समान अवसर प्राप्त हो सकें। इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो जाये, जिसका मूल सामाजिक वैषम्य है।

समानता के प्रकार (Kinds of Equality)

समानता के मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं – (1) नागरिक समानता, (2) राजनीतिक समानता, (3) प्राकृतिक समानता, (4) सामाजिक समानता और (5) आर्थिक समानता।

(1) **नागरिक समानता** (Civil Equality) – नागरिक समानता से हमारा तात्पर्य सभी को नागरिकता के समान अवसर प्राप्त होने से होता है। यदि सब नागरिकों को नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का उपयोग करने का समान अवसर प्राप्त हो, तो हम ऐसी स्थिति को नागरिक समानता की स्थिति कह सकते हैं। नागरिक समानता की अवस्था में व्यक्ति के मूल अधिकार सुरक्षित होने चाहिए तथा सभी को कानून का संरक्षण समान रूप से प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि कानून की दृष्टि से यदि धन, पद, वर्ग अथवा धर्म के आधार पर भेद होने लगे, तो उससे नागरिक असमानता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की नागरिक समानता में कानूनी समानता भी सम्मिलित है। सब लोग कानून के समक्ष समान हों, सब लोगों

NOTES

को राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उपभोग करने का समान अवसर हो, यही नागरिक समानता का सार है।

(2) **राजनैतिक समानता** (Political Equality) – राजनैतिक समानता का अर्थ है कि देश के सभी नागरिकों को समान राजनैतिक अधिकार प्राप्त हों। प्रत्येक व्यक्ति को शासन के कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर उपलब्ध हो। वोट देना, पद के लिए प्रत्याशी होना तथा सरकारी पद प्राप्त करना आदि ऐसे राजनैतिक अधिकार हैं, जिनके मिलने के अवसर की समानता ही राजनैतिक समानता कही जाती है। यदि लिंग, जाति, धर्म के आधार पर किसी को इससे वंचित किया जाये तो यह राजनैतिक समानता के सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा। भारतीय गणराज्य में राजनीतिक समानता का अधिकार माना जाता है किन्तु दक्षिणी अफ्रीका में वर्षों तक राजनीतिक समानता का सिद्धान्त नहीं माना जाता था। दक्षिणी अफ्रीका में केवल यूरोपीय नस्ल के लोगों को ही राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते थे। **प्रो. लास्की** का मत है कि आर्थिक समानता के वातावरण में ही वैधानिक और राजनीतिक समानता के आदर्शों को पूर्ण तौर से कार्यान्वित किया जा सकता है।

(3) **प्राकृतिक समानता** (Natural Equality) – प्राकृतिक समानता से आशय यह है कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान बनाया है अर्थात जन्म के समय सब बराबर होते हैं, उनमें बराबर शारीरिक शक्ति और बुद्धि रहती है। उनमें, जो अन्तर दृष्टिगोचर होता है, उसका कारण सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता है। समाज में दिखायी पड़ने वाली अधिकतम विषमताएँ मनुष्य-निर्मित ही हैं।

समाज में दिखने वाली अधिकांश विषमताएँ मनुष्यकृत हैं, फिर भी प्राकृतिक समानता का सिद्धान्त अस्वीकार्य है। यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि प्रकृति ने प्रतिभा, उद्यम और सामर्थ्य में सभी मनुष्यों को पूर्ण रूप में समान बनाया है। प्राकृतिक समानता के विचार को अधिक से अधिक हम इस रूप में रख सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान समझा जाना चाहिए तथा किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का अन्य किसी व्यक्तित्व के साधन के रूप में प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

(4) **सामाजिक समानता** (Social Equality) – सामाजिक समानता से अभिप्राय है कि सामाजिक दृष्टि से सब व्यक्ति समान होने चाहिए। समाज में वंश, जाति सम्प्रदाय और लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। भारत में जाति-व्यवस्था ऊंच-नीच के आधार पर खड़ी हुई हैं। जिन देशों में जाति-प्रथा प्रचलित नहीं हुई, वहाँ भी कुलीन वंश के लोगों और साधारण प्रजा-जन में काफी भेद किया जाता था। धार्मिक कट्टरता के युग में साम्प्रदायिक भेदों को भी महत्व दिया जाने लगा। अफ्रीका में लम्बे समय तक काले-गोरे का भेद देखा गया है। ज्यों-ज्यों लोकतंत्र का विस्तार होता जा रहा है त्यों-त्यों सामाजिक समानता के सिद्धान्त का भी प्रसार होता जा रहा है।

(5) **आर्थिक समानता** (Economic Equality) – आर्थिक समानता सबसे महत्वपूर्ण समानता है क्योंकि वह अन्य प्रकार की समानताओं का आधार है। आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक, नागरिक और सामाजिक समानता अर्थहीन रहती है। आर्थिक समानता क्या है ? इस सम्बन्ध में कई विचारधाराएँ हैं। कुछ लोग कहते हैं कि सम्पत्ति का समान वितरण आर्थिक समानता है। कुछ कहते हैं कि समान कार्य के लिए समान वेतन आर्थिक समानता है। आर्थिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि सभी मनुष्यों के बीच पूर्ण आर्थिक समानता स्थापित कर दी जाये। देश की कुल पूँजी में जनसंख्या का भाग देने से जो भजनफल आये उतना धन प्रत्येक नागरिक को देने से आर्थिक समानता स्थापित नहीं हो जाती। आर्थिक समानता का अर्थ यह नहीं है कि धनी और निर्धन का अन्तर समाप्त करने के लिए धनियों की सम्पत्ति सभी में बराबर बांट दी जाये। यदि ऐसा किया भी जाये तो यह समानता बहुत दिन न चल सकेगी क्योंकि पुरुषार्थी और अध्यवसायी व्यक्ति सरलता से अपनी सम्पत्ति में वृद्धि कर लेंगे, और आलसी, फिजूलखर्च एवं मूर्ख लोग इस सम्पत्ति को भी नष्ट कर देंगे और पुनः सम्पत्ति-हीन हो जाएँगे।

आर्थिक समानता का सही अर्थ यह है कि हर मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताओं – भोजन, वस्त्र और आवास – की पूर्ति होनी चाहिए। जब तक सब की इन मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति न हो, तब तक किसी को गुलछर्रे न उड़ाने दिए जाएं। सब मनुष्यों के पास आवश्यकतानुसार यथेष्ट सम्पत्ति हो

और कोई सम्पत्ति के स्वामित्व की दृष्टि से ऐसी स्थिति में न हो कि दूसरे का शोषण कर सके। सम्पत्ति तथा धन का उचित वितरण हो, जिससे उसके अभाव के कारण किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधा न पड़े। कुछ व्यक्तियों के पास इतनी सम्पत्ति इकट्ठी नहीं हो जानी चाहिए कि उसके कारण वे अन्य व्यक्तियों का शोषण करने में समर्थ हो सकें। व्यक्तियों की आय में बहुत अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। मनुष्यों की आय का अन्तर योग्यता, कार्यक्षमता और परिश्रम की भिन्नता के अतिरिक्त और कुछ न होना चाहिए। आर्थिक समानता से अभिप्राय है पूँजीवाद का अन्त तथा समाजवाद की स्थापना। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत थोड़े से हाथों में धन का केन्द्रीयकरण हो जाता है और राज्य की संस्थाओं पर बड़े-बड़े पूँजीपतियों का नियन्त्रण हो जाता है। राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की चेरी बन जाती है। अत: यह निर्विवाद सत्य है कि बिना आर्थिक समानता के राजनीतिक समानता कभी वास्तविक नहीं हो सकती।

स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध
(The Relationship of Liberty and Equality)

स्वतन्त्रता और समानता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में मुख्यत: दो मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार ये दोनों परस्पर विरोधी हैं और दूसरे मत के अनुसार ये एक-दूसरे के पूरक हैं। यहाँ हम दोनों मतों का विश्लेषण करते हुए स्वतन्त्रता और समानता के मध्य सम्बन्ध की विवेचना करेंगे।

स्वतन्त्रता और समानता विरोधी हैं – स्वतन्त्रता और समानता को विरोधी मानने वाले विचारकों में लार्ड एक्टन, डी. टॉकविले, क्रोचे तथा मैकाइवर प्रमुख हैं। लार्ड ऐक्टन का कथन है कि, "समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण स्वतन्त्रता की आशा ही व्यर्थ हो गई है।" डी. टॉकविले के विचार से, "समानता और स्वतन्त्रता न केवल भिन्न मार्ग है, अपितु परस्पर विरोधी विचार हैं।" **ऐक्टन** ने तो यहाँ तक कहा है कि, "स्वतन्त्रता समानता की विरोधी हैं क्योंकि कुछ व्यक्तियों में मानसिक शक्ति अधिक और कुछ में कम होती है। यदि काम करने की स्वतन्त्रता हो तो बुद्धिमान व्यक्ति अवसरों का लाभ उठा सकेंगे और साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर लेंगे।"

प्राकृतिक रूप से व्यक्तियों में असमानता पायी जाती है। कुछ शक्तिशाली होते हैं तो कुछ दुर्बल, कुछ कुशाग्रबुद्धि होते हैं तो कुछ मंदबुद्धि। अपनी प्राकृतिक असमानता को लिये हुए ये अपना-अपना विकास करने लगे हैं जिसका परिणाम यह होता है कि अपनी-अपनी योग्यता अथवा क्षमता के अनुसार कोई आगे बढ़ जाता है और कोई पीछे रह जाता है, कोई धनी हो जाता है और कोई निर्धन। इस तरह समाज में असमानता व्यापक रूप से फैल जाती है।

इस प्रकार यदि मनुष्यों को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार विकास करने की स्वतन्त्रता दी जाती है तो निश्चित है कि कुछ आगे बढ़ जायेंगे और कुछ पीछे रह जायेंगे, जिसका परिणाम असमानता होगी। इस प्रकार समानता नष्ट हो जायेगी। अत: स्वतन्त्रता और समानता स्वाभाविक रूप से परस्पर विरोधी हैं।

क्या स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे की पूरक हैं ? – रूसो, टॉनी आदि विचारक यह मानते हैं कि स्वतन्त्रता और समानता एक दूसरे की पूरक हैं। टॉनी का कहना है कि "समानता की एक प्रचुर मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं, वरन उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। **रूसो** ने लिखा है कि, "स्वतन्त्रता समानता के बिना रह नहीं सकती।" **पोलार्ड** के अनुसार, "स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में ही निहित है।"

वस्तुत: समानता की अनुपस्थिति में स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता का रूप ले लेती है और स्वतन्त्रता के अभाव में समानता शुष्क एकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहती। स्वतन्त्रता और समानता दोनों का एक ही लक्ष्य है और वह है मानव के व्यक्तित्व का विकास करना। सिर्फ स्वतन्त्रता अथवा मात्र समानता मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक नहीं बल्कि दोनों का ही प्रभाव महत्वपूर्ण होता है। यदि स्वतन्त्रता को ही इसकी उपयुक्त स्थिति माना जाये तो यह स्वीकार करना होगा कि इस स्थिति के लिए उपयुक्त साधनों की उपस्थिति समानता के सिद्धान्त में ही सम्भव है। वस्तुत: स्वतन्त्रता का स्थायित्व समानता पर निर्भर करता है, परन्तु फिर भी स्वतन्त्रता समानता से उच्च है। व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वतन्त्रता पहली शर्त है जबकि समानता स्वतन्त्रता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का साधन है।

स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध निम्नलिखित ढंग से समझा जा सकता है :

(1) यदि राजनीतिक समानता नहीं होगी तो स्वतन्त्रता नग्न व अर्थहीन हो जाएगी और नागरिकों के एक बहुत बड़े भाग को शासन में किसी प्रकार का हिस्सा नहीं मिलेगा।

(2) यदि नागरिक समानता नहीं होगी तो जो व्यक्ति नागरिक अयोग्यताओं से पीड़ित हैं उन्हें स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं होगी।

(3) यदि सामाजिक समानता नहीं होगी तो स्वतन्त्रता कुछ ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार बनकर रह जायेगी।

(4) आर्थिक समानता के अभाव में पूँजीपतियों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण हो जायेगा और शेष समाज स्वतन्त्रता के आनन्द से वंचित हो जायेगा।

जी. डी. एच. कोल ने लिखा है कि, "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता कपोल कल्पना मात्र है।" निष्कर्षत: **हर्बर्टडीन** के शब्दों में, "स्वतन्त्रता में समानता निहित है, स्वतन्त्रता तथा समानता में परस्पर कोई द्वन्द नहीं और न ही वे एक-दूसरे से पृथक हैं, वरन् एक ही आदर्श के दो तथ्य हैं।"

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ? इसका समानता से क्या संबंध है ?
2. स्वतन्त्रता की परिभाषा दीजिए। स्वतन्त्रता और समानता में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. "स्वतन्त्रता और समानता एक दूसरे के पूरक हैं विरोधी नहीं हैं।" व्याख्या कीजिए।
4. स्वतन्त्रता की परिभाषा कीजिए और स्वतन्त्रता के विविध रूपों का वर्णन कीजिए।
5. स्वतन्त्रता से आपका क्या अभिप्राय है ? क्या कानून तथा स्वतन्त्रता एक साथ चल सकती हैं ?
6. स्वतन्त्रता के अर्थ, परिभाषा और महत्व का वर्णन कीजिए।
7. विधि और स्वतन्त्रता का संबंध स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. स्वतंत्रता से क्या अभिप्राय है ?
2. स्वतंत्रता की सकारात्मक धारणा क्या है ?
3. क्या कानून स्वतंत्रता में बाधक है ?
4. आर्थिक समानता से क्या तात्पर्य है ?
5. क्या स्वतंत्रता और समानता विरोधी हैं ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'मेरा स्वतंत्रता से तात्पर्य इस वातावरण को बनाए रखने की उत्कंठा से है जिसमें लोगों को आत्मोन्नति के सुअवसर प्राप्त हों।' यह कथन किसका है :
   (अ) लास्की (ब) होगल (स) मिल (द) प्लेटो।
2. 'अपने आप पर, अपने शरीर पर और अपने मन पर व्यक्ति का सम्पूर्ण प्रभुत्व है।' यह कथन किसका है :
   (अ) लास्की (ब) जे. एस. मिल (स) रूसो (द) ग्रीन।
3. राज्य की सत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता में स्वाभाविक विरोध होता है। यह धारणा किससे संबंधित है :
   (अ) सकारात्मक स्वतंत्रता (ब) नकारात्मक स्वतंत्रता
   (स) स्वतंत्रता के मार्क्सवादी विचार (द) उपर्युक्त तीनों से।

4. नकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा व्यक्ति को :
   (अ) समाज से अलग मानती है (ब) समाज से सम्बद्ध मानती है
   (स) समाज का पुर्जा मानती है (द) समाज से जोड़ती है।
5. सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा :
   (अ) व्यक्ति और समाज का हित अलग-अलग मानती है
   (ब) समाज का हित व्यक्ति का हित मानती है
   (स) व्यक्ति का हित समाज का हित मानती है
   (द) समाज और व्यक्ति के हित में संघर्ष मानती है।
6. सकारात्मक स्वतंत्रता के समर्थक :
   (अ) व्यक्ति और राज्य के बीच कोई विरोधी नहीं पाते
   (ब) व्यक्ति और राज्य के बीच विरोध पाते हैं
   (स) राज्य को व्यक्ति का विरोध पाते हैं
   (द) राज्य के कानूनों को स्वतंत्रता का विरोधी मानते हैं।
7. 'जागरूकता ही स्वतंत्रता की कीमत है।'यह कथन किसका है :
   (अ) जे. एस. मिल (ब) हॉब्स (स) ग्रीन (द) लास्की।

उत्तर - (1) अ, (2) ब, (3) ब, (4) अ, (5) ब, (6) अ, (7) द

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

16

न्याय की अवधारणा

(CONCEPT OF JUSTICE)

न्याय की अवधारणा राजनीति, दर्शन, कानूनशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि अध्ययनों का एक महत्वपूर्ण विषय है। जब से मानव ने समाज तथा मानवता के बारे में विचार करना प्रारम्भ किया तब से न्याय की अवधारणा पर भी भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने विचार व्यक्त किये। न्याय का अर्थ भी उसके विभिन्न पहलुओं के संदर्भ में अनेक प्रकार से समझा गया। क्या न्यायपूर्ण है क्या नहीं, इस विषय पर भी समय के साथ-साथ विचार बदलते रहे। न्याय के नाम पर अनेक युद्ध और आंदोलन हुए, संघर्ष एवं क्रांतियाँ हुयीं। न्याय की अवधारणा के बारे में भिन्न-भिन्न विचारों ने विभिन्न दलों के मध्य विवाद को जन्म दिया। अत: समाजशास्त्रों के अध्ययन में न्याय की अवधारणा काफी महत्वपूर्ण है। न्याय का संबंध धर्म, नैतिकता, समानता, स्वतंत्रता, सम्पत्ति, कानून, राजनीति, अर्थव्यवस्था आदि से जोड़ा जाता है।

न्याय क्या है?

सामान्य रूप से 'न्याय' शब्द का व्यापक प्रयोग होता है। चूँकि न्याय स्वयं में स्वतंत्र अवधारणा नहीं है अत: यह हर सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक आचरण के आचार नियमों के आधार पर निश्चित होता है। हर समाज में न्याय की अपनी धारणा होती है जो उस समाज के संपूर्ण आचार-व्यवहार, संबंधों आदि की अच्छाई-बुराई मापने की कसौटी बन जाती है। अत: न्याय एक सर्वमान्य मापदण्ड है।

'न्याय' अथवा 'जस्टीशिया' (Justicia) का मूल भाव जोड़ना, लगाना, बन्धन अथवा ग्रंथि है। बार्कर के अनुसार, यह प्रधानत: मनुष्यों को मानवीय संबंधों की संगठित व्यवस्था में जोड़ने का कार्य है। मानवीय संबंधों की संगठित व्यवस्था में कई प्रकार के मूल्यों की आवश्यकता होती है। ऐसे मूल्यों में स्वतंत्रता, समानता बन्धुत्व आदि प्रमुख हैं। कानून की किसी भी व्यवस्था में ये सभी मूल्य होते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न कालों में मूल्य भिन्न-भिन्न मात्रा में पाये जाते हैं। उनके दावों के बीच निरन्तर समायोजन (Adjustment) तथा पुनर्समायोजन करना पड़ता है। स्वतंत्रता के दावे का समानता के दावे के साथ समायोजन करना पड़ता है और दोनों के दावों को सहकारिता के दावे के साथ समायोजित करना पड़ता है। इस प्रकार न्याय का कार्य भिन्न-भिन्न राजनीतिक मूल्यों का समायोजन करना है। अत: न्याय राजनीतिक मूल्यों का संश्लेषक है।

न्याय स्वयं में पूर्ण (Absolute) धारणा नहीं है बल्कि सापेक्ष (Relative) धारणा है। समय तथा परिस्थितियों के बदलते ही न्याय की धारणा में भी परिवर्तन आता रहता है। न्याय का संबंध मूल्यों (Values) से है, औचित्य (Legitimacy) से है और आदर्शों (Ideals) से है।

न्याय के अर्थ को मुख्यत: दो भागों में बाँटा जा सकता है- (1) व्यापक अर्थ और (2) संकीर्ण अर्थ। **व्यापक अर्थ** में न्याय को मानव तथा समाज के समस्त आचरणों के संदर्भ में देखा जाता है। इस रूप में यह सदाचार (Righteousness) या अच्छाई (Virtue) के रूप में जाना जाता है। इसको नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक इत्यादि दृष्टिकोणों से देखते हुए समाज में न्याय-अन्याय, अच्छाई-बुराई, धर्म-अधर्म, सदाचार-दुराचार आदि के नियमों, मूल्यों तथा आचरणों के मापने का पैमाना माना जाता है। इसी व्यापक अर्थ में न्याय का प्लेटो और अरस्तू के दर्शन में स्थान मिला है। यहाँ न्याय की धारणा सत्य तथा नैतिकता की धारणा के समरूप समझी जाती है। इसके आधार पर मानव के सारे आचरणों एवं संबंधों की परख की जाती है। यहाँ न्याय व्यक्ति से संबंधित न होकर सामाजिक व्यवस्था से संबंधित है। न्याय का व्यापक अर्थ न्याय को एक प्रक्रिया अर्थात् कानूनी न्याय के रूप में नहीं देखता। **संकीर्ण अर्थ** में न्याय को कानून के साथ जोड़कर देखा जाता है। यहाँ न्याय एक प्रक्रिया के रूप में दिखाई देता

है। न्याय को व्यक्ति के रूप में देखा जाता है, अर्थात् क्या व्यक्ति को उचित न्याय मिल रहा है या नहीं? कानून बनाने के तरीके, न्यायसंगत कानून, अदालती स्वतंत्रता तथा निष्पक्ष न्यायिक व्यवस्था, कानून तथा अदालतों के समक्ष प्रत्येक नागरिक की समानता, इत्यादि के संदर्भ में न्याय को देखा जाता है। यह मुख्यत: न्याय का कनूनी दृष्टिकोण है और 'कोर्ट ब्रांड' न्याय है।

मेरियम के अनुसार, "न्याय उन मान्यताओं और प्रक्रियाओं का योग है जिनके माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को वे सभी अधिकार और सुविधाएँ जुटाई जाती हैं जिन्हें समाज उचित मानता है।"

जे.एस.मिल के अनुसार, "न्याय नैतिक नियमों के कतिपय सूत्रों का नाम है जो अधिक स्पष्ट रूप में मानव कल्याण की आवश्यकताओं से संबंधित हैं और इसी कारण जीवन के पथ-प्रदर्शन के लिए किन्हीं भी अन्य विषयों की तुलना में वह अधिक निश्चित दायित्व है।"

न्याय की अवधारणा का विकास

पाश्चात्य और पूर्वात्य, दोनों ही राजनीतिक दर्शनों में न्याय की धारणा को बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय – भारतीय चिन्तन में न्याय को प्राचीन काल में अत्यधिक महत्व दिया गया था। प्राचीन भारतीय चिन्तन की विशेषता यह रही है कि भारत में उस काल में ही न्याय की उस कानूनी धारणा को स्वीकार कर लिया गया था जो पाश्चात्य दार्शनिकों ने आधुनिक काल में दी है। मनु, बृहस्पति, शुक्र, सोमदेव व कौटिल्य ऐसे ही चिन्तक थे। आज हम जिन विवादों को दीवानी व फौजदारी दो श्रेणियों में बाँटते हैं, मनु ने इसे अति प्राचीन काल में ही विभाजित कर दिया था। कौटिल्य की दृष्टि में न्याय ही राज्य का प्राण होता है। उसका मत था कि जो राज्य अपनी प्रजा के लिए निष्पक्ष न्याय की व्यवस्था नहीं करता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन में न्याय – प्लेटो से पूर्व प्राचीन यूनान में न्याय के तीन रूप विद्यमान थे-परम्परावादी, उग्रवादी तथा अनुभववादी। परम्परावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन सिफलस तथा पोलिमार्कस ने किया। इनका कहना था कि जब व्यक्ति अपना कर्ज चुकाता है, शत्रुओं तथा मित्रों से मित्रवत् व्यवहार करता है तो वह न्याय के पथ पर है। उग्रवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन थैसीमेक्स ने किया और उसके अनुसार न्याय 'शक्तिशाली का हित' होता है। न्याय का अर्थ है कानून के अनुसार व्यवहार करना। सत्तारूढ़ लोग अपने हित में कानूनों की रचना करते हैं, अत: इससे शक्तिशाली लोगों का हित होता है। ग्लाडकन ने अनुभववादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसने प्रतिपादन किया कि न्याय दुर्बलों का हित होता है। वह कहता था कि न्याय की अनुपस्थिति में बलवान दुर्बलों को सताते हैं। दुर्बलों ने पारस्परिक समझौता करके बलवानों के अत्याचारों को सीमित करने के लिए नियम बनाए।

प्लेटो ने अपने से पहले प्रचलित न्याय के संबंध में धारणा के सर्वथा विरुद्ध विचार प्रकट किए। उसने अपने संपूर्ण दर्शन का आधार ही न्याय को बनाया और अपनी अमर कृति 'रिपब्लिक'में न्याय को इतना प्रमुख स्थान दिया कि उसके नाम का उपशीर्षक ही 'न्याय से संबंधित' (Concerning Justice) रख दिया। प्लेटो ने न्याय शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में किया। उसने न्याय के दो रूप बतलाये - व्यक्तिगत न्याय और सामाजिक न्याय। वह मानवीय आत्मा में तीन तत्व देखता है- इन्द्रिय तृष्णा, शौर्य तथा बुद्धि। वह कहता है कि प्रत्येक राज्य में तीन वर्ग होते हैं-शासक वर्ग, सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग। ये तीनों वर्ग मानवीय आत्मा के उपर्युक्त तीनों तत्वों का प्रतिनिधित्व करते है। प्लेटो की दृष्टि में न्यायिक व्यक्ति वह है जो अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति के अनुसार कार्य करे तथा आदर्श और न्यायी राज्य वह है जिसमें शासक, योद्धा व श्रमिक अपने-अपने निर्दिष्ट कार्य करते हैं। इस प्रकार न्यायी जीवन को समझने के लिए व्यक्ति के वृहत् स्वरूप राज्य में विद्यमान न्याय को समझना चाहिए।

अरस्तू ने न्याय की धारणा का प्रतिपादन दूसरे प्रकार से किया है। उसके अनुसार न्याय के दो रूप होते हैं-पहला, वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) तथा दूसरा, सुधारात्मक न्याय (Corrective Justice)। वितरणात्मक न्याय वह होता है जिसमें राजनीतिक पदों की प्राप्ति की योग्यता राज्य के प्रति की गई सेवा के अनुरूप हो। सुधारात्मक न्याय का अर्थ यह है कि दो नागरिकों के पारस्परिक संबंधों

को निर्धारित करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखा जाये। सेंट ऑगस्टाइन न्याय को ईश्वरीय राज्य का सर्वप्रथम तत्व मानता है। तेरहवीं शताब्दी में थॉमस एक्विनास ने कानून और न्याय को परस्पर संबंधित माना है।

न्याय की अवधारणा : जॉन राल्स का दृष्टिकोण

न्याय की अवधारणा के अध्ययन की दृष्टि से जॉन राल्स को आधुनिक युग का महान सिद्धान्तवेत्ता एवं उनकी कृति 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' (A Theory of Justice) को महानतम कृति माना जाता है। राल्स ने न्याय की उपयोगितावादी अवधारणा को नकारते हुए नैतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उसे प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार न्याय सामाजिक संस्थाओं का प्रथम गुण तथा सद्‌गुणों का समुचित वितरण है। सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को इस प्रकार नियोजित किया जाना चाहिए कि दुर्बल वर्गों को अधिकतम लाभ हो सके। वह उस विषमता का समर्थक है जिसे न्यायोचित ठहराया जा सके। वह उन परिस्थितियों को स्पष्ट करता है जिनके तहत विषमताओं को उचित माना जा सकता है। चूँकि प्राथमिक वस्तुएँ सीमित हैं अत: उनका बँटवारा समान नहीं हो सकता। अत: वितरण का सिद्धान्त समानता के मानदण्ड पर आधारित होना चाहिए ताकि योग्य को अयोग्य से अधिक मिल सके।

न्याय के विभिन्न पहलू

न्याय के कानूनी, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक पहलू हैं। इन पक्षों को एक-दूसरे से पृथक् समझना ठीक नहीं। न्याय का प्रत्येक पक्ष एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। फिर भी, केवल अध्ययन की दृष्टि से इन पक्षों पर पृथक् रूप से विचार किया जा सकता है।

(1) **कानूनी न्याय** – न्याय तथा कानून का संबंध बहुत गहरा है। प्रत्येक राज्य की न्याय की अपनी धारणा उसके संविधान, कानूनों तथा नीतियों से प्रकट होती है। न्याय की धारणा ही कानूनों को प्रामाणिक सिद्ध करती है। इसके दो मुख्य अर्थ हैं- (i) कानून न्यायसंगत होने चाहिए और (ii) कानून के अनुसार न्याय मिलना चाहिए।

(i) **कानून न्याय-संगत होना चाहिए** – इसका अर्थ है कि विधानमंडल द्वारा बनाये गये कानून न्यायसंगत तथा तर्कसंगत हों। सब लोगों के लिए समान कानून हों। नाजायज भेदभाव न हों तथा जायज भेदभाव अवश्य हों। कानूनों का उद्देश्य न्यायसंगत होना चाहिए। न्यायसंगत कानून बनाने का अर्थ यह नहीं है कि हर व्यक्ति के लिए समान कानून हो बल्कि इसका अर्थ यह है कि समान व्यक्तियों के लिए समान कानून होना चाहिए (equal laws for equals)। तर्कसंगत आधार पर असमान कानून हो सकता है।

कानून न्यायसंगत तब होता है जब वह जनहित के लिए बनाया जाता है। कई बार कानून प्रचलित रीति-रिवाजों का उन्मूलन करने के लिए बनाया जाता है और रूढ़िवादी प्रवृत्ति होने के कारण साधारण लोग उसका विरोध कर सकते हैं किन्तु समाज के व्यापक हित में न्याय की स्थापना के लिए बनाये गये ऐसे कानून पूर्ण न्यायसंगत होते हैं। समाज में विद्यमान सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने वाले प्रगतिशील कानून इसी श्रेणी में आते हैं। कानूनों को न्यायसंगत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वे समाज में प्रचलित सामाजिक मूल्यों व सामाजिक नैतिकता पर आधारित हों। कानून तभी न्यायपूर्ण समझे जायेंगे जब उनका पालन बाहरी शक्ति के भय से नहीं, बल्कि नैतिक रूप में इस आन्तरिक भावना से प्रेरित हो कि इसमें न्याय के गुण मौजूद हैं।

(ii) **कानून के अनुसार न्याय मिलना चाहिए** – कानूनी न्याय का दूसरा पहलू है कि प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष न्याय मिले और कानून का समान संरक्षण (Equal Protection of Law) मिलना चाहिए। इसकी दो आवश्यकताएँ हैं। पहली यह कि न्यायिक प्रक्रिया(Judicial Process) सरल तथा सस्ती हो जिससे निर्धन व्यक्ति भी जहाँगीर की घण्टी बजा सकें। निर्धन व्यक्ति भी धन के अभाव में न्याय से वंचित न रहें और यह प्रक्रिया इतनी खर्चीली न हो कि अन्याय सहना न्याय पाने से अधिक लाभप्रद नजर आने लगे। आधुनिक पूँजीवादी राज्यों में न्यायिक प्रक्रिया इतनी जटिल तथा खर्चीली है कि केवल

अमीर लोग ही अदालती कार्यवाही कर सकने में समर्थ हैं। दूसरी आवश्यकता निष्पक्ष न्याय पाने की है कि न्यायालय निष्पक्ष होने चाहिए। सत्ताधारी दल द्वारा नियंत्रित कार्यकारी को न्यायालयों के साथ हेराफेरी करने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। न्यायाधीशों की नियुक्ति, योग्यताएँ, वेतन, काम की शर्तें ऐसी हों कि वे बिना भय के स्वतंत्र वातावरण में हर व्यक्ति को निष्पक्ष न्याय दे सकें। किन्तु आधुनिक पूँजीवादी प्रजातंत्रों में ये दोनों आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पातीं। वर्ग विभाजित समाज में न्यायाधीशों के अपने न्याय के मापदण्ड, उनके अपने सम्पत्तिशाली वर्गीय मूल्यों पर आधारित होते हैं। न्याय की प्रक्रिया इतनी जटिल व खर्चीली होती है कि निर्धन जनों को अन्याय सहना न्यायालयों द्वारा न्याय पाने से अधिक लाभ की चीज लगती है।

(2) **राजनीतिक न्याय** – राजनीतिक न्याय का साधारण अर्थ है कि हर व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के राज्य की शक्ति में हिस्सा मिलना। राज्य तथा जनता का संबंध राजनीतिक न्याय का प्रश्न है। प्रजातांत्रिक उदारवादी विचारधारा के अनुसार इसका अर्थ हर व्यक्ति को बिना भेदभाव के वोट देने तथा सरकारी ओहदों पर पहुँचने का अधिकार होना चाहिए। राजनीतिक न्याय इस अर्थ में राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने से संबंधित है। राजनीतिक न्याय की माँग है कि राज्यसत्ता जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा उपयोग में लाई जानी चाहिए जिससे ये जनता के प्रतिनिधि अपनी मनमानी न करके, जनता के प्रति उत्तरदायी होंगे। राजनीतिक न्याय का अर्थ जनता की राज्यसत्ता में साझेदारी है। सरकार के हर निर्णय में जनमत का योगदान होना चाहिए।

(3) **न्याय का सामाजिक पक्ष** – सामाजिक न्याय का अर्थ है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का होना जिसमें बिना किसी भेदभाव के हर व्यक्ति को समाज में समान अवसर एवं सुख-सुविधा उपलब्ध हो। धर्म, जाति, लिंग, रंग, जन्मस्थान, अमीरी, गरीबी, वंश इत्यादि के आधार पर किसी को समाज में नीचा न देखना पड़े और न ही इन आधारों पर समाज में व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में रुकावटें आएँ। सामाजिक न्याय का प्रश्न सामाजिक समानता तथा सामाजिक अधिकारों से सम्बद्ध हो और सामाजिक समानता तथा न्याय केवल ऐसी सामाजिक व्यवस्था में मिल सकता है जहाँ आर्थिक शोषण न हो; जो वर्ग-विभाजित न हो, जहाँ कुछ लोगों के हाथों में समाज के सारे उत्पादन के साधन न हों, जहाँ अधिकतम निर्धन जन अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने को बेचने को मजबूर न हों। ये तमाम सवाल समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना द्वारा ही हल हो सकते हैं।

(4) **न्याय का आर्थिक पक्ष**– आर्थिक न्याय को दो अर्थों में देखा जाता है। उदारवादी इसे निर्धन वर्ग की दैनिक आवश्यकताओं को उपलब्ध कराने के संदर्भ में देखते हैं, जैसे भोजन आदि की समस्या जबकि मार्क्सवादी गरीब-अमीर के आधार, समाज के वर्ग विभाजन को नष्ट किए बिना आर्थिक न्याय की कल्पना नहीं करते। उदारवादी लेखक समाज में गरीबों की मदद किये जाने को आर्थिक न्याय की संज्ञा देते हैं। मार्क्सवादी केवल पूँजीवादी तथा इस पर आधारित शोषणकारी आर्थिक व्यवस्था को खत्म किया जाना आर्थिक न्याय की प्रथम आवश्यकता मानते हैं। समाजवादी विचारधारा आर्थिक स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय को तमाम स्वतंत्रताओं, समानताओं तथा न्याय का आधार मानती है। उदारवादी लेखक राजनीतिक न्याय तथा सामाजिक न्याय को आर्थिक न्याय से अलग देखते हैं। इनके अनुसार यदि राजनीतिक न्याय (प्रजातांत्रिक व्यवस्था) हो तो आर्थिक न्याय स्वयं ही उपलब्ध हो जाएगा क्योंकि जनता ही सरकार के कल्याण का प्रबंध करेगी। आर्थिक न्याय की स्थापना के लिए ये पूँजीवाद को नष्ट नहीं करना चाहते, बल्कि यह मानते हैं कि पूँजी तथा पूँजीवाद का होना आर्थिक न्याय की माँग है।

19वीं शताब्दी में महान् दार्शनिक मार्क्स ने आर्थिक न्याय को समाज की उत्पादन व्यवस्था से जोड़ा। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में ही आर्थिक न्याय सम्भव हो सकता है। जब तक समाज में शोषक वर्ग रहेंगे तब तक आर्थिक न्याय नहीं प्राप्त हो सकता। साम्यवादी समाज में आर्थिक न्याय का रूप होगा कि हर व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करेगा तथा उसे उसकी आवश्यकताओं के अनुसार मेहनताना मिलेगा। मार्क्सवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद की स्थापना के बिना आर्थिक न्याय को सम्भव नहीं मानता।

भारतीय संविधान में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय की व्यवस्था

भारतीय संविधान की अन्तरात्मा न्याय, समता, अधिकार और बंधुत्व के आसव से अभिसिंचित है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय हमारे वर्तमान संविधान की नियामक महत्वाकांक्षाओं में से एक है। हमारे संविधान की प्रस्तावना में न्याय के उल्लेख का विशिष्ट महत्व है। संविधान निर्माता इस बात से भली- भाँति परिचित थे कि सच्चे लोकतंत्र की स्थापना में स्वतंत्रता और समानता के अतिरिक्त न्याय अनिवार्य है। न्याय के द्वारा ही लोकहित की वृद्धि हो सकती है। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना का प्रयास करना राज्य का पवित्र कर्त्तव्य माना गया है। सामाजिक न्याय से अभिप्राय है कि मानव के बीच में जाति, वर्ण के आधार पर भेद न माना जाये और प्रत्येक नागरिक को उन्नति के समुचित अवसर सुलभ हों। संविधान के तीसरे भाग (मौलिक अधिकार) और चौथे भाग (राज्य नीति के निर्देशक तत्व) में सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए विविध उपायों का उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 14 में भारत के सभी नागरिकों को कानून के सामने समानता और कानूनों से समान सुरक्षा प्रदान की गयी है। अनुच्छेद 15 में धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग या जन्म स्थल के आधार पर भेदभाव की मनाही की गयी है। अनुच्छेद 17 द्वारा छुआछूत का तथा अनुच्छेद 23 व 24 द्वारा बेगार व शोषण का अन्त कर दिया गया है। आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में विविध कार्य करने का निर्देश दिया गया है। इस संबंध में कुछ प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं।- (i) राज्य प्रत्येक स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविका के साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा और प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री या पुरुष हो समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा। (ii) राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक से अधिक सार्वजनिक हित हो सकें। (iii) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का इस प्रकार केन्द्रीयकरण न हो कि सार्वजनिक हित को किसी प्रकार की हानि पहुँचे। (iv) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग नहीं होने देगा। (v) राज्य अपने आर्थिक साधनों के अनुसार विकास की सीमाओं के भीतर प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें एवं बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहीनता, आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त कर सकें। राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के लिए लोकतांत्रिक व गणतंत्रीय व्यवस्था को अपनाया गया है और संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को छः स्वतंत्रताएँ प्रदान की गयी हैं।

संविधान संशोधनों से विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के विशेषाधिकार छीने गये हैं, सामन्तवाद एवं जमींदारी प्रथाओं का उन्मूलन हुआ है और पिछड़े हुए वर्गों के विकास हेतु विशिष्ट प्रावधानों की व्यवस्था हुई है। सम्पत्ति के परम्परावादी अधिकार को आर्थिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में सीमित किया गया है ताकि कमजोर वर्ग के शोषण को रोका जा सके और स्वस्थ समाज का निर्माण हो।

प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्याय अवधारणा का परीक्षण कीजिए।
2. न्याय के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं का विवेचन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. न्याय से क्या अभिप्राय है ?
2. सामाजिक न्याय से आप क्या समझते हैं ?
3. आर्थिक न्याय की अवधारणा समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कमजोर तथा मजदूर वर्ग के शोषण के उन्मूलन को ही न्याय की संज्ञा देते हैं :
   (अ) उदारवादी (ब) मार्क्सवादी (स) फासीवादी (द) उपयोगितावादी।
2. यदि राज्य कमजोर तथा दरिद्र वर्गों के हित में कुछ कार्य करता है तो यह स्पष्ट है कि वह ऐसा उन लोगों की उन्नति के लिए कर रहा है जिन्हें दूसरे वर्गों ने उनके अधिकारों तथा विशेषाधिकारों से वंचित किये रखा है। इसे :
   (अ) कानूनी न्याय कहते हैं (ब) नैतिक न्याय कहते हैं
   (स) संरक्षणकारी न्याय कहते हैं (द) राजनीतिक न्याय कहते हैं।
3. न्याय को कानून के साथ जोड़ने का विचार :
   (अ) न्याय को व्यापक अर्थ में देखता है (ब) न्याय को संकीर्ण अर्थ में देखता है
   (स) व्यापक एवं संकीर्ण दोनों अर्थों में देखता है (द) उपर्युक्त किसी भी अर्थ में नहीं देखता।
4. राजनीतिक न्याय का सरोकार है :
   (अ) कानून न्यायसंगत होने चाहिए
   (ब) कानून के अनुसार न्याय मिलना चाहिए
   (स) जनता की राज्य सत्ता में भागीदारी होनी चाहिए
   (द) बिना किसी भेदभाव के हर व्यक्ति को समाज में समान अवसर एवं सुख सुविधा उपलब्ध हो।

उत्तर - (1) ब, (2) स, (3) ब, (4) स

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

17

लोकतन्त्र

(DEMOCRACY)

लोकतन्त्रों का प्रारम्भिक स्वरूप वैसा नहीं था जैसा कि आजकल है। प्लेटो के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक लोकतन्त्र शब्द घृणित व निन्दनीय ही रहा है। प्लेटो और अरस्तू जैसे यूनानी दार्शनिक लोकतन्त्र को शासन का विकृत रूप मानते थे। लोकताँत्रिक सरकारों को अपने आधुनिक स्वरूप तक पहुंचने में बहुत समय लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लोकतन्त्र शासन को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा। आज तो लोकतन्त्र शासन का श्रेष्ठतम रूप बन गया है। लोकतन्त्र से अभिप्राय अनिवार्यत: उस सरकार से है जिसमें शासितों को शासन सम्बन्धी निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त रहती है। लोकतन्त्र का सार जनता की सहभागिता एवं नियन्त्रण में निहित है।

लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
(The Meaning and Definitions of Democracy)

लोकतन्त्र के अर्थ पर सर्वाधिक मतभेद हैं। कुछ विद्वानों ने इसे आडम्बरमय व्यवस्था कहा है तो अन्य कतिपय विद्वानों ने इसे शासन व्यवस्था का श्रेष्ठतम रूप बतलाया है। **सारटोरी** ने लिखा है, "लोकतन्त्र ऐसी वस्तु के आडम्बरमय नाम के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है।" **लॉवेल** के अनुसार लोकतन्त्र शासन के क्षेत्र में केवल 'एक प्रयोग' है। **अब्राहम लिंकन** इसकी परिभाषा जनता के लिए, जनता द्वारा, जनता का शासन' – कहकर करते हैं। **सीले** कहते हैं कि "लोकतंत्र वह शासन है जिसमें हर व्यक्ति भाग लेता है।' **डायसी** लोकतन्त्र को सरकार का ऐसा स्वरूप बताते हैं जिसमें जनता का एक बड़ा भाग शासन करता है।' **हर्नशॉ** के अनुसार "लोकतन्त्र वह राज्य है जिसमें प्रभुत्व शक्ति समष्टि रूप में जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामले पर अपना अन्तिम नियन्त्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासन-सूत्र स्थापित किया जाये। राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र शासन की ही एक विधि नहीं है अपितु वह सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियन्त्रण रखने तथा उसे अपदस्थ करने की विधि भी है।"

ऊपर लोकतन्त्र को शासन एवं राज्य के प्रकार के रूप में दर्शाया गया है। लोकतन्त्र एक सामाजिक व्यवस्था भी है। समाज के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र से उस समाज का ज्ञान होता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य व्यक्ति के रूप में होता है और जाति, रंग, धर्म, सम्पत्ति के भेद के बिना सभी व्यक्ति समान समझे जाते हैं। **डॉ. बेनीप्रसाद** के शब्दों में, "लोकतन्त्र जीवन का एक ढंग है। इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व उतना ही है जितना अन्य किसी के सुख का महत्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता।" लोकतन्त्र को आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप में भी देखा जाता है। आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र का तात्पर्य आर्थिक समानता की स्थापना से है। लोकतन्त्र राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का एक प्रकार ही नहीं है, वरन् यह तो जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण भी है। लोकतन्त्र में सभी व्यक्तियों द्वारा दूसरे के प्रति वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जैसा व्यवहार वह अपने प्रति पसन्द करता है। **गिंडिंग्ज** के मत में, "लोकतन्त्र केवल सरकार का ही रूप नहीं है वरन् राज्य और समाज का रूप अथवा इन तीनों का मिश्रण भी है।" **मैक्सी** ने लोकतन्त्र का व्यापक अर्थ करते हुए लिखा है – "बीसवीं सदी में लोकतन्त्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढाँचे से ही नहीं है, वरन् यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्यों की स्वतन्त्र और ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमें अनुरूपता और एकीकरण लाया जा सके।"

संक्षेप में, लोकतन्त्र – (a) एक विशेष प्रकार का शासन है; (b) एक सामाजिक व्यवस्था है; (c) एक विशेष प्रकार का आर्थिक तन्त्र है; (d) एक जीवन–पद्धति या जीने का ढंग है; (e) एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति; तथा (f) एक नैतिक अथवा आध्यात्मिक आदर्श है।

अवधारणा (Concept) के रूप में लोकतन्त्र के तीन अन्त: सम्बन्धित अर्थ किये जाते हैं– (1) यह निर्णय करने की विधि है। (2) यह निर्णय लेने के सिद्धान्तों का समूह है। (3) यह आदर्शात्मक मूल्यों का समूह है।

(1) **निर्णय करने की विधि के रूप में लोकतन्त्र** – लोकतन्त्र निर्णय करने की प्रक्रिया है। लोकतांत्रिक ढंग से लिया गया निर्णय सम्पूर्ण समाज के द्वारा लिया गया निर्णय ही कहा जा सकता है इस सम्बन्ध में अरस्तू ने कहा था कि "निर्णय लेने के लोकतान्त्रिक ढंग में पदाधिकारियों का चुनाव सबमें से सबके द्वारा तथा सबका हर एक पर और प्रत्येक का सब पर शासन होता है।" अर्थात वे ही निर्णय शासन प्रणाली में लोकतान्त्रिक ढंग से लिए हुए कहे जाते हैं जिनमें – (a) विचार-विनिमय, (b) जन – सहभागिता, (c) बहुमतता, (d) संवैधानिकता, (e) अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण आदि तत्व होते हैं। निर्णय-प्रक्रिया को लोकतान्त्रिक बनाने के लिए संविधान में कई प्रावधान होने चाहिए, जैसे – (i) जनता के सामने प्रतियोगी पसन्दों के अनेक विकल्प, (ii) मताधिकार की पूर्ण समानता, (iii) निर्वाचित होने की पूर्ण स्वतन्त्रता, (iv) प्रतिनिधित्व की अधिकतम समरूपता, (v) बिना किसी भेदभाव के सार्वजनिक पदों को धारण करने की क्षमता।

(2) **निर्णय लेने के सिद्धान्तों के रूप में लोकतन्त्र** – लोकतान्त्रिक व्यवस्था कतिपय सिद्धान्तों पर आधारित होती है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था उस राजनीतिक पद्धति में विद्यमान रह सकती है जहाँ सिद्धान्तों के आधार पर ही निर्णय लिए जाते हैं। लोकतन्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त है –

(i) प्रतिनिधि सरकार का सिद्धान्त
(ii) उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त
(iii) संवैधानिक सरकार का सिद्धान्त
(iv) प्रतियोगी राजनीति का सिद्धान्त
(v) लोकप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त

लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार का गठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। सरकार निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा निर्वाचित होनी चाहिए। सरकार जनता के प्रति अपने समस्त क्रिया-कलापों के लिए उत्तदायी होनी चाहिए। लोकतान्त्रिक शासन में नियत कालीन निर्वाचनों के माध्यम से जनता को सरकार के कार्यों का मूल्यांकन करने का अवसर मिलना चाहिए। लोकतन्त्रात्मक शासन राज्य का न केवल संविधान हो अपितु संवैधानिक सरकार भी होनी चाहिए। संवैधानिक सरकार वह सरकार होती है जो संवैधानिक उपबंधों के अनुसार संगठित, सीमित और नियन्त्रित होती है तथा व्यक्ति-विशेष की इच्छाओं के स्थान पर केवल कानून के अनुसार ही संचालित होती है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रतियोगी राजनीति के लिए यह आवश्यक है कि अनेक संगठन, राजनैतिक दल व समूह प्रतियोगी रूप में उस व्यवस्था में सक्रिय रहें। लोकतंत्र में अंतिम सत्ता जनता में निहित होती है। राज्य में जनता सर्वोपरि एवं सम्प्रभु होती है।

(3) **आदर्शात्मक मूल्यों के रूप में लोकतन्त्र** – लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था कतिपय आदर्शों अथवा मूल्यों (values) पर टिकी होती है। लोकतन्त्र के आदर्श हैं – व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, विधि का शासन, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तथा समता का सिद्धान्त।

लोकतन्त्र सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त (Different Theories of Democracy)

आधुनिक विश्व के अधिकांश राज्य 'लोकतांत्रिक' होने का दावा करते हैं। यहाँ तक कि एक बार हिटलर ने लोकतांत्रिक शासन की बात करते हुए अपने शासन को जर्मन लोकतन्त्र कहना पसन्द किया। कहीं लोकतंत्र को राज्य का रूप माना गया है तो कहीं इसे समाज और जीवन का ढंग कहा गया है। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों में आजकल बहुत अन्तर आ गया है। यह वैचारिक अन्तर लोकतन्त्र के सिद्धान्तों, आदर्शों एवं मूल्यों में भी दृष्टव्य है। इस कारण लोकतंत्र

के अनेक दृष्टिकोण सामने आये हैं जो इस प्रकार हैं – (1) लोकतंत्र का पारम्परिक उदारवादी दृष्टिकोण। (2) लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण (3) लोकतंत्र का बहुलतावादी दृष्टिकोण (4) लोकतंत्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण (5) लोकतंत्र का समाजवादी दृष्टिकोण।

(1) **लोकतंत्र का पारम्परिक उदारतावादी दृष्टिकोण** – पारम्परिक उदारतावादी दृष्टिकोण को हम प्रतिष्ठित या लोकप्रिय सिद्धांत भी कह सकते हैं। यह सिद्धान्त पिछली शताब्दियों में विकसित हुआ है। बेंथम, जे.एस. मिल, टी.एच. ग्रीन, अब्राहम लिंकन आदि इसी उदारतावादी धारणा को स्वीकार करते हैं।

लोकतंत्र के उदारतावादी दृष्टिकोण का विकास आधुनिक युग के आरम्भ के साथ देखा जा सकता है। पुनर्जागरण तथा सुधारवाद के सांस्कृतिक एवं धार्मिक आन्दोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्च मानते हुए तमाम चिन्तन का केन्द्र व्यक्ति को माना। **हॉब्स** ने लोकतन्त्र के दृष्टिकोण के जिस महत्वपूर्ण तत्व को विकसित किया, वह था, सरकार या राज्य व्यक्तियों के आपसी समझौते का परिणाम है। **लॉक** ने राजनैतिक सत्ता को जनता की सहमति पर आधारित बतलाया और संवैधानिक तथा सीमित सरकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अठारहवीं शताब्दी में तर्कवाद के दार्शनिक **मॉन्टेस्क्यू** ने स्वतन्त्रता को महत्व दिया और स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए सरकार की तीन शक्तियों – विधायी, कार्यकारी तथा न्यायिक– में पृथक्करण की सिफारिश की। **रूसो** ने लोकतन्त्र की आत्मा के रूप में अपना सामान्य इच्छा का सिद्धान्त दिया। यह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के महान मसीहे के रूप में जाना जाता है। अठारहवीं शताब्दी में ही अमेरिका तथा फ्रांस की क्रांतियों द्वारा लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में उपयोगितावादी दार्शनिकों – बेन्थम और जे.एस. मिल – ने लोकतन्त्र का समर्थन इस आधार पर किया कि यह शासन अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के लिए आवश्यक है। बेन्थम ने स्पष्ट तौर से प्रतिनिधिक सरकार का सिद्धान्त दिया जिसमें सरकार जनता के बहुमत द्वारा चुनी हुई होनी चाहिए। बेन्थम के विचारों का समर्थन करते हुए जे.एस.मिल ने विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर विशेष बल दिया। बींसवी शताब्दी में अर्नेस्ट बार्कर, डेवी, लिण्डसे, लास्की, पैनोक आदि ने लोकतन्त्र का समर्थन किया।

लोकतन्त्र के उदारवादी दृष्टिकोण के बुनियादी तत्व निम्नलिखित हैं :

(1) सब व्यक्ति समान है। व्यक्ति अपना भला – बुरा स्वयं सोचने की शक्ति रखता है।

(2) शासन जनता द्वारा स्वयं संचालित होना चाहिए।

(3) सरकार बहुमत की होनी चाहिए तथा जनता की इच्छा सरकार की शक्ति का आधार है।

(4) राजनैतिक सत्ता जनता की अमानत है।

(5) सरकार का उद्देश्य सामान्य जन का भला करना तथा व्यक्ति का चहुंमुखी विकास करना है।

(6) सरकार सीमित होनी चाहिए।

(7) जनता को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(8) लोकमत का सरकार द्वारा आदर किया जाना चाहिए।

समालोचना – लोकतन्त्र के इस उदारतावादी दृष्टिकोण की आलोचना निम्न आधार पर की जाती है – **प्रथम** : यह सिद्धान्त राजनैतिक समानता पर बल देता है जबकि राजनैतिक समानता जैसी कोई चीज नहीं होती। प्रत्येक समाज में कुछ विशिष्ट वर्ग होते हैं; चुनाव हो या न हो, शासन उन्हीं का होता है। **द्वितीय** : यह सिद्धान्त शासन का संचालन जनता द्वारा मानता है, जबकि जनता का राजनीति में हिस्सा लेना लोकतन्त्र को भीड़तंत्र में बदल देता है। आलोचक कहते हैं कि यदि लोकतन्त्र को बचाना है तो जनता को शासन से दूर रखो। जनता द्वारा राजनीति में अधिक अभिरुचि लेने से राजनैतिक व्यवस्था का संतुलन बिगड़ जाता है। **तृतीय** : लोकतन्त्र का उदारतावादी सिद्धान्त मूल्यों तथा आदर्शों पर अधिक ध्यान देता है, राजनैतिक जीवन की वास्तविकताओं पर कम। राजनीति में व्यवहारवाद के उदय के बाद, मूल्य-विहीन राजनीति के समर्थक हर राजनीतिक सिद्धान्त को केवल राजनैतिक जीवन के तथ्यों पर

स्थापित करना चाहते हैं। **चतुर्थ** : यह सिद्धान्त राजनीति में नेताओं, शासन करने वाले विशिष्ट वर्ग तथा संगठित संस्थाओं को उचित महत्व प्रदान नहीं करता।

(2) **लोकतन्त्र का विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण** – मोस्का, पैरेतो, मिचेल, बर्नहम आदि विचारकों ने लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। इन लेखकों ने उदारवादी लोकतन्त्रों को शंकास्पद पाया। इनका मानना है कि आधुनिक युग में हर शासन अल्पतन्त्रीय है जिसमें केवल कुछ शक्तिशाली नेता लोग ही अपना प्रभाव एवं शक्ति रखते हैं। ये लोग विशिष्ट वर्ग के होते हैं। जनता का शासन तो एक धोखा है। जहाँ कहीं भी सरकार होगी तथा राजनैतिक संगठन एवं शासन होंगे वहाँ सत्ता केवल अल्पमत के पास होगी क्योंकि ये ही नेतृत्व प्रदान करते हैं। विशिष्ट वर्गीय लोकतन्त्र का सिद्धान्त इस बात का खण्डन करता है कि सरकार जनता के द्वारा चलाई जा सकती है।

पैरेतो ने इसे शासक विशिष्ट वर्ग (Governing Elite), मोस्का ने राजनैतिक वर्ग (Political Class), मिचेल्स ने शक्ति विशिष्ट वर्ग (Power Elite) आदि कहकर पुकारा है। **हेरल्ड लासवेल** के अनुसार "राजनैतिक विशिष्ट वर्ग एक राजनैतिक व्यवस्था में शक्ति रखने वालों का होता है। शक्ति रखने वालों में नेतृत्व तथा समाज के वे सभी समूह आते हैं जिनसे नेता आते हैं तथा जिनके प्रति नेताओं का उत्तरदायित्व होता है।" विशिष्ट वर्ग की धारणा प्रारम्भ में लोकतन्त्र के सिद्धान्त के प्रतिकूल थी। किन्तु अब इसे लोकतन्त्रीय सिद्धान्त के आधार के रूप में स्थापित करने की चेष्टा की गई है। यह नारा दिया गया कि यदि लोकतन्त्र को बचाना है तो जनता को इससे दूर रखो। शासन जनता के पास नहीं बल्कि केवल योग्य, अनुभवी क्षमता वाले, प्रतिभाशाली विशिष्ट वर्ग के हाथों में होना चाहिए। चुनाव जनता की इच्छा जानने के लिए नहीं बल्कि नेताओं का या विशिष्ट वर्ग का चुनाव करने के लिए होता है। प्रतिनिधि लोकतन्त्र वास्तव में विशिष्ट वर्ग का ही शासन है, क्योंकि चुनाव के माध्यम से जनता की इच्छा को व्यक्त करने वाले प्रतिनिधि नहीं बल्कि शासन करने वाला विशिष्ट वर्ग चुना जाता है।

लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण के बुनियादी तत्व निम्नलिखित हैं --

(1) सरकार 'जनता के द्वारा' नहीं हो सकती, 'जनता के लिए' हो सकती है।

(2) लोकतन्त्र वह है जहां जनता केवल चुनाव के द्वारा अपने शासक (विशिष्ट वर्ग) को चुनती है।

(3) बिना विशिष्ट वर्ग के प्रजातन्त्र नहीं हो सकता, केवल भीड़तन्त्र हो सकता है।

(4) लोकतन्त्र विशिष्ट वर्गों में सत्ता के लिए संघर्ष है जो चुनाव के माध्यम से, जनता के वोट पाकर हारते या जीतते हैं।

(5) राजनैतिक निर्णय लेने का कार्य विशिष्ट वर्ग का है, आम जनता का नहीं।

समालोचना – लोकतन्त्र के विशिष्ट वर्गीय दृष्टिकोण की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की जाती है– **प्रथम** इस सिद्धान्त का विश्वास जनता में न होकर केवल नेताओं के विशिष्ट वर्ग में है। जनता को लोकतन्त्र से दूर रखकर लोकतन्त्र तत्वहीन तथा मूल्यहीन हो जाता है। **द्वितीय,** यह सिद्धान्त रूढ़िवादी है। यह सिद्धान्त परिवर्तन का विरोधी है तथा मौजूदा व्यवस्था का समर्थक है। यह सिद्धान्त लोकतन्त्र की प्रगतिशीलता को नष्ट करते हुए रुढ़िवादी राजनैतिक सिद्धान्त बना देता है। **तृतीय,** यह सिद्धान्त लोकतन्त्र का उद्देश्य मानव का विकास तथा कल्याण न मानकर मानव का उद्देश्य लोकतन्त्र का स्थायित्व तथा कार्य-कुशलता मान लेता है। **चतुर्थ,** यह सिद्धान्त केवल नेताओं में श्रद्धा रखता है तथा केवल उन्हीं को लोकतन्त्र को सुरक्षित रखने का दायित्व सौंपता है। इससे नेताओं द्वारा लोकतन्त्र के दुरुपयोग का खतरा खड़ा हो जाता है। **पंचम,** यह सिद्धान्त व्यक्तियों की समानता का विरोधी है।

(3) **लोकतन्त्र का बहुलतावादी दृष्टिकोण** -- लोकतंत्र के बहुलतावादी दृष्टिकोण का मुख्य उद्देश्य अमरीकी राजनीतिक व्यवस्था को बहुलतावादी साबित करते हुए, इसे विशुद्ध लोकतांत्रिक ठहराते हुए सोवियत संघ तथा साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं को लोकतंत्र-विरोधी साबित करना है।

बहुलतावाद का मूल मन्तव्य है 'अनेकता में एकता स्थापित करना लोकतन्त्र है, अनेकता को नष्ट करना गैर लोकतांत्रिक है।' बहुलतावादी लोकतंत्र को राबर्ट डाहल ने 'बहुतंत्रवाद'(Polyarchy) कहा है।

बहुलतावादी लोकतंत्र का अर्थ एक ऐसी शासन-व्यवस्था से है जिसमें नीति-निर्धारण का काम समाज के विभिन्न हित आपसी विचार-विनिमय द्वारा करते हैं। बहुलतावादियों की मुख्य धारणा यह है कि शक्ति का प्रयोग विशेषकर राजनैतिक नीतियों का निर्धारण, समाज की सब संस्थाओं तथा हितों को मिल-बाँटकर करना चाहिए। बहुलतावादी लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए आर. प्रिस्थस ने लिखा है, "यह एक ऐसी सामाजिक - राजनैतिक प्रणाली है जिसमें राज्य की शक्ति बहुत सारे प्राइवेट समूहों, समान रुचि के संगठनों तथा ऐसे संगठनों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों के बीच बंटी रहती है।"

लोकतंत्र के बहुलतावादी दृष्टिकोण के निम्नलिखित प्रमुख तत्व हैं :

(1) बहुलतावादी लोकतंत्र का आधार व्यक्ति नहीं बल्कि व्यक्तियों के संगठन – दबाव – समूह, ट्रेड यूनियन संघ, राजनैतिक दल, संस्थाएं आदि हैं। व्यक्ति इन्हीं समूहों के माध्यम से राजनीति में हिस्सा लेता है तथा इन समूहों को राज्य के नीति-निर्धारण में हिस्सा प्राप्त होना चाहिए।

(2) बहुलतावादी लोकतंत्र का दूसरा आधार सम्प्रभुता की बहुलतावादी धारणा है, जिसके अनुसार शक्ति केवल राज्य के पास नहीं, बल्कि समाज की अन्य संस्थाओं तथा राज्य में विभाजित होनी चाहिए।

(3) राज्य की शक्ति सीमित होनी चाहिए। सरकार के विभिन्न अंगों की शक्ति इस प्रकार रखी जाए कि वे एक दूसरे को नियन्त्रित कर सकें।

(4) जनता को नीति-निर्धारण में हिस्सा उनके व्यवस्थित संगठनों के माध्यम से दिया जाना चाहिए।

(5) नीति बनाते समय प्रभावित होने वाले समूहों से विचार-विमर्श किया जाना चाहिए।

समालोचना – लोकतन्त्र के बहुलतावादी सिद्धान्त की आलोचना मुख्य रूप से निम्नलिखित आधारों पर की जाती है– **प्रथम**, यह सिद्धान्त संगठित समूहों तथा संस्थाओं को महत्व देता है, न कि व्यक्तियों को। **द्वितीय**, यह सिद्धान्त राजनीति को दबाव-गुटों की राजनीति बना देता है। सरकार को दबाव में आकर झुकना पड़ता है और समझौतावादी नीतियाँ अपनानी पड़ती हैं। **तृतीय**, यह सिद्धान्त राज्य की प्रभुसत्ता को विभाजित मानता है जबकि एकलवादियों ने एक समाज में सत्ता के विभाजन को असम्भव बताया है।

(4) **लोकतन्त्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण** – लोकतंत्र की साम्यवादी धारणा मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर आधारित है। यह लोकतंत्र की द्वन्द्वात्मक व्याख्या है। साम्यवादियों ने लोकतंत्र को नये अर्थों में ग्रहण किया है। सोवियत संघ तथा चीन के शासनों को जनवादी लोकतंत्र कहा जाता है। मार्क्सवाद लोकतंत्र को एक शासन-व्यवस्था के अलावा मूल्यों की एक व्यवस्था समझता है। लोकतांत्रिक मूल्यों में आर्थिक समानता, समाजिक न्याय, शासन में जनता का हिस्सा तथा शोषण की अनुपस्थिति को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। प्राइवेट सम्पत्ति को खत्म करके, उत्पादन के साधनों का सामाजिक स्वामित्व स्थापित करते हुए लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की जा सकती है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार यदि समाज की आर्थिक व्यवस्था पूंजीवादी है तो लोकतंत्रीय सरकार भी पूंजीपतियों के हितों का विशेष रूप से संरक्षण करेगी। जब तक पूंजी का समाजीकरण न कर दिया जाये तब तक सही अर्थ में जनवादी लोकतंत्र की स्थापना सम्भव नहीं है। लेनिन के अनुसार सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतन्त्र ही सच्चा लोकतंत्र है, क्योंकि वहाँ संपत्ति पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होता है, न कि थोड़े से पूंजीपतियों का।

मजदूर वर्ग की तानाशाही केवल एक वर्ग का राज्य है ; हर राज्य एवं लोकतंत्र की तरह यह पूर्ण लोकतंत्र नहीं है। मार्क्सवाद पूर्ण लोकतंत्र को तर्कसंगत नहीं मानता क्योंकि सारे लोगों की शासन-व्यवस्था अपने आपमें एक विरोधी बात है। लोकतंत्र भी एक प्रकार का राज्य है और हर राज्य केवल एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर वर्ग-राज्य ही हो सकता है। अत: यह पूर्ण लोकतन्त्र कभी नहीं हो सकता। साम्यवादी समाज में जब राज्य का विलोप हो जायेगा तब पूर्ण लोकतांत्रिक समाज की स्थापना होगी। जब तक राज्य है, यह वर्ग-राज्य होगा तथा वर्ग-प्रजातन्त्र होगा।

मजदूर वर्ग की तानाशाही पूंजीवादी लोकतंत्रों से श्रेष्ठ लोकतंत्र है। यह बहुमत वाले वर्ग का लोकतंत्र है तथा शोषण को बनाये रखने के लिए नहीं, बल्कि शोषण का अन्त करके, शोषण मुक्त समाज की रचना का एक माध्यम मात्र है। लेनिन के शब्दों में "मजदूर वर्गीय प्रजातन्त्र पूंजीवादी प्रजातन्त्र से लाखों गुना अधिक प्रजातांत्रिक है।"

आलोचना – मजदूर वर्ग की तानाशाही या साम्यवादी लोकतन्त्र की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है – **प्रथम**, यह एक वर्ग की तानाशाही है जबकि लोकतन्त्र तमाम जनता – अमीर व गरीब का शासन है। **द्वितीय,** यह मजदूरों के अतिरिक्त अन्य वर्गों का दमन करता है जबकि लोकतन्त्र में किसी भी वर्ग को दूसरे वर्ग को खत्म करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। **तृतीय,** मजदूर वर्ग की तानाशाही वाला लोकतन्त्र बहुमत का शासन नहीं है बल्कि कुछ क्रान्तिकारियों का विशिष्ट वर्ग ही वास्तव में शासन करता है। यह मजदूर वर्ग की तानाशाही नहीं बल्कि मजदूर वर्ग पर तानाशाही है।

(5) **लोकतन्त्र का समाजवादी दृष्टिकोण** – समाजवादी लोकतन्त्र का मॉडल उदारतावादी और मार्क्सवादी लोकतन्त्र का समन्वित रूप है। समाजवादी लोकतंत्रों में राजनीतिक समाजों के मूल्य तो उदारतावादी लोकतन्त्रों की अवधारणा के समान स्वतन्त्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा जन कल्याण की साधना के ही हैं, परन्तु साधनों की दृष्टि से समाजवादी लोकतन्त्र साम्यवादी विचारधारा के समीप लगते हैं। इन लोकतन्त्रों में समानता के आर्थिक पहलू पर अधिक बल दिया जाता है।

इस प्रकार लोकतन्त्र के विभिन्न दृष्टिकोणों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि लोकतन्त्र की अवधारणा परिवर्तित होती गयी है। यह कहना कठिन है कि लोकतन्त्र का श्रेष्ठतम दृष्टिकोण कौन-सा है।

लोकतंत्र के प्रकार (Kinds of Democracy)

साधरणतया लोकतन्त्र के दो प्रकार हैं – (1) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और (2) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधिमूलक लोकतन्त्र।

(1) **प्रत्यक्ष लोकतन्त्र** – प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का अत्यन्त विशुद्ध स्वरूप वह है जिसमें जनता और सरकार में कोई अन्तर नहीं होता है। सरकार और जनता एक ही होती है। यदि किसी महत्वपूर्ण समस्या पर निर्णय लेना होता है तो सारी जनता एकत्र होगी और निश्चित करेगी कि उसे क्या करना है। स्पष्टतया इस प्रणाली में जनता या निर्वाचक-मण्डल तथा व्यवस्थापिका में कोई पृथक्करण नहीं होता। अवसर उपस्थित होने पर समस्त जनता व्यवस्थापिका के रूप में कार्य करती है। यद्यपि यह लोकतन्त्र का आदर्श स्वरूप है तथापि यह स्वत: स्पष्ट है कि उन बड़े-बड़े राष्ट्र-राज्यों में जहाँ नागरिकों की संख्या करोड़ों में होती है इसका अस्तित्व सम्भव नहीं है। यह केवल नीचे के स्तर पर अल्प तथा नियन्त्रण योग्य जनसंख्या में ही क्रियान्वित किया जा सकता है। वर्तमान काल में स्विटजरलैण्ड के केवल पाँच कैण्टनों (राज्यों) में ही प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित है।

सम्पूर्ण जनसंख्या को प्रशासन में प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध करने की चार विधियाँ हैं – जनमत संग्रह, आरम्भक, प्रत्यावर्तन तथा लोक निर्णय।

(2) **अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधिमूलक लोकतन्त्र** – प्रत्यक्ष लोकतन्त्र सरकार का बड़ा ही आकर्षक स्वरूप है। वस्तुत: यह लोकतन्त्र का आदर्श स्वरूप है। इसका कारण यह है कि इसके अन्तर्गत जनता से निरन्तर परामर्श लिया जाता है। वास्तव में जनता स्वयं ही सभी प्रकार के निर्णय लेती है। किन्तु इसके बावजूद अधिकांश आधुनिक राष्ट्र-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का अस्तित्व असम्भव है। अतएव आधुनिक राज्यों में किसी न किसी प्रकार का प्रतिनिधिमूलक लोकतन्त्र पाया जाता है। सरकार के इस स्वरूप में मतदाता सरकार पर अपना नियन्त्रण तो रखते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष रूप में नहीं। वे स्वयं निर्णय नहीं लेते और न कानून बनाते हैं। यह उनके प्रतिनिधि करते हैं। अत: प्रतिनिधिमूलक लोकतन्त्र में प्रतिनिधियों का निर्वाचन अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। यह निर्वाचन के माध्यम से किया जाता है। जनता अपने कुछ प्रतिनिधि चुन लेती है जिनसे विधान-मण्डल गठित होता है। यही विधान-मण्डल जनता की ओर से कानून णरित करता है और शासन पर नियन्त्रण रखता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में जनता की इच्छा का निर्माण तथा

अभिव्यक्तिकरण निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से होता है। जे.एस.मिल ने जो इस प्रकार की शासन-प्रणाली का प्रबल समर्थक था, प्रतिनिधि लोकतन्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है, "यह एक ऐसा शासन है, जिसमें सारी की सारी जनता या फिर उसका बहुसंख्यक भाग, शासन-सत्ता का प्रयोग समय-समय पर चुने गये अपने प्रतिनिधियों द्वारा करता है।"

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें
(Conditions for the Success of Democracy)

लोकतंत्र अत्यधिक कठिन शासन-प्रणाली है। इसकी सफलता के लिए एक विशेष प्रकार का वातावरण आवश्यक है। उचित वातावरण के अभाव में ही विकासशील देशों में लोकतांत्रिक मूल्यों की सुरक्षा करना कठिन प्रतीत हो रहा है। **कोरी** तथा **अब्राहम** ने लोकतंत्र की सफलता के लिए चार विधियों का उल्लेख किया है – (1)सरकार व नागरिकों की गतिविधयों का विधि के अनुसर संचालन होना, (2) आपसी मतभेदों का निवारण वाद-विवाद एवं विचार-विमर्श द्वारा होना, (3) मतभेदों का तथ्यों एवं तर्क की कसौटी पर परखा जाना, तथा (4) बहुमत से निर्णय लेना। **पीटर मर्कल** ने लोकतंत्र की सफलता के लिए निम्न शर्तों का उल्लेख किया है – (1) रहन-सहन का अपेक्षाकृत उच्च स्तर, (2) उपयुक्त मात्रा में सामाजिक व आर्थिक समानता, (3) स्वतन्त्र व बहुल समाज, तथा (4) आनुभविक दृष्टिकोण।

प्रमुख रूप से लोकतन्त्र की सफलता के लिए निम्नलिखित दशाएं आवश्यक हैं :-

(1) **लोकतान्त्रिक भावना** – किसी देश में लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्त यह है कि उसके नागरिकों में लोकतांत्रिक भावना होनी चाहिए। लोकतंत्र में आस्था के अभाव में उसकी सफलता शंकास्पद है। **आइवर ब्राउन** ने इस 'लोकतांत्रिक धारणा' पर अत्यधिक बल दिया है। लोगों में लोकतंत्रात्मक आस्था ही पर्याप्त नहीं है, अपितु यह भी आवश्यक है कि वे लोकतंत्र की रक्षा हेतु सतत् प्रयत्नशील रहें।

(2) **जनता का उच्च चरित्र** – लोकतंत्र की सफलता के लिए जनता का चरित्र ऊंचा होना चाहिए। जनता में सत्यता, सहनशीलता, निःस्वार्थता, ईमानदारी तथा सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि होनी चाहिए। **लावेल** के शब्दों में, "लोकतंत्र यदि ऐसे नागरिकों का निर्माण कर सके जो जाति-बिरादरी के संकीर्ण विचारों से ऊपर उठकर सम्पूर्ण राष्ट्र के हित को अपने सम्मुख रखें, जो भविष्य के सुख को दृष्टि में रखकर वर्तमान समय के सभी कष्टों का सामना कर सकें, जो दूरदर्शिता एवं धैर्य से काम कर लें और जो योग्य व्यक्तियों को ही अपने प्रतिनिधि बनाकर भेजें तो लोकतंत्र की जड़ को भयंकर तूफान भी नहीं हिला सकेगा।"

(3) **जनता की जागरूकता** – लोकतंत्र की सफलता के लिए जनता की जागरूकता आवश्यक है। नागरिकों को अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति सदा जागरूक रहना चाहिए। **लास्की** के शब्दों में, "सतत जागरूकता ही स्वतंत्रता की कीमत है।"

(4) **शिक्षा का ऊंचा स्तर** – लोकतंत्र की सफलता के लिए नागरिक शिक्षित हों, शिक्षा का सही ढंग हो तथा उसका स्तर काफी ऊंचा हो। सही शिक्षा से ही लोग इस योग्य हो सकते हैं कि देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को ठीक ढंग से समझ सकें और उनके सम्बन्ध में स्वतन्त्रता पूर्वक निर्णय ले सकें। वस्तुतः शिक्षा सफल राजनीतिक जीवन की कुंजी है।

(5) **सहयोग एवं सहिष्णुता की भावना** – लोकतंत्र की सफलता के लिए नागरिकों में सहयोग एवं सहिष्णुता के गुण होने चाहिए। लोकतंत्र बहुमत का शासक है। यदि बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यकों के प्रति उदारता का व्यवहार न कर उसका दमन करेगा तो शांति-भंग होने का खतरा बना रहेगा। दूसरी ओर अल्पसंख्यकों का भी कर्तव्य है कि बहुसंख्यक शासन का अवैधानिक तरीकों से विरोध न कर सहयोग की भावना से काम करें।

(6) **प्रबुद्ध लोकमत** – लोकतंत्र की सफलता की एक अन्य आवश्यकता प्रबुद्ध लोकमत है। लोकतंत्र लोकमत द्वारा शासन है। प्रबुद्ध एवं सजग लोकमत का शासन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ एवं शक्तिशाली लोकमत लोकतंत्र का प्रहरी है।

(7) **स्वतन्त्र और ईमानदार प्रेस** – स्वतंत्र प्रेस का होना लोकतंत्र के लिए अपरिहार्य है। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि लोगों को निष्पक्ष और सत्य समाचार प्राप्त हों। स्वतन्त्र और निष्पक्ष प्रेस जनता को तथ्यों और घटनाओं से परिचित कराता है और साथ ही जनता की शिकायतों को सरकार के सामने रखने में भी सहायता देता है। इस प्रकार स्वतंत्र और ईमानदार प्रेस के माध्यम से जनता और शासन के बीच स्वस्थ सम्बन्ध कायम किए जा सकते हैं।

(8) **स्वतन्त्र न्यायपालिका** – स्वतंत्र प्रेस की भांति ही स्वतन्त्र न्यायपालिका के बिना भी लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता। स्वतंत्र न्यायपालिका लोकतंत्र की रीढ़ है। न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों की रक्षक होती है, किन्तु यह कार्य वह ढंग से तभी कर सकती है जब वह स्वतंत्र हो और कार्यपालिका उसके क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप न करे।

(9) **सम्पत्ति के वितरण में विषमता का लोप** – लोकतंत्र तभी पनप सकता है जब देश में आर्थिक समता की स्थापना हो। किसी ऐसे देश में जहाँ अधिकांश लोग निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हों और कुछ लोग विलासिता का जीवन व्यतीत करते हों, वहाँ लोकतन्त्रीय शासन सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। जब तक नागरिक जीविकोपार्जन के लिए साधन जुटाने की झंझट से मुक्त न होंगे, स्वतंत्र लोकतन्त्रीय संस्थाएं सुदृढ़ नहीं हो सकतीं।

(10) **प्रभावशाली विरोधी दल** – शक्तिशाली और प्रभावशाली विरोधी दल के अभाव में लोकतन्त्रात्मक सरकार निरंकुश और लापरवाह हो जाती है तथा अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने लगती है। विरोधी दल आलोचना के द्वारा सरकार को सतर्क रखता है ताकि वह अपना कार्य ध्यानपूर्वक एवं भली भांति करे। **जे. बन्धोपाध्याय** के अनुसार, "बन्दी शिविर, सैनिक शासन, गुप्त पुलिस और सशस्त्र विद्रोह तानाशाही देशों के मुख्य लक्षण हैं। लोकतंत्र में संसदीय विरोधी दल इन लक्षणों की जगह एक विकल्प प्रस्तुत करता है।"

(11) **स्थानीय स्वशासन** – स्थानीय स्वशासन की स्थापना लोकतन्त्र की सफलता की एक अनिवार्य शर्त है। स्थानीय स्वशासन लोकतन्त्र की प्राथमिक पाठशाला है। एक साधारण नागरिक राष्ट्रीय विषयों की अपेक्षा स्थानीय मामलों में रुचि रखता है। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में भाग लेने से उसे शासन कला की शिक्षा प्राप्त होती है जो आगे चलकर राष्ट्रीय शासन में भाग लेने हेतु उसमें अभिरुचि उत्पन्न करती है।

(12) **सामाजिक एवं राजनीतिक समता** – लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में पूर्ण समानता हो। समाज में छोटे-बड़े, ऊंच-नीच, छूत-अछूत, धनी-निर्धन के भेद-भाव नहीं होने चाहिए। यदि समाज में एक तरफ विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग हो और दूसरी तरफ शोषित, पीड़ित व पददलित वर्ग हो तो वहाँ लोकतन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता। इसी प्रकार बिना किसी भेदभाव के सभी को मत देने का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, सरकारी पद धारण करने का अधिकर तथा कानून के समक्ष समता विद्यमान होनी चाहिए।

भारत में लोकतन्त्र के अवरोध (Obstacles of India's Democracy)

हमारे समाज और देश की अनेक विशेषताएँ लोकतंत्र के कार्य को विशेष कठिन बना देती हैं। भारत में लोकतन्त्र के प्रमुख अवरोध इस प्रकार हैं –

(1) **निरक्षरता** – कुछ प्रमुख विचारकों का विश्वास है कि लोकतन्त्र शिक्षा पर निर्भर है। हमारे देश में निरक्षरता लोकतंत्रीय प्रक्रिया के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा है। निरक्षरता केवल जीविकोपार्जन के साधनों की सम्भावनाओं को ही कम नहीं करती वरन् यह मनुष्य को अपने समीपवर्ती संसार का ज्ञान प्राप्त करने में भी अवरोध उत्पन्न करती है। उदाहरणस्वरूप निरक्षर व्यक्ति समाचार-पत्र नहीं पढ़ सकता। अतएव वह यह नहीं जान सकेगा कि सरकार की नीतियाँ क्या हैं ? उसके अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित होगा।

(2) **जातिवाद** – जाति के आधार पर राजनीति में भाग लेने की प्रवृत्ति को जातिवाद कहते हैं। जातिवाद के पोषक किसी विशेष व्यक्ति को केवल इसलिए मत देते हैं कि वह उन्हीं की जाति से सम्बन्धित है। स्पष्टतया यह लोकतन्त्र के क्रियाकलापों को विकृत कर देता है। जब व्यक्ति किसी प्रत्याशी के पक्ष में केवल इसलिए मतदान करते हैं कि वह उनकी जाति का है तो लोकतन्त्र का सम्पूर्ण उद्देश्य निष्फल हो जाता है।

(3) **अस्पृश्यता** – जातिप्रथा के समस्त दोषों में अछूतों के साथ किया गया दुर्व्यवहार मुख्य है। उन्हें स्पर्श नहीं किया जा सकता था। अधिक कट्टर समुदायों द्वारा उनके गाँव के भीतर रहना वर्जित था। उन्हें गाँव के बाहर रहना पड़ता था, दूसरों का तिरस्कार सहना पड़ता था। जिस पर भी अत्यन्त महत्व के उत्पादनशील कार्य करते थे। वे सामान्यत: भूमि जोतने के कार्य में लगे रहते थे। उनके प्रति समाज का व्यवहार अन्यायपूर्ण था। वह उनके श्रम से मूल्यवान कार्य करा लेता था। उसके प्रतिदान में उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। अस्पृश्यता लोकतंत्र के विरुद्ध घोर अपराध है। यह मानव की आधारभूत गरिमा पर आघात करती है। स्वतन्त्रता के पश्चात अस्पृश्यता समाप्त करने के लिए औपचारिक कानून बनाये गये हैं।

(4) **भाषावाद** – इसी प्रकार भाषावाद भी लोकतन्त्र के मार्ग की बहुत बड़ी बाधा है। जैसे कुछ व्यक्ति जाति के आधार पर कार्य करते हैं उसी प्रकार कुछ अन्य व्यक्ति भाषा के आधार पर काम करते हैं। उद्योगों के विकास के साथ ही विशाल नगर विकसित होते हैं जिनमें अनेक राज्यों के विविध भाषा-भाषी करोड़ों व्यक्ति रहते हैं। कोलकता, चेन्नई, मुम्बई और दिल्ली जैसे नगरों का उदाहरण लें। यद्यपि यहाँ की जनसंख्या के बंगला, तमिल, मराठी और हिन्दी भाषी बहुसंख्या में हो सकते हैं तथापि उनमें अन्य क्षेत्रों के भी हजारों व्यक्ति शामिल हैं। उनकी भाषाएँ भिन्न होगीं उनकी जीवन-शैली भिन्न होगी, उनकी सामाजिक प्रथाओं में अन्तर होगा। यदि व्यक्ति भाषा के आधार पर मतदान करने लगें तो लोकतंत्र का उद्देश्य निष्फल हो जाएगा।

(5) **निर्धनता** – हमारे लोकतंत्र की मूल समस्या निर्धनता की है। भारत में, विशेषकर लाखों ग्रामों में, अधिकांश जनसंख्या निर्धन है। हमारे नगर तथा ग्राम धनी और निर्धन बस्तियों में विभाजित हैं। बड़े नगरों में सुविधाओं से परिपूर्ण आधुनिक इमारतों के साथ ही अव्यवस्थित गन्दी बस्तियाँ पाई जाती हैं। हमारे सबसे बड़े-बड़े नगरों में कुछ ऐसे हैं जहाँ हजारों व्यक्तियों के पास सोने के लिए स्थान नहीं है। वे सड़क की पटरियों पर रहते हैं। भारतीय ग्राम गत सहस्त्रों वर्षों से नहीं बदले हैं। आज भी गाँवों के उपकरण हल और दो बैलों की जोड़ी ही बनी हुई है। ग्रामीण उसी प्रकार के मकानों में रहते हैं, उसी प्रकार के विचार रखते हैं तथा उसी प्रकार के अन्धविश्वास मानते हैं जैसे अनेक पीढ़ियाँ पूर्व मानते थे।

(6) **साम्प्रदायिकता** – स्वाधीनता के बाद भी भारत में धार्मिक और साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं हुआ। यह सबसे अधिक दु:खद बात थी कि देश की स्वतन्त्रता साम्प्रदयिक दंगों के वातावरण में प्राप्त हुई। इन दंगों के साथ साम्प्रदायिक समस्या समाप्त नहीं हुई। एक मदान्ध हिन्दू ने गाँधीजी की हत्या कर दी और उसके काफी अर्से बाद भी यदा-कदा साम्प्रदायिक दंगे उमड़ पड़ते थे तथा निर्दोष व्यक्तियों के उत्पीड़न तथा मूर्खतापूर्ण हत्याओं को प्रोत्साहित करते रहे। आज भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी यह धारणा है कि भारत को 'हिन्दू राज्य' घोषित किया जाना चाहिए। भारत एक ऐसा देश है जो यहाँ रहने वाले केवल हिन्दुओं का ही नहीं बल्कि मुसलमानों, ईसाइयों तथा अन्य निवासियों का भी है। यह किसी एक धार्मिक समुदाय की सम्पत्ति नहीं हो सकता। धर्म एवं सम्प्रदाय के आधार पर घृणा करना अलोकतान्त्रिक आदत है।

(7) **महिलाओं की असमानता** – हमारे अतीत से प्राप्त विरासत में एक दोष महिलाओं के प्रति व्यवहार से भी सम्बन्धित है। परम्परागत रूप से हमारे देश के सम्पूर्ण ऐतिहासिक युग में स्त्रियों के प्रति अनुचित व्यवहार रहा। एक समय तो ऐसा भी था जब पति की मृत्यु हो जाने पर विधवा पत्नी को जीवित जला दिया जाता था। स्त्रियों के लिए पर्दा प्रथा अनिवार्य थी। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है कि उनके परिवार में भी जब स्त्रियाँ गंगा-स्नान के लिए जाती थीं तो उन्हें ढकी हुई पालकियों में नदी तक ले जाया

जाता था और पालकी सहित उन्हें डुबकी लगवाई जाती थी। स्वाधीनता के बाद उद्योगों के विस्तार, नगर जीवन के विकास तथा शिक्षा में प्रगति से महिलाओं के सामाजिक दर्जे में निश्चय ही कुछ परिवर्तन आया है। किन्तु हमारे विस्तृत ग्रामीण अंचलों में लाखों ग्रामीण परिवार अभी भी रूढ़ियों के दास हैं। वहाँ की स्त्रियों से अभी भी परम्परागत कार्य करवाये जाते हैं। उनके साथ अभी भी सैकड़ों तरह से सम्मानरहित, उत्पीड़नयुक्त एवं अपमानजनक दुर्व्यवहार होता है।

(8) **बेरोजगारी** – हमारे देश की एक बहुत बड़ी जनसंख्या बेरोजगार है। केवल मजदूर वर्ग में ही बेरोजगारी नहीं है, शिक्षित मध्यम वर्ग में भी बेरोजगारी है। नगरों में तो बेरोजगारी का पता लग जाता है किन्तु गाँव में बेरोजगारी का पता नहीं चलता। एक भू-खण्ड पर सम्भवत: तीन व्यक्ति भी खेती कर सकते हैं। यह छह व्यक्तियों का भी पोषण कर सकता है। यदि किसी खेत में चार व्यक्ति लगे होते हैं तो चौथा व्यक्ति बेकार नहीं मालूम देता। लेकिन यथार्थ में वह बेरोजगार है क्योंकि वह अनावश्यक व्यक्ति है। अर्थशास्त्री इसे 'गुप्त बेरोजगारी' कहते हैं। बेरोजगारी से निर्धनता बढ़ती है। निर्धनता मनुष्यों को पतित बनाती है। बेरोजगारी की समस्या का निदान अधिकाधिक औद्योगीकरण में निहित है।

संक्षेप में, भारतीय लोकतंत्र का भविष्य उसकी आर्थिक उन्नति और सामाजिक न्याय की कारगर व्यवस्थाओं पर ही निर्भर करता है।

लोकतंत्र के गुण (Merits of Democracy)

अधिकांश विद्वानों ने लोकतन्त्र को सर्वोत्तम शासन प्रणाली बतलाया है। इसमें निम्नलिखित गुण हैं :

(1) **उच्च आदर्शों पर आधारित** – लोकतन्त्र स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के आदर्शों पर आधारित होता है। लोकतन्त्र में प्रत्येक नागरिक समान रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, सबके साथ समानता का व्यवहार किया जाता है और हर एक के व्यक्तित्व की गरिमा का सम्मान किया जाता है।

(2) **जन-कल्याण पर आधारित** – लोकतंत्रात्मक शासन में प्रभुसत्ता अन्तत: जनता में निहित होती है, अतएव: इसमें जनता के कल्याण का पूरा ध्यान रखा जाता है, किसी विशेष वर्ग के हित-साधन का नहीं।

(3) **लोकमत पर आधारित** – लोकतंत्र लोकमत पर आधारित होता है। चुनाव के समय प्रशासकों एवं राजनीतिक दलों को जनता की बात सुननी पड़ती है और जनता को अधिकार होता है कि उसके हित का ध्यान न रखने वाले दल व प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने से इंकार कर दे। जनता के हाथों में निर्वाचन सबसे बड़ा अस्त्र होता है जो निरंकुश शासकों को भी परास्त कर सकता है।

(4) **सार्वजनिक शिक्षण** – लोकतंत्र राजनीतिक प्रशिक्षण का उत्तम साधन है। भाषण व समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता, जनसाधारण में विचार-विनिमय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। एक चुनाव से दूसरे चुनाव के मध्य सभी राजनीतिक दल निरन्तर प्रचार द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते रहते हैं। **सी.डी. बर्न्स** के शब्दों में "सभी प्रकार का शासन शिक्षा प्रदान करने की एक पद्धति है, परन्तु आत्म-शिक्षा ही सर्वोत्तम शिक्षा है, अत: सर्वोत्तम शासन स्वशासन है जो लोकतंत्र है।"

(5) **क्रान्ति से सुरक्षा** – लोकतंत्र के अन्तर्गत क्रान्ति की सम्भावना अत्यन्त कम हो जाती है। यदि शासक वर्ग अत्याचारी अथवा निकम्मा सिद्ध हो तो उसको हटाने के लिए सशस्त्र विद्रोह की आवश्यकता नहीं होती। यदि बहुसंख्यक जनता उससे असन्तुष्ट हो तो वह उसे सरलतापूर्वक वैधानिक उपायों से हटा सकती है।

(6) **परिवर्तनशील शासन-व्यवस्था** – लोकतन्त्र एक ऐसा प्रयोग है जिसमें शासन प्रणाली को तब तक बदलते रहने की छूट है जब तक वह लोकमत के अनुकूल न हो जाये। इसमें शासन ऊपर से लादा नहीं जा सकता, विकसित किया जाता है। इसमें निर्वाचनों के माध्यम से सरकार बदलती रहती है। वस्तुत:

NOTES

यह गत्यात्मक शासन प्रणाली है। इसमें शांतिपूर्वक परिवर्तन या संशोधन किए जा सकते हैं और प्रगति सरलता से हो सकती है।

(7) **देश-प्रेम की भावना का विकास** – अधिनायकतंत्र और कुलीनतंत्र में सामान्य जनता शासन के प्रति उदासीन रहती है क्योंकि उसे न तो शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है और न उसकी बात की सुनवाई होती है, जबकि लोकतन्त्र के अन्तर्गत देश-प्रेम की भावना का विकास होता है। चूंकि जनता स्वयं देश की सर्वेसर्वा होती है, इसलिए वह राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत रहती है।

(8) **जनता में आत्मविश्वास एवं उत्तरदायित्व की भावना का विकास** – लोकतन्त्र-शासन में जनता को सक्रिय रूप से शासन-कार्यों में हिस्सा लेने का अवसर मिलता है। जनता को विभिन्न प्रकार के अधिकार भी प्राप्त होते हैं जिससे उसमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास होता है। वोट देने का अधिकार सामान्य जनता में कर्त्तव्य-पालन की भावना का भी विकास करता है। **लॉवेल** ने कहा है कि "वही सरकार सर्वोत्तम है जो मनुष्य की नैतिकता, साहस, आत्मबोध व पवित्रता को दृढ़ बनाये।"

लोकतन्त्र के दोष (Demerits of Democracy)

लोकतंत्र प्रणाली को कार्यरूप देने में व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण इसकी कड़ी आलोचना की जाती है। कुछ विद्वान तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि लोकतंत्र का अब कोई उपयोग नहीं रहा है, क्योंकि अब कहीं भी सच्चे रूप में लोकतांत्रिक प्रणाली नहीं पाई जाती। लोकतंत्र शासन प्रणाली में निम्नलिखित दोष हैं :

(1) **अयोग्यों का शासन** – लोकतन्त्र इस धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति शासन करने की अन्य व्यक्तियों के बराबर योग्यता रखता है। इस अवधारणा की तीव्र आलोचना की जाती है। **प्लेटो** का मत था कि शासन संचालन एक कला है और केवल ज्ञानी व्यक्ति ही शासक बनना चाहिए। **अरस्तू** का विचार था कि केवल कुछ लोगों में ही शासन करने की क्षमता रहती है। इसके प्रतिकूल लोकतन्त्र विशेषज्ञों की उपेक्षा करता है। लोकतंत्र में कोई डॉक्टर तो वित्त मंत्री बन जाता है और कोई अशिक्षित शिक्षा मंत्री। इसलिए कतिपय आलोचकों ने इसे 'अयोग्यता का शासन'(a cult of incompetence) कहा है। **फैजेट** ने लोकतन्त्र को अनभिज्ञता भरा ऐसा शासन कहा है जिसमें कोई सुधार सम्भव नहीं है। **लेकी** ने लोकतंत्र की आलोचना करते हुए लिखा है कि "लोकतंत्र सबसे अधिक गरीब, सबसे अधिक अज्ञानी और सबसे अधिक अयोग्य व्यक्तियों का शासन है, जिनकी संख्या स्वाभाविक रूप से सबसे अधिक होती है।" आलोचकों का कहना है कि इस शासन-प्रणाली में वोटों को तौला नहीं, गिना जाता है। इसमें अयोग्य व्यक्तियों का बहुमत योग्य व्यक्तियों के लोकमत पर शासन करता है। **प्रो. हर्नशॉ** ने लिखा है, "लोकतन्त्र के नेताओं की स्थिति उन स्कूल मास्टरों जैसी होती है जिनकी नियुक्ति विद्यार्थियों की इच्छा से की जाती है, जिन्हें विद्यार्थियों की ही इच्छा से हटाया भी जा सकता है।"

(2) **पेशेवर राजनीतिज्ञों का बाहुल्य** – लोकतन्त्रीयशासन में कुछ लोग राजनीति को अपना पेशा बना लेते हैं और जैसे भी सम्भव हो वे अपने पद से चिपके रहने का प्रयत्न करते हैं। वे अपनी भाषण-शक्ति से जनता को प्रभावित कर निर्वाचित हो जाते हैं, किन्तु उनमें इतनी योग्यता नहीं होती कि वे देश की उन्नति के लिए रचनात्मक कार्य कर सकें, अतएव उनसे लोकहित की आशा करना व्यर्थ है।

(3) **उग्र दलबन्दी** – लोकतन्त्रीय शासन- व्यवस्था में उग्र-दलबन्दी पायी जाती है। कभी-कभी राजनीतिक दल लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए अन्य दलों के खिलाफ निम्न स्तर की बातें प्रचारित करते हैं जो प्राय: झूठी होती हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दल देशभक्ति के स्थान पर दलीय भक्ति को बढ़ावा देते हैं।

(4) **मतदाताओं की उदासीनता** – लोकतन्त्र का एक दोष यह है कि मतदाताओं में अपने दायित्वों के प्रति उदासीनता रहती है। मतदान करने वाले व्यक्तियों का प्रतिशत बहुत कम होता है। इस उदासीनता के परिणामस्वरूप सत्ता ऐसे लोगों के हाथों में पहुंच जाती है जो मतदाताओं को बहकाने में सफल हो जाते हैं।

(5) **बहुमत की तानाशाही** – लोकतन्त्र में अन्ततोगत्वा बहुमत दल की निरंकुशता स्थापित हो जाती है। कभी-कभी बहुमत अल्पमत का दमन करने लगता है। लोकतन्त्र में 51 प्रतिशत लोग 49 प्रतिशत पर मनमाने ढंग से शासन करते हैं।

(6) **धनवानों का शासन** – यथार्थ में लोकतन्त्र धनवानों के शासन में परिवर्तित हो जाता है। लोकतन्त्र का आधार निर्वाचन होता है और निर्वाचन द्वारा शासनकर्ता बनना केवल उन्हीं लोगों के बस की बात होती है जो धनी और साधन-सम्पन्न होते हैं। लोकतन्त्र शासन में चुनाव लड़ने का काम धनी और साधन सम्पन्न लोग ही कर सकते हैं। जब धनवान लोग ही विधायिका के लिए निर्वाचित होते हैं तो वे विधि-निर्माण में भी धनिक वर्ग के हित-साधन का ध्यान रखते हैं।

(7) **नैतिक मूल्यों की उपेक्षा** – लोकतन्त्रों में नैतिक मूल्यों की उपेक्षा की जाती है। चुनाव के समय विभिन्न प्रत्याशी एक-दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं, मिथ्या प्रचार करते हैं और जीतने के लिए घृणित साधनों का भी उपयोग करते हैं।

(8) **खर्चीला शासन** – लोकतन्त्र एक खर्चीली व्यवस्था है। निर्वाचनों में काफी धन का अपव्यय होता है। फिर विधायकों, मन्त्रियों आदि पर भी काफी धन खर्च होता है।

(9) **अकुशल शासन** – लोकतन्त्र शासन-प्रणाली में कुशलता का सर्वथा अभाव रहता है। आलोचकों के अनुसार कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के सदस्य प्राय: अनाड़ी होते हैं और इन्हीं पर राजकीय नीति बनाने और उसके क्रियान्वयन का दायित्व होता है।

(10) **संकट काल में अनुपयुक्त** – संकटकालीन स्थिति में लोकतन्त्रीय शासन बेकार सिद्ध होता है। लोकतन्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि न तो शीघ्र निर्णय लिए जा सकते हैं और न शीघ्रता से उन्हें क्रियान्वित किया जा सकता है।

निष्कर्ष

पैरटो के अनुसार "लोकतन्त्र नैतिक दृष्टि से अनुचित है, व्यावहारिक दृष्टि से अक्षम होता है और राजनीतिक दृष्टि से असम्भव।" वस्तुत: लोकतन्त्र में अनेक दोष हैं और यह आदर्श शासन-प्रणाली नहीं है। किन्तु अन्य कोई शासन-प्रणाली भी तो नहीं दिखलाई देती जो इससे अच्छी हो। ऐसी स्थिति में **जे.एस. मिल** का कथन स्वीकार करना पड़ेगा कि "लोकतन्त्र के विरोध में दी जाने वाली युक्तियों में जो कुछ सार प्रतीत हुआ, उसको पूरा महत्व देते हुए भी मैंने सहर्ष उसके पक्ष में ही निश्चय किया।"

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में लोकतन्त्र का भविष्य बहुत आशाजनक नजर आ रहा था। लेकिन कुछ ही समय बाद सभी आशाओं पर पानी फिर गया। दुनिया के नक्शे से लोकतान्त्रिक देशों की संख्या दिन-पर-दिन कम होती गयी। साम्यवाद, सैनिक तथा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से प्रेरित निरंकुशता ने लोकतन्त्र को बुरी तरह कुचला और आज विश्व में लोकतन्त्र केवल कुछ ही देशों में अपना अस्तित्व बनाये हुए है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोकतांत्रिक सरकार के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।
2. "लोकतंत्र सर्वोत्तम शासन प्रणाली है।" समझाइये।
3. लोकतंत्र की परिभाषा लिखिए। इसकी सफलता के आवश्यक तत्व कौन-कौन से हैं ?
4. लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक दशाओं का वर्णन कीजिए।
5. "लोकतंत्र एक शासन पद्धति, समाज की एक व्यवस्था तथा जीवन का एक मार्ग है।" उपर्युक्त कथन के संदर्भ में लोकतंत्र पर एक निबंध लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लोकतंत्र को अयोग्यता का शासन क्यों कहा जाता है?
2. लोकतंत्र का विशिष्ट वर्गीय सिद्धान्त क्या है?
3. प्रत्यक्ष लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. लोकतंत्रात्मक शासन में अंतिम शक्ति किसके पास होती है?
   (अ) नेताओं के पास (ब) मतदाता के पास
   (स) प्रशासनिक अधिकारियों के पास (द) विशेषज्ञों के पास
2. प्रत्यक्ष प्रजातंत्र सामान्यत: किसके साथ सम्बद्ध है?
   (अ) जापान (ब) चीन (स) स्विट्जरलैण्ड (द) इंगलैण्ड
3. अधिकांश आधुनिक राज्यों में किस प्रकार का लोकतंत्र पाया जाता है?
   (अ) समाजवादी (ब) बुनियादी लोकतंत्र
   (स) प्रत्यक्ष लोकतंत्र (द) प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र
4. लोकतंत्र में अंतिम सत्ता या शक्ति किसमें निहित होती है?
   (अ) संसद् में (ब) जनता में (स) मंत्रिमण्डल में (द) राष्ट्रपति में
5. निम्नांकित में कौनसा विचारक लोकतंत्र की उदारवादी विचारधारा से सम्बद्ध नहीं है?
   (अ) कार्ल मार्क्स (ब) जे.एस. मिल (स) जॉन लॉक (द) टी.एच. ग्रीन
6. लोकतंत्र की सफलता के लिए क्या आवश्यक नहीं है?
   (अ) पेशेवर राजनीतिज्ञ (ब) शिक्षित जनता
   (स) स्वतंत्र न्यायपालिका (द) लोकमत निर्माण के स्वतंत्र साधन

उत्तर **1.** (ब), **2.** (स), **3.** (द), **4.** (ब), **5.** (अ), **6.** (अ)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

18

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

(PRINCIPLES OF REPRESENTATION)

NOTES

प्रतिनिधित्व की समस्या (Problem of Representation)

आजकल दुनिया के अधिकांश देशों में बहुमत प्रतिनिधित्व प्रणाली प्रचलित है। इसके अन्तर्गत किसी निर्वाचन क्षेत्र में वह प्रत्याशी चुना जाता है जिसे सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं। इस प्रणाली के तीन भयंकर दोष हैं – **पहला**, अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता, **दूसरा**, किसी दल के निर्वाचन – परिणाम का और व्यवस्थापिका में उसकी सीटों का कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं रहता, **तीसरा** अल्पमतीय सरकारों का निर्माण होता है।

उदाहरणार्थ, किसी संसदीय चुनाव क्षेत्र में मान लीजिए, पाँच उम्मीदवार य, र, ल, व, श खड़े हुए हैं और कुल पन्द्रह लाख में से दस लाख वैध मत पड़े जिनमें से विभिन्न उम्मीदवारों को इस प्रकार मत प्राप्त हुए – य – दो लाख मत, र — एक लाख पचास हजार मत, ल — दो लाख पचास हजार मत, व — एक लाख पच्चीस हजार मत, श – तीन लाख मत। इन मतदान आंकड़ों के आधार पर श निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। मतों की संख्याओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सफल प्रत्याशी 'श' को अपने निर्वाचन क्षेत्र में कुल मतों से आधे से भी कम मत प्राप्त हुए हैं। अतएव वह सभी मायने में अपने निर्वाचन क्षेत्र के अल्पमत का ही प्रतिनिधित्व करता है, न कि बहुमत का।

हमारे देश में प्रचलित बहुमत प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर सन् 1952 से 1971 तक सम्पन्न चुनावों के परिणामों के आधार पर स्थापित होने वाली सभी केन्द्रीय सरकारें मतदाताओं को प्राप्त मत के प्रतिशत की दृष्टि से अल्पमत सरकारें थीं क्योंकि सरकार निर्मित करने वाले कांग्रेस दल को सन् 1952 में कुल वैध मतों का 45 प्रतिशत, 1957 में 47.8 प्रतिशत 1962 में 44.5, 1967 में 40.7 प्रतिशत और 1971 में 43.1 प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे। लेकिन विपक्ष के मतों के विभाजन के कारण उसे 1952 में लोकसभा के कुल स्थानों में से 74.4 प्रतिशत स्थान 1957 में 75.1 प्रतिशत स्थान, 1962 में 72.8 प्रतिशत स्थान, 1967 में 53.5 प्रतिशत स्थान तथा 1971 में 67.2 प्रतिशत स्थान प्राप्त हुए। **प्रो. मेहता** के अनुसार "इन आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि कांग्रेस दल को, जिसने हमेशा लोकसभा में प्राप्त् इस बहुमत के आधार पर केन्द्र में अपनी सरकार का निर्माण किया और उसके आधार पर लम्बे समय तक देश का शासन किया, कभी भी मतदाताओं के स्पष्ट और वास्तविक अर्थात् कुल मतदाताओं के 51 प्रतिशत भाग का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ।" निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के प्रथम पांच आम चुनावों में कांग्रेस दल को प्राप्त मतों की प्रतिशतता के अनुपात में कहीं अधिक स्थान लोकसभा में प्राप्त हुए –

वर्ष	प्राप्त मतों की प्रतिशतता	प्राप्त स्थानों की प्रतिशतता
1952	45.0	74.4
1957	47.8	75.1
1962	44.5	72.8
1967	40.7	53.5
1971	43.1	67.2

फिर प्रचलित प्रतिनिधित्व प्रणाली के परिणामस्वरूप जिन लोगों ने अपना मत पराजित उम्मीदवारों के पक्ष में दिया है, वे प्रतिनिधित्व रहित हो जाते हैं, उनके मत बेकार जाते हैं जिससे विभिन्न राजनीतिक दलों के साथ पूर्ण न्याय नहीं होगा।

आधुनिक लोकतन्त्रों में अल्पसंख्यकों के उचित प्रतिनिधित्व की समस्या भी गंभीर है। अल्पसंख्यकों से हमारा अभिप्राय ऐसे जनसमुदाय से है जो संख्या में अपेक्षाकृत कम हैं किन्तु उनकी भाषागत, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक विशेषताएँ हैं और जिनका वे संरक्षण चाहते हैं।

व्यवहार में लोकतन्त्र का आशय बहुमत का शासन है। शायद बहुसंख्यक वर्गों को शासन करने का जन्मसिद्ध अधिकार है लेकिन यह भी निर्विवाद सत्य है कि सच्चा लोकतन्त्र अल्पसंख्यकों की सम्मति पर निर्भर है। अल्पसंख्यकों को यह अधिकार है कि वे अपने हितों की रक्षा कर सकें, अपना विपरीत मत व्यक्त कर सकें तथा सरकार का विरोध कर सकें। लोकतन्त्र बहुमत का शासन भले ही हो, पर वह केवल बहुमत के लिए नहीं, अपितु सबके लिए है। लोकतन्त्र में अल्पसंख्यकों को भी उचित मात्रा में प्रतिनिधित्व मिलना आवश्यक है जिससे वे बहुसंख्यक वर्ग को प्रभावित कर सकें और नीति-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकें।

अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण का एक उपाय यह है कि उनके मौलिक अधिकारों को संविधान में स्थान दिया जाये और उनकी रक्षा का भार सर्वोच्च न्यायालय को सौंप दिया जाए। **सिजविक** ने इस विचार का विरोध किया है। **जॉन स्टुअर्ट मिल** के अनुसार लोकतन्त्र का यह सारभूत सिद्धान्त है कि अल्पसंख्यकों का उचित प्रतिनिधित्व हो, इसके अभाव में लोकतन्त्र खोखला हो जाएगा। **लैकी** ने भी अल्पसंख्यकों के उचित प्रतिनिधित्व पर बल देते हुए कहा है – "अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व अतिशय महान है। यदि किसी चुनाव क्षेत्र के दो-तिहाई मतदाता दूसरे दल को मत दें, तो यह स्पष्ट है कि बहुसंख्यक वर्ग दो-तिहाई और अल्पसंख्यक वर्ग को एक-तिहाई प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए।"

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की पद्धतियाँ
(Methods of Minority Representation)

यद्यपि लोकतान्त्रिक शासन पद्धति का अर्थ बहुमत का शासन है, तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अल्पसंख्यकों को दबाया जाये। हम **जॉन स्टुअर्ट मिल** के इस कथन की प्रशंसा करते हैं कि "आन्दोलन के आवश्यक अंग के रूप में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए।" उसने आगे कहा है कि "किसी वास्तविक रूप में समान लोकतन्त्र में प्रत्येक या किसी भी वर्ग को प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए जो अनुपात से अधिक या कम न हो। जो निर्वाचक अल्प संख्या में हैं, उन्हें कम संख्या में प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिलना ही चाहिए। एक के बदले एक के अनुसार उनको उतना ही प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा तो सरकार को समान नहीं कहा जा सकता, बल्कि वह असमानता और विशेषाधिकार का शासन होगा जो न्यायपूर्ण शासन के विरुद्ध होगा जो यह दावा करता है कि समता इसका मूल और इसकी बुनियाद है।"

अधिकांश देशों में एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों की प्रथा प्रचलित है और इस प्रणाली का सबसे गम्भीर दोष है कि इसमें अल्पमत अथवा अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त होता है। इस दोष को दूर करने के लिए निर्वाचन की अनेक विधियाँ निकली हैं, जिनका विभिन्न देशों में प्रयोग किया गया है। उनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं, इसलिए प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है :

(1) **द्वितीय मत प्रणाली** (Second Ballot System)– इस पद्धति के अधीन यह अपेक्षा की जाती है कि सफल उम्मीदवार को डाले गए मतों का 50 प्रतिशत से अधिक भाग प्राप्त करना चाहिए। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक क्षेत्र से चुनाव में यदि तीन या अधिक उम्मीदवार हैं और उनमें से किसी को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तो अधिक मत प्राप्त करने वाले प्रथम दो उम्मीदवारों के बीच दुबारा निर्वाचन करके विजय का निर्णय किया जाता है मान लीजिए – किसी चुनाव में कुल 1000 मतों में से 'अ' को 400 मत, 'ब'को 350 मत और 'स'को 250 मत मिले हैं। स्पष्ट बहुमत 1000 में से 501 मत होता है जो किसी को प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में 'अ' और 'ब' के मध्य उस क्षेत्र में पुन: मतदान कराकर निर्णय

किया जायेगा। दुबारा होने वाले निर्वाचन में जो बहुमत प्राप्त करेगा वही विजयी घोषित होगा। फ्रांस के राष्ट्रपति – निर्वाचन में इस प्रणाली को अपनाया गया है।

(2) **वैकल्पिक मत प्रणाली** (Alternative Vote System)– इसमें निर्वाचन - क्षेत्र एक सदस्य वाला रहता है, परन्तु चुनाव के लिए पूर्ण बहुमत आवश्यक होता है। इसके अनुसार मतदाता मत तो एक ही देता है, किन्तु उसे अपनी पहली, दूसरी और तीसरी पसन्द बताने का अधिकार होता है अर्थात उसकी पहली पसन्द वाला उम्मीदवार न चुना जाये तो उसका मत दूसरी या तीसरी पसन्द के उम्मीदवार को पड़ जायेगा। यदि मतदान के बाद, किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त हो जाता है तो उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। परन्तु यदि किसी भी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता, तो सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार का नाम हटा दिया जाता है और उसके मतों को अन्य उम्मीदवारों के पक्ष में दूसरी पसन्द के अनुसार बांट दिया जाता है। यदि अब किसी उम्मीदवार को बहुमत प्राप्त हो जाता है तो उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है, अन्यथा फिर सबसे कम मत वाले उम्मीदवारों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार जिस उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त होता है निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यह प्रणाली आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति से मिलती-जुलती है। इसमें क्षेत्र एक सदस्य वाले होते हैं जबकि आनुपातिक पद्धति में बहु सदस्य वाले क्षेत्र होते हैं।

(3) **सीमित मत प्रणाली** (Limited Vote System)– इसमें यह अपेक्षा की जाती है कि एक बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में कम से कम तीन स्थान होने चाहिए और मतदाताओं को स्थानों की संख्या से कम मत देने का अधिकार होना चाहिए। उन्हें यह भी इजाजत नहीं होनी चाहिए कि वे किसी उम्मीदबार को एक से अधिक मत दे सकें। उदाहरण के लिए, तीन सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र में प्रत्येक मतदाता के पास दो मत होते हैं। ऐसी व्यवस्था में अल्पसंख्यकों की स्थिति में थोड़ा सुधार आ जाता है और यदि उनकी संख्या काफी अधिक है, वे एक हैं और सुसंगठित है तो इस बात की सम्भावना हो सकती है कि वे कोई स्थान प्राप्त कर लें।

(4) **एक मत-पद्धति** (Single Vote System)– यह बहुसदस्यीय निर्वाचन -क्षेत्र में चलती है जिसमें प्रत्येक मतदाता को एक मत देने का अधिकार दिया जाता है। उम्मीदवारों को मतों की बहुसंख्या के आधार पर चुना जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों की स्थिति सुधर जाती है, क्योंकि अगर वे चाहें तो अपने उम्मीदवार के पक्ष में मतदान कर सकते हैं जबकि बहुसंख्यकों के मत विभिन्न उम्मीदवारों में बंट जाएँगे।

(5) **संचित मत प्रणाली** (Cummulative Vote System)– इस पद्धति के अन्तर्गत एक निर्वाचन क्षेत्र में जितने स्थान होते हैं, प्रत्येक मतदाता द्वारा उतने ही मत दिए जाते हैं। यदि वह चाहे तो अपने सारे मत एक प्रत्याशी के पक्ष में डाल सकते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि चार सदस्यों वाले निर्वाचन-क्षेत्र में अल्पसंख्यक वर्ग के मतदाता अपने सारे मत एक ही प्रत्याशी के पक्ष में डालते हैं तो कम से कम एक स्थान तो वे जीत ही सकते हैं। इसे एकत्रित मत पद्धति (Plumping Vote System) के नाम से भी जाना जाता है।

(6) **मतभार** (Weightage)– इसके अन्तर्गत अल्पसंख्यक लोगों को कुछ अतिरिक्त लाभ प्रदान करने चाहिए अर्थात् उन्हें उस संख्या से अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए जितने बहुसंख्यक लोगों को प्रदान किए जाएं। उदाहरण के लिए भारत में स्वातन्त्रय - पूर्व मुसलमानों और सिखों को दो मत देने का अधिकार था - एक सामान्य निर्वाचन - क्षेत्र के निर्वाचनों के लिए और एक अपने समुदाय के उम्मीदवार का निर्वाचन करने के लिए।

(7) **पृथक निर्वाचन प्रणाली** (Separate Electoral System)– कभी-कभी धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर पृथक-पृथक निर्वाचन-क्षेत्र बनाकर अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व दिलाने की व्यवस्था की जाती है। भारत में सन् 1909 के अधिनियम द्वारा अंग्रेजों ने इस प्रणाली को लागू करके मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन का प्रावधान किया था। इस प्रणाली के अन्तर्गत विधान-मण्डल में सम्प्रदायों के अनुसार

NOTES

स्थानों का बंटवारा कर दिया जाता है। एक सम्प्रदाय के मतदाता अपने सम्प्रदाय के उम्मीदवारों को ही मत दे सकते हैं।

(8) **व्यवसायिक प्रतिनिधित्व** (Functional or Occupational Representation)– प्रादेशिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अधिक अच्छे और प्रभावपूर्ण विकल्प के रूप में अनेक राजनीतिशास्त्रियों ने व्यावसायिक या प्रकार्यात्मक पद्धति का सुझाव दिया है। व्यावसायिक प्रतिनधित्व का आधार पेशा या व्यवसाय होता है, न कि प्रादेशिक क्षेत्र। इस प्रणाली के समर्थक प्रादेशिक प्रणाली की तीव्र आलोचना करते हुए कहते हैं कि प्रादेशिक प्रणाली लोगों का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इस प्रणाली के समर्थकों के अनुसार एक ही व्यवसाय में लगे व्यक्तियों के हित एक से होते हैं, न कि एक ही प्रादेशिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों के। इस विचार का बुनियादी आधार यह है कि सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक समूहों को राष्ट्रीय विधानसभा में स्थान दिया जाना चाहिए क्योंकि इनके अपने विशेष हित होते हैं। निर्वाचन पद्धति का बुनियादी आधार वृत्ति या पेशा होना चाहिए। श्रमिकों का प्रतिनिधित्व श्रमिक, वकीलों का प्रतिनिधित्व वकील और डाक्टरों का प्रतिनिधित्व डाक्टर ही करें, तभी देश में सच्चा लोकतंत्र स्थापित होगा।

व्यवसायिक या प्रकार्यात्मक प्रतिनिधित्व का विचार उस सामाजिक व्यवस्था से प्रेरणा ग्रहण करता है जो मध्ययुग में विद्यमान थी जब सामाजिक वर्गों का स्वायत्तशासी स्वरूप होता था। गिल्ड समाजवादियों ने इसे नये रूप में प्रस्तुत किया। डुग्वी ने कहा कि विभिन्न गुटों को प्रतिनिधित्व प्रदान करके जन-इच्छा को उपयुक्त अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है। **सिडनी वेब** और ब्रीटिस वेब् जैसे प्रसिद्ध अंग्रेज फेबियनों ने यह सुझाव दिया कि 'ब्रिटेन के समाजवादी राष्ट्र-मण्डल के लिए नया संविधान बनाया जाना चाहिए जिसका आधार प्रकार्यात्मक हो।' **जी. डी. एच. कोल** के शब्दों में "समस्त, सच्चा और लोकतान्त्रिक प्रतिनिधित्व प्रकार्यात्मक प्रतिनिधित्व है... इसका निष्कर्ष यह है कि समाज में प्रतिनिधियों के अधिक उतने निर्वाचन गुट होने चाहिए जितने किए जाने वाले अलग-अलग कार्य हों।"

अनेक देशों में प्रकार्यात्मक प्रतिनिधित्व के विचार को मूर्त रूप प्रदान किया गया है। पूर्व सोवियत संघ में प्रतिनिधित्व की प्रादेशिक प्रणाली के स्थान पर ऐसी पद्धति की स्थापना की गयी जिसका आधार 'अखिल रूसी कांग्रेस' का वह व्यावसायिक सिद्धान्त था जिसमें खानों के श्रमिक, लोहार, कृषक, व्यवसायिक व्यक्ति और अन्य वर्गों को प्रादेशिक क्षेत्रों का ख्याल किए बिना अपने प्रतिनिधि चुनने की अनुमति दी गयी थी। इटली में भी सीनेट का प्रकार्यात्मक आधार पर पुनर्गठन किया गया और मुसोलिनी के निगमित राज्य के सिद्धान्त से यह अपेक्षा की गयी थी। जर्मनी के सन् 1919 के वायमर संविधान के अधीन एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद की स्थापना की गई जिसमें श्रमिकों, पूंजीपतियों और उपभोक्ताओं के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

अनेक पाश्चात्य लेखकों का मत है कि प्रादेशिक प्रतिनिधित्व पर आधारित 'राजनीतिक लोकतन्त्र' के स्थान पर प्रकार्यात्मक प्रतिनिधित्व पर आधारित 'व्यवसायिक लोकतन्त्र' की स्थापना की जानी चाहिए। वेब्स, ग्राहम वालेस, विलियम मैकडॉनल्ड, एच.ए. स्ट्रीट आदि विद्वानों का विचार है कि विधायिका के दो सदन होने चाहिए और यदि निम्न सदन का संगठन प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर हो, तो उच्च सदन का गठन व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के आधार पर हो –

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की आलोचना – व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की धारणा की निम्नलिखित तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती है :

(a) **राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा** – इसके फलस्वरूप विधायिका वर्गीय और विशेष हितों की सभा बन जायेगी और ये प्रतिनिधित्व राष्ट्रीय हितों का उचित ध्यान नहीं रखेंगे।

(b) **राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का ह्रास** – व्यावसायिक प्रतिनिधित्व सामाजिक गुटों की स्वायत्तता पर अधिक बल देता है जो राज्य के सर्वोच्च सत्तात्मक प्राधिकरण के लिए सम्भावी चुनौती बन जाती है।

(c) **राष्ट्रीय एकता के लिए संकट** – व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में हितों की एकता नहीं होती। विभिन्न हितों के होने से उनके परस्पर संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है। फिर विभिन्न व्यवसायों के प्रतिनिधि अपने संकुचित व्यावसायिक हितों को अधिक महत्व देंगे तो राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन हो जायेगा।

(d) **मानवीय जीवन के अन्य पक्षों की उपेक्षा** – व्यावसायिक प्रतिनिधित्व से आर्थिक पक्ष का प्रतिनिधित्व तो ठीक-ठाक हो जायेगा किन्तु जीवन के अन्य पक्षों की उपेक्षा होती रहेगी।

(e) **व्यावहारिक कठिनाईयाँ** – इस पद्धति के क्रियान्वयन में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, जैसे (क) अभी तक कोई सर्वसम्मत योजना नहीं बनी जिसके अन्तर्गत विभिन्न वृत्तियों के लोगों को प्रतिनिधित्व दिया जाए। मजदूरों और मिल मालिकों को किस आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाये? अधिकतम स्त्रियाँ गृह-कार्य में लगी रहती हैं, उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जाये या नहीं? और यदि दिया जाए तो किस आधार पर ? (ख) अनेक व्यक्ति एक साथ कई व्यवसाय करते हैं और अनेक व्यक्तियों का कोई भी निश्चित व्यवसाय नहीं होता। ऐसी स्थिति में व्यवसायों के आधार पर प्रतिनिधित्व देना कठिन होगा। (ग) इस प्रथा में एक बड़ी समस्या यह सामने आती है कि व्यक्ति अपने व्यवसायों में परिवर्तन करते रहते हैं और यह विचार करना कठिन हो जाता है कि उनके विषय में क्या करना चाहिए।

संक्षेप में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व विधायिका को परस्पर विरोधी प्रकार्यात्मक गुटों का दंगल बना देता है जिसके परिणामस्वरूप वर्गगत हित राष्ट्रीय हितों पर हावी हो जाते हैं। यह भी बहुत कठिन कार्य है कि सभी आर्थिक और सामाजिक व्यवसायों की मानक गणना की जाए और उनके बारे में पर्याप्त प्रतिनिधित्व की बात सोची जाए। **कोकर** और **रोडी** आर्थिक और व्यावसायिक गुटों के आधार पर प्रतिनिधित्व की योजना की निन्दा करते हुए इस बात की ओर संकेत करते हैं कि ऐसे गुट अपनी संयोजना में अनिश्चित और अस्थायी होते हैं। कई आवश्यक व्यवसाय मूलभूत राजनीतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में किन्हीं विशिष्ट हितों का निर्माण नहीं करते।

(9) **आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली** (Proporational Representation)– अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए साधारणतया जिन प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है उनमें सबसे अधिक लोकप्रिय 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली' है। यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि मतों की गणना करने के बजाय उनको तोला जाना चाहिए। इसका उद्देश्य सभी राजनीतिक दलों को विधान-मण्डल के निर्वाचन में प्राप्त मतों के अनुपात में, प्रतिनिधित्व देना है। इसके तीन तत्व हैं : **प्रथम,** बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र होता है, **द्वितीय,** कोई उम्मीदवार पूर्ण या सापेक्ष बहुमत प्राप्त करने के आधार पर नहीं चुना जाता बल्कि मतों का एक निश्चित कोटा प्राप्त करने पर विजयी होता है, जो डाले गए मतों को भरे जाने वाले स्थानों की संख्या से भाग देने पर प्राप्त होता है, **तृतीय,** व्यवस्थापिका में निर्वाचकों को गणितीय रूप से यथासम्भव समान और उपयुक्त प्रतिनधित्व प्रदान किया जाता है।

आनुपातिक आधार पर प्रतिनिधित्व की कोई निश्चित प्रणाली नहीं है। **प्रो. सी. एफ. स्ट्रांग** ने कहा भी है, "आनुपातिक प्रतिनिधित्व का पृथक रूप में कोई भी अर्थ नहीं क्योंकि यह अनेक प्रकार से है। किन्तु सब रूपों में एक समानता है जो इस प्रकार के मतदान के लिए अति आवश्यक है। वह यह है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की कोई भी प्रणाली एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र पर निर्धारित नहीं की जा सकती। " आनुपातिक प्रतिनिधित्व के दो प्रकार होते हैं : (a) एकल-संक्रमणीय मत प्रणाली (b) सूची प्रणाली।

(a) **एकल संक्रमणीय मत प्रणाली** (Single Transferable Vote System) – सबसे पहले सन् 1793 में एक डेनिश मंत्री कार्ल आन्द्राए ने इस प्रणाली का विकास किया। ब्रिटिश विद्वान टॉमस हेयर ने सन् 1851 में इसे परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया। अत: इसे 'हेयर पद्धति' (Hare System) भी कहा जाता है, यद्यपि हेयर इसके अन्तर्निहित दोषों को दूर नहीं कर पाया था, जिन्हें अब दूर कर दिया गया है।

इस व्यवस्था में देश बहुत से निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त कर दिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से कम से कम 3 सदस्य चुन लिए जाते हैं। इसके अन्तर्गत एक निर्वाचन-क्षेत्र में सभी प्रत्याशियों के नाम एक मतपत्र पर लिखे होते हैं और प्रत्येक मतदाता के पास मत प्रत्याशियों की संख्या के बराबर ही होते हैं। वह अपने मत एक, दो या सभी प्रत्याशियों को डाल सकता है। लेकिन यह आवश्यक है कि वह प्रत्याशियों के नामों के आगे 1,2,3,4, लिखकर अपनी पसन्दगी प्रकट कर दे। जिस प्रत्याशी के नाम के आगे वह '1' लिखता है उसे उसकी पहली पसन्द का मत मिलता है और इसी प्रकार क्रम चलता रहता है। इस प्रकार मतदाता चाहे तो सभी प्रत्याशियों को प्राथमिकताओं के क्रम से मत दे सकता है और चाहे तो कुछ को ही प्राथमिकता के आधार पर मत दे सकता है। लेकिन उससे यह अपेक्षा अवश्य की जाती है कि वह अपनी पसन्दों को सही तरीके से भरे, अन्यथा उसके मतपत्र को रद्द समझा जाएगा।

मतों की गणना के समय निश्चित कोटा ज्ञात किया जाता है। यदि कोई प्रत्याशी मतों का एक निश्चित कोटा प्राप्त कर लेता है तो वह निर्वाचित मान लिया जाता है। इस कोटे के निर्धारण का उपाय यह है कि वैध मत डालने वाले मतदाताओं की कुल संख्या में, निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या में एक जोड़कर, उसका भाग दे दिया जाता है। भाज्य-फल में एक जोड़ देने से यह कोटा प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यदि चार सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र में 2,000 वैध मत डाले जाते हैं तो कोटा इस प्रकार निर्धारित होगा –

$$\frac{2000}{4+1} + 1 = 401 \text{ मत}$$

इसके बाद मतों को गिना जायेगा। जिस उम्मीदवार को निश्चित कोटे के अंक के समान अथवा उससे अधिक मत प्राप्त होते हैं, उसे सफल घोषित कर दिया जाता है। अगर कुछ स्थान खाली रह जाते हैं, तो जिस उम्मीदवार को सबसे कम मत मिले होते हैं, उसे निकाल दिया जाता है और अंकित दूसरी प्राथमिकता के क्रम के अनुसार, उसके प्राप्त मतों को दूसरे उम्मीदवारों के पक्ष में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक सभी स्थान भर नहीं जाते और अन्य उम्मीदवारों के चुनाव दंगल से हटने के पश्चात् अपेक्षित संख्या में ही उम्मीदवार मैदान में नहीं रह जाते है। इस प्रकार उन्हीं उम्मीदवारों को निर्वाचित घोषित किया जाता है जो फालतू मतों के हस्तान्तरण के पश्चात् चुनाव अंक (Quota)प्राप्त कर लेते हैं अथवा जो कम मतों वाले उम्मीदवारों के मैदान से हटने के बाद शेष रह जाते हैं।

(b) **सूची प्रणाली** (List System)–इस प्रणाली में भी बहुसदस्यीय निर्वाचन – क्षेत्र होते हैं। इसके अन्तर्गत उम्मीदवार व्यक्तिगत रूप से नहीं, बल्कि दलीय आधार पर खड़े किए जाते हैं। प्रत्येक दल अपने उम्मीदवारों की सूची तैयार करता है। वस्तुत: इसमें उम्मीदवारों को उनके राजनीतिक दलों के चिन्हों के अनुसार, समूहों में सूचीबद्ध कर दिया जाता है। जितने स्थानों को भरा जाना है, हर दल उतनी संख्या में अथवा उससे कम अपने सम्भावित उम्मीदवारों की सूची प्रस्तुत करता है। मतदाता अपने मत किसी भी दल की पूरी सूची के पक्ष में देते हैं, व्यक्तिगत उम्मीदवारों को नहीं। डाले गए कुल मतों की संख्या में निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या से भाग देकर निर्वाचन अंक (Quota) निकाल लिया जाता है। इसके पश्चात् दल द्वारा प्राप्त मतों की संख्या को निर्वाचक अंक से भाग देकर यह निश्चय किया जाता है कि प्रत्येक दल कितने स्थानों का अधिकारी है, अर्थात् निर्वाचन में किस दल ने कितने प्रतिशत मत प्राप्त किये हैं और उसी प्रतिशत के अनुसार विविध दलों में स्थानों का बंटवारा कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ किसी दल को कुल 40 स्थानों के लिए 50 प्रतिशत मत प्राप्त हुए हैं तो व्यवस्थापिका के लिए उसके 20 प्रत्याशी चुन लिए जांएगे। लेकिन ये 20 सदस्य उसी क्रम से लिए जाएंगे जिस क्रम से चुनाव से पूर्व सूची तैयार की गई थी। दल अपने फालतू मतों को पड़ोसी या किसी अन्य बहु–सदस्यीय निर्वाचन–क्षेत्र में ले जाकर और फिर अपने सभी फालतू प्रतिशत मतों को एकत्रित कर एक या अधिक स्थानों पर कब्जा करने का भी प्रयास कर सकता है। यदि दल चाहे तो अपनी फालतू प्रतिशतता को किसी अन्य दल के पक्ष में स्थानान्तरित कर दे जिससे एक वांछित उम्मीदवार के लिए स्थान सुनिश्चित किया जा सके।

यह पद्धति सरल है। **जे. एस. मिल** के अनुसार, यह पद्धति , "राज्य के अन्दर स्थित विभिन्न दलों व समूहों के बीच सीटें वितरित करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है।" बेल्जियम, स्विट्जरलैण्ड, नार्वे, स्वीडन और डेनमार्क जैसे यूरोपीय देशों में इस पद्धति को व्यापक रूप से अपनाया गया है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण

(1) **सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व** – यह कहा जाता है कि जनता के सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने का यह सबसे उत्तम तरीका है। इस पद्धति के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। जब विधान–मण्डल में प्रत्येक वर्ग को अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्राप्त हो जाता है तो लोकतन्त्र अपने पूर्ण और वास्तविक रूप में प्रकट होता है।

(2) **बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं** – आनुपातिक प्रतिनिधित्व व्यवस्था में साधारणतया किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता, अत: अल्पमत को बहुमत के पाशविक शासन का भय नहीं रहता।

(3) **कोई मत व्यर्थ नहीं जाता** – यह पद्धति मताधिकार को सार्थक बना देती है।यदि किसी का प्रथम वरीयता मत काम में नहीं आता, तो दूसरी तीसरी पसन्द का मत काम में आता है।इससे किसी मतदाता का मत व्यर्थ नहीं जाता।

(4) **अधिक लोकतन्त्रीय** – बहुत से विद्वान इस पद्धति को अधिक लोकतन्त्रीय कहते हैं, क्योकि इसमें अधिक तरह के लोगों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। **लार्ड एक्टन** के शब्दों में "यह अत्यधिक लोकतान्त्रिक है क्योंकि यह उन हजारों व्यक्तियों के प्रभाव को बढ़ाती है जिसकी सरकार में अन्यथा कोई आवाज नहीं होती और ऐसी व्यवस्था करके यह लोगों को समानता के अधिक निकट लाती है कि कोई मत व्यर्थ नहीं किया जायेगा" और प्रत्येक मतदाता का इसमें योगदान होगा कि संसद में उसका भी अपना सदस्य है।"

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दोष

प्रो. सी. एफ. स्ट्रांग के अनुसार, "सैद्धान्तिक दृष्टि से आनुपातिक प्रतिनिधत्व सभी प्रकार से श्रेष्ठ प्रतीत होता है, किन्तु व्यवहार में स्थिति ऐसी नहीं है।" इसके प्रमुख दोष इस प्रकार हैं:–

(1) **जटिल प्रणाली** – यह प्रणाली अत्यन्त जटिलता एवं परिभ्रान्ति उत्पन्न करने वाली है। इस प्रणाली द्वारा निर्वाचन की प्रक्रिया इतनी कठिन तथा जटिल हो जाती है कि बहुत कम मतदाता ही इसको अच्छी प्रकार से समझ सकते हैं।

(2) **मतदाता और प्रतिनिधि में पर्याप्त सम्बन्ध नहीं** – इस प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र बड़े–बड़े होते हैं। प्रत्याशियों की संख्या अधिक रहती है। फलस्वरूप मतदाता और उनके प्रतिनिधियों के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाते।

(3) **अस्थायी सरकारें** – इस प्रणाली से साधारणतया विधान–मण्डल में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता। इसके परिणामस्वरूप बहुधा कई दलों की मिली– जुली सरकारें बनती हैं, जो अस्थायी साबित होती हैं। सन् 1958 से पूर्व के फ्रांस को आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के सबसे बुरे अनुभव हुए। यह ठीक कहा जाता है कि सन् 1932–33 में जर्मनी के निर्वाचनों में हिटलर की नाजी पार्टी को जो सफलता मिली, वह आंशिक रूप से जर्मनी में इसी प्रथा की विद्यमानता के कारण हुई।

(4) **दलों के ध्रुवीकरण के मार्ग में रोड़ा** – यह प्रणाली छोटे–छोटे दलों को बढ़ावा देती है। यह अनुशासित दलों के विकास के मार्ग में भी बाधा डालती है तथा दलों में गुटबन्दी के रोग को प्रोत्साहित करके जल्दी–जल्दी बदलने वाले गठजोड़ों को उत्पन्न करती है। इस प्रणाली से किसी भी देश में राजनीतिक दलों की संख्या घटने के बजाय निरन्तर बढ़ती जाती है।

फ्रेंच विधिशास्त्री **एस्मीन** ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के विरुद्ध अपना विरोध इन शब्दों में व्यक्त किया है: "आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को स्थापित करना तो ऐसा है जैसे द्विसदनीय पद्धति द्वारा जो उपचार प्रस्तुत किया गया उसे प्रभावी विष में बदल दिया जाए, यह तो अल्पावस्था का आयोजन

करना और विधायी शक्तियों को कम करना है, इससे मन्त्रिमण्डल अस्थिर हो जाएगा, उनका सामन्जस्य समाप्त हो जाएगा और लोकतान्त्रिक शासन असम्भव हो जाएगा।"

निष्कर्ष

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में गुणों की अपेक्षा दोष अधिक हैं। यह पद्धति छोटे-छोटे दलों को प्रोत्साहन देकर स्थायी एवं दृढ़ सरकार का निर्माण करना कठिन बना देती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यूरोप के जिन देशों ने इस प्रणाली का प्रयोग आरम्भ किया था उनमें से अनेक देशों ने इसका परित्याग कर दिया है।

वर्तमान काल में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को सभी प्रतिनिधित्व प्रणालियों से बढ़िया समझा जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत प्रतिनिधियों का चुनाव प्रादेशिक आधार पर होता है। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का आशय यह है कि किसी क्षेत्र में निर्वाचन कराने के लिए उस भूभाग को कई निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त यह मान लेता है कि एक क्षेत्र के निवासियों के कुछ सामान्य हित होते हैं जो अन्य प्रदेशों के निवासियों से स्पष्टतया अलग होते हैं। ये प्रादेशिक हित इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि उस प्रदेश के निवासियों को अपने हितों की रक्षा के लिए विधायिका में अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होना चाहिए।

प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के लिए निम्नलिखित शर्तें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं:-

(1) सार्वजनिक वयस्क मताधिकार होना चाहिए। 'एक व्यक्ति एक मत' के सिद्धान्त को कठोर रूप से लागू किया जाना चाहिए।

(2) प्रतिनिधित्व, वास्तव में, योग्यतम या अभ्रष्ट्य लोगों को दिया जाना चाहिए।

(3) मतदान के लिए गुप्त मतदान प्रथा का अनुसरण किया जाना चाहिए।

(4) मतदाताओं और प्रतिनिधियों के बीच निकट सम्पर्क होना चाहिए।

(5) राजनीतिक दलों की संख्या पर नियन्त्रण रहना चाहिए। कानून द्वारा दल पद्धति के सरलीकरण का प्रयास किया जाना चाहिए।

(6) अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए।

संक्षेप में, प्रतिनिधित्व पद्धति को देश की परिस्थितियों में अधिक कार्य-योग्य बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए। **सी.एफ. स्ट्रांग** ने इस सम्बन्ध में लिखा है: "निर्वाचन -सुधार सम्बन्धी ऐसी योजनाओं को, जिनका उद्देश्य श्रेष्ठतम प्रकार की विधायिकाएँ उत्पन्न करना है, को आदर्श निर्वाचकों का कुछ अंश कुरबान करना पड़ेगा। विधायिका में निर्वाचकों के मतों का प्रतिबिम्बन केवल आंशिक रूप से ही सम्भव है और वह भी हमेशा वांछनीय नहीं है।"

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अल्पमतों को उचित प्रतिनिधित्व देने के लिए प्रयोग की गई विभिन्न पद्धतियों को समझाइए। आनुपातिक प्रतिनिधित्व के विरुद्ध क्या तर्क दिए जाते हैं?
2. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. द्वितीय मत प्रणाली से क्या अभिप्राय है?
2. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की आलोचना कीजिए।
3. सूची प्रणाली की व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए निम्नलिखित में से कौनसी एक पद्धति नहीं है ?
   (अ) पृथक् निर्वाचन प्रणाली (ब) बहुल मतदान प्रणाली
   (स) एकत्रित मत प्रणाली (द) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली
2. आनुपातिक प्रतिनिधत्व प्रणाली का सर्वप्रथम प्रतिपादन किसने किया ?
   (अ) रूसो (ब) जे.एस. मिल
   (स) टॉमस हेयर (द) टॉमस पेन
3. एकल संक्रमणीय मत पद्धति के लिए क्या आवश्यक है ?
   (अ) एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (ब) दो सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र
   (स) बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (द) कैसा भी निर्वाचन क्षेत्र हो सकता है।
4. किस देश के राष्ट्रपति चुनाव में द्वितीय मत प्रणाली को अपनाया गया है ?
   (अ) अमेरिका (ब) भारत
   (स) पाकिस्तान (द) फ्रांस
5. व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का प्रबल समर्थक विचारक
   (अ) मान्टेस्क्यू (ब) जी.डी.एच. कोल
   (स) हीगल (द) टी.एच. ग्रीन
6. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का गुण है–
   (अ) सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व (ब) कोई मत व्यर्थ नहीं जाता
   (स) बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं (द) उपर्युक्त सभी
7. एकल संक्रमणीय मत प्रणाली किससे संबंधित है ?
   (अ) पृथक निर्वाचन प्रणाली (ब) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली
   (स) संचित मत प्रणाली (द) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

उत्तर **1.** (ब), **2.** (स), **3.** (स), **4.** (द), **5.** (ब), **6.** (द), **7.** (ब)

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

19

कल्याणकारी राज्य की अवधारणा

(THE CONCEPT OF WELFARE STATE)

लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त राज्य के कार्य-क्षेत्र का एक आधुनिक सिद्धान्त है। यह शब्द सामान्यत: उस राज्य के लिए अपनाया जाता है जो अपने नागरिकों के लिए केवल न्याय, सुरक्षा तथा आतंरिक व्यवस्था करके ही संतोष नहीं कर लेता, अपितु उनके कल्याण की अभिवृद्धि के लिए जीवन के चहुंमुखी विकास पर ध्यान देता है।

कल्याणकारी राज्य की धारणा का प्रादुर्भाव
(Origin of the Concept of Welfare State)

18 वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप योरोपीय देशों में उद्योग-धन्धों में वृद्धि हुई। शहरों में कारखाने बढ़ने के साथ-साथ श्रमिकों की संख्या में भी अनवरत वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप कतिपय नई समस्याएं उत्पन्न हुईं। औद्योगिक नागरिकों में जनसंख्या की बढ़ोत्तरी के परिणामस्वरूप श्रमिकों की गन्दी बस्तियाँ बढ़ना स्वाभाविक था। गन्दी बस्तियों के परिणामस्वरूप बीमारी बढ़ी, बेरोजगारी में वृद्धि हुई तथा सामाजिक कुरीतियाँ बढ़ीं। बाल्यावस्था में ही लोग कारखानों में मजदूरी करना आरम्भ कर देते थे। मजदूरी की दरें अत्यन्त कम थीं और बेरोजगारी के समय उनकी दुर्दशा शोचनीय हो जाती थी। इस दुर्दशा के सुधार हेतु 19 वीं शताब्दी में विभिन्न प्रयास किये गये। सामाजिक सुधार के लिए अनेक कानून पारित किये गये जिसमें मजदूरी के न्यूनतम स्तर, सफाई, पढ़ाई, स्वास्थ्य की सुरक्षा, बाल्यावस्था में मजदूरी पर निषेध आदि का प्रबन्ध किया गया। इन सुधारात्मक कानूनों से श्रमिक वर्ग के शोषण पर रुकावट लगी तथा समाज के दुर्बल वर्गों के हितों के लिए राज्य द्वारा संरक्षण दिया गया। इस प्रकार के सामाजिक न्याय से सम्बन्धित कानूनों के निर्माण की प्रवृत्ति के द्वारा ही आधुनिक लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा का विकास हुआ।

वैसे तो प्रो. हेरल्ड लास्की को कल्याणकारी राज्य की धारणा का वर्तमान युग में पथ-प्रदर्शक माना जाता है, किन्तु यह धारणा एकदम नई नहीं है। अरस्तू ने कहा था कि "राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और सद्जीवन के लिए अस्तित्व में बना हुआ है।" हमारे प्राचीन ग्रंथ महाभारत में इस धारणा की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है– "जो नरेश अपनी प्रजा को पुत्र समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता वह नरक का भागी होता है।" बेन्थम और जे.एस. मिल के उपयोगितावादी चिन्तन में कल्याणकारी राज्य के मन्तव्य निहित हैं। इंगलैण्ड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम के समय जिस 'निर्धनता कानून' की सृष्टि गरीबों एवं शारीरिक दृष्टि से अयोग्य व्यक्तियों को राहत देने के लिए की गई थी उसमें जनहित की भावना निहित थी। इंगलैण्ड के फेबियन समाजवादी दार्शनिकों ने कल्याणकारी राज्य की धारणा की प्रगति में अप्रत्यक्ष सहयोग दिया। इंगलैण्ड की मजदूर दलीय सरकार ने उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके अनेक प्रगतिशील नीतियाँ अपनायी। नेपोलियन तृतीय ने अपने शासन काल में श्रमिकों की वेतन-वृद्धि तथा बीमारों को राजकीय सहायता प्रदान करके कल्याणकारी राज्य की पृष्ठभूमि तैयार की। बिस्मार्क जैसे शासक ने भी बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था तथा शरीरिक अयोग्यता सम्बन्धी कई प्रकार की राज्य-सुविधायें प्रदान कर जनकल्याणकारी राज्य के उद्भव में सहयोग दिया।

फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास में इंग्लैण्ड का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। जैसा कि हॉब्मैन ने लिखा है– "यह ब्रिटेन की राजनीतिक प्रतिभा का फल है जो धीरे-धीरे एक वृक्ष के रूप में बढ़कर तैयार हो गया है और जिसका रोपण साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व किया गया था।"

लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा व्यक्तिवाद और समाजवाद का मिश्रण है। यह व्यक्तिवाद की भाँति व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता और समाजवाद की भाँति अधिक से अधिक कार्यों

का सम्पादन करता है। कल्याणकारी राज्य की धारणा के पीछे यही ध्येय है कि व्यक्ति को सुखी एवं समृद्ध बनाया जाये और इस हेतु राज्य द्वारा आवश्यक सेवा कार्यों का सम्पादन किया जाये।

कल्याणकारी राज्य की धारणा के अभ्युदय के कारण

कल्याणकारी राज्य की धारणा वर्तमान परिस्थितियों की उपज हैं। इसे आधुनिक औद्योगीकरण की देन कहा जा सकता है। इसके उदय के प्रमुख कारण अधोलिखित हैं :-

(1) **व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया** – कल्याणकारी राज्य का आदर्श व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। 19 वीं शताब्दी में यूरोप के अनेक देशों में इसी सिद्धान्त का बोलबाला था। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया गया और राज्य ने यद्भाव्यम् नीति अपना ली। इससे औद्योगिक क्रान्ति के युग में मजदूरों की दशा दयनीय हो गयी। कारखानों के पूंजीपति मालिक उनसे अधिक से अधिक काम लेते और कम से कम वेतन देते थे। राज्य पूंजीपतियों और मजदूरों के इन सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करता था। धीरे-धीरे ऐसी व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। यह महसूस किया गया कि मजदूरों की दशा सुधारने के लिए अहस्तक्षेप नीति का परित्याग कर राज्य को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में मजदूरों की भलाई के लिए राज्य ने कुछ कानून बनाये और यहीं से राज्य की कल्याणकारी धारणा का सूत्रपात हुआ।

(2) **मार्क्सवादी साम्यवाद का भय** – कार्ल मार्क्स एवं एंगेल्स ने सन् 1848 ई. में "साम्यवादी घोषणापत्र" प्रकाशित किया। सन् 1917 में लेनिन के नेतृत्व में सोवियत रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई तथा मार्क्स की विचारधारा को ठोस आधार प्राप्त हुआ। साम्यवादी विचारधारा से पाश्चात्य पूंजीवादी देश भयभीत हो गये। वे यह महसूस करने लगे कि यदि पाश्चात्य पूंजीवादी लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं किया गया तो साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना असम्भव होगा। अत: पूंजीवादी लोकतान्त्रिक देशों में कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का तेजी से प्रचार हुआ।

(3) **लोकतान्त्रिक समाजवाद की धारणा का चलन** – मार्क्सवादी साम्यवाद हिंसा और क्रान्ति के उपायों के सहारे समाज-व्यवस्था को बदलना चाहता था। इसके विरुद्ध विकासशील और लोकतान्त्रिक समाजवादी की धारणा का उदय हुआ। यह शान्तिपूर्ण एवं वैध उपायों से सामाजिक परिवर्तन चाहता है। इस विचारधारा के समर्थक राज्य को एक लोक-कल्याणकारी संस्था मानते हैं। ये राज्य की सहायता से समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। उनके दृष्टिकोण कल्याणकारी राज्य के मन्तव्यों से मिलते-जुलते हैं।

(4) **निम्न पिछड़े वर्ग का उत्थान** – आधुनिक युग लोकतन्त्रात्मक युग है। लोकतन्त्र में सामान्य जनता की उपेक्षा असम्भव है। मताधिकार के विस्तार से निम्न वर्गों की दयनीय स्थिति सुधारने के लिए सक्रिय प्रयत्न करना अनिवार्य हो गया। इसके लिए राज्य को अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करना पड़ा तथा जन-कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण करना पड़ा।

कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा
(The Welfare State : Meaning & Definitions)

कल्याणकारी राज्य की धारणा अत्यन्त विस्तृत है अत: कोई सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। सामान्यत: हम उस राज्य को कल्याणकारी राज्य कहते हैं जिसमें राज्य द्वारा उन आपत्तियों एवं कठिनाइयों से मुकाबला करने के उपायों का सेवाओं द्वारा प्रबन्ध किया जाता है जो आपत्तियाँ तथा कठिनाईयाँ प्रत्येक नागरिक के जीवन में उपस्थित हो सकती हैं। कल्याणकारी राज्य की धारणा एक ऐसे राज्य की ओर संकेत करती है जो जनता की भलाई के लिए कार्य करता है। "भलाई" अथवा "कल्याण" से अभिप्राय आर्थिक और सामाजिक हितों की वृद्धि करना है। कल्याणकारी राज्य व्यैक्तिक स्वतन्त्रता में विश्वास करता है तथा आवश्यक रूप से एक लोकतान्त्रिक राज्य होता है।कल्याणकारी राज्य के मन्तव्य को उजागर करने वाली कतिपय प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं :-

NOTES

डॉ. अब्राहम के शब्दों में – "लोक-कल्याणकारी राज्य वह समुदाय है जो आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"

केण्ट के अनुसार – "लोक-कल्याणकारी राज्य वह है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।"

पं. नेहरू का कथन है कि – "सबके लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों और गरीबों के बीच का अन्तर मिटाना और जीवन-स्तर को ऊपर उठाना लोक-कल्याणकारी राज्य के बुनियादी तत्व हैं।"

प्रो. जी.डी. एच. कोल के शब्दों में – "लोक-हितकारी राज्य एक ऐसा समाज है जिसमें जीवन का न्यूनतम स्तर प्राप्त करने का विश्वास तथा अवसर प्रत्येक नागरिकों के अधिकार में होते हैं।"

आर्थर स्लेसिंन्जर के अनुसार – "लोक-हितकारी राज्य वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत अपने समस्त नागरिकों के लिए रोजगार, आय, शिक्षा, चिकित्सा-सहायता, सामाजिक सुरक्षा तथा आवास के कुछ स्तर स्थापित करने के लिए तैयार रहती है।"

संक्षेप में, एक राज्य तभी कल्याणकारी होता है जब वह लोक-कल्याण के विस्तृत कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता है। कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो राज्य द्वारा किये जाने वाले साधारण कार्यों के अतिरिक्त लोक-कल्याण के कार्य, जैसे -बेकारी दूर करना, बीमा योजनाएं, बुढ़ापे की पेंशन व अन्य सुरक्षा प्रदान करना इत्यादि करता है।

लोक-कल्याणकारी राज्य की बुनियादी धारणा यह है कि वास्तव में व्यक्ति की निर्धनता तथा संकट का कारण सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं। अत: सामाजिक परिस्थितियों का सुधार कर व्यक्ति की सहायता करना राज्य का दायित्व माना जाता है। इसकी धारणा के पीछे सामाजिक न्याय की भावना भी निहित रहती है। डॉ. आशीर्वादम् के शब्दों में, "कल्याणकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार ताकि अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो सके।"

लोक-कल्याणकारी राज्य के ध्येय इस प्रकार हैं–

(1) लोक-कल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य नागरिक द्वारा स्वतन्त्रता के उपभोग को सम्भव बनाना है।

(2) राज्य के कार्यक्षेत्र का इस ढंग से विस्तार करना कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता बंधित न हो।

(3) जनता के सभी वर्गों के आवश्यक हितों की साधना करना।

(4) सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना।

(5) कल्याणकारी राज्य सामाजिक कार्य के ध्येय की पूर्ति का एक महत्वपूर्ण अंग हैं।

एम.सी. छागला के अनुसार, "लोक-कल्याणकारी राज्य का कार्य एक ऐसे पुल का निर्माण करना है, जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन की पतित अवस्था से निकलकर एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सके, जो उत्थानकारी और उद्देश्यपूर्ण हो।" संक्षेप में, कल्याणकारी राज्य ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनमें प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से सर्वांगीण विकास हो सके।

कल्याणकारी राज्य के लक्षण (Salient Features of Welfare State)

लोक-कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :-

(1) **लोकतन्त्रीय शासन** – कल्याण्कारी राज्य लोकतन्त्रीय व्यवस्था है तथा लोकतन्त्र में ही पुष्पित और पल्लवित होता है। कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य होता है कि राज्य के कार्यक्षेत्र का इस प्रकार विस्तार करना कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई विशेष बन्धन न लगे। कल्याणकारी राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकारों का सम्मान करता है तथा सामजिक परिवर्तन के लिए जनतान्त्रिक साधनों को अपनाता है।

(2) **सामाजिक न्याय की भावना** – कल्याणकारी राज्य सामाजिक न्याय के आदर्श पर कार्य करता है। अमीरों पर उनकी आय के अनुपात में इस प्रकार कर लगाये जाते हैं कि व्यक्तियों की आय का अन्तर कम हो जाए और आर्थिक समानता एवं लोकतन्त्र की स्थापना हो सके।

(3) **सामाजिक सुरक्षा** – कल्याणकारी राज्य नागरिक को अधिक से अधिक सुरक्षा प्रदान करता है। बेकारों को काम पर लगाया जाता है, सबको काम का अवसर प्रदान किया जाता है, निर्बलों एवं कमजोर वर्गों की सहायता की जाती है, बीमारी एवं बुढ़ापे में सुरक्षा प्रदान की जाती है। राज्य की ओर से सार्वजनिक अस्पतालों की व्यवस्था की जाती है तथा राज्य की ओर से बीमे की व्यवस्था होती है।

(4) **न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी** – कल्याणकारी राज्य नागरिकों के सामान्य जीवन स्तर को बनाए रखने का प्रयास करता है। निवास, वस्त्र आदि की न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी करना राज्य अपना दायित्व समझता है। अच्छे जीवन के लिए आवश्यक वातावरण निर्माण करना कल्याणकारी राज्य का लक्षण है।

(5) **समाजसेवी राज्य** – वस्तुत: कल्याणकारी राज्य एक समाजसेवी राज्य होता है। ऐसा राज्य निरक्षरता व निर्धनता दूर करने के साथ-साथ श्रम-न्यायालय, श्रम-अधिनियम, वाचनालय, पार्क, सड़क, आवास, प्रसूतिका-गृह आदि सभी की व्यवस्था करता है।

(6) **आर्थिक नियंत्रण की व्यवस्था** – ऐसा राज्य उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्थाओं पर नियन्त्रण स्थापित करता है, जिससे समाज के व्यापक हितों की पूर्ति की जा सके।

(7) **व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मध्य मार्ग** – हॉब्मैन के अनुसार, "यह दो अतियों में एक समझौता है– जिसमें एक तरफ साम्यवाद है और दूसरी तरफ अनियन्त्रित व्यक्तिवाद।" कल्याणकारी राज्य में राज्य के कृत्यों में वृद्धि होती है किन्तु व्यक्ति के महत्व को भी स्वीकार किया जाता है तथा उसकी स्वतन्त्रता बनी रहती है।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना** – कल्याणकारी राज्य का विचार राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भी है। हम सभी जानते हैं कि एक राज्य की दरिद्रता से सभी राज्यों की समृद्धि के लिए भय बना रहता है। राष्ट्रीय लोक-कल्याण की साधना को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि किसी राज्य-विशेष के हित-साधन के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय हित-साधन का भी ध्यान रखा जाये। विभिन्न राज्यों में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर पारस्परिक सहयोग एवं सामंजस्य से काम लिया जाये। लोक-हितकारी राज्य का विचार "वसुधैव कुटुम्बकम" के विचार पर आधारित है।

कल्याणकारी राज्य के कार्य (Functions of Welfare State)

प्राय: राज्य के कार्यों को दो वर्गों में बाँटा जाता है – अनिवार्य तथा ऐच्छिक। अनिवार्य कार्यों के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जो राज्य की सुरक्षा से सम्बन्ध रखते हैं – जैसे आन्तरिक शान्ति व्यवस्था बनाए रखना, प्रतिरक्षा और न्याय आदि। ऐच्छिक कार्य वे होते हैं जिन्हें अपने नागरिकों की भलाई के लिए राज्य द्वारा सम्मिलित किया जाता है। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से अब यह माना जाने लगा है कि ऐच्छिक कार्यों का सम्पादन करना भी राज्य के लिए अनिवार्य-सा है। कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं –

(1) **समाज-सुधार** – कल्याणकारी राज्य मद्य-निषेध, बाल-विवाहों की रोकथाम, छुआछूत, जाति प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन की कोशिश करता है।

(2) **श्रम का नियमन** – कल्याणकारी राज्य श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उचित पारिश्रमिक, पेंशन, स्वास्थ्य, बीमा, शिक्षा, असहाय अवस्था में मजदूरों की सहायता का प्रबन्ध करता है।

(3) **कृषि, उद्योग तथा व्यापार नियमन** – राज्य कृषि, उद्योग और व्यापार का इस प्रकार नियमन करता है ताकि किसी का शोषण न हो। भारी उद्योगों पर राज्य स्वयं नियन्त्रण रखता है। कृषि के विकास के लिए अच्छे बीजों, सिंचाई आदि की राज्य सुविधा प्रदान करता है।

(4) **असहाय स्थितियों में सहायता** – कल्याणकारी राज्य का यह दायित्व है कि असहाय एवं पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करे। राज्य आवास गृह, आजीविका गृह तथा रैनबसेरों की व्यवस्था करता है।

(5) **शिक्षा** – लोक हितकारी राज्य का दायित्व है कि नागरिकों को भली प्रकार से शिक्षित करे। प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक सारा प्रबन्ध राज्य के द्वारा किया जाना चाहिए। राज्य के द्वारा वाचनालयों तथा पुस्तकालयों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(6) **नैतिक उन्नति के साधनों का विकास** – राज्य को भौतिक उन्नति के साथ - साथ नैतिक उन्नति हेतु व्यवस्थायें करनी चाहिए। इसके लिए व्याख्यान-मालायें व रेडियो का सहारा लिया जा सकता है।

(7) **स्वास्थ्य-रक्षा** – स्वच्छता एवं रोगों की रोकथाम के लिए राज्य को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। जन-स्वास्थ्य के लिए चिकित्सालय तथा चिकित्सा-अनुसंधान-केन्द्र खोलने चाहिए। श्रमिकों, स्त्रियों, बालकों आदि के लिए कुछ समय के अन्तर से डाक्टरी जाँच आवश्यक कर देनी चाहिए।

(8) **आर्थिक सुरक्षा** – राज्य को आर्थिक व्यवस्था में ऐसा सुधार करना चाहिए जिससे सम्पत्ति का वितरण अधिक न्यायसंगत ढंग से हो सके व जीवन-निर्वाह के लिए नागरिक को पर्याप्त साधन-उपलब्ध हो सकें। सभी व्यक्तियों के रोजगार की व्यवस्था की जाये। जिन्हें राज्य कार्य प्रदान नहीं कर सकता उसके लिए "जीवन-निर्वाह भत्ते" का प्रबन्ध किया जाये।

(9) **परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्य** – राज्य को जनसंख्या सीमित करने का प्रयास करना चाहिए ताकि वर्तमान जनसंख्या के जीवन-स्तर को उन्नत किया जा सके। परिवार नियोजन कार्यक्रम का विस्तार करने के लिए लोगों की सुविधायें बढ़ायी जानी चाहिए।

संक्षेप में, कल्याणकारी राज्य के कार्यों की विस्तृत सूची यहाँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। यह एक सर्वमान्य धारणा है कि सार्वजनिक कल्याण की उच्च भावना को ध्यान में रखते हुए राज्य जो भी कार्य करता है, वे कल्याणकारी राज्य के कार्य कहला सकते हैं। राज्य के कार्यों में आम आदमी के कल्याण की भावना निहित होनी चाहिए।

कल्याणकारी राज्य की आलोचना (Criticism of Welfare State)

अनेक ऐसी बातें जो आज से पचास वर्ष पहले व्यक्तिगत मानी जाती थीं, अब राज्य के कार्यक्षेत्र में आ गई हैं और सामाजिक हित की दृष्टि से राज्य ऐसे विषयों में हस्तक्षेप करने लगा है जिन्हें व्यक्ति के कार्यक्षेत्र में माना जाता था। इस कारण से कल्याणकारी राज्य की आलोचना की जाती है। आलोचकों द्वारा प्रस्तुत तर्क इस प्रकार हैं –

(1) **व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन** – आलोचक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि कल्याणकारी राज्य की प्रणाली द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है। बहुत से कार्य राज्य केवल अपने ही नियन्त्रण तथा तत्वावधान में करता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य के कर्मचारियों की शक्ति बढ़ जाती है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। राज्य की बाध्यकारी शक्ति का उपयोग बढ़ जाता है और उसी मात्रा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन होता है।

(2) **राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग** – आलोचकों का कहना है कि कल्याणकारी राज्य की आड़ में धनी वर्ग से उसका धन लेकर समाज में समानता स्थापित करने के लिए राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग किया जाता है जो सर्वथा वर्जित है।

(3) **नौकरशाही का विकास** – लोक-कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत नौकरशाही की शक्तियाँ बढ़ने का भय रहता है। सरकार के कार्यों एवं दायित्व में वृद्धि के कारण प्रशासन का ढांचा बहुत विस्तृत हो जाता है, शासन शक्ति सरकारी कर्मचारियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है।

(4) **प्रेरणा का अभाव** – लोक-हितकारी राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवायें सबको ही प्राप्त होती हैं ; ऐसे व्यक्तियों को भी जो स्वयं अपने संकट का निवारण करने की क्षमता रखते हैं। बहुत से ऐसे व्यक्ति भी हैं जो आत्मनिर्भरता की आवश्यकता नहीं समझते हैं, वे अपने काम में ढील दे देते हैं और राज्य पर आश्रित हो जाते हैं।

(5) **समग्रवादी शासन का भय** – कल्याणकारी शासन से वस्तुत: एक भय यह भी है कि जनतन्त्र की ओट में समग्रवादी प्रवृत्तियों का विकास होने लगता है। ऐसा राज्य "राज्यवाद" को बढ़ावा देकर सर्वत्र राज्य की सत्ता स्थापित करता है।

(6) **खर्चीला शासन** – कल्याणकारी राज्य काफी खर्चीला होता है, समस्त कार्य राज्य द्वारा सम्पादित किये जाते हैं, फलत: ज्यों-ज्यों राज्य का नियन्त्रण बढ़ता है त्यों-त्यों मंहगाई और लागत भी बढ़ती जाती है।

(7) **उत्पादन में कमी** – कल्याणकारी राज्य में सामान्य जन की भलाई के लिए राज्य को बहुत सारे कार्य करने पड़ेंगे इसके लिए सरकार को धनी व्यक्तियों पर काफी बड़े पैमाने पर कर लगाने होंगे। इससे धनी व्यक्ति हतोत्साहित होंगे और उत्पादन बढ़ाने के लिए मन लगाकर काम नहीं करेंगे।

लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य (Democracy and Welfare State)

एक ऐसा भी समय था जब लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य की धारणाओं को एक दूसरे के प्रतिकूल माना जाता था। लोकतन्त्र से अभिप्राय है – अधिकाधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, नागरिक और राजनैतिक अधिकार, मतदान का अधिकार, विधि के समक्ष समता, विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, राज्य के कार्यों में सक्रिय भागीदारी तथा सरकार की आलोचना करने का अधिकार आदि। लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा के पीछे यह ध्येय है कि व्यक्ति को सुखी एवं समृद्ध बनाया जाए तथा इस हेतु राज्य द्वारा आवश्यक सेवा-कार्यों का सम्पादन किया जाए। कल्याणकारी राज्य अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करके अधिक से अधिक लोगों का कल्याण चाहता है। किन्तु यह राज्य उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर नियन्त्रण स्थापित करता है। धनिकों पर उनकी आमदनी के अनुपात में इस प्रकार कर लगाना चाहता है जिससे आर्थिक समानता के वातावरण का निर्माण हो सके। कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्यक्षेत्र का अत्यधिक विस्तार होता है और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना को आघात पहुंचता है।

इससे यह निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं है कि लोकतन्त्र और कल्याण्कारी राज्य एक-दूसरे के विरोधी हैं। कल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य लोकतन्त्र की ही भाँति नागरिक द्वारा सच्ची स्वतन्त्रता के उपयोग को सम्भव बनाना है। राज्य के कार्यक्षेत्र का इस ढंग से विस्तार करना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता बन्धित न हो। कल्याणकारी राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकारों का सम्मान करता है तथा सामाजिक परिवर्तन के लिए जनतांत्रिक साधनों को अपनाता है। आधुनिक लोकतन्त्रात्मक शासनों की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि राज्य किस सीमा तक अपने नागरिकों के निवास, वस्त्र आदि के प्रावधान कर पाता है। लोकतन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए बेकारों को काम पर लगाना, कमजोर वर्गों की सहायता करना, लोगों की बीमारी और बुढ़ापे में सहायता प्रदान करना आवश्यक है। वस्तुत: लोकतंत्रात्मक शासन में अच्छे जीवन के लिए वातावरण तैयार करना कल्याणकारी राज्य का लक्षण है। लोकतन्त्र और कल्याणकारी राज्य परस्पर विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं।

NOTES

समाजवाद और कल्याणकारी राज्य (Socialism and Welfare State)

राजनीतिक सिद्धान्त

कार्ल मार्क्स के उपरान्त समाजवाद दो विचारधाराओं में विकसित हुआ – क्रान्तिकारी समाजवाद और विकासवादी समाजवाद। क्रान्तिकारी समाजवाद साम्यवाद है जो हिंसा में विश्वास करता है। जो विचारधाराएं शान्तिपूर्ण एवं वैध तरीकों से सामाजिक परिवर्तन चाहती हैं उन्हें विकासशील समाजवाद का नाम दिया गया है। विकासशील समाजवाद में 'राजकीय समाजवाद' (State Socialism) प्रमुख है। यह राज्य की सहायता से समाजवाद स्थापित करने का प्रयास है। इसके समर्थक धीरे-धीरे जनमत द्वारा सामाजिक परिवर्तन करना चाहते हैं। वे राज्य को एक लोक-कल्याणकारी संस्था मानते हैं। वे राज्य के माध्यम से ही समस्त आर्थिक व्यवस्था का संचालन करना चाहते हैं। वे उत्पादन और वितरण व्यवस्था पर राज्य का नियंत्रण चाहते हैं। वे समान वितरण के लिए राष्ट्रीयकरण पर जोर देते हैं। वे समाज में विषमता दूर करना चाहते हैं। अमीरों पर कर लगाना चाहते हैं ताकि उपलब्ध धनराशि कल्याण के कार्यक्रमों पर खर्च की जा सके। यदि समाजवाद का यही लक्ष्य है तो वह कल्याणकारी राज्य की भावना के अत्यधिक निकट है। कल्याणकारी राज्य भी समाजवादी धारणा की भांति नियोजित समाज-व्यवस्था में विश्वास करता है, एकाधिकारवाद का विरोधी है, सामाजिक न्याय की स्थापना के सिद्धान्त को लेकर चलने वाला सिद्धान्त है तथा वैधानिक और शान्तिपूर्ण तरीकों से समाज में न्याय और समानता लाने का सुन्दरतम् प्रयास है। कुछ विद्वानों की तो यह भी मान्यता है कि राजकीय समाजवाद के माध्यम से ही कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सकती है। कुछ विद्वानों ने उसे "प्रारम्भिक समाजवाद" की संज्ञा दी है।

फिर भी समाजवादी राज्य में राजकीय पूंजीवाद का उदय हो जाता है तथा राज्य में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। इकाईन मे का कहना है कि "समाजवाद के सारे सिद्धान्त मनुष्यों की शक्तियों का दमन करते हैं और मनुष्य के लिए ऊंचे उद्देश्य निर्धारित करते हैं।" अनेक समाजवादी विचारक कल्याणकारी राज्य को एक दिखावा मात्र मानते हैं। उनके अनुसार यह तो समाजवादी विचारों के प्रभाव को कम करने की एक चाल है।

भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य : एक अध्ययन
(Welfare State in India : A Study)

भारत में सरकार का ध्येय कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। भारतीय संविधान की अन्तरात्मा न्याय, समता, अधिकार और बन्धुत्व के आसव से अभिसिंचित है। सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय हमारे वर्तमान संविधान की नियामक महत्वाकांक्षाओं में से एक है। संविधान के जनक इस बात से परिचित थे कि स्वाधीनता सिर्फ राजनीतिक नहीं होती। राजनीतिक स्वाधीनता तो साधन मात्र है। जब तक भूख के भय से, अज्ञान के अन्धकार से, आवास के अभाव से, बुनियादी यातनाओं एवं आतंकों से, शोषण से, अत्याचार, लाचारी और विवशता से इस देश में करोड़ों को मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक राजनीतिक स्वाधीनता अधूरी स्वाधीनता ही रहेगी।

राज्य-नीति के निर्देशक तत्व हमारे संविधान की संजीवनी व्यवस्थाएं हैं। निर्देशक सिद्धांतों का प्रयोजन शान्तिपूर्ण तरीकों से सामाजिक क्रान्ति का पथ प्रशस्त कर कुछ सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को तत्काल सिद्ध करना है।

निर्देशक सिद्धान्तों का उद्देश्य भारत में लोक-कल्याणकारी एवं समाजवादी राज्य की स्थापना करना है; इस दृष्टि से अधिकांश निर्देशक सिद्धान्तों द्वारा आर्थिक और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है। निर्देशक तत्वों का सार तत्व संविधान के अनुच्छेद 38 में दिया गया है – "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना कर, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्रमाणित करें, भरसक कार्यसाधन के रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।"

लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने वाले प्रमुख निर्देशक तत्व इस प्रकार हैं –

(1) राज्य लोगों के जीवन-स्तर को सुधारने और स्वास्थ्य - सुधार के लिए प्रयत्न करेगा।

(2) राज्य जनता के दुर्बलतर अंगों के, मुख्यतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों की शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से रक्षा करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।

(3) राज्य प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष को समान रूप से जीविका से साधन प्रदान करने का प्रयत्न करेगा।

(4) राज्य देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण की ऐसी व्यवस्था करेगा कि अधिक से अधिक सार्वजनिक हित हो सके।

(5) राज्य इस बात का भी ध्यान रखेगा कि सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न हो।

(6) राज्य प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान कार्य के लिए समान वेतन प्रदान करेगा।

(7) राज्य श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न होने देगा।

(8) राज्य प्रयास करेगा कि सभी नागरिक अपनी योग्यता के अनुसार रोजगार पा सकें, शिक्षा पा सकें एवं बेकारी, बीमारी और अंगहीनता आदि दशाओं में सार्वजनिक सहायता पा सकें।

(9) राज्य संविधान के आरम्भ होने से दस वर्ष के भीतर चौदह वर्ष की आयु के बालकों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करेगा।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार नीति-निर्देशक तत्व बतलाते हैं कि हमारा लक्ष्य आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है। एम.सी. छागला के अनुसार, "यदि इन सिद्धान्तों को पूरा किया जाता है तो निश्चित रूप से धरती पर स्वर्ग का सपना साकार होगा।" **डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंधवी** के अनुसार, "इसमें एक कल्याणकारी समाज और न्यायुक्त सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना की गई हैं।"

लोक-कल्याणकारी राज्य की समस्याएँ (Problems of a Welfare State)

आधुनिक राज्य के अस्तित्व का आधार बस यही है कि वह नागरिकों की कितनी सेवा कर सकता है। राज्य लोक-कल्याण की भावना से ही कार्य करना चाहते हैं, किन्तु उनके सामने कुछ ऐसी समस्याएं हैं जिससे वे सफलतापूर्वक कल्याणकारी कार्य नहीं कर पाते। ऐसी ही कुछ समस्याएं इस प्रकार हैं –

(1) **आर्थिक साधनों का अभाव** – नागरिकों को अधिकतम सेवाएं प्रदान करने के लिए प्रचुर आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है। अधिकांश राज्यों की आर्थिक स्थिति वर्तमान में दुर्बल है अत: वे कुशलता से कल्याणकारी योजनाओं का क्रियान्वयन नहीं कर पाते।

(2) **नौकरशाही की समस्या** – कल्याणकारी राज्य में अधिकांश कार्य सरकारी कर्मचारी करते हैं। जन कल्याण की अनेक महत्वपूर्ण योजनाओं को ये नौकरशाह असफल बना देते हैं। प्रतिबद्ध नौकरशाही के अभाव में कल्याणकारी राज्य की गति मन्द पड़ जाती है।

(3) **वैचारिक संघर्ष की समस्या** – वैचारिक दृष्टि से कल्याणकारी राज्य की धारणा व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मिश्रण है। दोनों विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करके सन्तुलित मध्यम मार्ग पर चलना अत्यन्त दुष्कर है।

निष्कर्ष

कल्याणकारी राज्य के विरोध में दिये जाने वाले तर्क समुचित नहीं है। इंगलैण्ड में लोक-कल्याणकारी सेवाओं में वृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रीय उत्पादन में भी वृद्धि हुई है। इस प्रकार वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हनन का तर्क भी ठीक नहीं है। कल्याणकारी राज्य में वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा राज्य की भूमिका के मध्य समुचित समन्वय किया जाता है। एक की दूसरे के लिए बलि नहीं दी जाती अपितु दोनों को पूर्णता प्रदान की जाती है। लोक-कल्याणकारी राज्य सामाजिक न्याय को अपना लक्ष्य मानता है, जिसकी प्रेरणा इसे समाजवाद से मिली है। अत: समाजवाद को ही कार्यान्वित करने वाली शान्तिप्रिय और लोकतान्त्रिक व्यवस्था लोक- कल्याणकारी राज्य है।

NOTES

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोक-कल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं? उसके कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा समझाइये।
3. कल्याणकारी राज्य की कल्पना को स्पष्ट करते हुए आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. लोक कल्याणकारी राज्य के लक्षण बताइये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कल्याणकारी राज्य के कार्य लिखिए।
2. समाजवाद और कल्याणकारी राज्य का संबंध बतलाइये।
3. कल्याणकारी राज्य का लोकतंत्र से संबंध बतलाइये।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. हैरल्ड लास्की किस प्रकार के राज्य का समर्थन करता है :
   (अ) अहस्तक्षेपवादी राज्य (ब) समाजवादी राज्य
   (स) लोक कल्याणकारी राज्य (द) सर्वाधिकारवादी राज्य
2. लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विकास में सर्वाधिक योगदान किस देश का माना जाता है:
   (अ) चीन (ब) जर्मनी
   (स) अमेरिका (द) इंग्लैण्ड
3. लोककल्याणकारी राज्य का लक्षण नहीं है :
   (अ) लोकतंत्रीय शासन (ब) आर्थिक शोषण
   (स) समाजसेवी राज्य (द) सामाजिक न्याय
4. भारतीय संविधान के नीति निदेशक सिद्धान्तों वाले अध्याय में किस प्रकार के प्रकार के राज्य की परिकल्पना की गई है :
   (अ) क्रान्तिकारी राज्य (ब) राज्यविहीन समाज
   (स) कल्याणकारी राज्य (द) साम्यवादी राज्य
5. लोक कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कार्य नहीं हैं :
   (अ) परिवार नियोजन (ब) मुक्त प्रतिस्पर्धा
   (स) श्रम का नियमन (द) आर्थिक सुरक्षा

उत्तर 1. (स), 2. (द), 3. (ब), 4. (स), 5. (ब)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

20

व्यवस्थापिका

(LEGISLATURE)

सरकार के तीन अंग (Three Organs of Government)

सरकार राज्य का आवश्यक तत्व है। यह राज्य का कार्यवाहक यन्त्र है जो राज्य की इच्छा को निर्धारित, व्यक्त तथा क्रियान्वित करती है। सरकार के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि सरकार राज्य का मूर्त रूप है। उसे राज्य की आत्मा कहा जा सकता है। सरकार राज्य का वह यन्त्र है जिसके ऊपर राज्य के कानून बनाने, उन्हें क्रियान्वित करने तथा उनकी व्याख्या करने का दायित्व है।

सरकार सामान्यत: तीन प्रकार के कार्य करती है– (1) कानून बनाना, (2) उन्हें क्रियान्वित करना और (3) जो व्यक्ति उनका पालन न करें उन्हें दण्ड देना। इन कार्यों को करने के लिए सरकार के तीन अंग होते हैं– (1) व्यवस्थापिका (Legislature), (2)कार्यपालिका (Executive)और (3) न्यायपालिका (Judiciary)। व्यवस्थापिका कानून बनाती है, कार्यपालिका उन्हें क्रियान्वित करती है एवं न्यायपालिका उनकी व्याख्या करती है तथा उनका उल्लंघन करने वालों को दण्ड देती है।

व्यवस्थापिका (Legislature)

व्यवस्थापिका को "विधायिका" या "विधानपालिका" भी कहते हैं। यह सरकार का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। यह समूचे देश के लिए विधियों का निर्माण करती है और अच्छी विधियों पर ही सरकार की सफलता निर्भर करती है। एक लोकतन्त्रीय राज्य में व्यवस्थापिका सर्वोपरि होती है। संसदीय सरकार के अन्तर्गत व्यवस्थापिका अब भी यह निर्णय करती है कि कौन शासन करेगा। वहाँ सरकार की नीतियों एवं कार्यों पर व्यवस्थापिका में ही विचार–विमर्श होता है, उनकी आलोचना की जाती है और उनमें संशोधन अथवा परिवर्तन कराये जा सकते हैं

व्यवस्थापिका सरकार का सबसे महत्वपूर्ण अंग होती है। यह जनता का दर्पण है। **सी.एफ. स्ट्रांग** के अनुसार, "आधुनिक संवैधानिक राज्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग व्यवस्थापिका अथवा कानून बनाने वाली संस्था भी होती है।" विभिन्न देशों में व्यवस्थापिका को अलग–अलग नामों से जाना जाता है। इंग्लैण्ड और भारत में इसे "संसद" कहा जाता है। जापान में "डायट" तथा अमेंरिका में "कांग्रेस" तथा स्विटजरलैंण्ड में इसे "राष्ट्रीय सभा" कहा जाता है।

व्यवस्थापिका के कार्य (Functions of the Legislature)

सभी देशों में व्यवस्थापिका के कार्य समान नहीं होते; वे शासन–प्रणाली के स्वरूप एवं संविधान की धाराओं पर निर्भर रहते हैं। **उदाहरणार्थ,** निरंकुश राजतन्त्र अथवा अधिनायक तन्त्र में व्यवस्थापिका एक परामर्शदात्री संस्था मात्र बनकर रह जाती है। वह कार्यपालिका के पूर्ण नियन्त्रण में रहती है। इसके विपरीत लोकतन्त्र में विधायिका का स्थान अत्यन्त ऊंचा होता है क्योंकि वह जो विधियाँ बनाती है उन्हीं को कार्यपालिका व्यवहार में लागू करती है और उन्हीं के सम्बन्ध में न्यायपालिका निर्णय देती है।

इंग्लैंड में संसद सभी महत्वपूर्ण कार्य करती है और उसे सम्प्रभु संसद कहा जाता है। स्विट्जरलैंड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय व्यवस्था के कारण विधानांग अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हैं।

व्यवस्थापिका के कार्य सर्वत्र एक जैसे नहीं होते तथापि कुछ महत्वपूर्ण कार्य हैं जिनहें प्रत्येक लोकतन्त्रीय राज्य में व्यवस्थापिका को करना होता है। विधायिका के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :

(1) **कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य** – लोकतन्त्र में सभी कानून व्यवस्थापिका द्वारा ही बनाये जाते हैं। वह नये कानूनों का निर्माण करती है और पुराने कानूनों को वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप संशोधित करती है।

(2) **कार्यपालिका पर नियन्त्रण** – विधायिका कार्यपालिका पर नियन्त्रण करती है। संसदीय शासन वाले देशों में तो कार्यपालिका पूरी तरह विधायिका पर निर्भर होती है। कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। विधायिका कभी भी अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके मन्त्रिमण्डल को भंग कर सकती है। अध्यक्षीय शासन –प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं रहती। किन्तु विभिन्न उपायों द्वारा कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण रहता है। उदाहरणार्थ, अमरीकी सीनेट राष्ट्रपति पर नियुक्तियों के मामलों में प्रभावकारी नियन्त्रण रखती है, राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है तथा सीनेट मन्त्रियों के भ्रष्ट आचरण की जाँच कर सकती है।

(3) **विमर्शात्मक कार्य** – व्यवस्थापिका एक विचार–विमर्श करने वाली संस्था है। यहाँ घरेलू, वैदेशिक और राजस्व सम्बन्धी नीतियों और कार्यों पर विचार होता है।

(4) **वित्तीय कार्य** – व्यवस्थापिका राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था का नियन्त्रण एवं नियमन करती है। प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में वह अनुमानित आय व्यय को स्वीकृत करती है। वह राष्ट्रीय बजट को पारित करती है, जिसके द्वारा नये कर लगाये जाते हैं और पुराने करों की दरें घटायी–बढ़ायी जाती हैं या उन्हें समाप्त किया जाता है। बिना व्यवस्थापिका की अनुमति के एक पैसा भी खर्च नहीं किया जा सकता।

(5) **न्यायिक कार्य** – कई देशों में विधायिका न्यायिक कार्य भी करती है। ब्रिटेन की लार्ड सभा देश का सर्वोच्च न्यायालय भी है। भारत और अमेरिका में संसद को राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने के अधिकार मिले हुए हैं।

(6) **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य** – व्यवस्थापिका कुछ निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करती है। संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत विधायिका ही प्रधान मन्त्री, राष्ट्रपति आदि का चुनाव करती है। स्विस संघीय सभा मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों, न्यायाधीशों, चांसलरों और सेनापति का चुनाव भी करती है।

(7) **जाँच –पड़ताल सम्बन्धी कार्य** – विधायिका किसी महत्वपूर्ण समस्या के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने या जाँच पड़ताल के लिए समितियों और आयोगों की नियुक्ति करती है।

(8) **संविधान–संशोधन सम्बन्धी कार्य** – विधायिका को प्राय: संविधान में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त होता है। इंग्लैड में साधारण कानून और संविधान में कोई भेद नहीं है। विधायिका जब चाहे तब संविधान में संशोधन कर सकती है। भारत और अमेरिका में संशोधन सम्बन्धी शक्तियाँ विधायिका में निहित हैं।

(9) **लोकमत का निर्माण** – विधायिका लोकमत का दर्पण है। वह लोकमत का प्रकाशन करती है। विधायिका के सदस्य कार्यपालिका के सम्मुख जनता के कष्टों को रखते हैं।

(10) **नियन्त्रक मण्डल के रूप में कार्य** – आजकल सार्वजनिक क्षेत्रों में शासन के कार्यों का विस्तार हो रहा है। अनेक राज्यों में कई महत्वपूर्ण औद्योगिक संस्थान शासन ने अपने हाथ में ले लिए हैं। उन औद्योगिक संस्थानों के कार्यों पर अन्तिम निर्णय और नियन्त्रण विधायिका का ही होता है। ऐसी अवस्था में विधायिका नियन्त्रण मण्डल के रूप में कार्य करती है।

व्यवस्थापिका का संगठन (Organisation of the Legislature)

संगठन की दृष्टि से व्यवस्थापिका को दो भागों में बाँटा जा सकता है- एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Uni-Cameral Legislature) तथा (2)द्वि -सदनात्मक व्यवस्थापिका (Bi-Cameral Legislature)

(1) **एक –सदनात्मक व्यवस्थापिका (Uni-Cameral Legislature)** – जिस राज्य की व्यवस्थापिका में एक ही सदन होता है, उसे एक– सदनात्मक व्यवस्थापिका कहते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं के प्रारम्भ में अनेक देशों ने एक –सदनात्मक प्रणाली अपनाई। आज यूरोप के कुछ देशों, जैसे यूनान, बल्गारिया आदि, में एक – सदनीय विधान मण्डल ही हैं। एक सदनीय विधायिका के समर्थकों का मुख्य तर्क यह है कि कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति या उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। यह कार्य एक सदन द्वारा किया जा सकता है, एक से अधिक द्वारा नहीं, क्योंकि इच्छा एक होती है, अनेक नहीं। एक–सदनात्मक व्यवस्थापिका को इसलिए भी पसन्द किया जाता है कि दूसरे सदन को अनुपयोगी और खर्चीला माना गया है।

(2) **द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका (Bi-Cameral Legislature)** – जिस राज्य की व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं, उस व्यवस्थापिका को द्वि-सदनात्मक कहते हैं । संसार के अधिकांश राज्यों में, जैसे इंग्लैण्ड, भारत, अमेरिका , जापान , आस्ट्रेलिया , कनाडा , में , व्यवस्थापिका द्वि- सदनात्मक ही है । भारत में लोक सभा और राज्य सभा, इंग्लैण्ड में लार्ड सभा और कॉमन सभा, अमेरिका में सीनेट और प्रतिनिधि सभा, आदि द्वि-सदनात्मक व्यवस्थापिका हैं ।

द्विसदनात्मक प्रणाली ऐतिहासिक विकास तथा संयोग का परिणाम है । यह व्यवस्था ब्रिटिश संवैधानिक विकास का ही परिणाम है । इंग्लैण्ड की संसद, जो सबसे प्राचीन संसद है , संयोग से द्वि-सदनात्मक हो गई । अन्य प्रजातांत्रिक देशों में ब्रिटिश परम्परा का अनुसरण किया गया । **प्रो. लास्की** के शब्दों में, " यह केवल ऐतिहासिक संयोग की बात है कि इंग्लैण्ड की व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक थी और उसी का अनुसरण अन्य देशों ने किया ।" **विलोबी** ने कहा है कि यदि ब्रिटिश संसद द्विसदनात्मक न होती तो शायद संसार के अन्य विधानमण्डल भी द्विसदनात्मक नहीं होते । वर्तमान में बड़े लोकतांत्रिक राज्यों में व्यवस्थापिका के दो सदन होते हैं । एक सदन को उच्च या द्वितीय सदन (Upper or Second Chamber)और दूसरे सदन को निम्न या प्रथम सदन (Lower or First Chamber)कहते हैं । निम्न सदन सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करता है । उसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है । द्वितीय सदन विशिष्ट वर्गों, स्वार्थों तथा संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है । इसकी रचना का कोई निश्चित संवैधानिक आधार नहीं है । विभिन्न देशों में इसके संगठन का स्वरूप भिन्न है । इंग्लैण्ड की लार्ड सभा के संगठन का आधार वंश परम्परा है । इटली, जापान और कनाडा में द्वितीय सदन के सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं । भारत की राज्यसभा के सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित एवं मनोनीत किये जाते हैं । अमेरिका में सीनेट के सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता है ।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का पक्ष

(Arguments in Favour of Bi-Cameral Legislature)

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं:

(1) **विवेकपूर्ण पुनर्विचार के लिए** – उच्च सदन निम्न द्वारा बिना अच्छी तरह सोच-विचार किये जल्दी में पारित बिलों पर अंकुश लगाता है । उच्च सदन के होने से दुबारा बिल पर विचार करना होता है , और इस कार्य में देर लग जाती है । इस बीच उग्र लोगों का जोश ठण्डा हो जाता है और जनता में गम्भीरतापूर्वक कानून के प्रभाव पर विचार किया जा सकता है । इस प्रकार द्वितीय सदन के होने से इतना समय मिल जाता है कि लोग विचारों का आदान-प्रदान कर सकें और एक विवेकपूर्ण लोकमत बन सके ।

जिस समय अमेरिका का संविधान बन रहा था, जेफरसन पेरिस में थे । वे जब लौटकर अमेरिका आए तो उन्होंने देखा कि अमेरिका की व्यवस्थापिका को द्विसदनात्मक बना दिया गया है । वे जार्ज वाशिंगटन के घर गए । सुबह का समय था । दोनों नाश्ता करने लगे । ऐसे में जेफरसन ने वाशिंगटन से पूछा कि कांग्रेस के दो सदन क्यों रखे गए ? संयोगवश इसी समय जेफरसन ने प्याली में से चाय प्लेट में डालकर पीना शुरू किया । वाशिंगटन ने पूछा कि आपने चाय प्लेट में क्यों डाली ? जेफरसन ने उत्तर दिया- " इसे ठण्डा करने के लिए । "वाशिंगटन बोले, " बस इसी तरह हम विधि – निर्माण को सीनेट की प्लेट में डालकर ठण्डा करेंगे ।"

(2) **एक सदन की निरंकुशता पर रोक** – द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता पर अंकुश लगाता है । द्वितीय सदन के न होने पर यह सम्भव हो सकता है कि प्रथम सदन अत्याचारी बन जाए और ऐसे कानून बना डाले जो देश के लिए हानिकारक हों । **गार्नर** के शब्दों में, " द्वितीय सदन की उपस्थिति स्वतन्त्रता की गारण्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है । " **स्टोरी** ने लिखा है, " व्यवस्थापिका के अत्याचारों से बचने का यही उपाय है कि कार्यों का विभाजन कर दिया जाए; स्वार्थ के विरुद्ध , महत्वाकांक्षा के विरुद्ध दूसरे सदन का वैसा ही गठबन्धन एवं प्रभुत्व खड़ा कर दिया जाए ।"

(3) **विशिष्ट वर्गों एवं हितों का प्रतिनिधित्व**- द्वितीय सदन से यह लाभ है कि उसके द्वारा व्यवस्थापिका में अल्पसंख्यक वर्गों, जातियों तथा हितों को प्रतिनिधित्व मिल सकता है । लोकतन्त्र में इस बात का भय रहता है कि सामान्य निर्वाचनों में बहुसंख्यक लोग अल्पसंख्यक वर्गों और जातियों के लोगों

NOTES

को वोट न दें और इस तरह उन्हें प्रतिनिधित्व ही न मिल सके। द्वितीय सदन में निर्वाचन की किसी विशिष्ट प्रणाली द्वारा नाम–निर्देशन के जरिए ऐसे वर्गों और जातियों को प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है।

(4) **संघात्मक शासन – व्यवस्था के लिए अनिवार्य** – संघीय राज्यों में द्वितीय सदन अत्यन्त आवश्यक है। इसमें संघ की इकाइयों को समान अथवा किसी अन्य आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है जिससे वे अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें और उनका अस्तित्व खतरे में न पड़े।

(5) **कार्यभार में कमी** – आज राज्यों के कार्यों में दिन–प्रति–दिन वृद्धि होती जा रही है। व्यवस्थापिका के निम्न सदन के कार्य इतने बढ़ गये हैं कि उन्हें अकेले नहीं संभाला जा सकता। उच्च सदन ऐसे कानूनों पर, जो विवादास्पद नहीं , विचार करके प्रथम सदन की सहायता करता है। इससे प्रथम सदन का बहुमूल्य समय बच जाता है।

(6) **प्रतिभाओं का प्रतिनिधित्व** – द्वितीय सदन में ऐसे योग्य विद्वान् तथा अनुभवी लोगों को स्थान दिया जा सकता है जो चुनाव के द्वारा व्यवस्थापिका में नहीं आ सकते। प्राय: देखा जाता है कि प्रतिभा–सम्पन्न व्यक्ति चुनाव के गन्दे प्रचार एवं राजनीति से बचना चाहते है। इसलिए अनुभवी और योग्य व्यक्तियों को नाम– निर्देशित करके द्वितीय सदन में स्थान दे दिया जाता है।

(7) **अपेक्षाकृत शान्त वातावरण** – प्रथम सदन में उग्र राजनीतिक वातावरण के कारण गरमागरम बहस हुआ करती है और कभी–कभी प्रस्तावित बिलों पर शान्ति के साथ विचार–विनिमय नहीं हो पाते। द्वितीय सदन में प्रथम सदन की अपेक्षा शान्त वातावरण रहता है। विधेयकों पर गम्भीर विचार तथा शान्तिपूर्ण मनन का अवसर द्वितीय सदन में ही मिल पाता है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का विपक्ष (Arguments Against Second Chamber)

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विरोध में कई प्रबल तर्क दिये जाते हैं। उनमें से प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं–

(1) **दूसरा सदन अनावश्यक है** – चूंकि लोकतन्त्र में जनता की इच्छा अविभाज्य होती है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति एक ही सदन में होती है। फ्रांसीसी विचारक **एब्बे सीज** ने लिखा है , " विधि जनता की इच्छा है, जनता की एक ही विषय पर एक ही समय दो विभिन्न इच्छाएं नहीं हो सकतीं। अत: जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली विधि –निर्मात्री संस्था भी आवश्यक रूप से एक होनी चाहिए। जहाँ दो सदन होंगे वहां विरोध तथा विभाजन अवश्यम्भावी होगा और निष्क्रियता के कारण लोकेच्छा निष्प्राण हो जायगी।"

(2) **द्वितीय सदन "अनावश्यक" या "घृणित"** – यदि द्वितीय सदन को प्रथम सदन से सहमत ही होना है तो वह अनावश्यक है और यदि वह असहमत होता है तब गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। **एब्बे सीज** के शब्दों में, "यदि दूसरा सदन पहले सदन का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि सहमत हो जाता है तो व्यर्थ है।" **प्रो. लास्की** ने ठीक ही लिखा है – " यदि पहले सदन के साथ दूसरा सदन निर्वाचित हो तो केवल पुनरावृत्ति ही होगी, यदि उसका गठन अलग समय में किया गया है तो वह उचित नीति –निर्माण में बाधक ही होगा।

(3) **गतिरोध की सम्भावना** – द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में दोनों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना बराबर रहती है। इसका प्रमुख कारण दोनों सदनों के स्वरूप और संगठन की विभिन्नता है। यदि द्वितीय सदन रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी लोगों का अड्डा बन जाता है तो प्रथम सदन के प्रगतिशील विधेयकों का अनावश्यक रूप से विरोध करता है।

(4) **विलम्बकारी** – द्वितीय सदन के होने से कानून के निर्माण में विलम्ब होता है। कानूनों का उस समय तत्काल निर्माण नहीं किया जा सकता जब उनकी आवश्यकता होती है।

(5) **अधिक खर्चीला** – दो सदनो के रहने से खर्च बढ़ जाता है। दोनों सदनों के सदस्यों को वेतन–भत्ता आदि देने से राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है। **प्रो. लास्की** ने लिखा है कि, "आधुनिक राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक –सदनीय व्यवस्थापिका में ही हो सकती है क्योंकि द्विसदनीय व्यवस्थापिका में काम की पुनरावृत्ति होती है, समय नष्ट होता है और राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है।"

(6) **संघात्मक शासन के लिए आवश्यक नहीं** – द्वितीय सदन संघ शासन के लिए आवश्यक गारण्टी नहीं है। संघ शासन में घटक इकाईयों एवं अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के उत्तम साधन वैधानिक संरक्षण तथा स्वतन्त्र न्यापालिका हैं, न कि द्वितीय सदन। इस सम्बन्ध में रॉबर्टसन ने लिखा है, " संघीय संविधान में द्वितीय सदन की सर्वोच्चता का अनुभव अशक्त ही रहा है। संघीभूत इकाइयों के अधिकारों की रक्षा दूसरे सदन से नहीं होती बल्कि वैधानिक संरक्षणों तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका के द्वारा हो सकती है।"

(7) **विवेकपूर्ण पुनर्विचार का तर्क व्यर्थ – लास्की** के अनुसार , उच्च सदन के माध्यम से जल्दबाजी में किये हुए कार्यों पर रोक लगाने की बात व्यर्थ है। सच्ची रुकावट तो जनता की जागरूकता और सरकार की सतर्कता पर निर्भर है। यही नहीं, अब विधेयकों को पारित करके कानून बनाने की व्यवस्था इतनी जटिल बन गई है और उसमें इतना समय लग जाता है कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है कि द्वितीय सदन दुबारा उस पर विचार करे और तब वह पारित हो।

व्यवस्थापिका की शक्तिहीनता (Decline of the Legislature)

19 वीं शताब्दी में लोग संसद की सर्वोच्चता एवं व्यवस्थापिका की शक्तियों के बारे में बात किया करते थे, अब वे व्यवस्थापिकाओं के पतन या शक्तिहीनता की बात करते हैं। इसका कारण यह है कि कार्यपालिका की अपेक्षा व्यवस्थापिका का सापेक्ष महत्व घट गया है। स्वयं व्यवस्थापिका की शक्तियों के महत्व में कोई कमी नहीं हुई है। साम्यवादी देशों के संविधानों में व्यवस्थापिका की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति को स्वीकार किया गया है तथापि वास्तविक व्यवहार में उसे उच्चतर महत्व प्राप्त नहीं है। इसके लिए उत्तरदायी अनेक कारण हैं– **प्रथम**, दो विश्व –युद्धों के कारण सरकारी कार्यों में वृद्धि के फलस्वरूप कार्यपालिका की शक्तियाँ बढ़ गई हैं। कार्यपालिका को प्रभावी बनाने में आर्थिक संकट, राज्य की लोक कल्याणकारी नीतियाँ और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का बढ़ना आदि तत्वों ने प्रभाव डाला है। आज की व्यवस्थापिकाएं अधिक कार्य करती हैं तथा अधिक समय तक कार्य करती हैं किन्तु फिर भी उनका महत्व घट रहा है। **दूसरे** , प्रदत्त व्यवस्थापन के विकास के कारण अधिकांश देशों की व्यवस्थापिकाएं अपने विधि निर्माण के कार्य कार्यपालिका को हस्तान्तरित कर देती हैं। **तीसरे**, व्यवस्थापन सहित सरकार के कार्य–व्यापार इतने व्यापक और जटिल हो गए हैं कि व्यवस्थापिका के साधारण सदस्य इन्हें पर्याप्त रूप से नहीं कर पाते। सामान्य प्रवृति के अनुसार इनके लिए कार्यपालिका के नेतृत्व पर निर्भर रहा जाता है जिसमें आधुनिक सरकार के सम्मुख आने वाली समस्याओं से निपटने की क्षमता और विशेषता है।

बहुजन संचार के आधुनिक माध्यम जैसे रेडियो, टी.वी. आदि का विकास होने के कारण सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों पर सार्वजनिक वाद–विवाद और विचार–विमर्श के वैकल्पिक साधनों का जन्म हो गया है। इसके फलस्वरूप व्यवस्थापिकाओं के आकर्षण एवं महत्व का अपहरण हो गया है। सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार–विमर्श करने के लिए व्यवस्थापिका के अतिरिक्त भी कई मंच हैं। जन संचार के आधुनिक माध्यम लोकमत को प्रभावित करते है और यह लोकमत व्यवस्थापिका के सदस्यों तथा राजनीतिक दलों के नेतृत्व को प्रभावित करते हैं। सरकार की कार्य शक्तियों के व्यापक प्रसार के कारण नागरिक पहले की अपेक्षा प्रशासन के अधिक सम्पर्क में आ गए हैं। आज जनता की शिकायतें तथा संवेदनाओं का निवारण भी अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। यह कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पर्याप्त रूप से नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप व्यवसायिक संघों तथा व्यापारिक संगठनों ने अपने सदस्यों के हितों के संवर्धन तथा रक्षा का कार्य संभाल लिया है। वे प्रत्यक्षत: कार्यपालिका से सम्पर्क करते हैं और कभी–कभी व्यवस्थापिकाओं में दबाव समूह के रूप में भी कार्य करते हैं। सरकारी विभाग अपने जन–सम्पर्क अधिकारियों के माध्यम से कार्य करते हैं। इन सबके परिणामस्वरूप व्यवस्थापिका की भूमिका स्वाभाविक रूप से पतनोन्मुख बन गई है।

व्यवस्थापिका की सत्ता को सबसे बड़ी चुनौती सम्भवत: राजनीतिक दलों से प्राप्त होती है। ये राजनीतिक दल यद्यपि व्यवस्थापिका के लिए होने वाले निर्वाचनों में भाग लेते हैं, किन्तु अपने कार्य व्यवहार के द्वारा ये व्यवस्थापिका के सम्पूर्ण आकर्षण और महत्व को स्वयं सोख लेते हैं। राजनीतिक दल जितना संगठित होता है , व्यवस्थापिका का महत्व उतना ही कम हो जाता है।

NOTES

निष्कर्ष

द्वितीय सदन अब लोकप्रिय नहीं रहे। उनके विरुद्ध आन्दोलन दिन-प्रति-दिन जोर पकड़ रहा है। आज का युग द्विसदनात्मक प्रणाली के पक्ष में नहीं है। ब्रिटिश लार्ड सभा की शक्तियाँ कम कर दी गई हैं और अब वह केवल देरी करने वाला सदन रह गया है। जनमत- संग्रह तथा आरम्भक के कारण स्विस उच्च सदन अन्ततः निष्क्रिय बन जाता है। भारत की राज्य सभा की शक्तियाँ भी गौण हैं और कनाडा की सीनेट अपेक्षाकृत शक्तिहीन है। इसके विपरीत अमरीकी सीनेट में बहुत अनुभवी और योग्य व्यक्ति पहुंच जाते है और वे कानून एवं नीति निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

संक्षेप में, द्वितीय सदनों की शक्तियाँ घटा दी गई हैं परन्तु अभी यह धारणा समाप्त नहीं हुई है कि प्रथम सदनों की निरंकुशता के विरुद्ध एक कवच एवं संरक्षण रूप में द्वितीय सदन अपरिहार्य है।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. व्यवस्थापिका की द्विसदनीय प्रणाली के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए।
2. वर्तमान प्रजातंत्र में व्यवस्थापिका सभा के प्रमुख कार्यों और शक्तियों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. व्यवस्थापिका से आप क्या समझते हैं?
2. व्यवस्थापिका के कार्य लिखिए।
3. व्यवस्थापिका की शक्ति के ह्रास के कारण लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. नियम निर्माण का कार्य करने वाली संस्था को क्या कहते हैं?
   (अ) व्यवस्थापिका (ब) कार्यपालिका (स) न्यायपालिका (द) लोकसेवा
2. किस देश की संसद को संसदों की जननी कहा जाता है?
   (अ) संयुक्त राज्य अमेरिका (ब) ब्रिटेन
   (स) भारत (द) स्विट्जरलैण्ड
3. किस लेखक ने विकासशील राज्यों की संसदों को कानून बनाने वाली संस्थाओं के स्थान पर कानून की स्वीकृति देने वाली संस्थाएँ कहा है?
   (अ) सी.एफ. स्ट्रांग (ब) लापालोम्बोरा (स) राबर्ट सी. बॉन (द) जीन ब्लोण्डेल
4. निम्नलिखित में से कौनसा कार्य व्यवस्थापिकाओं का संवैधानिक कार्य नहीं है?
   (अ) कानूनों का निर्माण (ब) कार्यपालिका पर नियंत्रण
   (स) वित्त पर नियंत्रण (द) हितस्वरूपीकरण और हितसमूहीकरण का कार्य
5. राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण एवं प्रभावी नियंत्रण किसके द्वारा रखा जाता है?
   (अ) कार्यपालिका (ब) व्यवस्थापिका (स) न्यायपालिका (द) नौकरशाही

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

6. किस देश में व्यवस्थापिका का उच्च सदन 20वीं सदी तक सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय का कार्य करता रहा है?
   (अ) ब्रिटेन (ब) अमेरिका (स) चीन (द) फ्रांस
7. निम्न में से कौनसा व्यवस्थापिका का राजनीतिक कार्य नहीं है?
   (अ) प्रतिनिधित्व का कार्य (ब) राजनीतिक समाजीकरण व शिक्षण कार्य
   (स) परिवेक्षण एवं निगरानी के कार्य (द) संविधान में संशोधन संबंधी कार्य
8. निम्नलिखित में किस लेखक ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डेमोक्रसीज' में एक अध्याय का शीर्षक 'व्यवस्थापिकाओं का पतन' रखा है?
   (अ) हेरल्ड लास्की (ब) ऐलन बॉल (स) सी.एफ. स्ट्रांग (द) लॉर्ड ब्राइस

उत्तर 1. (अ), 2. (ब), 3. (स), 4. (द), 5. (ब), 6. (अ) 7. (द), 8. (द)

21

कार्यपालिका

(EXECUTIVE)

गार्नर के कथनानुसार, "एक व्यापक अर्थ में कार्यपालिका में वे सभी अधिकारी और एजेन्सियाँ आ जाती हैं जिनका राज्य के संकल्प को लागू करने से सम्बन्ध है।" अनेक विद्वान कार्यपालिका और प्रशासन में स्पष्ट भेद करते हैं। प्रशासन से हमारा अभिप्राय कानूनों को वास्तव में लागू करने वाले अंग से है। कार्यपालिका सार रूप में राजनीतिक होती है जबकि प्रशासन निर्णीत नीतियों और आदेशों को क्रियान्वित करता है। कार्यपालिका को राजनीतिक कार्यवाहक और प्रशासन को स्थायी सरकारी कर्मचारी का पर्यायवाची समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा। आजकल प्रशासन के उच्च सरकारी कर्मचारी नीति -निर्माण में भी भाग लेते हैं।

कार्यपालिका का अर्थ (Meaning of the Executive)

कार्यपालिका शासन का वह भाग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये हुए कानूनों का पालन करता है। कार्यपालिका शासन की वह धुरी है जिसके चारों ओर समस्त प्रशासनिक यन्त्र घूमता है। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, " कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून में अभिव्यक्त जनता की इच्छा को क्रियान्वित करता है।" **प्रो. गार्नर** का कथन है कि " व्यापक और सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका विभाग के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी, राज्य कर्मचारी तथा एजेन्सियाँ आती हैं जिनका कार्य राज्य की इच्छा , जिसे व्यवस्थापिका ने निर्धारित कर कानून रूप में व्यक्त किया है, कार्यरूप में परिणत करना है।"

" कार्यपालिका" शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है (i) व्यापक अर्थ में और (ii) संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत -राज्य का कार्यकारी अध्यक्ष, प्रधानमंत्री और मन्त्रिपरिषद् तथा प्रशासनिक कर्मचारी सम्मिलित किये जा सकते हैं। संकुचित अर्थ में कार्यपालिका में वे ही व्यक्ति सम्मिलित हैं जो नीति निर्धारित करते हैं, योजनाएं बनाते हैं और कानूनों का क्रियान्वन करते हैं। इसे राजनीतिक कार्यपालिका भी कहते हैं। इस अर्थ में इंग्लैण्ड में सम्राट, प्रधानमंत्री और उसका मन्त्रिमण्डल , भारत में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और मन्त्रिमण्डल ; अमेरिका में राष्ट्रपति और उसका मन्त्रिमण्डल कार्यपालिका के अन्तर्गत आयेंगे।

कार्यपालिका के प्रकार (Kinds of the Executive)

कार्यपालिका के कई प्रकार हैं। उसका मुख्य वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है :

(1) राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका (Political and Permanent Executive),

(2) औपचारिक एवं वास्तविक कार्यपालिका (Formal and Real Executive),

(3) एकल और बहुल कार्यपालिका (Singular and Plural Executive),

(4) वंशानुगत और निर्वाचित कार्यपालिका (Hereditary and Elective Executive),एवं

(5) उत्तरदायी और अनुत्तरदायी कार्यपालिका (Responsible and Non- responsible Executive)

(1) **राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका** (Political and Permanent Executive)— आजकल कार्यपालिका में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि और प्रशिक्षित स्थायी प्रशासक मिल-जुलकर काम करते हैं। इनमें से प्रथम को राजनीतिक कार्यकारी कहते हैं और दूसरे को स्थायी कार्यकारी। राजनीतिक कार्यकारी का कार्यकाल निर्वाचन पर निर्भर होता है जबकि स्थायी कार्यकारी सरकारी सेवा में अवकाश-ग्रहण की आयु तक रहते हैं। स्थायी प्रशासनिक अधिकारी राजनीतिक दृष्टि से पूर्णत: निष्पक्ष रहकर कार्य करते हैं। उनका कार्य राजनीतिक कार्यकारी को सहयोग देना है। भारत में प्रधान मन्त्री और

NOTES

मन्त्रिपरिषद राजनीतिक कार्यकारी हैं और आई. ए. एस. और अन्य अधिकारी स्थायी कार्यकारी की श्रेणी में आते हैं।

(2) **औपचारिक एवं वास्तविक कार्यपालिका** (Formal and Real Executive)-संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका का यह भेद किया जाता है। औपचारिक कार्यपालिका वह होती है जिसके हाथ में वास्तविक शक्तियाँ नहीं होती। वह राज्य करती है, किन्तु शासन नहीं करती। सिद्धान्ततः शासन की सारी शक्तियाँ औपचारिक कार्यपालिका में निहित रहती हैं किन्तु उन शक्तियों का व्यवहार में वास्तविक प्रयोग वास्तविक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। इंग्लैण्ड का सम्राट तथा भारत का राष्ट्रपति औपचारिक कार्यपालिका है। वास्तविक कार्यपालिका वह होती है जो शासन की समस्त शक्तियों का प्रयोग स्वयं करती हैं। यह राज्य तथा शासन दोनों का प्रधान होती है। अमेरिका का राष्ट्रपति ऐसी ही वास्तविक कार्यपालिका है।

(3) **एकल और बहुल कार्यपालिका** (Singular and Plural Executive)- यदि कार्यपालिका की समूची शक्ति अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति में निहित है, तो उसे एकल कार्यपालिका कहते हैं। इसके विपरीत जब कार्यपालिका की शक्तियाँ एक व्यक्ति में निहित न होकर कुछ व्यक्तियों की एक समिति में निहित रहती हैं तो उसे बहुल कार्यपालिका कहते हैं।

एकल कार्यपालिका में किसी एक व्यक्ति के हाथ में प्रशासन की समस्त शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं, जैसे अमेरिका का राष्ट्रपति। साथ ही जब वास्तविक कार्यपालिका एक इकाई के रूप में कार्य करें तो उसे भी एकल कार्यपालिका कहते हैं, जैसे इंग्लैण्ड और भारत में मंत्रिपरिषद। मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है, अतः उसकी एकता को देखते हुए उसे एकल कार्यपालिका कहना समीचीन प्रतीत होता है। एकल कार्यपालिका के श्रेष्ठ उदाहरण हैं– अमेरिका का राष्ट्रपति, भारत , इंग्लैण्ड, कनाडा आदि में प्रधानमन्त्री। बहुल कार्यपालिका का श्रेष्ठ उदाहरण स्विस संघीय परिषद है। स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका शक्ति एक व्यक्ति के बजाय सात व्यक्तियों की एक समिति में, जिसे **संघीय परिषद** कहते हैं निहित है। इन सात सदस्यों में से प्रति वर्ष बारी–बारी से एक सदस्य को परिषद का अध्यक्ष चुन लिया जाता है, जिसे संघ का राष्ट्रपति कहते हैं। उसे अपने अन्य सहयोगियों की तुलना में अधिक शक्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं।

एकल कार्यपालिका के प्रमुख गुण हैं – शीघ्रता से निर्णय लेने की क्षमता, शासन नीति की एकरूपता तथा स्थिरता, कार्यवाही की गोपनीयता एवं प्रशासन में दृढ़ता। इस प्रणाली में कार्यपालिका की अन्तिम शक्ति एवं नियंत्रण एक ही व्यक्ति में निहित होने से शासन में एकता, सुगमता तथा सुचारुता लाना अपेक्षाकृत आसान रहता है। **वूल्जे** के अनुसार," कार्यपालिका का एकल अध्यक्ष होने के स्पष्ट लाभ हैं ; वह शासन में एकता तथा कुशलता लाने की क्षमता रखता है।" स्टोरी के अनुसार, " कार्यपालिका को एकल और व्यवस्थापिका को बहुसंख्यक होना चाहिए"

बहुल कार्यपालिका के प्रमुख गुण हैं– शक्तियों का दुरुपयोग नहीं तथा अधिक अच्छे निर्णय। आकस्मिक परिवर्तन की संभावना इसमें कम रहती है।

फिर भी बहुल कार्यपालिकाओं के प्रयोग विफल हुए हैं। जिन देशों ने इस पद्धति को अपनाया उन्हें अच्छे अनुभव नहीं हुए। सामूहिक नेतृत्व में फूट तथा कलह की संभावना सदा बनी रहती हैं, शासन में ढीलापन आ जाता है और सबका उत्तरदायित्व, किसी का उत्तरदायित्व नहीं की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। स्विटजरलैण्ड में इस प्रणाली की सफलता का कारण स्विस लोगों की राजनैतिक जाग्रति, उनका समुचित शिक्षण तथा देश की श्रेष्ठ परम्पराएँ हैं, न की इस प्रणाली के गुण।

(4) **वंशानुगत और निर्वाचित कार्यपालिका** (Hereditary and Elective Executive)- यदि राज्य का प्रमुख वंशानुक्रम ढंग से सत्ता प्राप्त करता है तो उसे वंशानुगत कार्यकारी कहा जायेगा। प्रायः राजतन्त्र में वंशानुगत कार्यकारी होता है। लोकतंत्र में कार्यकारी का प्रत्यक्ष और परोक्ष ढंग से जनता द्वारा निर्वाचन किया जाता है। निर्वाचन का तरीका राज्य के संविधान और शासन –प्रणाली पर निर्भर करता है।

(5) **उत्तरदायी और अनुत्तरदायी कार्यपालिका** – (Responsible and Non-responsible Executive)- संसदीय शासन– प्रणाली में कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। अध्यक्षीय

शासन–प्रणाली में कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और उसे अनुत्तरदायी कार्यपालिका कहा जाता है। संसदीय कार्यपालिका को संसद का अविश्वास होने पर पद से हटाया जा सकता है जबकि अध्यक्षीय कार्यपालिका को निश्चित अवधि समाप्ति के पूर्व नहीं हटाया जा सकता।

कार्यपालिका का चयन (Selection of the Executive)

कार्यपालिका का चयन अथवा नियुक्ति भिन्न–भिन्न देशों में अलग–अलग ढंग से की जाती है। इसके चयन के प्रमुख तरीके इस प्रकार हैं:

(1) **पैतृक** (Hereditary)-पैतृक कार्यकारी एक बार पदारूढ़ होने पर जीवनपर्यन्त शासन करते हैं। उनके निधन के बाद उसी वंश का व्यक्ति शासन का उत्तराधिकार होता है और यह उत्तराधिकार ज्येष्ठाधिकार कानून द्वारा मिलता है। पुत्र के अभाव में निकट का सम्बन्धी कार्यकारी पद पर आरूढ़ होता है। इस व्यवस्था को राजतन्त्र कहा जाता है। इस प्रकार की नियुक्ति का लाभ यह है कि इसमें बार–बार निर्वाचन नहीं करना पड़ता। तथापि अब ऐसे कार्यकारी का समय नहीं रहा। **लीकाक** के अनुसार, पैतृक कार्यकारी की धारणा उतनी ही बेहूदा है जितनी एक वंशानुगत गणितज्ञ अथवा राष्ट्र कवि की।

(2) **जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन** (Direct Elections)-कई देशों में कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से मतदाताओं के मतों द्वारा होता है। बोलीविया, मैक्सिको, ब्राजील आदि देशों में जनता प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। फ्रांस में भी राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए सीधे मतदान द्वारा चुना जाता है। यह प्रणाली लोकतन्त्रीय भावनाओं के अनुकूल है तथा इससे राजनीतिक शिक्षा का प्रचार होता है। किन्तु कभी– कभी जनता की भावनाओं को भड़काकर इस विधि के अर्न्तगत अयोग्य व्यक्ति कार्यकारी पद पर पंहुच जाते हैं।

(3) **परोक्ष निर्वाचन** (Indirect Election)– कई देशों में प्रधान कार्यकारी का निर्वाचन एक विशिष्ठ निर्वाचक मंडल द्वारा किया जाता है। भारत और अमेरिका में जनता परोक्ष रूप से राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। इस पद्धति के अर्न्तगत पहले एक निर्वाचक–मण्डल की स्थापना होती है जिसमें जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं। बाद में निर्वाचक मंडल के सदस्य राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं। इस पद्धति में प्रत्यक्ष निर्वाचन से उत्पन्न तनाव एवं गड़बड़ियाँ नहीं होती और विवेकपूर्ण ढंग से चुनाव हो जाता है। इस पद्धति का दोष यह है कि सच्ची शक्ति निर्वाचक मंडल में न होकर राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथों में होती है और निर्वाचक मंडल के सदस्यों को उनके नियंत्रण में काम करना होता है।

(4) **व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन** (Election by Legislature)– इस पद्धति में विधायिका के सदस्य कार्यपालिका का निर्वाचन करते हैं। विधायिका के दोनों सदनों द्वारा कार्यपालिका के अध्यक्ष या समिति का चुनाव होता है। स्विस संघीय कार्यपालिका का निर्वाचन वहीं की विधायिका द्वारा होता है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि जिन लोगों को मतदान का अधिकार होता है वे अपेक्षाकृत कुशल और योग्य होते हैं। इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ है कि इसमें कार्यपालिका का प्रधान विधानपालिका से प्रभावित होता है जिससे उसकी स्वतन्त्रता में कमी आ जाती है।

(5) **मनोनयन** (Nominated Executive)– कार्यपालिका का मनोनयन भी होता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में गर्वनर जनरल तथा गर्वनरों की नियुक्ति इंग्लैण्ड के सम्राट द्वारा की जाती थी। आजकल भी भारत में राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति करते हैं। ऐसी नियुक्तियाँ सोच–समझ कर की जाती हैं। किन्तु ऐसी नियुक्तियों में पक्षपात की भी गंध आ सकती है।

कार्यपालिका के कार्य (Functions of the Executive)

कार्यपालिका का कार्यक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो रहा है। कार्यपालिका "सरकार" शब्द का पर्यायवाची बन गई। **गेटेल** ने कार्यपालिका के पाँच कार्य बतलाए हैं– कूटनीतिक कार्य, प्रशासनिक कार्य, सेना सम्बन्धी कार्य, व्यवस्था सम्बन्धी कार्य और न्याय सम्बन्धी कार्य। कार्यपालिका के प्रमुख कार्यों का विवरण निम्न रूप से किया जा सकता है :

(1) **प्रशासनिक कार्य** – कार्यपालिका का मुख्य कार्य इस प्रकार प्रशासन करना है कि देश में आन्तरिक शान्ति एवं कानून की व्यवस्था बनी रहे। वह सरकारी विभागों की देखभाल, आन्तरिक

NOTES

शान्ति–व्यवस्था , सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति और उन्हें पदच्युत करना, कानूनों को लागू करना आदि कार्य करती है ।

(2) **कूटनीतिक कार्य** – विदेशों के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करने का उत्तरदायित्व भी कार्यपालिका पर ही रहता है इसके लिए वह विदेशों में अपने दूतावास स्थापित करती है, राजदूत नियुक्त करती है तथा अन्य देशों से आये राजदूतों का स्वागत करती है । आर्थिक , राजनीतिक तथा सुरक्षात्मक सन्धियाँ कार्यपालिका द्वारा की जाती हैं । विदेशों से भी सभी प्रकार के समझौते कार्यपालिका द्वारा ही किए जाते हैं ।

(3) **विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य** – कार्यपालिका विधि निर्माण कार्य में भाग लेती है । इन कार्यों का क्षेत्र शासन प्रणाली के स्वरूप पर निर्भर करता है । अधिकांश राज्यों में कार्यपालिका को संसद का अधिवेशन बुलाने , स्थगित करने तथा निम्न सदन को भंग करने का अधिकार प्राप्त है । संसदीय शासन–प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका ही विधि– निर्माण में व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है । अध्यक्षीय शासन प्रणाली वाले देशों में भी सीमित रूप में कार्यपालिका विधि– निर्माण को प्रभावित करती है उदाहरणार्थ अमरीकी राष्ट्रपति कांग्रेस को सन्देश भेज सकता है और विलम्ब निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है ।

(4) **न्यायिक कार्य** – कार्यपालिका के न्याय सम्बन्धी कार्य हैं – न्यायाधीशों की नियुक्ति, कैदियों की आम रिहाई, क्षमा–दान आदि ।

(5) **वित्तीय क्रार्य** – शासन का वार्षिक आय–व्यय निर्धारित करने का कार्य भी कार्यपालिका का है । राष्ट्रीय बजट पास करना और आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण रखना आदि विधायिका के कार्य हैं, परन्तु इस दिशा में पहल एवं मार्गदर्शन कार्यपालिका ही करती है ।

(6) **विविध कार्य** – कार्यपालिका के अन्य कार्य हैं– उपाधियों का वितरण करना, राष्ट्रीय आयोजन करना, विदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्रदान करना आदि ।

कार्यपालिका की शक्तियों में अभिवृद्धि (Growth of the Executive Power)

आधुनिक युग की कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों ने कार्यपालिका की शक्तियों में दिन–दूनी रात–चौगुनी वृद्धि की है । लॉक तथा रूसो ने अपने सामाजिक समझौते में "सीमित कार्यपालिका" तथा "लोकप्रिय कार्यपालिका" के सिद्धान्त प्रतिपादित किए थे किन्तु यथार्थ में आधुनिक प्रवृत्तियों ने समस्त कार्यपालिकाओं को हॉब्स का यथार्थ अनुयायी बना दिया है । मेक्रीडिस ने ठीक ही कहा है कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अनेक तत्वों व प्रवृत्तियों ने राजनीतिक कार्यपालिका को शक्ति का प्रधान केन्द्र बना दिया । कार्यपालिका में शक्तियों के केन्द्रण के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं:

(1) **केन्द्रीकरण** – चाहे संघात्मक शासन हो अथवा एकात्मक शासन, केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति जोरों पर है । प्रशासन , राजनीतिक दल अथवा सरकार के विभिन्न अंगों को देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न ढाँचों का संतुलन केन्द्रीकरण की ओर झुका है । अमेरिका और भारत जैसे संघों में केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ निरन्तर बढ़ती रही हैं । राज्यों की स्थिति केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता जैसी हो गई है । केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का अनिवार्य परिणाम यह रहता है कि उन समस्त अवैध शक्तियों का प्रयोग कार्यपालिका ही करती है जो संविधान के इतर विकसित होती हैं ।

(2) **समाजवाद** – आधुनिक युग में दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति समाजवाद तथा लोककल्याणकारी राज्य का आन्दोलन है । प्रत्येक नागरिक यह चाहता है कि राज्य उसके लिए अधिक से अधिक लाभकारी कार्य करे । बेरोजगारी, आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता तथा उच्च जीवन स्तर का अभाव प्रत्येक देश की महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं । इन समस्याओं के निराकरण के लिए बड़े–बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण तथा आर्थिक जीवन में राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है । आज सभी सरकारें कृषि, उद्योग , व्यवसाय आदि क्षेत्रों में पर्याप्त रूप से कार्य कर रही हैं । राज्यों की कार्य–वृद्धि का अनिवार्य परिणाम कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होना है ।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय और गृह -संकट** – वर्तमान युग संकटों का युग है। प्रत्येक देश की समस्याएँ पेचीदी और जटिल हैं। उदाहरण के लिए भारत में बेरोजगारी, कभी अकाल, कभी सूखा , कभी बाढ़ जैसी भयंकर समस्याएँ रहती हैं। अमेरिका में काले नीग्रो तथा गोरों के सामंजस्य की भयंकर राष्ट्रीय समस्या है। इसी प्रकार चीन–वियतनाम युद्ध , पश्चिमी एशिया का संकट, भारत –पाक सम्बन्ध की नाजुक स्थिति , भारत- चीन सम्बन्ध की जटिलता आदि कुछ ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय पेचीदे संकट तथा झगड़े हैं जो कभी–कभी युद्ध का रूप ले लेते हैं। युद्धों के साथ राष्ट्रीय जय –पराजय जुड़ी रहती है। अत: इस संकट के युग में कार्यपालिका के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। हम सभी जानते हैं कि प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय लॉयड़ जार्ज तथा चर्चिल की शक्तियाँ हिटलर तथा मुसोलिनी से कम नहीं थीं। आर्थिक संकट के समय फ्रैंकलिन रूजवेल्ट अमेरिका के सांविधानिक अधिनायक ही थे।

(4) **नेतृत्व की आवश्यकता** – राष्ट्रीय नेतृत्व राष्ट्रीय गौरव और प्रतिष्ठा का स्त्रोत होता है। दुर्बल नेतृत्व राष्ट्र को दुर्बल करने के साथ–साथ राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का ह्रास करता है। आज प्रत्येक देश की जनता गौरव और प्रतिष्ठा की आकांक्षा रखती है। कार्यपालिका ही राष्ट्र को सबल नेतृत्व प्रदान कर सकती है।

(5) **संचार तथा आवागमन के साधनों का विकास** – आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता दूरी की कमी है। प्राचीन काल में संचार तथा आवागमन के द्रुतगामी साधनों के अभाव में कार्यपालिका का नियंत्रण तथा प्रभाव ढीला ही रहता था और विकेन्द्रीकरण की प्रवृति प्रशासनिक कार्यकुशलता के लिए अनिवार्य हो जाती थी। वर्तमान समय में कार्यपालिका तकनीकी यन्त्रों की सहायता से अधिकांश कार्य की देख–रेख स्वयं कर सकने की स्थिति में है, स्वयं निर्देश दे सकने की स्थिति में हैं।

(6) **राजनीतिक दलों का विकास** – आज प्रत्येक देश में राजनीतिक दलों का विकास हो चुका है। प्रत्येक देश में कार्यपालिका अपने दल की नेता तथा प्रमुख वक्ता होती है। उसका दल उसकी नीतियों और कार्यों का समर्थन करते हुए उसके पक्ष में लोकमत तैयार करता रहता है। राजनीतिक दलों में कठोर अनुशासन पाया जाता है तथा वे सदैव अपने नेता के नेतृत्व में कार्य करते हैं। दलीय प्रथा की कठोरता ने कार्यपालिका को जहाँ जन–समर्थन प्रदान किया है वहाँ अनौपचारिक दृढ़ता भी प्रदान कर दी है।

(7) **व्यवस्थापिका की शक्तियों का ह्रास** – आधुनिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने व्यवस्थापिका के स्वरूप को ही बदल दिया है। व्यवस्थापिकाओं के सदस्य न तो समस्याओं की जटिलताओं को समझ पाते हैं और न वे स्वयं कानून बनाते हैं। कानून प्रशासकों के बंद कमरों में बनते हैं और संसद तो "हाँ " या "ना" करने वाली संस्था रह गई है। कार्यपालिका के नेतृत्व , बहुमत एवं शक्ति के कारण संसद "ना" भी नहीं कर सकती। वह एक "रबर स्टाम्प" मात्र बन कर रह गई है। रैम्जे म्योर ने लिखा है , " मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।"

संक्षेप में सभी देशों में कार्यपालिका ने विधायिका को पीछे ढकेलते हुए अत्याधिक शक्तियाँ हथिया ली हैं।, **लिप्सन ने लिखा** है, " राज्य के कार्यों में प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति में वृद्धि की है।"

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कार्यपालिका के संगठन एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. शासन की कार्यपालिका शाखा के कार्यों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कार्यपालिका से क्या अभिप्राय है ?
2. राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका में भेद कीजिए।
3. एकल और बहुल कार्यपालिका में अन्तर कीजिए।

NOTES

4. कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के कारण लिखिए।

राजनीतिक सिद्धान्त

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. विधि को लागू करने वाली संस्था को क्या कहते हैं
   (अ) व्यवस्थापिका (ब) कार्यपालिका
   (स) कार्यपालिका (द) सरकार
2. किस देश में संसदीय कार्यपालिका पायी जाती है?
   (अ) ब्रिटेन (ब) जापान
   (स) भारत (द) उपर्युक्त सभी में
3. किस देश में कार्यपालिका व विधायिका में घनिष्ट संबंध पाया जाता है?
   (अ) स्विट्जरलैण्ड (ब) संयुक्त राज्य अमेरिका
   (स) भारत (द) ब्राजील
4. अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का प्रमुख गुण है–
   (अ) शासन में स्थिरता (ब) सामूहिक उत्तरदायित्व
   (स) प्रधानमंत्री का नेतृत्व (द) कार्यकाल की अनिश्चितता
5. संसदात्मक कार्यपालिका का प्रमुख गुण है–
   (अ) निर्वाचित राष्ट्रपति (ब) उत्तरदायित्व
   (स) स्थायित्व (स) मंत्रियों की विशेषज्ञता
6. औपचारिक कार्यपालिका का उदाहरण नहीं है–
   (अ) अमरीकी राष्ट्रपति (ब) भारतीय राष्ट्रपति
   (स) ब्रिटिश सम्राट् (द) जापान के सम्राट्
7. उत्तरदायी कार्यपालिका का उदाहरण नहीं है–
   (अ) भारत का प्रधानमंत्री (ब) अमरीकी राष्ट्रपति
   (स) ब्रिटिश प्रधानमंत्री (द) जापान में मंत्रिपरिषद
8. कार्यपालिका का राजनीतिक कार्य है–
   (अ) विदेश संबंधों का संचालन (ब) सैनिक कार्यों का संचालन
   (स) नेतृत्व (द) आर्थिक कार्यों का संचालन

उत्तर **1.** (स), **2.** (द), **3.** (स), **4.** (अ), **5.** (ब), **6.** (अ), **7.** (ब), **8.** (स)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

22

न्यायपालिका

(JUDICIARY)

शासन शक्तियों का दुरुपयोग न कर सके इसके लिए सामान्यतया तीन व्यवस्थाएं अपनायी जाती हैं– **प्रथम**, शक्तियों को संविधान द्वारा निर्धारित व सुनिश्चित करना ; **द्वितीय**, शक्तियों का नियन्त्रण व सन्तुलन करना ताकि यदि शासन का एक अंग शक्तियों का दुरुपयोग करे तो दूसरा अंग रोक सके; **तृतीय**, स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना करके।

व्यवहार में दोनों (उपर्युक्त) व्यवस्थाओं की पूरक होने के कारण न्यायपालिका का शक्ति नियन्त्रक के रूप में विशिष्ट महत्व है। आज तो सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता को राजनीतिक स्थिरता का आवश्यक पहलू माना जाता है। लोकतान्त्रिक शासन–व्यवस्थाएं स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका के मजबूत स्तम्भ पर ही निर्भर रहती हैं।

न्यायपालिका का महत्व (Significance of Judiciary)

न्यायपालिका शासन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। लोकतन्त्र का आधार स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त हैं; इन सिद्धान्तों की रक्षा समुचित न्याय – व्यवस्था के बिना नहीं हो सकती। न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करती है। यह विधायिका द्वारा कानूनों की व्याख्या करती है और कानून का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देती है। यदि किसी राज्य में उचित और निष्पक्ष न्यायपालिका नहीं है तो अधिकारों की सुरक्षा खतरे में रहती है। **रॉल** के शब्दों में, "अधिकारों का निश्चय और उन पर निर्णय देने के लिए न्याय विभाग नितान्त आवश्यक है।" **लार्ड ब्राइस** के शब्दों में ," किसी शासन की उत्तमता की जाँच करने की सर्वश्रेष्ठ कसौटी उसकी न्याय– व्यवस्था की कार्यक्षमता है।" राज्य का अस्तित्व ही न्याय–व्यवस्था पर निर्भर होता है। न्याय विभाग की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए **गार्नर** ने लिखा है, " बिना विधायिनी अंगों के समाज की कल्पना की जा सकती है , किन्तु बिना न्यायिक अंगों व न्यायाधिकरण के एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। जिस देश में न्यायांग सुचारु रूप से कार्य नहीं करता , यदि वह अन्धकार के गर्त में समा जाये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। **केण्ट** के शब्दों में , " जिस देश में कानूनों की व्याख्या करने वाले और उन्हें कार्यान्वित करने, विवादों का निर्णय करने तथा अधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए कोई न्याय विभाग नहीं होता, वहाँ शासन ही नष्ट हो जाता है।" **लॉस्की** ने लिखा है कि, " जब हम जानते हैं कि राष्ट्र –राज्य किस प्रकार अपने यहाँ न्याय करता है तब हमें यह ज्ञात हो जाता है कि वह नैतिक चरित्र के किस स्तर पर है।" **मेरियट** के अनुसार "यदि नागरिकों को न्याय पाने में देर लगती है अथवा न्याय की सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं है तो नागरिकों का जीवन दुखःद बन जाता है।" **ब्राइस** के अनुसार ," यदि न्याय का दीपक अंधेरे में बुझ जाये तो वह अंधेरा कितना गहन होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।"

न्यायपालिका का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Judiciary)

न्यायपालिका शासन का वह अंग होती है जो विधियों की व्याख्या करती है तथा उनका उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देती है। साधारण अर्थ में विधियों की व्याख्या करने व उनका उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने की संस्थागत व्यवस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। यह उन व्यक्तियों का समूह है जिन्हें कानून के अनुसार समाज के विवादों को हल करने का अधिकार प्राप्त है। **प्रो. लास्की** के अनुसार, "एक राज्य की न्यायपालिका, अधिकारियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित की जा सकती है, जिसका कार्य राज्य के किसी कानून–विशेष के उल्लंघन या तोड़ने सम्बन्धी शिकायत का, जो विभिन्न लोगों के बीच या नागरिकों व राज्य के बीच एक–दूसरे के विरुद्ध होती है, समाधान व फैसला करता है।" संक्षेप में न्यायपालिका, न्यायिक प्रक्रिया की संरचना की व्यवस्था है। यह व्यवस्थित कानूनी लड़ाई

NOTES

के लिए की गई व्यवस्था के अन्तर्गत जाँच करने का तरीका है। यह समाज में प्रचलित विधियों को लेकर उठने वाले विवादों का समाधान करने का संस्थागत यन्त्र है।

न्यायपालिका के कार्य (Functions of the Judiciary)

न्यायपालिका के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं:

(1) **कानूनों की व्याख्या करना** – न्यायपालिका का प्रमुख कार्य कानूनों की व्याख्या करना है। प्राय: कानून अस्पष्ट तथा क्लिष्ट भाषा में होते हैं। ऐसी स्थिति में न्यायाधीश अपने विवेकानुसार कानूनों की व्याख्या करते हैं और उनके अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

(2) **नागरिक अधिकारों की रक्षा करना** – न्यायालय नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करते हैं। कई राज्यों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख संविधान में दे दिया जाता है ताकि उसे संविधान और न्यायपालिका का संरक्षण प्राप्त हो सके। ऐसी स्थिति में यह न्यायपालिका का विशेष उत्तरदायित्व होता है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि कोई अंग इन अधिकारों का अतिक्रमण न करें।

(3) **अभियोगों के निर्णय** – विधि के उल्लंघन से उत्पन्न मुकदमों का निर्णय न्यायपालिका करती है। नागरिकों के पारस्परिक विवादों का निर्णय न्यायपालिका द्वारा होता है। नागरिकों के दीवानी व फौजदारी के विवादों पर पक्ष तथा प्रतिपक्ष के विचार सुनकर न्यायालय फैसला सुनाते हैं।

(4) **संविधान की रक्षा** – संविधान की रक्षा करने का उत्तरदायित्व न्यायपालिका का होता है। यदि विधायिका ऐसा कानून पारित करती है जो संविधान की भावना के प्रतिकूल है तो न्यायपालिका उस कानून को असंवैधानिक घोषित कर सकती है। इसे न्यायिक पुनर्निरीक्षण कहते हैं।

(5) **संघात्मक व्यवस्था की रक्षा** – संघ शासन–व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों में शक्तियों का विभाजन होता है। कभी –कभी संघीय इकाइयों में आपस में अथवा संघ तथा अन्य इकाइयों में विवाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संघीय न्यायालय की सर्वोच्चता इसलिए स्थापित की जाती है कि इन विवादों में उसका निर्णय ही मान्य होगा। इसी प्रकार न्यायपालिका संघ में किसी को भी क्षेत्राधिकार का उल्लंघन नहीं करने देती।

(6) **मंत्रणा – कार्य अथवा परामर्श देना** – अनेक राज्यों में न्यायपालिका राष्ट्राध्यक्ष को परामर्श देने का कार्य भी करती है। इंग्लैण्ड में न्यायपालिका की प्रार्थना पर प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति वैधानिक प्रश्नों पर अपनी राय देती है। भारत में भी राष्ट्रपति गंम्भीर संवैधानिक प्रश्नों पर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले सकता है।

(7) **विधायन सम्बन्धी कार्य** – विधि–निर्माण व्यवस्थापिका का कार्य है तथापि विभिन्न मुकदमों के निर्णय के सिलसिलें में न्यायपालिका कानूनों की जो व्याख्या करती है उन व्याख्याओं से ही कतिपय कानूनों का निर्माण हो जाता है। ये निर्णय बाद में दृष्टान्त या नजीरें (Precedents)हो जाते हैं। इन दृष्टान्तों को "न्यायाधीशों द्वारा निर्मित कानून " या " केस लॉज '' कहते हैं।

(8) **प्रशासनिक कार्य** – न्यायालय अपने कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं। न्यायालय की कार्यवाही से सम्बन्धित प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं और उन्हें छोटे–छोटे नियमों को लागू करने का अधिकार है।

(9) **विविध कार्य** – न्यायालय अल्पवयस्क या नाबालिगों की जायदाद के लिए ट्रस्टी या संरक्षक नियुक्त करता है, नागरिक विवादों की मंजूरी देता है। निर्वाचन सम्बन्धी झगड़ों की अपील सुनता है। वसीयतनामों तथा इच्छा –पत्रों की रजिस्ट्री भी न्यायपालिका द्वारा होती है। इन्हें न्यायालयों के अर्द्ध – न्यायिक कार्य कह सकते हैं।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (Independence of the Judiciary)

न्यायपालिका शासन का वह अंग है जो कानूनों की व्याख्या करता है और न्याय की व्यवस्था करता है। यदि शासन का वह अंग किसी अन्य सत्ता के अधीन हो तो वह निष्पक्षता के साथ निर्णय

देने में असमर्थ होगा। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के अभाव में न्याय-व्यवस्था का कोई अर्थ ही नहीं होता। इस सम्बन्ध में **गार्नर** लिखते हैं –" यदि न्यायाधीशों में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो, तो न्यायालय का वह ढाँचा खोखला होगा और उस अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निम्नलिखित शीर्षकों में चर्चा की जायेगी:

(1) **न्यायाधीशों की योग्यता** (Qualifications of Judges) – न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए न्यायाधीशों की योग्यता महत्वपूर्ण तथ्य है। न्यायाधीश योग्य, प्रशिक्षित तथा अनुभवी होने चाहिए। न्यायाधीशों को कानून का गम्भीर ज्ञान होना चाहिए। उन्हें निष्पक्ष, ईमानदार तथा बाह्य प्रभाव से मुक्त होना चाहिए। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए यह योग्यता रखी गई है कि वे कम-से -कम दस वर्ष तक उच्च न्यायालय के वकील अथवा पांच वर्ष तक वहाँ न्यायाधीश के पद पर कार्य कर चुके हों।

(2) **न्यायाधीशों का वेतन** (Salary of Judges) – न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीश को समुचित वेतन -भत्ता मिले जिससे कि निश्चित होकर अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें। यही नहीं, एक बार उनके वेतन भत्ते के नियत हो जाने पर फिर किसी दशा में उसमें कमी नहीं की जानी चाहिए। उन्हें प्राप्त अन्य सुविधाओं में भी कोई कमी नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही वे निश्चित, निष्पक्ष और निर्भीक होकर अपने उत्तरदायित्वों को निभा सकते हैं। उनके वेतन, भत्ते आदि पर्याप्त एवं यथेष्ट होने चाहिए ताकि योग्य व्यक्ति इन पदों की ओर आकर्षित हो सकें।

(3) **न्यायाधीशों का कार्यकाल** (Term of Judges) – न्यायाधीशों का कार्यकाल निश्चित होना चाहिए। निश्चित कार्यकाल से उन्हें वैधानिक संरक्षण प्राप्त हो जाता है। पदावधि छोटी होने से कोई भी न्यायाधीश अपने पद का दुरुपयोग कर नाजायज लाभ उठा सकते हैं। उनका कार्यकाल लम्बा होना चाहिए। न्यायाधीशों का कार्यकाल स्थायी अथवा जीवनपर्यन्त भी हो सकता है। अवकाश ग्रहण करने की आयुपर्यन्त वे अपने पद पर रह सकते हैं। केवल शारीरिक या मानसिक दुर्बलता या गम्भीर अपराधों के कारण ही उन्हें अपने पद से हटाया जा सकता है।

(4) **न्यायाधीशों की बर्खास्तगी** (Removal of Judges)—न्यायाधीशों को पद से हटाने की सरल प्रक्रिया नहीं होना चाहिए। उनकी बर्खास्तगी व्यक्ति की इच्छानुसार मनमाने ढंग से नहीं होनी चाहिए। न्यायाधीशों को अपदस्थ करने की कठोर व्यवस्था होनी चाहिए जिससे इसका दुरुपयोग न किया जा सके। न्यायाधीशों को उस समय तक अपने पद पर बनाये रखना चाहिए जब तक उनमें कुशलता के साथ कार्य – सम्पादन की क्षमता हो।

(5) **विधायिका तथा कार्यपालिका से स्वतन्त्र होना** (Independence from Legislature and Executive)—न्यायाधीशों को विधायिका तथा कार्यपालिका से स्वतन्त्र रखा जाना चाहिए। यदि कार्यपालिका उनके कार्यों में हस्तक्षेप करेगी तो नागरिक स्वतन्त्रता प्रभावित होगी। न्यायाधीशों को राजनीतिक दलों से दूर रहना चाहिए ताकि उनके विचार तटस्थ रह सकें। यदि न्यायाधीश किसी भी अंश तक कार्यपालिका के अधीन या दबाव में होगा तो वह अपनी निर्भीकता एवं निष्पक्षता की रक्षा नहीं कर सकता।

न्यायाधीशों का चयन (Selection of Judges)

आजकल न्यायाधीशों की नियुक्ति के तीन तरीके प्रचलित हैं :

(1) **कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति** – भारत तथा अमेरिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति मुख्य कार्यपालिका द्वारा एक निश्चित समय के लिए की जाती है। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को नियुक्त करता है किन्तु उन्हें हटा नहीं सकता। ऐसी नियुक्ति का ध्येय न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को

NOTES

बनाये रखना है। लेकिन राष्ट्रपति की व्यक्तिगत पसन्द में दलीय भावना आदि के प्रभाव की सम्भावना होती है।

(2) **विधायिका द्वारा निर्वाचन** – कतिपय देशों में विधायिका के सदस्यों द्वारा भी न्यायाधीशों का निर्वाचन किया जाता है। स्विट्जरलैंड में न्यायाधीशों का निर्वाचन विधायिका द्वारा ही होता है। इस प्रणाली में अनेक दोष हैं – (a) विधायिका द्वारा न्यायाधीशों का निर्वाचन शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल है। (b) इससे दलगत राजनीति को बढ़ावा मिलेगा। (c) दलीय आधार पर चुने गये न्यायाधीशों से निष्पक्ष न्याय की आशा करना व्यर्थ होगा।

(3) **जनता द्वारा निर्वाचन** – न्यायाधीशों को जनता द्वारा भी चुना जाता है। स्विट्जरलैंड के कुछ कैण्टनों और अमेरिका के कुछ राज्यों में यह व्यवस्था आज भी विद्यमान है। इस प्रणाली के समर्थन में ये तर्क दिये जाते है कि यह जनतन्त्र की भावना के अनुकूल है तथा यह व्यवस्था शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त के भी अनुकूल है। जनता द्वारा निर्वाचित होने पर न्यायाधीश विधायिका के दबाब से पूरी तरह मुक्त होकर कार्य कर सकते हैं। **प्रो. लास्की** का कथन है कि, "नियुक्ति के जितने भी तरीके हैं, उसमें जनता के निर्वाचन द्वारा नियुक्ति सबसे बुरी है।" **गार्नर** के अनुसार, "यह तरीका न्यायाधीशों को राजनीतिज्ञ बना देगा।" जनता द्वारा चुने गये न्यायाधीश कभी भी, निष्पक्ष , ईमानदार और सम्मानित नहीं हो सकते। जब वे दलीय आधार पर चुने जायेंगे तो उनके निर्णय भी पक्षपातपूर्ण होंगे।

संक्षेप में, नियुक्ति के विभिन्न तरीकों में कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था श्रेष्ठ है लेकिन एक बार नियुक्ति करने के बाद कार्यपालिका को न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की शक्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए।

न्यायपालिका का संगठन (Organisation of Judiciary)

न्यायिक व्यवस्था के संगठन का सभी देशों में एक – सा ढाँचा नहीं पाया जाता। एकात्मक और संघात्मक राज्यों में पाई जाने वाली न्यायिक व्यवस्था के ढाँचे में अन्तर पाया जाता है। इसी प्रकार साम्यवादी और अधिनायकवादी व्यवस्था के न्यायिक ढाँचे में भी अन्तर देखने को मिलता है। फिर भी, प्राय: सभी देशों की न्यायिक व्यवस्था के संगठन में मोटे रूप से निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं:

(1) **पिरामिड की भाँति संरचना** – प्राय: सभी देशों में न्यायपालिका का संगठन पिरामिड की तरह होता है। सभी देशों में न्यायपालिका का संगठन एक ऐसी श्रृंखला के रूप में होता है जिसमें निम्न स्तर के न्यायालयों के ऊपर उच्च स्तरीय न्यायालय होते हैं और सबसे ऊपर सर्वोच्च न्यायालय होता है। न्यायिक संरचना में ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर बढ़तें जाते हैं त्यों- त्यों न्यायालयों की संख्या घटती जाती है और अन्त में शीर्ष के ऊपर सर्वोच्च न्यायालय होता है।

(2) **सर्वोच्च न्यायालय में पीठ -व्यवस्था** – प्राय: सभी देशों में सर्वोच्च न्यायालयों में बेंच व्यवस्था का प्रावधान रहता है। बेंच व्यवस्था में हर न्यायाधीश जाँच करने , बोलने व निर्णय देने की स्वतन्त्रता रखता है। हर न्यायाधीश विचारधीन मुकदमें पर अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखते हुए निर्णय करता है। हर मुकदमे की सुनवाई में सर्वोच्च न्यायालय (पीठ) बेंच के रूप में कार्य करता है। पीठ में न्यायाधीशों की संख्या मुकदमें के महत्व पर निर्भर करती है। **हैमिलटन** के अनुसार, "उचित विचार-विमर्श की पक्की व्यवस्था करने के लिए मुकदमे न्यायाधीशों की बेंच के निर्णय हेतु रखे जाते हैं।"

(3) **सामान्य और प्रशासनिक न्यायालयों की व्यवस्था** – कतिपय देशों में दो प्रकार के न्यायालय पाये जाते हैं- सामान्य और प्रशासनिक न्यायालय। इन देशों में यह माना जाता है कि व्यक्ति की नागरिक के रूप में प्रशासनिक अधिकारी के रूप में अलग-अलग भूमिका होती है इसलिए सामान्य नागरिक के मुकदमों की सुनवाई हेतु सामान्य न्यायालय तथा प्रशासनिक अधिकारियों के मुकदमों की सुनवाई हेतु प्रशासनिक न्यायालय होने चाहिए। फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी में इसी प्रकार की न्याय-व्यवस्था है।

(4) **विशेषीकृत न्यायालय** – कुछ देशों में न्यायालयों का संगठन विशेषीकरण के आधार पर होता है। इन देशों में दीवानी, फौजदारी, प्रशासनिक और संवैधानिक मामलों के अलग-अलग विशेषीकृत न्यायालय होते हैं। पश्चिमी जर्मनी में दीवानी, फौजदारी, प्रशासनिक और संवैधानिक मामलों के

अलग–अलग न्यायालय हैं। विशेषीकृत न्यायालय व्यवस्था का स्वेच्छाचारी शासनों में अधिक प्रयोग होता है। इन देशों में सैनिक अदालतों का गठन किया जाता है।

NOTES

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. न्यायपालिका के कार्यों को स्वतंत्र बनाए रखने के उपाय बताइए।
2. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर एक लेख लिखिए।
3. प्रजातंत्र में स्वतंत्र न्यायपालिका के महत्व की विवेचना कीजिए।
4. न्याय पालिका किसे कहते हैं ? इसका गठन कैसे होता है ? एक स्वतंत्र एवं सशक्त न्यायपालिका के लिए कौन – कौन सी बातें आवश्यक है ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. न्यायपालिका के कार्य लिखिए।
2. न्यायाधिशों के चयन के तरीके लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. किस देश को प्रशासनिक न्यायालयों के लिए जाना जाता है ?
   (अ) ब्रिटेन (ब) भारत (स) अमेरिका (द) फ्रांस
2. न्यायाधीशों के चयन का सर्वश्रेष्ठ तरीका है–
   (अ) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति (ब) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन
   (स) जनता द्वारा निर्वाचन (द) राजनीतिक दलों द्वारा निर्वाचन
3. जिस देश में व्यवस्थापिका सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है ?
   (अ) अमेरिका (ब) भारत (स) ब्रिटेन (द) स्विट्जरलैण्ड
4. किस देश में न्यायाधीशों का कार्यकाल जीवन पर्यन्त रखा गया है ?
   (अ) भारत (ब) अमेरिका (स) पाकिस्तान (द) ब्रिटेन
5. किस देश को न्यायिक पुनर्निरीक्षण के लिए जाना जाता है ?
   (अ) फ्रांस (ब) ब्रिटेन (स) स्विट्जरलैण्ड (द) अमेरिका
6. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है–
   (अ) न्यायाधीशों का निश्चित कार्यकाल
   (ब) न्यायाधीशों का जनता द्वारा निर्वाचन
   (स) न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की सरल प्रक्रिया
   (द) न्यायाधीशों की अल्प पदावधि
7. किस देश में संसद के उच्च सदन ने अपील के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में 20वीं सदी तक कार्य किया ?
   (अ) अमेरिका (ब) ब्रिटेन (स) भारत (द) फ्रांस
8. संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या कितनी निश्चित कर दी गई है ?
   (अ) 9 (ब) 15 (स) 21 (द) 25

उत्तर **1.** (द), **2.** (अ), **3.** (द), **4.** (ब), **5.** (द), **6.** (अ), **7.** (ब), **8.** (अ)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

23

शक्ति –पृथक्करण सिद्धान्त

(THEORY OF SEPARATION OF POWERS)

शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का राजनीति विज्ञान में तब तक विशेष स्थान नहीं रहा, जब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता का मुद्दा या विचार अति आवश्यक नहीं बन गया। मानव पिछले सैकड़ों वर्षों से ऐसी संस्थागत संरचना की खोज में रहा है कि जिसके माध्यम से राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग से बचाव की शत–प्रतिशत गारण्टी उपलब्ध हो सके और साथ ही स्वतन्त्रता का संरक्षण हो सके।

हम सभी जानते हैं कि स्वेच्छाचारी व्यवस्थाओं में शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। शक्तियों के पृथक्करण से शक्तियों के नियन्त्रण की व्यवस्था का उदय होता है और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा सम्भव हो सकती है।

सरकार के कार्यों को साधारणतया तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है – (1) कानून बनाना, (2) कानूनों को कार्यान्वित करना तथा (3) न्याय करना। इन तीन कार्यों के लिए सरकार के तीन अंग होते हैं– (i) व्यवस्थापिका, (ii) कार्यपालिका एवं (iii) न्यायपालिका। व्यवस्थापिका कानून बनाती है, कार्यपालिका कानूनों को लागू करती है और न्यायपालिका कानूनों की व्याख्या करती है तथा न्याय करती है।

मेडीसन ने लिखा है : – " व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियों का एक ही हाथों में एकत्रित होना– चाहे वह एक व्यक्ति हो या अधिक और चाहे वंशानुगत हो , स्वत: नियुक्त हो या निर्वाचित हो – अत्याचारी शासन की उपयुक्त परिभाषा कहा जा सकता है।"

शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ
(Meaning of the Theory of Separation of Powers)

सरकार के इन तीनों अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होना चाहिए, यह समस्या राजनीतिशास्त्र में अत्यन्त विवादग्रस्त रही है और इस सम्बन्ध में समय–समय पर जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उनमें मान्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति –पृथक्करण सिद्धान्त सबसे अधिक प्रमुख है। **हरमन फाइनर** ने लिखा है , "शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त प्रथम बार पूर्ण रूप में केवल **मॉन्टेस्क्यू** द्वारा ही प्रतिपादित किया गया था।" **फाइनर** ने आगे लिखा है कि " शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त **मान्टेस्क्यू** का अपना ही है यद्यपि इसके कुछ संकेत जॉन लॉक की पुस्तक ' सिविल गवर्नमेंट ' में भी उपलब्ध होते हैं।"

गेटेल के कथनानुसार, " इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि सरकार के तीनों प्रमुख कार्य भिन्न व्यक्तियों द्वारा सम्पादित होने चाहिए और इन तीनों विभागों के कार्यक्षेत्र इस प्रकार होने चाहिए कि वे अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और सर्वोच्च बने रहे।"

यह सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि निरंकुश शक्तियों के मिल जाने से व्यक्ति भ्रष्ट हो जाते हैं और अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का विचार है कि व्यवस्थापिका का काम कानून बनाना होना चाहिए , कार्यपालिका उन कानूनों को क्रियान्वित करे और उनके अनुसार शासन चलाए तथा न्यायपालिका उन कानूनों के अनुसार निर्णय करे।

इस सिद्धान्त का सरल भाषा में आशय इस प्रकार है:

(1) सरकार में तीन प्रकार की पृथक् –पृथक् शक्तियाँ हैं।
(2) स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए इन शक्तियों का केन्द्रण नहीं होना चाहिए।
(3) सरकार की इन तीनों शक्तियों की संस्थाओं के कार्मिक भी पृथक –पृथक व्यक्ति रहे।
(4) सरकार की शक्ति की हर संस्था के कार्मिक केवल अपने अधिकार –क्षेत्र में सीमित, स्वतन्त्र और सर्वोच्च रहें।

शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त की आवश्यकता
(Necessity of the Separation of Powers)

शक्ति– पृथक्करण सिद्धान्त की आवश्यकता के लिए प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :

(1) नागरिकों की स्वतन्त्रता व अधिकारों की सुरक्षा के लिए।

(2) शक्ति की निरंकुशता एवं उसके दुरुपयोग को रोकने के लिए।

(3) शासन कार्य को सुगम एवं सुविधाजनक बनाने के लिए।

(4) शासन में विशिष्टीकरण एवं कुशलता।

(5) शक्ति – पृथक्करण से ही शासन के विभिन्न अंगों का उत्तरदायित्व सुनिश्चित होता है।

(6) शक्ति – पृथक्करण से न्यायपालिका की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता बनी रहती है।

शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त का विकास
(Evolution of the Theory of Separation of Powers)

इस सिद्धान्त की स्पष्ट एवं अधिकृत व्याख्या 18 वीं शताब्दी में फ्रांसीसी दार्शनिक मांटेस्क्यू ने की है। किन्तु मान्टेस्क्यू से पूर्व भी इस सिद्धान्त के बारे में अस्पष्ट रूप से दार्शनिकों ने यदाकदा विचार किया है। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने शासन के तीन कार्य बतलाए थे – (i) विमर्शात्मक , (ii) प्रशासकीय तथा (iii) न्यायिक। रोम में भी शासन की तीन शाखाएं थीं– (i) सीनेट , (ii) कॉन्सुल और (iii) ट्रिब्यून। रोमन दार्शनिक सिसरो और पोलिबियस ने भी शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी विद्वान बोदाँ ने इस बात पर जोर दिया कि शासन के कार्यकारी एवं न्यायकारी अंग पूर्णत: पृथक् होने चाहिए। **जॉन लॉक** ने भी कहा था कि शासन के कार्यपालिका और व्यवस्थापिका अंगों को एक–दूसरे से पृथक् रखा जाना चाहिए, अन्यथा भ्रष्टाचार फैलने की सम्भावना रहती है।

मांटेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त (Theory of Montesquieu)

शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त का अधिकृत व्याख्याता फ्रांसीसी विद्वान मांटेस्क्यू है। उसने अपनी पुस्तक "द स्पिरिट ऑफ लॉज " (The Spirit of Laws) में इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या की है। मांटेस्क्यू के समय राजाओं का निरंकुश और स्वेच्छाकारी राज्य था और व्यक्तियों की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं थी। वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा का प्रबल समर्थक था। सन् 1726 ई. में उसने इंग्लैण्ड की यात्रा की और वहाँ की प्रचलित स्वतन्त्रता की भावना से बहुत प्रभावित हुआ। इंग्लैण्ड की शासन–व्यवस्था के बाह्य ढाँचे के अध्ययन से उसने स्वतन्त्रता के इस रहस्य का पता लगाया। उसने देखा कि इंग्लैंड में विधायिका, कार्यपालिका और न्यायिक कार्य पृथक्–पृथक् विभागों द्वारा सम्पादित होते हैं, जबकि फ्रांस में ये सभी एक ही निरंकुश सम्राट के अधीन हैं। शक्तियों के केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप ही फ्रांस में जनता की स्वतन्त्रता खतरे में है और शक्तियों के पृथक्करण के कारण ही इंग्लैण्ड में वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा हुई है। इससे मांटेस्क्यू इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता और नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए शासन की समस्त शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में केन्द्रित न रहकर विभिन्न व्यक्तियों या व्यक्ति – समूहों में विभाजित हो जानी चाहिए।

शक्ति–पृथक्करण सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए **मांटेस्क्यू** ने लिखा है, " यदि कानून बनाने और उन पर अमल करवाने की शक्तियाँ किसी एक ही व्यक्ति या व्यक्ति –समूह के हाथ में एकत्रित हों तो स्वतन्त्रता असम्भव है ...। इनमें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होना चाहिए , उसे अपने कार्यक्षेत्र तक ही सीमित रहना चाहिए और उसके द्वारा दूसरे अंग के कार्य को प्रभावित करने या उन पर नियन्त्रण स्थापित करने की चेष्टा नहीं की जानी चाहिए ...। यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही हाथों में केन्द्रित हों जाएं, तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती ...। इसी तरह यदि न्याय सम्बन्धी शक्ति को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्ति से पृथक् नहीं किया जाता, तो भी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती है ...। यदि एक ही व्यक्ति या समुदाय तीनों काम करने लगे, तो स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जायेगी और राज्य अपनी मनमानी करने लगेगा। "

"शक्ति –पृथक्करण सिद्धान्त" की व्याख्या करते हुए **मांटेस्क्यू** ने निम्नलिखित बातें कहीं हैं :

(1) विधायिका और कार्यपालिका की शक्तियों के सम्मिलन से व्यक्ति मनमाने ढंग से कानूनों का निर्माण तथा प्रयोग करेगा।

(2) विधायिका और न्यायांग की शक्तियों के सम्मिलन से व्यक्ति मनमाने ढंग से कानूनों का निर्माण तथा मनमाने ढंग से उनकी व्याख्या करेगा।

(3) कार्यपालिका और न्यायांग की शक्तियों के सम्मिलन से भी स्वेच्छाचारिता बढ़ेगी।

(4) तीनों शक्तियों के सम्मिलन से भी नागरिक स्वाधीनता का लोप हो जायेगा तथा शासन निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो जायेगा।

ब्लैकस्टोन के विचार (Ideas of Blackstone)

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध न्यायशास्त्री **ब्लैकस्टोन** ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'इंग्लैण्ड के कानून की टीकाएँ ' (1765) में लिखा है, "जहाँ कहीं कानून बनाने और उन्हें लागू करने का अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्ति –समूह में निहित होगा, वहाँ किसी प्रकार की सार्वजनिक स्वतन्त्रता नहीं हो सकती क्योंकि शासक अत्याचारपूर्ण कानून बना सकता है और उन्हें अत्याचारपूर्ण ढंग से लागू कर सकता है।" इसी प्रकार यदि न्याय विभाग को विधायिनी या प्रशासनिक अंग से मिला दिया जाये तो अत्याचारी एवं निरंकुश शासन स्थापित हो जायेगा।

अमरीकी संविधान में इस सिद्धान्त का प्रयोग
(The U.S. Constitution and the Separation of Powers)

इस सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस में पड़ा। सन् 1787 में फ्रांस की संविधान सभा ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी कि, "जिस समाज में शक्ति विभाजन का प्रावधान नहीं है, वहाँ संविधान नहीं है। " अमरीकी संविधान तो पूर्णतया शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त पर ही आधारित है। अमेरिका के प्रसिद्ध संविधान–निर्माता जेम्स मेडिसन का मत था कि, " व्यवस्थापन, कार्यपालन व न्याय सम्बन्धी सब प्रकार की शक्तियों का एकत्रीकरण ही अत्याचार की उचित परिभाषा है।" ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि अमेरिका के संविधान–निर्माताओं ने यह निश्चय किया कि शासन के तीनों अंग अलग–अलग कार्य करें, जिससे शक्ति का अत्यधिक एकत्रीकरण न होने पाये तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भी आघात न हो सके।

अमेरिका के संविधान के प्रथम अनुच्छेद में यह व्यवस्था की गई है कि, "व्यवस्थापन शक्तियाँ एक काँग्रेस में निहित होगी।" दूसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि, "कार्यपालिका शक्ति एक राष्ट्रपति में निहित होगी।" तीसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि, "न्याय सम्बन्धी शक्ति एक सर्वोच्च न्यायालय तथा नीचे के न्यायालयों में निहित होगी।

इस प्रकार अमरीकी शासन–प्रणाली में ' शक्ति –पृथक्करण सिद्धान्त ' को अपनाया गया है। संविधान के संरक्षक के रूप में सर्वोच्च न्यायालय सदा इसके लिए प्रयत्नशील रहा है कि इसकी मान्यता बनी रहे।

यथार्थ में अमरीकी संविधान में मांटेस्क्यू के सिद्धान्त को पूर्णतया ग्रहण नहीं किया गया है। शासन के प्रत्येक अंग की कुछ शक्तियाँ दूसरे अंग को दे दी गई हैं। ऐसा इसलिए किया गया ताकि किसी एक अंग में अमर्यादित तथा अनियन्त्रित शक्ति न हो जाए। इसे 'अवरोध एवं सन्तुलन' (Checks and Balances) का सिद्धान्त कहते हैं। काँग्रेस को व्यवस्थापन के क्षेत्र में शक्तियाँ दी गई हैं, किन्तु राष्ट्रपति तथा न्यायालय द्वारा अवरोध की व्यवस्था भी कर दी गई है। कांग्रेस द्वारा पारित विधेयकों पर राष्ट्रपति 'वीटो' का प्रयोग कर सकता है तथा न्यायालय कांग्रेस के कार्यों का ' पुनर्निरीक्षण ' कर सकता है। राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों पर काँग्रेस तथा न्यायालय नियंत्रण रखते हैं। काँग्रेस राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा हटा भी सकती है तथा न्यायालय उनके कार्यों का ' पुनर्निरीक्षण ' भी कर सकता है। काँग्रेस और राष्ट्रपति भी न्यायालय को अनेक तरीके से नियन्त्रित करते हैं। कांग्रेस न्यायाधीशों की संख्या को कानून द्वारा घटा–बढ़ा सकती है। राष्ट्रपति न्यायालय द्वारा दण्डित किसी व्यक्ति को क्षमा प्रदान कर सकता है तथा दण्ड को स्थगित कर सकता है।

NOTES

शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त के पक्ष में युक्तियाँ (Arguments in Favour)

शक्ति– पृथक्करण सिद्धान्त के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं:

(1) **स्वतन्त्रता की रक्षा** – सरकार की विधायिनी, कार्यकारी तथा न्यायिक शक्तियों को अलग–अलग हाथों में रखने से नागरिकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। सरकार निरंकुश एवं स्वेच्छाकारी नहीं हो पाती।

(2) **सुगम शासन** – शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से शासन में कार्यकुशलता तथा सुगमता आती है। कार्य– विभाजन होने से शासन का प्रत्येक अंग अपना–अपना कार्य करता है। विभिन्न अंगों के कार्यों में हस्तक्षेप न होने से प्रत्येक अंग अपना कार्य सुगमता के साथ पूरा कर सकता है।

(3) **विशेषज्ञों द्वारा शासन** – शक्ति –पृथक्करण के आधार पर गठित शासन के विभिन्न विभाग अपने सीमित कार्यक्षेत्र में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी योग्यता विशेषज्ञता में परिवर्तित हो जाती है और यह शासन ' विशेषज्ञों का शासन ' कहलाने लग जाता है।

(4) **कार्यपालिका में योग्य व्यक्ति** – संसदीय शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका में से ही बनती है। किन्तु शक्ति – पृथक्करण के फलस्वरूप कार्यपालिका अपने मन्त्रियों के चयन में स्वतन्त्र होती है। वह श्रेष्ठतम व्यक्तियों को मन्त्री बनाने में स्वतन्त्र होती है। अमेरिका में कार्यपालिका को ऐसी ही सुविधा उपलब्ध है। वहाँ प्राय: राष्ट्रपति के मन्त्री विशेषज्ञ होते हैं।

शक्ति – पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना (Criticism)

इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न तर्कों के आधार पर की जा सकती है:

(1) **शक्ति – पृथक्करण सम्भव नहीं** – शासन एक शरीर के समान पूर्ण वस्तु है। उसे टुकड़ों में बाँटा नहीं जा सकता। शासन के कार्यों में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उन्हें एक– दूसरे से पूर्णतया अलग करना असम्भव है। **गेटेल** के शब्दों में, " कोई भी सरकार व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्याय विभाग सम्बन्धी कार्यों के पूर्ण पार्थक्य के आधार पर संगठित नहीं हो सकती। प्रत्येक आधुनिक राज्य में ये सभी विभाग प्राय: एक –दूसरे पर आश्रित तथा एक –दूसरे से सम्बन्धित हैं... ।"

(2) **नेतृत्व की कमी** – वर्तमान युग में शासन के कार्य तथा संगठन की पेचीदगियों को सुलझाने के लिए नेतृत्व की आवश्यकता है। लेकिन पृथक्करण का सिद्धान्त नेतृत्वहीन शासन–प्रणाली की नींव डालता है। संविधान में कार्यकारिणी और विधायिनी शक्तियों को अलग–अलग कर दिया गया है, जिससे निरन्तर संघर्ष की सम्भावना है।

(3) **सहयोग तथा समन्वय की कमी** – शासन के अंगों की पृथक्कता के कारण शासन में समन्वय और सहयोग की कमी हो जाती है। फलस्वरूप शासन में एकता नहीं आ पाती तथा हर कार्य में देर होती है। यदि एक अंग पर एक दल का अधिकार है तथा दूसरे अंग पर दूसरे दल का , तो कार्यपालिका और विधायिका में संघर्ष होने की संभावना रहती है।

(4) **गलत ऐतिहासिक आधार** – इस सिद्धान्त का आधार मॉटेस्क्यू द्वारा ब्रिटिश शासन–व्यवस्था का अध्ययन है। किन्तु उसका अध्ययन गलत था क्योंकि वहां वास्तव में शक्ति पृथक्करण है ही नहीं। वहां कार्यपालिका और संसद में घनिष्ठ सम्बन्ध है। लार्ड सभा न्यायिक कार्य भी करती है।

(5) **स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अनिवार्य नहीं** – वस्तुत: व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिए शक्तियों का पृथक्करण उतना आवश्यक नहीं है जितना रुकावटों और संरक्षणों का होना। संविधान में अधिकारों की व्यवस्था और विधि के शासन से ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है। शक्ति– पृथक्करण के कारण तो गत्यावरोध उत्पन्न होता है जिससे सामाजिक कल्याण के उद्देश्य की पूर्ति में अनेक बाधाएँ पड़ सकती हैं।

(6) **लोककल्याणकारी राज्य के लिए अनुपयोगी** – लोककल्याणकारी राज्य में योजनाबद्ध तरीके से कार्य करना पड़ता है। योजनाबद्ध कार्य तभी हो सकता है जब कार्यपालिका को छोटे–छोटे कानून बनाने तथा सामूहिक विवादों में निर्णय देने की शक्ति प्राप्त हो।

NOTES

(7) **गलत नामकरण – फाइनर** के अनुसार शक्ति– पृथकता के स्थान पर यदि हम इसे 'कार्यों के प्रभेद' का सिद्धान्त कहें तो उचित होगा।

(8) **अस्पष्ट सिद्धान्त** – शक्तियों का पृथक्करण यदि है तो यह स्पष्ट नहीं है कि क्या–क्या पृथक किया जाए , क्योंकि 'विधायन', 'न्याय निर्णय' और 'कार्यपालन' की संकल्पनाओं की विशुद्ध रूप से परिभाषा नहीं की जा सकती।

निष्कर्ष

मांटेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति–पृथक्करण का सिद्धान्त वर्तमान युग की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। तथापि इसने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि शक्तियों का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिए। सरकार की शक्तियां यदि केन्द्रित होंगीं तो उसका भयंकर दुष्परिणाम हो सकता है।

यह सच है कि " जो ढाँचे लॉक, मान्टेसक्यू और मेडिसन ने निर्मित किए थे, वे चूर–चूर हो चुके हैं और उनके विचारों की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है।" एक आलोचक ने तो यहाँ तक कहा है कि "शक्तियों का पृथक्करण का सिद्धान्त न तो व्यावहारिक है और न वांछनीय है।". (i) **मैकाइवर** के अनुसार, "शक्तियों के पृथक्करण की आवश्यकता नहीं, अपितु आवश्यकता है उनमें उचित सामंजस्य की।" (ii) न्यूमैन ने ठीक ही लिखा है कि " अत्यधिक पृथक्करण से तो उत्तरदायित्व नष्ट हो सकता है, कार्य की प्रगति रुक सकती है। सरकार ही नष्ट हो सकती है...।" संक्षेप में शासन के अंगों में सहयोग हो ; किन्तु सुशासन के लिए न्यायांग पूर्णत: स्वतन्त्र और निष्पक्ष होना चाहिए।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से आपका क्या आशय है? इसका मूल्यांकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. शक्ति पृथक्करण के संबंध में मॉन्टेस्क्यू के विचार लिखिए।
2. शक्ति पृथक्करण के पक्ष में तर्क दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अध्यक्षात्मक शासन का सैद्धांतिक लक्षण नहीं हैं :
   (अ) शक्ति पृथक्करण (ब) स्पीकर की निष्पक्षता
   (स) मंत्रीमण्डल का राष्ट्रपति के पूर्ण रूप से अधीन होना
   (द) राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति केन्द्र का अभाव रहना
2. अध्यक्षात्मक शासन में शक्ति पृथक्करण के दोषों को दूर करने का साधन है :
   (अ) उपराष्ट्रपति (ब) राजनीतिक दल (स) दबाव गुट (द) प्रतिनिधि सदन का स्पीकर

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

3. शक्ति पृथक्करण के बावजूद भी अमरीकी संविधान में :
   (अ) सुदृढ़ विपक्षी दल की व्यवस्था की गई है
   (ब) छाया मंत्रिमण्डल की व्यवस्था की गई है
   (स) महालेखा परीक्षक एवं नियंत्रक की व्यवस्था की गई है
   (द) नियंत्रण एवं सन्तुलन के सिद्धान्त की व्यवस्था की गई है।
4. शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से संबंधित नहीं है :
   (अ) मान्टेस्क्यू (ब) जॉन लॉक (स) जे.एस. मिल (द) ब्लेकस्टोन
5. 'दि स्प्रिट ऑफ लॉज' कृति में किस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है?
   (अ) लोकतांत्रिक केन्द्रीकरण (ब) कल्याणकारी राज्य (स) शक्ति पृथक्ककरण (द) समाजवादी राज्य

उत्तर 1. (ब), 2. (स), 3. (द), 4. (ब), 5. (स)

24

संविधान

(CONSTITUTION)

परिचय

राज्य के चार आवश्यक तत्व होते हैं – भूमि, जनसंख्या, सरकार और सम्प्रभुता। इनमें "सरकार" अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सरकार कैसी हो, उसके अंगों का गठन किस प्रकार हो, उसका कार्यक्षेत्र क्या हो –इसका निर्धारण करने के लिए एक नियम समूह की आवश्यकता होती है और यह कार्य "संविधान" (Constitution) करता है।

संविधान का महत्व (Significance of the Constitution)

संविधान जीवन का वह मार्ग है, जिसे राज्य ने अपने लिए चुना है। राज्य का रूप चाहे किसी भी प्रकार का हो, आवश्यक रूप से उसका अपना एक जीवन– मार्ग अर्थात् संविधान होता है। यदि राज्य में कोई भी नियम न हो, मर्यादा का सर्वथा अभाव हो तो ऐसी परिस्थिति में आवश्यक रूप से अराजकता की दशा उत्पन्न हो जायेगी। राज्य के संविधान की अनिवार्यता बताते हुए **जेलिनेक** ने लिखा है, " संविधान रहित राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। संविधान के अभाव में राज्य, राज्य न होकर एक प्रकार की अराजकता होगी।" इसी प्रकार **शुल्टज** लिखते हैं कि, "राज्य कहलाने का अधिकार रखने वाले हर समाज का संविधान अवश्य होना चहिए ... संविधानहीन राज्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती।"

कुछ लोग कहते हैं कि इंग्लैण्ड का कोई संविधान नहीं है। **डी. टॉकविले** नामक फ्रेंच विद्वान ने भी कहा है कि इंग्लैण्ड में कभी कोई संविधान नहीं है। परन्तु यह मत गलत है क्योंकि इंग्लैण्ड में चाहे कभी कोई विधान बनाया और लिखा न गया हो, परन्तु वहाँ एक अलिखित और विकसित संविधान अवश्य है। उसी के अनुसार इंग्लैण्ड का शासन चलता है। अत: संविधान प्रत्येक राज्य के लिए आवश्यक है।

संविधान किसी भी राज्य का सबसे महत्वपूर्ण अभिलेख होता है। संविधान शासन का प्रारूप होता है और शासन की मर्यादाएं निर्धारित करता है। प्राचीन यूनानी चिन्तनकाल से ही किसी भी समाज –व्यवस्था के लिए उचित संविधान की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया था। **अरस्तू** ने तो अनेक संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। आधुनिक काल में प्रत्येक राज्य में संविधान अपनाने का एक फैशन ही चल पड़ा है।

प्रत्येक राज्य का संविधान उस देश की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुरूप बनाया जाता है। विश्व के समस्त देशों की परिस्थतियाँ और आवश्यकताएं अलग–अलग होती हैं। इसलिए विभिन्न देशों के संविधानों के स्वरूपों में भी भिन्नता होती है।

संविधान का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definitions of the Constitution)

मानव शरीर के सन्दर्भ में " संविधान " के अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द " कांस्टिट्यूशन " का प्रयोग मानव – शरीर के ढाँचे व उसकी बनावट के लिए किया जाता है। जिस प्रकार मानव–शरीर के सन्दर्भ में " कांस्टिट्यूशन" का अर्थ शरीर के संगठन से होता है, उसी प्रकार राजनीति विज्ञान में " कांस्टिट्यूशन " का तात्पर्य राज्य के ढाँचे तथा संगठन से होता है। संविधान की कतिपय महत्वपूर्ण परिभाषाएं इस प्रकार दर्शाई गई हैं:–

डायसी – " संविधान उस कानून के समूह को कहते हैं, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य की सर्वोच्च सत्ता की शक्ति के विवरण और प्रयोग को निश्चित करते है।"

लास्की –" नियमों का वह भाग संविधान कहलाता है, जिसके द्वारा यह निर्धारित होता है कि ऐसे नियम किस प्रकार बनाए जाएं, किस प्रकार बदले जाएं और कौन उन्हें बनाये।"

NOTES

गेटेल – " वे मौलिक सिद्धान्त जिनके द्वारा किसी राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है, संविधान कहलाते हैं।"

ऑस्टिन –" संविधान वह है, जो सर्वोच्च शासन की रचना को निर्धारित करता हैं।"

के.सी.ह्वीयर –" संविधान नियमों का वह समूह है जो उन उद्देश्यों की प्राप्ति करता है, जिनके लिए शासन–शक्ति प्रवर्तित की जाती है ओर जो शासन के उन विविध अंगों की सृष्टि करता है, जिसके माध्यम से सरकार अपनी शक्ति का प्रयोग करती है।"

फाइनर–" संविधान आधारभूत राजनीतिक संस्थाओं की अवस्था होती है।"

गिलक्राइस्ट–" संविधान उन लिखित या अलिखित नियमों अथवा कानूनों का समूह होता है जिनके द्वारा सरकार का संगठन, सरकार की शक्तियों का विभिन्न अंगों में वितरण और इन शक्तियों के प्रयोग के सामान्य सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि किसी राज्य के संविधान द्वारा प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन बातें निश्चित की जाती हैं ; –

(1) व्यक्ति – व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध।

(2) व्यक्ति और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध।

(3) सरकार के संगठन, उनके ढाँचे और सरकार के विभिन्न अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध।

इन तथ्यों के आधार पर संविधान के बारें में कहा जा सकता है कि, " संविधान राजकीय आचरण का वह विधान होता है, जिसके द्वारा व्यक्ति –व्यक्ति और व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को निश्चित किया जाता है और जिसके द्वारा सरकार के विविध अंगों का स्वरूप एवं गठन, उसकी शक्ति और सरकार के विविध अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित किया जाता है।"

संविधानों का वर्गीकरण (Classification of the Constitution)

वर्तमान समय में संविधानों का निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकरण किया जा सकता है:–

(1) संविधान की उत्पत्ति के आधार पर – विकसित और निर्मित संविधान।

(2) संविधान के प्रथाओं और कानूनों के अनुपात के आधार पर –अलिखित और लिखित संविधान।

(3) संविधान की परिवर्तनशीलता के आधार पर – कठोर और लचीला संविधान।

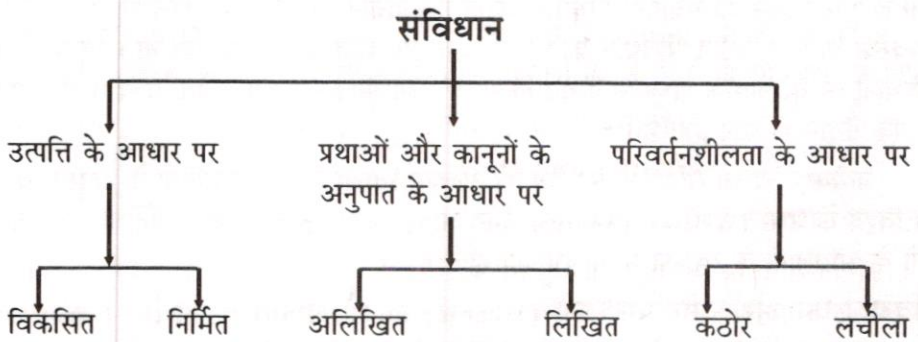

विकसित और निर्मित संविधान (Evolved and Framed Constitution)

विकसित संविधान (Evolved Constitution)

इस प्रकार के संविधानों का निर्माण संविधान सभा जैसी किसी संस्था द्वारा निश्चित समय पर नहीं किया जाता वरन् ये संविधान इतिहास और विकास के परिणाम होते हैं। इस प्रकार के संविधान विविध परम्पराओं,रीति–रिवाजों, प्रथाओं एवं न्यायालयों के निर्णयों पर आधारित होंते हैं। इंग्लैण्ड का संविधान विकसित संविधान का श्रेष्ठ उदाहरण है। यह संविधान लिखित नहीं है; न ही इसे कभी बनाया गया है। एक निरंकुश राजतन्त्र से शताब्दियों में विकसित होता हुआ यह प्रजातन्त्र में परिवर्तित हो गया है। राजा से उसकी शक्तियाँ धीरे–धीरे प्याज के छिलकों की तरह हटती गई और राजा ध्वज मात्र का

रस्मी प्रधान रह गया है; सारी शक्तियाँ जनता और उसके प्रतिनिधियों के हाथ में आ गई हैं। इसीलिए तो ब्रिटिश संविधान को **प्रो. मुनरो** ने "बुद्धि और आकस्मिकता की सन्तान" कहा है। विलियम एन्सन ने ब्रिटिश संविधान के विकसित स्वरूप का चित्रण करते हुए लिखा है :-

"यह संविधान विभिन्न प्रकार की भवन-निर्माण सामग्री द्वारा निर्मित एक ऐसा महल है जिसमें समय-समय पर विभिन्न मालिकों ने अपनी अपनी आवश्यकतानुसार दालान, बरामदे, खम्भे, शयनकक्ष तथा अतिथिकक्ष आदि बना दिये हैं।"

विकसित संविधान में संशोधन की विशिष्ट प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं रहती। यह संविधान समय के साथ-साथ चलता है और सामाजिक -आर्थिक परिवर्तन के मार्ग में बाधक नहीं बनता।

विकसित संविधान के प्रमुख गुण हैं - (1) परिवर्तनशीलता, (2) क्रान्ति से बचाव, (3)आघातों का सरलतापूर्वक सामना करना, (4) प्रगतिशीलता।

विकसित संविधान के प्रमुख दोष हैं- (1) यह अनिश्चित तथा अस्पष्ट होता है। (2) न्यायालयों के हाथ का खिलौना।(3) अधिकार-पत्र का अभाव।

निर्मित संविधान (Framed Constitution)

ये वे संविधान होते हैं जिनका निर्माण एक विशेष संस्था के द्वारा किया जाता है, जिसे "संविधान निर्मात्री सभा (Constituent Assembly)के नाम से जाना जाता है। निर्मित संविधान स्वाभाविक रूप से लिखित होते हैं। संविधान सभा द्वारा शासन के विभिन्न अंगों के स्वरूप और उनकी शक्ति पर अच्छी तरह विचार -विमर्श करने के पश्चात् अन्त में उसे लिख दिया जाता है। विश्व के अधिकांश संविधान निर्मित संविधान हैं। अमेरिका, चीन, स्विट्जरलैंड, जापान और भारत आदि सभी देशों के संविधान निर्मित हैं। अमेरिका का संविधान सन् 1787 ई. में फिलाडेल्फिया में बनाया गया था।

निर्मित संविधान के प्रमुख गुण हैं- (1) यह संविधान सुनिश्चित होता है। (2) यह एक स्थिर शासन की व्यवस्था करता है। (3) इसमें शासन सम्बन्धी बातों का स्पष्ट रूप से उल्लेख होने के कारण जटिलताएं कम उत्पन्न होती हैं। (4) इसमें नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा का प्रयत्न किया जाता है।

निर्मित संविधान के प्रमुख दोष हैं - (1) निर्मित संविधान कभी-कभी समय की गति से पीछे रह जाते हैं। (2) इनसे क्रांति का भय रहता है।

संक्षेप में, विकसित संविधान के गुण और दोष वे ही हैं, जो अलिखित संविधान के हैं। निर्मित संविधान के गुण-दोष भी वे ही हैं, जो लिखित संविधान के हैं।

लिखित और अलिखित संविधान
(Written and Unwritten Constitution)

लिखित संविधान (Written constitution)

लिखित संविधान से हमारा आशय उस संविधान से है, जिसकी अधिकांश धाराएं कानून के रूप में लेखबद्ध हों। **गार्नर** के शब्दों में," लिखित संविधान उसे कहते हैं जिसके आधारभूत उपबन्ध एक या अनेक लेखपत्रों में लिखे हुए होते हैं।" **डॉ. अप्पादोराय** के अनुसार, " एक लिखित संविधान उसे कहा जा सकता है जिसमें शासन के संगठन, इसकी विभिन्न शाखाओं की शक्तियों के मूलभूत सिद्धान्त किसी लेख में लिखे जाते हैं।" वस्तुत : लिखित संविधान निर्मित संविधान होता है। इसे संविधान निर्मात्री सभा बनाती है। विश्व के अधिकांश देशों के संविधान लिखित ही हैं। अमेरिका, स्विटजरलैंड, चीन, भारत और जापान के संविधान लिखित ही हैं।

लिखित संविधान के गुण (Merits)

लिखित संविधान के निम्नलिखित गुण होते हैं :-

(1) **निश्चित और स्पष्ट** - लिखित संविधान पूर्ण रूप से निश्चित और स्पष्ट होता है। इसके बारे में अधिक विवाद और जटिलताएं उत्पन्न नहीं होतीं। यदि किसी कारण से संविधान की व्याख्या की आवश्यकता हो तो उसका समाधान न्यायपालिका द्वारा किया जा सकता है।

(2) **स्थिरता** – लिखित संविधानों के उपबन्धों का संशोधन करने की प्रक्रिया विशेष प्रकार की होती है, जो साधारण कानून निर्माण की प्रक्रिया से कठिन होती है। फलत: शासन–सत्ता मनमाने ढंग से उसमें संशोधन नहीं कर पाती। अतएव संविधान में स्थिरता रहती है।

(3) **अधिकारों की रक्षा** – लिखित संविधान में शासकों, शासकीय संस्थाओं तथा नागरिकों के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या रहती है, अत: इनमें से कोई भी अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके व्यवस्था को गड़बड़ नहीं करने पाते।

(4) **संघात्मक राज्यों के लिए आवश्यकता** – जिन राज्यों की रचना संघ व्यवस्था के आधार पर की जाती है, वहाँ के लिए लिखित संविधान होता है। लिखित संविधान द्वारा ही संघ तथा उसकी इकाइयों के मध्य शक्तियों का वितरण किया जाता है। लिखित संविधान के अभाव में संघ या कोई इकाई एक–दूसरे की अधिकार–सीमा का अतिक्रमण कर सकती है, जिससे व्यवस्था में गड़बड़ हो जायगी।

लिखित संविधान के दोष (Demerits)

यद्यपि लिखित संविधान में उपर्युक्त गुण पाए जाते हैं, तो ऐसे संविधानों में कुछ दोष भी अवश्य हैं:–

(1) **कठोरता** – ऐसे संविधानों में शासन व्यवस्था के नियमों के लिखित होने के कारण आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सरलता से बदला नहीं जा सकता। इसका परिणाम यह होता है कि यह प्रगति में बाधा पहुंचाता है। लिखित संविधान समाज की आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों के अनुकूल परिवर्तित नहीं हो सकता है।

(2) **क्रान्ति का भय** – लिखित संविधान से क्रान्ति या विद्रोह का भय सदैव बना रहता है क्योंकि इसमें बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन आसानी से नहीं किए जा सकते हैं। **मैकाले** ने लिखा है, "क्रान्तियों का एक बड़ा कारण यह है कि राष्ट्र आगे बढ़ते हैं तथा संविधान एक ही स्थान पर बने रहते हैं।"

(3) **जनमत का दर्पण नहीं** – लिखित संविधान जनमत का दर्पण नहीं बन सकता क्योंकि उसमें परिवर्तन लाना साधारण बात नहीं है। **मैकाले** ने कहा है कि, "विचार आगे जाते हैं लेकिन संविधान स्थिर रह जाता है।"

(4) **देश की प्रगति में बाधक** – लिखित संविधान में संशोधन बहुत कठिनता से होते हैं, अत: यह देश की प्रगति में बाधक हो सकता है। गार्नर ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "यह राजनीतिक जीवन और राष्ट्र की प्रगति के सिद्धान्त को अनिश्चित काल के लिए एक लेखपत्र में दबाकर भरने का प्रयत्न करता है। यह ऐसा ही प्रयत्न है जैसा एक व्यक्ति के लिए उसकी भावी शारीरिक वृद्धि तथा आकार का विचार लिए बिना कोट बनवाना।"

अलिखित संविधान (Unwritten Constitution)

इन संविधानों में परम्परागत प्रथाओं, रूढ़ियों, तथा समय–समय पर न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों का महत्व अधिक होता है। ऐसे संविधानों में सरकारों के स्वरूप, शासन के विविध अंग और उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य आदि महत्वपूर्ण बातें प्रथाओं और परम्पराओं पर ही आधारित होती हैं। इंग्लैण्ड का संविधान अलिखित संविधान है। उसकी कभी रचना नहीं हुई। उसे किसी संविधान सभा ने नहीं बनाया। वह तो समय और संयोग की संतान है। **के.सी. ह्वीयर** के शब्दों में, "संविधान शब्द का हम चाहे संकुचित अर्थ में प्रयोग करें अथवा समूची शासन–पद्धति के व्यापक अर्थ में, ब्रिटेन का कोई संकुचित संविधान नहीं है।"

अलिखित संविधान के गुण – (Merits)

अलिखित संविधान के निम्नलिखित गुण हैं–

(1) **सुपरिवर्तनशील** – इसमें सरलता से आवश्यकताओं के अनुरूप संशोधन किए जा सकते हैं। इससे यह देश की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार विकसित होता रहता है। इंग्लैण्ड का संविधान इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। वहाँ शासन–सत्ता धीरे–धीरे राजा से छिनकर पूरी तरह जनता के हाथों में आ गई और संविधान वहीं रहा। अलिखित संविधान बदलती हुई परिस्थितियों के साथ–साथ चलता है।

(2) **संकटकाल में उपयुक्त** – संकट काल को देखते हुए सहजता से इसमें परिवर्तन किये जा सकते हैं क्योंकि इसमें जड़ता नहीं होती। **ब्राशन** के शब्दों में, " अलिखित संविधान, बिना उनके ढाँचे का विनाश किये, इच्छा के अनुसार झुकाये या खीचें जा सकते हैं और जब संकट टल जाता है, तब वे उसी प्रकार अपनी पहली अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।"

(3) **विद्रोह से बचाव** – अलिखित संविधान वाले राज्य में विप्लव या विद्रोह की संभावना नहीं रहती। इंग्लैण्ड में इसीलिए भीषण राज्य–क्रान्तियाँ नहीं हुई कि वहाँ अलिखित संविधान है। इंग्लैण्ड में प्रतिक्रियावादी लार्ड – सभा की शक्तियों को कम करने के लिए 1911 तथा 1949 के संसदीय अधिनियम पारित करने में तत्कालीन सरकार को कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

(4) **प्रगतिशील संविधान** – संवैधानिक कानून तथा अभिसमयों के संशोधन की प्रक्रिया कठोर न होने के कारण ऐसे संविधानों में सहजता से परिवर्तन हो जाते हैं और जीवन की आवश्यकता के अनुसार संविधान विकसित होता रहता है। अलिखित संविधान जनभावनाओं के अनुरूप चलता है और वह गतिशील होता है। वह बदलते हुए जमाने के साथ –साथ बदलता है।

अलिखित संविधान के दोष (Demerits)

अलिखित संविधान में निम्नलिखित दोष हैं–

(1) **अनिश्चित और अस्पष्ट** – ऐसे संविधान अनिश्चित और दुर्बोध होते हैं। उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड के अलिखित संविधान में यह परंपरा तो है कि संसद सदस्यों के कुछ विशेषधिकार होते हैं, परन्तु वे विशेषाधिकार कौन –कौन से हैं, यह कोई नहीं जानता, क्योंकि वे कहीं भी व्यवस्थित रूप से नहीं लिखे गए।

(2) **अस्थिरता** – सुपरिवर्तनशील होने के कारण अलिखित संविधान में स्थायित्व का अभाव रहता है। अस्थिर शासन –व्यवस्था राज्य के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन को अस्त –व्यस्त कर देती है।

(3) **संघात्मक व्यवस्था के लिए अनुपयुक्त** – संघात्मक शासन की सफलता के लिए शक्ति का स्पष्ट विभाजन आवश्यक है और यह केवल लिखित संविधान द्वारा ही सम्भव है। केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति के स्पष्ट विभाजन के लिए लिखित संविधान का होना बहुत जरूरी है। इस प्रकार अलिखित संविधान द्वारा संघ प्रणाली क्रियान्वित नहीं की जा सकती।

(4) **बहुसंख्यक दल की निरंकुशता** – अलिखित संविधान में परिवर्तन सरल होता है, अत: यह संभावना रहती है कि समय–समय पर जो बहुसंख्यक राजनैतिक दल सत्ता में आएँ, वे अपने दल के हित में मनमानी शासन–व्यवस्था स्थापित करें।

लिखित तथा अलिखित संविधान का अन्तर अवास्तविक

संविधानों का लिखित और अलिखित वर्गीकरण सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि कोई भी संविधान न तो पूर्णतया लिखित होता है और न ही पूर्णतया अलिखित। अमेरिका का संविधान एक अत्यंत सूक्ष्म लिखित प्रलेख है। किन्तु आज वहाँ का संवैधानिक स्वरूप ऐसा नहीं रह गया है जैसा कि फिलाडेल्फिया सम्मेलन के संविधान –निर्माताओं की धारणा थी। अनेक अलिखित परंपराएँ विकसित हो चुकी हैं जिन्होंने संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों को ही बदल डाला है। राष्ट्रपति निर्वाचन,सीनेट का शिष्टाचार आदि ऐसी ही अलिखित परंपराएँ हैं। अलिखित कहलाने वाले इंग्लैण्ड के संविधान में भी अनेक लिखित चार्टर मौजूद है : ऐक्ट ऑव सेटलमेंट (1702),मैग्नाकार्टा (1715), संयोग अधिनियम (1707), आदि ऐसे ही संविधान में लिखित भाग हैं। **गार्नर** ने ठीक ही लिखा है कि, " लिखित और अलिखित संविधानों में केवल मात्रा का भेद है, प्रकार का नहीं।" **स्ट्रांग** ने भी इस वर्गीकरण का विरोध करते हुए लिखा है कि, " यह मिथ्या भेद है, क्योंकि कोई भी ऐसा संविधान नहीं है जो पूर्ण रूप से लिखित हो।"

लचीला और कठोर संविधान
(Flexible and Rigid Constitution)

लचीला संविधान (Flexible Constitution)

यदि संवैधानिक कानून और सामान्य कानून के बीच कोई अन्तर न हो और संवैधानिक कानून में भी सामान्य कानून के निर्माण की प्रक्रिया से ही संशोधन परिवर्तन किया जा सके, तो संविधान को लचीला

या सुपरिवर्तनशील कहा जायेगा। **डॉ. गार्नर** के अनुसार, " लचीला संविधान वह है, जिसकी शक्तियाँ एवं सत्ता साधारण कानून से अधिक नहीं है और जो साधारण कानून की भाँति ही बदला जा सकता है।" लचीले संविधान का श्रेष्ठ उदाहरण इंग्लैण्ड का संविधान है। इस संविधान में संशोधन करना अत्यंत सरल है। संविधान में संशोधन भी उसी प्रकार के होते है जिस प्रकार सामान्य कानून बनते हैं। इंग्लैण्ड की संसद केवल सामान्य बहुमत द्वारा संविधान के किसी भी भाग को बदल सकती है।

लचीले संविधान के गुण (Merits)

लचीले संविधान के निम्नलिखित गुण हैं:

(1) **क्रान्ति का भय नहीं** – ऐसे संविधानों को सदा ही समय और परिस्थितियों की मांग के अनुसार संशोधित किया जा सकता है। संविधान के किसी भी भाग को बदलने या संशोधित करने के लिए हिंसा या रक्तपात का सहारा नहीं लेना पड़ता। ब्रिटेन में संविधान लचीला था और वह जनभावनाओं के अनरूप ढलता गया, इसीलिए राजतन्त्र को समाप्त कर लोकतन्त्र लाने में भी वहाँ क्रान्ति नहीं करनी पड़ी।

(2) **समय के अनुकूल** – लचीला संविधान समय के साथ–साथ चलता है। वह प्रगतिशील होता है। उसमें जनभावनाओं के अनुकूल परिवर्तन होता रहता है।

(3) **आपातकाल के लिए उपयुक्त** – **लार्ड ब्राइस** ने लचीले संविधान के इस गुण को दर्शाते हुए लिखा है कि, " वे आपातकाल का सामना करने के लिए बिना उसके ढाँचे में परिवर्तन किये ही इस भांति मोड़े या फैलाये जा सकते हैं जैसे किसी सड़क पर झुकी हुई पेड़ की शाखा को किसी गाड़ी को निकालने के लिए खींच लिया जता है और उसके पश्चात् वह अपने स्थान पर पुन: आ जाती है।"[7]

(4) **प्रगति में सहायता** – लचीले संविधान रूढ़िवादी न होने के कारण राष्ट्रीय प्रगति के हेतु मार्ग प्रशस्त करते हैं। लचीले संविधान वाले देश संविधान को संशोधित करने की जटिल प्रक्रिया से मुक्त हो जाते हैं और सीधे–सीधे प्रगतिशील नीतियों का पालन कर सकते हैं।

लचीले संविधान के प्रमुख दोष (Demerits)

लचीले संविधान के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं–

(1) **अस्थिरता** – संविधान में बार–बार परिवर्तन से देश में अस्थिरता बनी रहती है। कई बार जोशीले भाषण देकर नेता लोग संविधान में ऐसे परिवर्तन कर डालते हैं जो जनहित में नहीं होते।

(2) **दुर्बोधता** – लचीले संविधान प्राय: अनिश्चित एवं दुर्बोध होते हैं। संविधान को बार–बार संशोधित करने से यह समस्या उठ खड़ी होती है कि संविधान का वास्तविक स्वरूप क्या है।

(3) **राजनीतिक दलों का खिलौना** – संविधान की लोच का अनुचित लाभ बहुसंख्यक राजनीतिक दल सुगमता से उठा सकते हैं। लचीले संविधान में सत्ताधारी दल अपने न्यस्त स्वार्थ की पूर्ति हेतु संविधान में बार–बार परिवर्तन कर उसे खिलौना बना देते हैं।

कठोर संविधान (Rigid Constitution)

इसे अनमनीय या दुष्परिवर्तनीय संविधान कहते हैं। कठोर संविधान वह संविधान होता है, जिसमें संशोधन करने की विधि कठिन रहती है और जिसमें सरलता से संशोधन नहीं किये जा सकते। स्ट्रांग के अनुसार, " ये वे संविधान हैं जिनमें संवैधानिक व साधारण कानून में मौलिक भेद समझा जाता है तथा जिनमें संवैधानिक कानूनों में संशोधन –परिवर्तन के लिए साधारण कानूनों के निर्माण से भिन्न प्रक्रिया, जो साधारण कानूनो के निर्माण की प्रणाली से कठिन होती है, अपनाना आवश्यक होता है।" अमेरिका, भारत तथा स्विट्जरलैण्ड के संविधान कठोर हैं।

कठोर संविधान के गुण (Merits)

कठोर संविधान के प्रमुख गुण इस प्रकार हैं–

(1) **सरकार की शक्तियों को सीमित करना** – लोकतंत्र की रक्षा के लिए सरकार की निरंकुश शक्तियों पर रोक लगाना अत्यन्त आवश्यक है। यह केवल कठोर संविधान में ही संभव है।

(2) **स्पष्ट तथा निश्चित** – कठोर संविधान में यह गुण होता है कि वह स्पष्ट तथा निश्चित होता है। इसमें सरकार की सभी शक्तियों और कार्यों का पूर्णतया स्पष्ट वर्णन रहता है।

(3) **स्थायित्व** – कठोर संविधान को सारी जनता एक पवित्र तथा महान लेखपत्र मानती है और उसके अनुसार काम करने को तैयार रहती है। इसमें बहुसंख्यक राजनीतिक दलों या महत्वाकांक्षी नेताओं को मनचाहे ढंग से संविधान में परिवर्तन करने की सुविधा प्राप्त नहीं होती। इस कारण शासन–प्रणाली में स्थिरता रहती है।

(4) **नागरिक अधिकारों का रक्षण** – संविधान की कठोरता के कारण नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण होता है। नागरिक वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं, जिसे शासक वर्ग स्वेच्छा से छीन नहीं सकते।

(5) **शासक तथा शासितों के मध्य उचित संबंध** – संविधान का एक गुण यह भी है कि संवैधानिक कानून की सर्वोच्चता एवं स्थायित्व के कारण शासक वर्ग तथा जनता के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित रहते हैं। इससे न तो जनता क्रान्तिकारी कदमों द्वारा शासन को भयभीत कर सकती है, न शासक वर्ग जनता को मनमाने ढंग से दबा सकता है।

कठोर संविधान के दोष (Demerits)

कठोर संविधान के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं–

(1) **प्रगति में बाधक** – कठोर संविधान प्रगति के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। राज्य का अपरिवर्तनशील संविधान प्रगति में रोड़ा अटका सकता है। अमेरिका के संविधान में संशोधन करने में वर्षों लग जाते हैं।

(2) **समय के साथ नहीं** – कठोर संविधान परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं ढाला जा सकता। देश और समाज बदल जाता है, संविधान जड़ बना रहता है।

(3) **क्रान्ति की संभावना** – कठोर संविधान जब सहजता से संशोधित नहीं किये जा सकते तो क्रान्ति ही एक मात्र विकल्प रह जाती है। **मैकाले** के शब्दों में, " क्रान्तियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक यह है कि जहाँ राष्ट्र अग्रगामी होते हैं, वहाँ संविधान अटल होते हैं।"

(4) **न्यायपालिका को अवांछित महत्व देना** – कठोर संविधान की दुर्बोधता को दूर करने के लिए व्याख्या का अधिकार न्यायपालिका को दिया जाता है। इससे संविधान न्यायपालिका के हाथ का खिलौना बन जाता है और शासन –प्रणाली में न्यायपालिका को अवांछित सर्वोच्चता प्राप्त हो जाती है। अमेरिका और भारत में सर्वोच्च न्यायालयों ने निश्चय ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। अमेरिका में तो संविधान वही है जो न्यायाधीश कहते हैं।

अच्छे संविधान के लक्षण (Requisites of a Good Constitution)

वस्तुत: संविधानों का उपर्युक्त वर्गीकरण सैद्धान्तिक अधिक है और व्यावहारिक कम। लिखित और अलिखित संविधानों का वर्गीकरण स्पष्ट नहीं है, क्योंकि न तो कोई संविधान पूर्णतया लिखित हो सकता है और न अलिखित ही। इसी प्रकार निर्मित और विकसित का भेद भी अस्पष्ट है। कालान्तर में प्रत्येक निर्मित संविधान विकसित होता है। लचीले और कठोर संविधानों का भेद गुणात्मक होता है। दोनों में अपने–अपने गुण–दोष विद्यमान हैं। परन्तु कौन सा संविधान किस राज्य के लिए उपयुक्त होगा, इसका निर्धारण कर सकना कठिन कार्य है। यह बहुत कुछ राज्य के राष्ट्रीय चरित्र, जनता की राजनीतिक चेतना और भौतिक स्थिति पर निर्भर करता है। संविधान इतना कठोर नहीं होना चाहिए कि वह आपातकाल का सामना करने में असमर्थ हो तथा प्रगति के मार्ग में बाधक सिद्ध हो, न ही इतना लचीला होना चाहिए कि समय–समय पर मनमाने ढंग से संशोधित होकर राज–नेताओं के हाथ का खिलौना ही बन जाए। **प्रो. गेटेल** के अनुसार उत्तम संविधान की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

(1) **संक्षिप्तता** – संविधान छोटा होना चाहिए। संविधान में केवल मोटी–मोटी बातों का उल्लेख होना चाहिए और उसे भविष्य में विकसित होने वाली स्वस्थ परम्पराओं के आधार पर छोड़ देना चाहिए। संक्षिप्तता का तात्पर्य यह नहीं है कि वह आवश्यकताओं की पूर्ति ही न कर सके। संक्षिप्तता से यही अभिप्राय है कि उसमें छोटी–छोटी फालतू बातों का उल्लेख न किया जाये। छोटी–छोटी बातों के लिए तो सामान्य कानून बनाये जा सकते हैं।

(2) **निश्चितता** – अच्छा संविधान बड़ा स्पष्ट होता है। उसके एक-एक शब्द का अर्थ निश्चित होता है। यदि संविधान की भाषा जटिल होगी तो उसकी व्याख्या के लिए बार-बार न्यायालय की शरण लेनी पड़ेगी।

(3) **व्यापकता** – संक्षिप्त होने के साथ-साथ संविधान व्यापक भी होना चाहिए। व्यापकता का अभिप्राय बहुत लम्बा एवं विशाल होने से नहीं है बल्कि शासन के सभी आधारभूत सिद्धान्तों को उसमें शामिल रहना चाहिए। राज्य एवं नागरिक से सम्बन्धित कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहना चाहिए।

(4) **सुपरिवर्तनशीलता** – अच्छा संविधान लचीला भी होता है। संविधान इतना कठोर भी नहीं होना चाहिए कि उसे बदला न जा सके। वही संविधान श्रेष्ठ माना जाता है जिसमें समय और परिस्थिति के अनुसार आसानी से संशोधन किये जा सकते हैं।

(5) **मौलिक अधिकारों की घोषणा – ब्राइस तथा गिलक्राइस्ट** के अनुसार, जिन संविधानों में नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं का समावेश किया जाता है और साथ ही उनके संरक्षण की न्यायिक व्यवस्था भी की जाती है उन्हें सर्वश्रेष्ठ संविधान कहते हैं।

(6) **न्यायपालिका की स्वतन्त्रता** – वर्तमान युग लोकतंत्र का युग है। लोकतन्त्र में वे ही संविधान अच्छे माने जाते हैं जिनके द्वारा स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था की जाती है। यदि न्यायपालिका में कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका का हस्तक्षेप या अंकुश रहेगा तो सारा संविधान एक ऊपरी दिखावा बनकर रह जायगा।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संविधान की परिभाषा दीजिए तथा इसके विभिन्न प्रकार बताइए।
2. कठोर एवं लचीले संविधान पर एक टिप्पणी लिखिए।
3. संविधान की परिभाषा देते हुए संविधान का महत्व समझाइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लिखित संविधान के गुण लिखिए।
2. लिखित और अभिलिखित संविधान में अन्तर कीजिए।
3. अच्छे संविधान के लक्षण लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. उत्पत्ति के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं :
   (अ) विकसित और निर्मित (ब) लचीला और कठोर
   (स) लिखित और अलिखित (द) इनमें से कोई नहीं
2. परिवर्तनशील के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं :
   (अ) लिखित और निर्मित (ब) विकसित और निर्मित
   (स) लिखित और अलिखित (द) लचीला और कठोर

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

3. प्रथाओं और कानूनों के अनुपात के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं :
   (अ) लचीला और कठोर (ब) विकसित और निर्मित
   (स) लिखित और अलिखित (द) इनमें से कोई नहीं
4. विकसित संविधान का श्रेष्ठ उदाहरण है :
   (अ) भारत (ब) अमेरिका (स) इंगलैण्ड (द) पोलैण्ड
5. निम्न में से कौन-सा संविधान निर्मित संविधान का उदाहरण नहीं हो सकता है ?
   (अ) अमेरिका (ब) इंगलैण्ड (स) सोवियत रूस (द) भारत
6. निम्न में से कौन-सा संविधान अलिखित संविधान का श्रेष्ठ उदाहरण है ?
   (अ) भारत (ब) अमेरिका (स) सोवियत रूस (द) इंगलैण्ड

उत्तर **1.** (अ), **2.** (द), **3.** (ब), **4.** (स), **5.** (ब), **6.** (द),

25

शासन के प्रकार : अधिनायकतन्त्र

(TYPES OF GOVERNMENT : DICTATORSHIP)

आधुनिक युग को लोकतन्त्र का युग कहा जाता है किन्तु यह सत्य है कि यह युग अधिनायकतन्त्र में परिवर्तित होता जा रहा है। दुनिया के अधिकांश देशों में किसी न किसी रूप में तानाशाही व्यवस्था का पदार्पण हो रहा है। एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अनेक राज्यों में आजकल निरंकुश शासन व्यवस्थाओं का ही बोलबाला है। इन महाद्वीपों में जहाँ-तहाँ लोकतन्त्र व्यवस्थाएँ दिखाई पड़ती है, उनमें भी निरंकुशता के बीज जमते जा रहे हैं।

अधिनायकतन्त्र : अर्थ एवं परिभाषा (Dictatorship : Meaning & Definitions)

अधिनायकतन्त्र उस शासन व्यवस्था को कहते हैं जिसमें राजसत्ता केवल एक व्यक्ति में निहित होती है। वह व्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताधारी होता है, उसके आदेश ही कानून होते हैं और उसकी समस्त आज्ञाओं का पालन करना नागरिकों का अनिवार्य कर्तव्य होता है। **अल्फ्रेंड कॉबन** के अनुसार, "अधिनायकतन्त्र उस एक व्यक्ति का शासन होता है जिसने अपना पद मुख्यत: उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त नहीं किया हो, अपितु बल प्रयोग तथा जन-सहमति से और साधारणतया दोनों के योग से प्राप्त किया हो। उसके पास निरंकुश प्रभुसत्ता होनी चाहिए अर्थात समस्त राजनीतिक शक्ति का प्रयोग स्वच्छन्दतापूर्वक, कानून के रूप में नहीं, वरन् आदेश के रूप में करना चाहिए और अन्त में यह किसी सत्ता द्वारा सीमित न हो क्योंकि ऐसी सरकारें निरंकुश राज्य के लिए असंगत होंगी।" वस्तुत: अधिनायकतन्त्र से ऐसे स्वेच्छाचारी शासन का बोध होता है जो स्वेच्छाचारी होने के साथ-साथ अत्याचारी भी होता है।

अधिनायकतन्त्र के प्रकार (Types of Dictatorship)

प्रमुख रूप से अधिनायकतन्त्र के दो प्रकार हैं – (1) प्राचीन अधिनायकतन्त्र और (2) अर्वाचीन अधिनायकतन्त्र।

(1) **प्राचीन अधिनायकतन्त्र** – प्राचीन समय में ऐसी व्यवस्था यां तो विशेष संकटों का सफलता से मुकाबला करने के लिए या लोक-कल्याण के लक्ष्यों को शीघ्रता से प्राप्त करने के लिए अपनाई जाती थी। रोमन साम्राज्य में संकट के समय व कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए कभी-कभी विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। संकट का सामना करने के लिए इन अधिकारियों को विशिष्ट शक्तियाँ दी जाती थीं और इन्हें "अधिनायक" कहा जाता है। इन्हें अधिनायक के नाम से इसलिए पुकारा जाता था क्योंकि उन्हें आदेश देने की असीम शक्तियाँ प्राप्त थीं। रोम में अधिनायक को संकट का सामना करने के लिए सर्वोच्च शक्तियाँ सौंपी जाती थीं। संकट समाप्त होने पर अधिनायक का पद भी समाप्त हो जाता था। वस्तुत: रोमन अधिनायकतन्त्र एक अस्थायी प्रयोग हुआ करता था। अधिनायक का कानूनी विधि से चुनाव होता था तथा वह अत्याचारी न बन जाए इसलिए उस पर कानूनी मर्यादा रहती थी। संक्षेप में प्राचीन अधिनायकतंत्र में निम्नलिखित लक्षण रहते थे: (i) अधिनायक पर कानूनी नियन्त्रण रहता था। (ii) उसका लक्ष्य लोक-कल्याण था। (iii) अधिनायक को वैधता प्राप्त रहती थी। (iv) अधिनायक उत्तरदायी था। (v) समस्त शक्तियाँ अधिनायक में निहित रहती थीं। एमिलिया के शासक फेरिनि ने 1859 में एवं सिसली के शासक गैरिबाल्डी ने 1860 में अपने को इसी प्रकार का अधिनायक घोषित किया था।

(2) **अर्वाचीन अधिनायकतन्त्र** – आधुनिक समय में अधिनायकतन्त्र से स्वेच्छाचारी व अत्याचारी शासन का बोध होता है। इसमें राजसत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है और शासन सत्ताधारी व्यक्ति की इच्छानुसार ही चलता है। ऐसे अधिनायक पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं होता है। आधुनिक अधिनायकों को राष्ट्रीय संकट के समय नहीं चुना जाता है वरन् वे तो प्राय: आकस्मिक राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। उनकी राजनीतिक स्थिति का आधार शक्ति और बल-प्रयोग होता है और न वे

NOTES

किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते हैं। अधिनायकतन्त्र में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित होती है और वह स्वयं को राज्य का मूर्त रूप समझता है।

ऐलेन बाल ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक राजनीति और शासन' में आधुनिक अधिनायकतन्त्र के दो रूप माने हैं – (A) सर्वाधिकारवादी अधिनायकतन्त्र और (B) स्वेच्छाचारी अधिनायकतन्त्र।

(A) **सर्वाधिकारवादी अधिनायकतन्त्र** – सर्वाधिकारवादी शासन मुख्य रूप से बीसवीं सदी में आधुनिक औद्योगिकी तथा संचार में प्रगति होने के कारण अस्तित्व में आये हैं। अधिकांश सर्वाधिकारी शासन आधुनिकीकरण तथा सुधार लाने के लिए कटिबद्ध क्रान्तिकारी शासन हैं। इसमें एक दल, जो वस्तुत: एक विचारधारा से अनुप्राणित होता है, सत्ता का एकाधिकार रखता है तथा दल का सर्वोच्च नेता, दल के समर्थन के द्वारा एक तरह से अधिनायक की तरह शक्ति का प्रयोग करता है। ऐसी सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं के उदाहरण हैं – स्टालिन का रूस, हिटलर का जर्मनी और मुसोलिनी का इटली। पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देश भी वस्तुत: सर्वाधिकारवादी राज्य थे। ऐलेन बाल के अनुसार सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं के निम्नांकित लक्षण बताये जा सकते हैं।

(1) सिद्धान्तत: व्यक्तिगत तथा सामाजिक गतिविधि के सभी पहलुओं से सरकार राजनीतिक रूप से सम्बद्ध होती है।

(2) एक ही दल राजनीतिक तथा विधिक रूप से प्रभावी होता है।

(3) सैद्धान्तिक रूप से एक ही सुस्पष्ट विचारधारा होती है जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजनीतिक सक्रियता का विनिमय करती है।

(4) न्यायपालिका तथा जन-सम्पर्क के साधनों पर सरकार का कठोर नियन्त्रण होता है।

(5) जनता के भाग लेने तथा जनता की स्वीकृति से शासन का वैधीकरण (Legitimacy) हो जाता है।

(B)**स्वेच्छाचारी अधिनायकतन्त्र** – तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में स्वेच्छाचारी अधिनायकतन्त्र दिखायी देता है। स्वेच्छाचारी अधिनायकतंत्र अस्थायी शासन है जो औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के अभाव में प्रस्फुटित हो जाता है। स्वेच्छाचारी शासनतन्त्रों के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं :–

(1) मुक्त राजनीतिक प्रतियोगिता यानी राजनीतिक दल और चुनाव पर महत्वपूर्ण पाबन्दियाँ।

(2) कम्युनिज्म या फासिज्म जैसी प्रभावी विचारधारा का अभाव

(3) राजनीतिक अनुरूपता तथा आज्ञाकारिता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक सत्ताधारी बहुधा जोर जबर्दस्ती तथा बल-प्रयोग पर अधिक जोर देते हैं।

(4) नागरिक स्वतन्त्रताओं की अनुमति बहुत कम दी जाती है और जनसम्पर्क के माध्यमों तथा न्यायपालिका पर सरकार का सीधा नियन्त्रण होता है।

(5) अक्सर सेना ही आकस्मिक राज-परिवर्तन या स्वतन्त्रता के औपनिवेशिक युद्ध के फलस्वरूप सत्ता हथिया लेती है।

(6) राजनीति पर एक गुट का एकाधिकारी नियन्त्रण रहता है।

स्वेच्छाचारी शासकों के उदाहरण हैं – युगाण्डा, लीबिया, नाइजीरिया आदि। किन्तु स्वेच्छाचारी शासन पद्धतियों को "तीसरी दुनिया" का पर्याय नहीं मान लेना चाहिए।

अधिनायकतन्त्र के लक्षण (Salient Features of Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र के निम्नलिखित लक्षण हैं :

(1) **लोकतन्त्र-विरोधी** – अधिनायकवाद लोकतन्त्र का घोर शत्रु है। यह लोकतन्त्र को मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट और अव्यावहारिक व्यवस्था बताकर उसकी खिल्ली उड़ाता है। अधिनायकवादी लोकतन्त्र को 'सड़ने वाली लाश' के समान मानते हैं तथा संसद को 'बातूनी लोगों की दुकान' कहते हैं।

(2) **उदारतावाद - विरोधी –** कोकर कहता है कि अधिनायकतन्त्र स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व जैसी उदारतावादी अभिव्यक्तियों का विरोधी है। अधिनायकवाद का नारा है – आदेश, अनुशासन और सत्ता, जबकि उदारतावाद स्वतन्त्रता, समानता तथा अधिकार पर बल देता है।

(3) **हिंसा व शक्ति में विश्वास** – अधिनायकतन्त्र शक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करता है। कार्ली के अनुसार, अधिनायकवाद का उदय ही युद्धों से होता है तथा युद्ध से ही उसका विकास होना आवश्यक है।

(4) **राज्य को अत्यधिक महत्व** – तानाशाही व्यवस्था में राज्य सर्वेसर्वा होता है। मुसोलिनी के शब्दों में "राज्य केवल राजनीतिक संस्था मात्र ही नहीं है.. राज्य एक आध्यात्मिक तथा नैतिक तथ्य है. वह जनता की आत्मा का रक्षक है।" मुसोलिनी यह भी कहता था कि प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत एवं राज्य के लिए है, राज्य के बाहर या उसके विरुद्ध कोई नहीं हो सकता।" राज्य को प्रत्येक क्षेत्र में सब व्यक्तियों पर निरंकुश प्रभुसत्ता प्राप्त है।

(5) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी** – अधिनायकतन्त्र व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का घोर विरोधी है। अधिनायकवादी राज्य व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं पर नियन्त्रण रखता है। तानाशाही में स्वतन्त्रता का अर्थ है राज्य के आदेश और अनुशासन का पालन करना।

(6) **उग्र राष्ट्रवाद** – अधिनायकवाद उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करता है। यह राष्ट्र की महानता को कल्पित धारणा मानता है। मुसोलिनी के शब्दों में, "राष्ट्र स्वयं में एक आध्यात्मिक और नैतिक तत्व है।" राष्ट्र से पृथक किसी व्यक्ति की कोई पृथक सत्ता नहीं हो सकती। फास्टिस्टों के अनुसार राष्ट्र एक आध्यात्मिक अवयव है जिसमें व्यक्तियों का वही स्थान है जो शरीर में अंगों का।

(7) **सर्वाधिकारवाद** – अधिनायकतन्त्र सर्वाधिकारवादी है। यह राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को नियन्त्रित करने का प्रयास करता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत क्या समाज, क्या धर्म, क्या परिवार, सभी पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। प्रत्येक सामाजिक संगठन सत्तारूढ़ दल की नीतियों के प्रचार का एक सक्रिय माध्यम बन जाता है।

(8) **एकदलीय शासन** – अधिनायकतन्त्र एकदलीय व्यवस्था पर आधारित होता है। इसमें एक दल की तानाशाही रहती है। इसके अन्तर्गत अन्य राजनीतिक दलों का दमन कर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, अधिनायकतंत्र किसी प्रकार का राजनीतिक विरोध सहन नहीं करता।

भारतीय विद्वान **डॉ. बेनीप्रसाद** ने अधिनायकतन्त्र के चार लक्षण बतलाये हैं – (1) प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सैनिकवाद की उपज है, (2) इसमें नेता अपने को राष्ट्रीय एकता तथा भावनाओं का प्रतीक मानता है और प्राय: इसकी एक विशिष्ट सामाजिक विचारधारा होती है, (3) यह आन्तरिक दशाओं को सुधारने के स्थान पर युद्ध की ओर जनता का ध्यान केन्द्रित करता है, (4) आन्तरिक विद्रोह को दृढ़ता के साथ दबा देता है।

विदेशी विद्वान न्यूमैन ने अधिनायकवादी राज्य के पाँच लक्षण बतलाये हैं – **प्रथम,** यह एक पुलिस राज्य है ; **द्वितीय,** इसमें शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है; **तृतीय,** इसमें सर्वाधिकारवादी राजनीतिक दल होता है; **चतुर्थ,** इसमें सार्वजनिक जीवन पर कठोर नियन्त्रण होता है, **पंचम** यह नागरिकों में भय उत्पन्न करने में विश्वास करता है।

पीटर मर्कल ने अपनी पुस्तक "पोलिटिकल कन्टीन्यूइटी एण्ड चेन्ज" में अधिनायकवाद के निम्नलिखित लक्षणों की ओर ध्यान दिलाया– **प्रथम,** असाधारण, सत्तायुक्त, अर्द्ध – देवतुल्य एक नेता ; **द्वितीय,** सरकारी प्रशासन व समाज में समस्त संघटनों के नियन्त्रक के रूप में विशिष्ट ढंग से संगठित व भावात्मक समर्पणता वाला एक जनपुज्जी (Mass) दल : **तृतीय,** शिक्षा व्यवस्था तथा जन-सम्पर्क के सभी माध्यमों पर प्रचार का एकाधिकार ; **चतुर्थ** आतंक तथा भयभीत करने की सुपरिष्कृत व्यवस्था।

अधिनायकवाद के उत्कर्ष के कारण (Reasons for the Rise of Dictatorship)

आधुनिक युग में तीन प्रकार के अधिनायकतन्त्र प्रचलित हैं – **प्रथम,** दलीय तानाशाही जैसे पूर्व सोवियत संघ, चीन, तथा पूर्वी यूरोप के देशों में प्रचलित थी; **द्वितीय,** सैनिक तानाशाही जैसे पाकिस्तान,

NOTES

बंगलादेश, बर्मा आदि देशों में प्रचलित थी ; **तृतीय,** फास्टिस्ट तानाशाही – जैसे स्पेन, पुर्तगाल आदि में कायम थी।

मूल प्रश्न यह है कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विश्व में तानाशाही के उदय के क्या कारण हैं? अमरीकी राष्ट्रपति विल्सन तथा ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जार्ज ने कहा था कि हम यह युद्ध (प्रथम विश्वयुद्ध) लोकतन्त्र तथा राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के लिए लड़ रहे हैं। युद्ध समाप्त होने के बाद धीरे-धीरे लोकतन्त्र के बजाय अधिनायकवादी राज्यों की संख्या बढ़ती गई। सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में पूर्व जर्मनी, इटली, स्पेन, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, रूमानिया, ग्रीस आदि में अधिनायकवाद की स्थापना हो गयी। अधिनायकवाद के उत्कर्ष के निम्नांकित कारण बतलाये जाते हैं :-

(1) **वर्साय की सन्धि** – वर्साय की सन्धि अन्याय पर आधारित थी। विजेता शक्तियों ने युद्ध में हारे हुए देशों पर यह सन्धि थोष दी। इस सन्धि के विरुद्ध हिटलर और मुसोलिनी ने जर्मनी और इटली में लोकमत जाग्रत किया और वे अधिनायक बन बैठे।

(2) **आर्थिक संकट** – सन् 1930 के बाद विश्वव्यापी आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ। अधिकांश देशों की आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्थाएँ विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण करने में असफल रहीं।

(3) **संसदीय व्यवस्था के प्रति शंका** – जर्मनी और इटली के तानाशाह संसदीय संस्थाओं की खिल्ली उड़ाया करते थे। वे लोकतन्त्र को 'सड़ने वाली लाश' के समान कहकर संसद को 'बातूनी लोगों की दुकान' कहते थे।

(4) **लोकतन्त्र शैशवास्था में था** – प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पोलैण्ड, यूगोस्लाबिया आदि देशों में लोकतन्त्र स्थापित किया गया। इन देशों में लोकतन्त्र का कोई अनुभव नहीं था। वस्तुत: लोकतन्त्र बाल्यावस्था में था और लोकतान्त्रिक परम्पराओं के अभाव में उसकी भ्रूणहत्या कर दी गयी।

संक्षेप में, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अधिनायकवाद के उत्कर्ष का मुख्य कारण विभिन्न देशों में फैली हुई निराशा और नाराजगी की भावनाएँ थीं। विश्वयुद्ध के बाद बेकारी, आर्थिक संकट और राष्ट्रीय पुनर्निमाण की समस्याओं का समाधान करने में संसदीय संस्थाएं असफल सिद्ध हुईं और लोगों का लोकतन्त्र से विश्वास टूटने लगा। जब उन्होंने हिटलर और मुसोलिनी जैसे राष्ट्रवादी नेताओं के जोशीले भाषण सुने तो सोचने लगे कि संभवत: ऐसे नेताओं को सत्ता सौंपने से देश की समस्याओं का निराकरण हो सकेगा। जनता ने इसी आकर्षण से इन तानाशाहों को सत्ता सौंप दी और धीरे-धीरे इन्होंने सर्वाधिकारवादी शासन की स्थापना कर दी।

अधिनायकवाद के गुण (Merits of Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र में कुछ ऐसे गुण है जो अन्य व्यवस्थाओं की सैद्धान्तिक श्रेष्ठता के बावजूद इस व्यवस्था को अपनाने के लिए प्रेरणा के जिम्मेदार हैं। अगर अधिनायकतन्त्र के उत्कर्ष के कारणों की खोज की जाए तो विदित होगा कि जिस-जिस देश में निराशा, अव्यवस्था, असंतोष तथा अभाव था वहीं अधिनायकतन्त्र का उदय हुआ है। जिन देशों में लोकतन्त्र से लोग ऊब गये थे, वहीं अधिनायकवाद की स्थापना हो गई। इसमें निम्न प्रमुख गुण बताये जाते हैं –

(1) **कुशलता एवं दक्षता** – अधिनायकतन्त्र में शासन कुशलता से होता है। सारी शासन शक्ति एक व्यक्ति में निहित होने के कारण निर्णय शीघ्रता से लिए जा सकते हैं अपितु निर्णय का शीघ्रता से क्रियान्वयन भी होता है।

(2) **द्रुत गति से विकास** – अधिनायकतन्त्र से देश में तेजी से विकास होता है। देश में एक ही नेता, एक ही योजना तथा एक ही लक्ष्य होने के कारण आर्थिक साधनों का समुचित विकास एवं उपयोग सम्भव होता है।

(3) **संकटकाल के लिए उपयुक्त** – संकटकाल में अधिनायकवादी व्यवस्था सर्वोत्तम रहती है। इसमें संकट का सामना करने के लिए सभी निर्णय एवं आदेश एक व्यक्ति द्वारा दिये जाने के कारण 'आदेश की एकता' रहती है जिससे समय पर उचित कार्यवाही करना सरल हो जाता है।

(4) **राष्ट्रीय एकता की स्थापना** – अधिनायकतन्त्र में अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा राष्ट्रीय एकता अधिक अच्छे ढंग से प्राप्त की जा सकती है। देशवासी 'वीर पूजा' के आधार पर अधिनायक को ही राष्ट्र का मूर्तिमान स्वरूप मान लेते हैं। अत: अधिनायकतन्त्र लोगों में देशप्रेम, सहयोग एवं त्याग की भावनाएँ जाग्रत करता है और उन्हें एकता के सूत्र में बाँधता है।

(5) **विकासशील राज्यों के लिए उपयुक्त** – तृतीय विश्व के विकासशील राज्यों के लिए राजनीतिक और आर्थिक विकास की संक्रमणकालीन परिस्थितियों में अधिनायकतन्त्र उपयोगी माना गया है। विकासशील देशों की मुख्य समस्या राजनैतिक अनुशासन कायम करना है जिसके लिए अधिनायकतन्त्र अधिक उपयोगी हो सकता है। हण्टिंगटन के शब्दों में, "विकासशील राष्ट्रों में राजनीतिक सहभाग, शिक्षा आदि की वृद्धि के स्थान पर मूलभूत संस्थानात्मक ढाँचे का निर्माण होना चाहिए तथा इसके लिए एक दलीय शासन या सैनिक अधिनायकतन्त्र उपयोगी हो सकता है।"

(6) **बहुमुखी विकास** – अधिनायकवाद का गुण है अनुशासन, व्यवस्था और समृद्धि। यूरोप के देशों में अधिनायकतन्त्र की स्थापना के फलस्वरूप तेजी से सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण का कार्य शुरू हुआ। अनेक उद्योग विकसित हुए और समाज में नया आत्म-विश्वास जाग्रत हुआ। **जैक्सन** ने अपनी पुस्तक 'यूरोप सिन्स द वार' में लिखा है, "स्पेनवासियों के इतिहास में यह पहला अवसर है जबकि रेलें समय पर चलीं हैं। अधिनायक के अधीन व्यापार और उद्योग समृद्ध हुए हैं ... कृषि फली - फूली है... श्रम संकट दूर हो गये हैं।"

अधिनायकतन्त्र के दोष (Demerits of Dictatorship)

अधिनायकतन्त्र में गुणों की अपेक्षा दोष ही अधिक हैं। जहाँ कहीं अधिनायकतन्त्र अस्तित्व में आया, वह लम्बी अवधि तक प्रचलन में नहीं रहा। इसमें निम्नांकित प्रमुख दोष हैं :

(1) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन** – अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति साधन मात्र बन जाता है, वह राज्य रूपी वृहत मशीन का एक पुर्जा समझा जाता है। उसे विचार-स्वातन्त्र्य उपलब्ध नहीं होता। वह मानसिक दासता में जकड़ जाता है। उसकी पहल करने की भावना नष्ट हो जाती है।

(2) **राज्यवाद का समर्थक** – अधिनायकवाद राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मानता है। व्यक्ति अधिनायकवादी राज्य में दास तुल्य हो जाता है। यथार्थ में राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए।

(3) **शक्ति पर आधारित** – अधिनायकतन्त्र की आधार-शिला शक्ति है। इसमें सभी विरोधियों को बर्बरता के साथ कुचल दिया जाता है। इसमें हमेशा दमनकारी एवं हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया जाता है।

(4) **अस्थायी शासन** – राज्य का स्थायी आधार जनता की सहमति है न कि पाशविक बल। इस शासन तन्त्र में अधिनायक की स्थिति सदा अनिश्चित रहती है। उसे सदा विद्रोह का डर बना रहता है। उसकी अचानक मृत्यु होने पर अथवा उसके विरुद्ध जन-विद्रोह होने पर यह निर्णय करना मुश्किल हो जाता है कि सत्ता का वास्तविक हकदार कौन है?

अधिनायकतन्त्र तथा लोकतन्त्र में अन्तर
(Difference between Dictatorship and Democracy)

अधिनायकतन्त्र और लोकतन्त्र के अन्तर को निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

लोकतन्त्र	अधिनायकतन्त्र
(1) लोकतन्त्र के आधार जनता की सहमति अथवा इच्छा है।	(1) अधिनायकतंत्र का आधार शक्ति है।
(2) लोकतन्त्र में व्यक्ति को साध्य माना जाता है तथा राज्य को साधन।	(2) अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति को साधन माना जाता है तथा राज्य को साध्य।
(3) लोकतन्त्र स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व पर आधारित है।	(3) यह अनुशासन, आज्ञापालन तथा दमन परआधारित है।

(4) इसमें राजनैतिक दलों के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है और विरोधी दल होते हैं।	(4) इसमें एक दल का शासन होता है और विरोध तथा विरोधी दलों को कोई स्थान नहीं है।
(5) लोकतन्त्र में कानून का शासन होता है।	(5) इसमें स्वेच्छाचारिता का शासन होता है।
(6) लोकतन्त्र में प्रचार के माध्यमों का इस तरह प्रयोग किया जाता है कि जनता को सार्वजनिक विषयों पर समाचार मिलते रहें जिससे नागरिक विवेकपूर्ण निर्णय ले सकें।	(6) इसमें प्रचार के माध्यमों का प्रयोग सत्तारूढ़ दल और उसके नेता के विचारों के प्रचार के लिए किया जाता है। स्वतन्त्र प्रेस का इसमें कोई स्थान नहीं है।
(7) इसमें सरकार उत्तरदायी होती है।	(7) इसमें सरकार उत्तरदायी नहीं होती।
(8) लोकतांत्रिक सरकार नमनीय होती है, उसे परिस्थिति के अनुसार बदला जा सकता है।	(8) इसमें शासन अनमनीय होता है। तानाशाही व्यवस्था में शासन को अवसर के अनुकूल बनाने की कोई संस्थागत व्यवस्था नहीं होती।

क्या अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र का विकल्प हो सकता है?
(May Dictatorship be an alternative of Democracy?)

लोकतन्त्रीय व्यवस्था में आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक विकास धीमी गति से होता है। जन-कल्याण के कार्य तेजी से नहीं चल पाते क्योंकि इस व्यवस्था में विकास व सामाजिक कल्याण का कार्यक्रम सहमति पर आधारित होता है। लोकतन्त्र में न राष्ट्रीय एकता होती है और न ही अनुशासन होता है। हर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता की आड़ में मनमानी करने लगता है। सरकारें आये दिन बदलती रहती हैं और सरकारों की अस्थिरता के कारण नीति सम्बन्धी अनिश्चितता बनी रहती है। लोकतन्त्र में जनता के धन का अपव्यय होता है और प्रशासन में भ्रष्टाचार व्याप्त रहता है। ऐसी स्थिति में कुछ लोग अधिनायकतन्त्र को लोकतन्त्र का विकल्प बतलाते हैं।

किन्तु यथार्थ में अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र का कभी विकल्प नहीं हो सकता। लोकतन्त्र में व्यक्तिगत स्व[illegible]एं व मौलिक अधिकारों की व्यवस्था रहती है। अधिनायकतन्त्र में न तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ही [illegible] रहती है और न समानता के सिद्धान्त का ही अनुसरण होता है। लोकतन्त्र में सरकार जन-इच्छा के अनु[illegible] रहती है जबकि अधिनायकतन्त्र में स्वेच्छाचारी शासन होता है। लोकतन्त्र में विकास व सामाजिक [illegible] का कार्यक्रम जन-सहमति पर आधारित होता है। जनसहमति के ठोस आधार पर टिका होने के कारण लोकतान्त्रिक विकास सही दिशा में होता है जबकि तानाशाही में कई बार विकास के मार्गों का निर्धारण सही दिशा में नहीं हो पाता। अधिनायकतन्त्र में राष्ट्रीय एकता व अनुशासन ऊपर से आरोपित रहता है जबकि लोकतन्त्र में आत्म-अनुशासन की व्यवस्था रहती है। लोकतन्त्र में नियमों के अनुसार शासन होता है जबकि अधिनायकतन्त्र में कार्यदक्षता व पहल करने की शक्ति का दमन होता है। लोकतांत्रिक सरकार हर परिस्थिति के अनुसार ढाली या बदली जा सकती है जबकि विषम परिस्थितियों में तानाशाही व्यवस्थायें लड़खड़ा जाती हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था में ही जनता को सामाजिक आर्थिक न्याय उपलब्ध हो सकता है।

अत: अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र का विकल्प नहीं हो सकता। किसी ने कहा है, "स्वतन्त्र रहना सदैव किसी के अधीन रहने से अच्छा है, इसलिए लोकतन्त्र अधिनायकतन्त्र से अच्छा है।"

निष्कर्ष

कार्ल जे.फेडरिक ने लिखा है कि "वैधानिक अधिनायकवाद ऊपर से विरोधाभास होते हुए भी वैधानिकता की अन्तिम कसौटी है, क्योंकि जो सरकार संकटकालीन अवस्था का ठीक से सामना नहीं कर सकती है, उसका अन्त निश्चित है।" अत: आजकल सभी संविधानों में अधिनायकवाद के कुछ तत्व विद्यमान रहते हैं। उदाहरणार्थ, भारत के संविधान द्वारा राष्ट्रपति को अनुच्छेद 352 से 360 तक जो

अधिकार प्रदान किये गये हैं, वे उसे संकटकाल में तानाशाह बना सकते हैं। वर्तमान में ब्रिटिश केबिनेट की शक्तियों में इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि रैम्जे म्योर ने 'मन्त्रिमण्डलीय तानाशाही' की बात कही है। फ्रांस के पंचम गणतन्त्र के राष्ट्रपति को इतनी अधिक शक्तियाँ संविधान देता है कि वह किसी अधिनायक से कम नहीं रह गया है। अत: यह कहना उचित है कि सभी संविधानों में अधिनायकवाद के कुछ तत्व विद्यमान रहते हैं।

प्रश्न

1. लोकतंत्रीय अथवा अधिनायकवादी सरकारों के गुण दोष लिखिए।
2. अधिनायक तंत्र के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. क्या अधिनायक तंत्र लोकतंत्र का विकल्प हो सकता है?
2. अधिनायक तंत्र के लक्षण लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अधिनायक तंत्र का लक्षण है–
   (अ) स्वतंत्र प्रेस (ब) प्रभावशाली विरोधी दल
   (स) प्रबुद्ध लोकमत (द) निरंकुश प्रभुसत्ता
2. स्वेच्छाचारी अधिनायकतंत्र का लक्षण है–
   (अ) कम्युनिज्म या फासिज्म जैसी-प्रभावी विचारधारा का अभाव
   (ब) मुक्त प्रतियोगिता
   (स) प्रतियोगी दल प्रणाली
   (द) स्वतंत्र न्यायपालिका
3. अधिनायकतंत्र का लक्षण नहीं है?
   (अ) उदारतावाद विरोधी (ब) लोकतंत्र विरोधी
   (स) उत्तरदायी सरकार (द) हिंसा व शक्ति में विश्वास
4. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अधिनायकवाद के उत्कर्ष का प्रमुख कारण है :
   (अ) शीत युद्ध (ब) सोवियत संघ का विघटन
   (स) संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना (द) वर्साय की संधि
5. अधिनायकवादी शासन का प्रमुख गुण माना जाता है–
   (अ) उच्च आदर्शों पर आधारित (ब) संकटकाल के लिए उपयुक्त
   (स) लोकमत पर आधारित (द) लोचपूर्ण शासन व्यवस्था

उत्तर 1. (द), 2. (अ), 3. (स), 4. (द), 5. (ब)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

26

संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन

(PARLIAMENTARY AND PRESIDENTIAL SYSTEM)

शासन के इस वर्गीकरण का आधार कार्यपालिका और विधायिका का पारस्परिक सम्बन्ध है। यदि कार्यपालिका, विधायिका या संसद के प्रति उत्तरदायी है तो यह संसदीय सरकार कहलाती है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका और विधायिका एक दूसरे से स्वतन्त्र रहती हैं। **बेजहॉट** के शब्दों में, "विधायिका और कार्यपालिका शक्तियों की एक दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षात्मक सरकार का विशिष्ट लक्षण है और इन दोनों का एक दूसरे से संयोग तथा घनिष्ठता संसदीय सरकार का।" ब्रिटेन, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों में संसदीय शासन–प्रणाली है। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन –प्रणाली संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अमरीकी महाद्वीप के कुछ अन्य देशों में पायी जाती है।

संसदात्मक शासन
(Parliamentry Government)

संसदात्मक शासन : अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definitions)

संसदात्मक शासन में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। इसे उत्तरदायी अथवा मन्त्रिमण्लात्मक सरकार भी कहा जाता है क्योंकि इसमें मन्त्रिमण्डल के पास सरकार की वास्तविक शक्तियाँ होती हैं और वह संसद के अधीन होता है। राज्य का अध्यक्ष केवल नाममात्र दिखावे का अध्यक्ष होता है। विभिन्न विद्वानों ने संसदीय शासन की परिभाषएं निम्न प्रकार से की हैं :–

गार्नर – "संसदीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका विधानमण्डल या उसके एक सदन के प्रति प्रत्यक्ष तथा कानूनी रूप से और निर्वाचकों के प्रति अन्तिम रूप से, अपनी राजनीतिक नीतियों और कार्यों के लिए उत्तरदायी रहती हैं, जबकि राज्य का प्रमुख, जो नाममात्र की कार्यपालिका होता है, अनुत्तरदायित्व की स्थिति में रहता है।

गेटेले – "संसदात्मक सरकार उसे कहते हैं, जिसमें प्रधानमन्त्री एवं मन्त्रिपरिषद से निर्मित वास्तविक कार्यकारिणी अपने सभी कार्यों के लिए कानूनी रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।"

संसदात्मक शासन की विशेषताएं
(Characteristics of Parliamentary Government)

संसदात्मक शासन के प्रमुख लक्षण अथवा विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(1) **राज्य का मुखिया औपचारिक शक्तियों का प्रयोग करता है** – संसदीय सरकार की मुख्य विशेषता यह है कि संवैधानिक दृष्टि से राज्य के मुखिया के पास बहुत सारी शक्तियाँ होती हैं, परन्तु व्यवहार में वह उनका प्रयोग बहुत ही कम करता है। व्यवहार में निर्वाचित मन्त्री राज्य के मुखिया की शक्तियों का प्रयोग करते हैं। इंग्लैण्ड, जापान, भारत के शासनाध्यक्षों– राजा अथवा राष्ट्रपति – की शक्तियाँ औपचारिक हैं।

(2) **औपचारिक और वास्तविक कार्यपालिका का भेद** – इस शासन–प्रणाली में औपचारिक तथा वास्तविक कार्यपालिका में भेद होता है। राज्य का प्रधान औपचारिक कार्यपालिका होता है, जबकि वास्तविक कार्यपालिका मन्त्री –परिषद् होती है। इंग्लैण्ड, भारत व जापान में ऐसा ही है।

(3) **व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध** – संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक दूसरे से पृथक् न होकर परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होती है। कार्यपालिका की नियुक्ति व्यवस्थापिका से ही की जाती है ओर कार्यपालिका अपने कार्यों और नीतियों

के लिए व्यवस्थापिका के ही प्रति उत्तरदायी होती है। भारत, इंग्लैण्ड, व जापान आदि संसदीय प्रणाली वाले राज्यों में मन्त्रिमण्डल का निर्माण लोकसदन से होता है और वह लोकसदन के प्रति उत्तरदायी भी रहता है।

(4) **कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता** – इस शासन- व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। मन्त्रिपरिषद उसी समय तक अपने पद पर बनी रह सकती है जब तक उसे व्यवस्थापिका के निम्न सदन का विश्वास प्राप्त हो।

(5) **सामूहिक उत्तरदायित्व** – संसदीय शासन में वास्तविक कार्यपालिका का निर्माण करने वाले मन्त्री सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संसदीय शासन का नियम है– "सब एक के लिए व एक सबके लिए, " और जैसी कहावत है, " वे इकट्ठे ही तैरते या इकट्ठे ही डूबते हैं।" इसका अर्थ यह है कि मंत्रिमण्डल में जब एक निर्णय हो जाता है, प्रत्येक मन्त्री का कर्त्तव्य है कि उसका संसद और जनता में समर्थन करे, चाहे वह उस निर्णय से मंत्रिमंण्डल की बैठक में सहमत रहा हो या असहमत। मंत्रिमण्डल जनता, विधानमण्डल और कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान के रूप में कार्य करता है।

(6) **प्रधानमन्त्री का नेतृत्व** – संसदीय शासन में प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का नेता होता है। वह "मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला है और प्रो. लास्की के शब्दों में वह मंन्त्रिमण्डल के निर्माण, जीवन और मरण में केन्द्रीय स्थिति रखता है।" संसद के निम्न सदन में बहुमत दल का नेता होने के कारण वह सदन का भी नेता कहलाता है।

(7) **राजनीतिक सजातीयता** – इसका अर्थ है कि सब मन्त्री मन्त्रिमण्डल में एक टीम की भाँति काम करते हैं और जनता के सामने अपने मतभेद प्रकट नहीं करते। मन्त्री प्राय: एक ही दल से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु यदि साझा सरकार हो तो वे एक से भी अधिक दलों से सम्बध्द हो सकते हैं। इस परिस्थिति में वे निश्चित नीति व कार्यक्रम को तय करके कार्य करते हैं।

(8) **गोपनीयता** – जब मन्त्री अपना पद संभालते हैं, तो उन्हें संविधान के प्रति वफादार होने और सरकार के रहस्यों को गुप्त रखने की शपथ लेनी पड़ती है।

(9) **विधानमण्डल का विघटन** – संसदीय सरकार में कभी–कभी किसी मामले पर कार्यपालिका और विधानमण्डल में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। उस परिस्थिति में मुख्य कार्यपालिका को विधानमण्डल के विघटन का अधिकार होता है ताकि वह उस समय नये चुनाव करा के मतदाताओं का निर्णय प्राप्त कर सके। इंग्लैण्ड तथा भारत में इस अधिकार का प्रयोग हुआ है।

(10) **व्यक्तिगत जिम्मेदारी** – जहाँ मन्त्रियों की संसद के प्रति सामूहिक जिम्मेदारी होती है, वहाँ प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग के कार्यों के लिए भी स्वयं भी जिम्मेदार होता है। संसद के सदस्य उससे प्रश्न पूछ सकते हैं और उसके विभाग की आलोचना भी कर सकते हैं। इंग्लैड, भारत तथा जापान में इस सिद्धान्त का व्यवहार में प्रयोग हुआ है। अपने विभागों की गलतियों के कारण अनेक बार मन्त्रियों ने त्याग पत्र दिये हैं।

संसदीय शासन के गुण (Merits of Parliamentary Government)

संसदात्मक शासन प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं–

(1) **कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का एकीकरण** – संसदीय शासन का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का एकीकरण कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप उनमें सामंजस्य एवं सहयोग रहता है। इससे शासन में सुगमता रहती है। मन्त्रिपरिषद व्यवस्थापिका की समिति के रूप में कार्य करता है। शासन के अंगों में मतैक्य रहने से शासन निर्बाध रूप से चलता रहता है। संघर्ष या गतिरोध रहित शासन कुशल साबित होता है।

(2) **उत्तरदायी शासन–व्यवस्था** – इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका त्यवस्थापिका के सदस्यों के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी होती है। इस व्यवस्था में, जैसा **डायसी** ने लिखा है, "मन्त्रिमण्डल को

जनता के प्रति अधिक सचेत रहना पड़ता है क्योंकि इस पद पर ही उसका अस्तित्व निर्भर करता है।" इस व्यवस्था में अयोग्य कार्यपालिका को एक निश्चित अवधि तक सहन करना आवश्यक नहीं होता। यदि कार्यपालिका संसद का विश्वास खो बैठती है, तो उसे पदच्युत किया जा सकता है।

(3) **लचीलापन** – यह शासन प्रणाली लचीली होती है। इसमें परिस्थिति के अनुसार सरकार को परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसा संभव है कि शान्तिकाल में जो सरकार कुशलतापूर्वक देश का संचालन करती हो, युद्ध काल में न कर सके। ऐसी व्यवस्था में समयानुकूल सरकार या उसके नेतृत्व में परिवर्तन सम्भव है। आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न दलों का साझा मन्त्रिमण्डल बनाकर राष्ट्रीय सरकार की भी स्थापना की जा सकती है।

(4) **विरोधी दलों का महत्व** – संसदीय शासन व्यवस्था में विरोधी दलों का महत्व बना रहता है। न केवल वे शासन पर अंकुश रखते हैं बल्कि किसी भी समय शासन बदलने के लिए भी तैयार रहते हैं। शक्तिशाली विरोधी दल के कारण सरकार जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने हेतु सजग रहती है तथा निरंकुश बनने का दु:साहस नहीं कर पाती।

(5) **राजनीतिक चेतना** – संसदीय शासन में जनता राजनीतिक दृष्टि से जाग्रत होती है। उसे राजनीतिक शिक्षा मिलती है। विभिन्न राजनीतिक दल विरोधी विचारधाराओं को जनता के सम्मुख रखते हैं। संसद में वादविवाद होता है तथा विरोधी विचार व्यक्त किये जाते हैं। इससे जनता में राजनीतिक चेतना आती है। उसे हर समस्या के हर पहलू का ज्ञान हो जाता है।

(6) **शासन निरंकुश नहीं हो पाता** – संसदात्मक शासन प्रणाली एक प्रकार से नियंत्रित शासन का सिद्धान्त है। इस प्रणाली में कार्यपालिका के ऊपर व्यवस्थापिका का नियंत्रण बना रहता है। इस नियंत्रण का उपयोग व्यवस्थापिका भिन्न-भिन्न तरीकों से करती है, जैसे प्रश्न पूछना, निन्दा – प्रस्ताव, कार्य-स्थगन प्रस्ताव, अविश्वास-प्रस्ताव आदि।

(7) **लोकमत का आदर** – इस व्यवस्था में मन्त्री संसद के सदस्य होते हैं और संसद सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। अत: स्वाभाविक रूप से वे लोकमत का आदर करते हैं।

(8) **शासनाध्यक्ष का निष्पक्ष परामर्श** – इस प्रणाली में शासनाध्यक्ष, राजा या राष्ट्रपति का किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्ध नहीं होता। वह निष्पक्ष एवं तटस्थ परामर्शदाता की भाँति होता है।वह शासन को संकट के समय उचित परामर्श देता है और यदि शासन कोई गलत कार्य करने लगे तो वह उसे चेतावनी देता है। यथार्थ में शासनाध्यक्ष सच्चे मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है।

संसदीय शासन के दोष (Demerits of Parliamentary System)

संसदीय शासन के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं:

(1) **मन्त्रिमण्डल की तानाशाही का भय** – संसदीय शासन में बहुमत – दल मन्त्रिमण्डल बनाता है। यदि मन्त्रिमण्डल के पीछे संसद का पर्याप्त बहुमत है तो वह मनमानी कर सकता है। प्रधानमन्त्री विशेष परिस्थितियों में संसद के निम्न सदन को भंग करवा सकता है। **प्रो.लॉस्की** के शब्दों में, "संसदीय शासन निश्चय ही कार्यपालिका को अत्याचारी बनने का अवसर प्रदान करता है। व्यवस्थापिका केवल निर्णयों को रजिस्टर में दाखिल करने वाला विभाग बन जाती है।" रैम्जे म्योर के शब्दों में, " आजकल का यह अधिनायकत्व पिछली दो पीढ़यों की अपेक्षा अधिक कठोर है।"

(2) **अस्थिर शासन** – संसदीय प्रणाली में सरकार को स्थिर बनाने के लिए यह परम आवश्यक है कि सत्तारूढ़ दल के पीछे संसद में काफी बहुमत हो। यदि ऐसा नहीं है तो शासन की स्थिति अस्थिर बनी रहती है। कभी भी मन्त्रिमण्डल का तख्ता उलट सकता है। उदाहरणार्थ, चतुर्थ आम चुनावों के बाद भारत के अनेक राज्यों में कई बार सरकारें बदलीं। अकेले बिहार में तीन वर्ष में सात मन्त्रिमण्डल बने। केन्द्र में दिसम्बर 1989 से जून 1991 की अल्पावधि में राजीव गाँधी, विश्व नाथ प्रताप सिंह, चन्द्रशेखर और पी.वी.नरसिंहराव– क्रमश: चार प्रधानमंत्री बने। मई 1996 में गठित 11 वी लोकसभा में किसी भी राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ और अल्पमतीय मिली जुली सरकारों का सिलसिला

प्रारंभ हुआ। डेढ़ वर्ष की अल्पावधि में तीन प्रधानमंत्री – सर्वश्री अटल बिहारी वाजपेयी, श्री एच.डी.देवगौड़ा और श्री इन्द्रकुमार गुजराल की सरकारें अस्तित्व में आईं। राजनीतिक अनिश्चतता के इस दौर में देश में अस्थिरता और अनिर्णय की स्थितियां उभरीं और सरकार की विश्वसनीयता को लेकर शंकाएं उत्पन्न हुईं।

(3) **शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल** – इस शासन प्रणाली में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की शक्तियों का पूर्ण रूप से एकीकरण हो जाता है। इससे सामान्य जनता की स्वतन्त्रता के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है। ऐसी व्यवस्था आसानी से स्वेच्छाकारी बन सकती है। मांटेस्कयू ने लिखा है कि, "यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या एक ही संस्था में केन्द्रित हो जाएं तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं राजा या सीनेट अत्याचारी कानून बनाए और उन्हें अत्याचारी ढंग से लागू करे।"

(4) **दुर्बल शासन** – संसदीय शासन में किसी एक व्यक्ति पर शासन की पूर्ण जिम्मेदारी नहीं होती। प्रधानमंत्री अन्य मन्त्रियों का नेता मात्र ही होता है। उसे भी विभिन्न प्रकार के दबावों में काम करना पड़ता है। अत: शीघ्र एवं प्रभावशाली निर्णय नहीं लिए जा सकते।

(5) **अनाड़ियों का शासन** – संसदीय शासन में मन्त्री बनने के लिए आवश्यक होता है कि व्यक्ति व्यवस्थापिका का सदस्य हो। प्राय: यह देखा गया है कि योग्य, विद्वान और दक्ष व्यक्ति राजनीति के झमेले में नहीं पड़ना चाहते। इसलिए केवल सामान्य स्तर के व्यक्ति ही व्यबस्थापिका के सदस्य बनते हैं। उन्हीं में से मन्त्री बनाना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि कई मन्त्री तो सर्वथा अयोग्य होते हैं। **सिडनी लॉ** ने लिखा है, " राजस्व विभाग में क्लर्की प्राप्त करने के लिए एक युवक को गणित की परीक्षा पास करना अनिवार्य है परन्तु राजस्व विभाग का वित्तमंत्री कोई भी अधेड़ दुकानदार हो सकता है जो ईटन व ऑक्सफोर्ड में पढ़ा हुआ अंकगणित भूल चुका हो और दशमलव अंकों को समझने की चेष्टा कर रहा हो।"

(6) **संकटकाल के लिए उपयुक्त नहीं** – संकटकाल में तुरन्त निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। परन्तु संसदीय शासन में मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों की राय जानने और सर्वसम्मति पैदा करने में बहुत समय बर्बाद हो सकता है। इस प्रकार विलम्ब होने से राष्ट्र की बहुत हानि हो सकती है।

(7) **नौकरशाही का प्रभाव** – संसदीय शासन में प्रधानमंत्री को मन्त्रिमण्डल में सदस्यों को उनकी प्रशासनिक योग्यता के आधार पर नहीं बल्कि उनके राजनीतिक प्रभाव को देखकर नियुक्त करना पड़ता है। मन्त्रियों के पास कई बार ऐसे विभाग आ जाते हैं जिनके बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता। मन्त्री अपने काम में विशेषज्ञ नहीं होते, इसलिए सरकारी काम-काज के लिए उन्हें नौकर शाही पर निर्भर रहना पड़ता है।

व्यवहार में संसदीय शासन (Practical Aspect of Parliamentary System)

संसदीय शासन के बुनियादी तत्व हैं- राजनीतिक व्यवस्था की सम्पूर्ण शक्तियों का संसद में केन्द्रित रहना, कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति निरन्तर उत्तरदायित्व तथा मन्त्रिमण्डल का विशिष्ट महत्व।

ऐसा कहा जाता है कि व्यवहार में संसदीय – शासन का स्वरूप कुछ और होता जा रहा है। अब संसद केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही शक्तियों का केन्द्र रह गयी है। भारत और ब्रिटेन जैसे संसदीय प्रणाली वाले राज्यों में संसद की प्रतिष्ठा में पर्याप्त ह्रास हुआ है। संसद केबिनेट के हाथ की कठपुतली बनती जा रही है। संसद की सम्प्रभुता एक कानूनी पहेली बन गई है। वह एक " रबर -स्टाम्प" मात्र रह गई है। रैम्जे म्योर ने लिखा है," मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।" भारत और ब्रिटेन में कार्यपालिका संसद को भंग कर सकती है। कानून यथार्थ में संसद द्वारा नहीं बनाये जाते अपितु केबिनेट के नेतृत्व में बनते हैं। केबिनेट दलीय बहुमत के आधार पर संसद से जैसा चाहे वैसा बजट पारित करवा लेता है। यथार्थ में कार्यपालिका संसद के प्रति निरन्तर उत्तरदायी भी नहीं कही जा सकती।

ब्रिटेन और भारत में संसद की सम्प्रभुता का स्थान आज मन्त्रिमण्डल की सम्प्रभुता ने ले लिया है। यह मन्त्रिमण्डल की सम्प्रभुता अन्ततः प्रधानमंत्री की सम्प्रभुता ही है। आज तो मन्त्रिमण्डल प्रधानमंत्री के हाथों की कठपुतली कहा जा सकता है। संसदीय शासन–प्रणाली वाले देशों में अब शक्ति का केन्द्र प्रधान मन्त्री ही बन गया है, इसलिए संसदीय शासन–प्रणाली को अब " प्रधानमंत्री शासन–प्रणाली कहा जाता है। अब संसद की सभी शक्तियाँ प्रधानमन्त्री की इच्छा के अनुसार ही प्रयुक्त होती हैं। डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने लिखा है कि, "सिद्धान्ततः मंत्रिमण्डल संसद की एक समिति है, संसद सरकार की जननी है, किन्तु वास्तव में संसद सरकार को नहीं चलाती क्योंकि संसद में सदैव ही सरकारी पक्ष का बहुमत होता है। यह सत्य है कि कानून बनाने की एवं कर और शुल्क लगाने की सर्वोपरि सत्ता संसद में निहित है, किन्तु वास्तविकता यह है कि विविध अधिनियमों का गर्भाधान और जन्म मन्त्रालयों में होता है संसद में केवल मन्त्रोच्चारण के साथ उनका उपनयन संस्कार होता है और उन्हें औपचारिक यज्ञोपवीत दे दिया जाता है।" प्रो.जे.डी.सेठी लिखते हैं, " सिद्धान्ततः जब तक संसद की मर्जी हो, मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ रह सकता है, लेकिन व्यवहार में मन्त्रिमण्डल ने संसद के काम और उसके अधिकार अधिकाधिक मात्रा में हथिया लिए है और जिसे मन्त्रिमण्डल तानाशाही कहते हैं, उसकी अगवानी की है। भारत में हम एक कदम और आगे बढ़ गये और प्रधान मन्त्री को इजाजत दी गई कि वे मन्त्रिमण्डल तथा संसद दोनों के अधिकार हथिया लें। पं. नेहरू ने अनेक सूक्ष्म तरीकों से ऐसा किया था और श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बगैर किसी झिझक के।"

इस प्रकार संसदीय शासन-प्रणाली व्यवहार में "प्रधान- मन्त्रीय व्यवस्था" में परिवर्तित हो जाती है। व्यवहार में संसद की शक्तियों का प्रयोग प्रधान मन्त्री करता है।

संसदीय शासन की सफलता की शर्तें
(Essential Conditions for Success of Parliamentary System)

यह सर्वविदित है कि कुछ देशों में संसदीय शासन–प्रणाली सुचारु रूप से चल रही है और कुछ देशों में उसके संचालन में निरन्तर गत्यावरोध आ रहे हैं। संसदीय शासन की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तें आवश्यक हैं।

(1) **द्विदलीय व्यवस्था** – बहुदलीय व्यवस्था के बजाए द्विदलीय व्यवस्था आवश्यक है ताकि सरकार के निर्माण में आसानी हो। यदि ऐसा न हो तो कम से कम प्रतियोगी दल–व्यवस्था होनी चाहिए अर्थात् चुनावों में दलों का बराबरी का होना। इंग्लैण्ड में द्विदलीय और प्रतियोगी दल – व्यवस्था है जबकि भारत में ऐसा नहीं है।

(2) **नियतकालीन चुनाव** – संसदात्मक व्यवस्था में सरकार उत्तरदायी होती है। नियतकालीन चुनाव ही वह माध्यम है जिससे सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सकता है।

(3) **सुदृढ़ प्रतिपक्ष** – एक सशक्त विरोधी दल संसदीय लोकतन्त्र में अपरिहार्य है। जब बहुमत दल होता है तो एक विरोधी दल भी होना चाहिए जो वैकल्पिक नीतियाँ प्रस्तुत कर सके।

(4) **स्पीकर की निष्पक्षता** – संसदीय शासन का राजनीतिक खेल संसद के भीतर स्पीकर की देख–रेख में ही खेला जाता है। यदि स्पीकर निष्पक्ष आचरण न करे तो संसदीय व्यवस्था लड़खड़ा जायगी। **एर्स्कन** में के अनुसार,"स्पीकर निष्पक्ष होकर कार्य न करे तो विरोधी दल का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा, बहुमत दल की स्वेच्छाचारिता स्थापित हो जाएगी।"

(5) **संसद की सर्वोच्चता** – संसदीय शासन–प्रणाली का केन्द्र–बिन्दु संसद होती है। अतः सरकार के अन्य अंगों – कार्यपालिका और न्यायपालिका – की तुलना में उसकी सर्वोच्चता बनाये रखनी चाहिए। **डी.वी.वर्ने** ने लिखा है कि " अनेक संसदीय व्यवस्थाएँ इसलिए असफल हो गई क्योंकि संसद के संघटक अंगों में से किसी ने सर्वोच्चता का दावा किया तथा संसद समग्र रूप में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका से सर्वोच्च नहीं रह सकी।" हम सभी जानते है कि फ्रांस में संसदीय प्रणाली 1946 से 1958 तक इसी कारण लड़खड़ाती रही।

अध्यक्षात्मक शासन
(Presidential Government)

अध्यक्षात्मक शासन–प्रणाली का संगठन संसदीय शासन–प्रणाली से भिन्न सिद्धान्त पर आधारित हैं। इस शासन–प्रणाली में कार्यपालिका वैधानिक रूप से व्यवस्थापिका से पृथक होती है। यह न तो उसमें से ली जाती है और न ही उसके प्रति उत्तरदायी होती है।

अध्यक्षीय शासन से अभिप्राय (Meaning and Definitions)

अध्यक्षात्मक प्रणाली का आधार शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त है। इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों एक –दूसरे से बिल्कुल पृथक् और स्वतन्त्र होती हैं। **बेजहॉट** के शब्दों में, "व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियों की एक–दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षात्मक शासन का ठीक वैसा ही विशिष्ट लक्षण है जैसा उनका संयोजन तथा संयोग मन्त्रि – परिषद् प्रणाली का सुनिश्चित सिद्धान्त है।"

इस शासन–प्रणाली में शासनाध्यक्ष नाममात्र का प्रधान होकर वास्तविक कार्यपालिका होता है। उसकी शक्ति व्यवस्थापिका के विश्वास पर निर्भर नहीं होती तथा एक निश्चित अवधि तक वह अपने पद पर बना रहता है। वह अपनी सहायता के लिए जिन मन्त्रियों की नियुक्ति करता है, वे सब उसके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, न कि व्यवस्थापिका के प्रति। अमरीकी शासन व्यवस्था अध्यक्षीय प्रणाली का श्रेष्ठ उदाहरण है। वहाँ राष्ट्रपति कार्यपालिका के क्षेत्र में तथा कांग्रेस व्यवस्थापन के क्षेत्र में एक–दूसरे से प्राय: स्वतन्त्र हैं। उन दोनों ही को जनता प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करती है। राष्ट्रपति अपने राजनीतिक कार्यों एवं नीतियों के लिए कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उसका कार्य–काल समाप्त होने के पूर्व सामान्यत: उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता। केवल कुछ बड़े अपराधों के आधार पर उसे महाभियोग की विशेष प्रक्रिया द्वारा पद से हटाया जा सकता है। महाभियोग अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है और ऐसे अवसर प्राय: आते ही नहीं हैं।

विभिन्न विद्वानों द्वारा अध्यक्षात्मक शासन की परिभाषाएं निम्न प्रकार से की गई हैं :–

गार्नर – "अध्यक्षात्मक शासन वह व्यवस्था है जिसमें (राज्याध्यक्ष तथा उसके मन्त्रियों सहित) कार्यपालिका अपने कार्यकाल के लिए व्यवस्थापिका से स्वतंत्र और अपनी राजनीतिक नीतियों के लिए उसके प्रति अनुत्तरदायी रहती है।"

गेटेल – " अध्यक्षात्मक शासन वह प्रणाली हैं जिसमें कार्यपालिका का प्रधान अपने कार्यकाल और बहुत–कुछ सीमा तक, अपनी नीतियों और कार्यों के बारे में विधानमण्डल से स्वतन्त्र होता है।"

अध्यक्षीय शासन की विशेषताएं (Characteristics of Presidential System)

इस शासन – प्रणाली में निम्नांकित विशेषताएं पायी जाती हैं–

(1) **शक्तियों का पृथक्करण** – यह शासन –प्रणाली शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका एक–दूसरे से सर्वथा पृथक एवं स्वतन्त्र रहती हैं। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते और न उसके प्रति उत्तरदायी ही होते हैं। इस शासन–पद्धति में व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। कानून – निर्माण के अपने कार्य में विधायिका भी पूर्णत: स्वतन्त्र रहती है तथा उस पर कार्यपालिका का कोई नियन्त्रण नहीं होता।

(2) **कार्यपालिका की सुदृढ़ स्थिति** – इस प्रणाली में शासनाध्यक्ष नाममात्र का प्रधान न होकर वास्तविक कार्यपालिका होता है। वह उन शक्तियों का वास्तविक प्रयोग करता है जो संविधान तथा कानूनों द्वारा उसे प्रदान की जाती हैं।

(3) **निश्चित कार्यकाल** – इस प्रणाली में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका दोनों का कार्यकाल निश्चित रहता है। जिस प्रकार व्यवस्थापिका कार्यपालिका को उसका कार्यकाल समाप्त होने से पहले हटा नहीं सकती, उसी प्रकार राष्ट्रपति भी विधानमण्डल को विघटित नहीं कर सकता।

(4) **वास्तविक मन्त्रिमण्डल नहीं** – अध्यक्षात्मक पद्धति में वस्तुत: मन्त्रिमण्डल नहीं होता। सिर्फ राष्ट्रपति को सहायता पहुंचाने तथा सलाह देने के लिए कुछ सचिव होते हैं। संसदीय प्रणाली की भाँति

NOTES

वे एक इकाई या टीम का निर्माण नहीं करते हैं। मन्त्रीगण राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं, उसकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं तथा उसकी इच्छापर्यन्त अपने पद पर रहते हैं।

(5) **उत्तरदायित्व का आधार** –इस पद्धति में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। विधायिका न तो उससे प्रश्न पूछ सकती है और न उसे अविश्वास–प्रस्ताव द्वारा पदच्युत ही कर सकती है।

अध्यक्षीय शासन के गुण (Merits of Presidential System)

अध्यक्षीय शासन के प्रमुख गुण इस प्रकार हैं–

(1) **स्थायी कार्यपालिका** – अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका स्थायी रहती हैं। कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है। इस अवधि में उसे साधारणतया हटाया नहीं जा सकता।

(2) **संकटकाल में उपयुक्त** – अध्यक्षीय शासन किसी भी संकटकालीन परिस्थिति का सरलता से सामना कर सकता है क्योंकि सच्चा महत्वपूर्ण निर्णय एक ही व्यक्ति लेता है। आपात स्थिति आने पर राष्ट्रपति बिना मन्त्रियों के परामर्श की चिन्ता किए या बिना संसद का विचार जाने अविलम्ब राष्ट्रहित में निर्णय ले सकता है। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, " सम्भवतया यह सत्य है कि अध्यक्षीय प्रणाली युद्ध के समय में अधिक सक्षम होती है।"

(3) **नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा** – अध्यक्षात्मक शासन–प्रणाली शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षक कहलाती है। शक्तियों का संकेन्द्रण सरकार के किसी एक अंग में न होने से किसी भी अंग का निरंकुश बनना सम्भव नहीं है।

(4) **दलबन्दी का अभाव** – अध्यक्षात्मक प्रणाली में राजनीतिक दलबन्दी का उग्र वातावरण नहीं पाया जाता। इस प्रणाली में अनावश्यक विरोधी दल नहीं होते और चुनावों के बाद दल निष्क्रिय हो जाते हैं। फलत: संसदीय प्रणाली से उत्पन्न दोष इस पद्धति में नहीं पाये जाते।

(5) **दक्ष शासन** – इस शासन पद्धति में मंत्रियों व महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति का आधार दलबन्दी न होकर कार्यकुशलता होता है। अध्यक्ष देश के विभिन्न क्षेत्रों से प्रतिभाओं को मन्त्रिमण्डल में लेने में स्वतन्त्र होता है। मन्त्रिमण्डल का सदस्य बनने के लिए चुनाव लड़ना आवश्यक नहीं होता। फिर, इस पद्धति में सरकार के प्रत्येक अंग का कार्यक्षेत्र स्वतन्त्र एवं सुनिश्चित होने से शासन में कुशलता आ जाती है।

(6) **विशाल राष्ट्रों के लिए उपयुक्त** – यह शासन –प्रणाली उन देशों के लिए अधिक उपयुक्त रहती है जिनमें भाषा, संस्कृति, धर्म आदि के आधार पर विविधता पाई जाती है। ऐसे विविधता वाले देशों में अध्यक्षीय प्रणाली एकता का संचार करती है।

अध्यक्षीय शासन के दोष (Demerits of Presidential System)

अध्यक्षात्मक प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं–

(1) **निरंकुशता का भय** – अध्यक्षात्मक शासन के निरंकुश होने का भय होता है क्योंकि कार्यपालिका अपनी नीति व कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। कार्यपालिका को महाभियोग के बिना निश्चित अवधि के पूर्व नहीं हटाया जा सकता। महाभियोग को सिद्ध करना सरल नहीं होता।

(2) **शासन में गत्यावरोध उत्पन्न होना** – इस शासन पद्धति में कार्यपालिका और विधायिका में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होते। वे एक–दूसरे से स्वतन्त्र एवं पृथक रहती है। यदि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अलग–अलग दलों का अस्तित्व है तो प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो जाती है। इस संघर्ष से शासन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

(3) **कठोर शासन–प्रणाली** – यह शासन –प्रणाली अत्यधिक कठोर एवं अनमनीय है। इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों का कार्यकाल निश्चित रहता है। एक बार चुन लेने पर उन्हें पूरे कार्यकाल तक सहन करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में **बेजहॉट** ने लिखा है, " आप पहले से ही शासन को स्थिर कर लेते हैं और चाहे वह अनुकूल हो या न हो, चाहे वह ठीक प्रकार से काम करे या न करे, चाहे आम उसे चाहें या न चाहें, कानून के अनुसार आपको उसे कायम रखना होगा।"

(4) **उत्तरदायित्व की अनिश्चितता** – इस शासन –प्रणाली में शासन व व्यवस्थापन के लिए किसी को उत्तरदायी ठहराना बहुत मुश्किल होता है। शक्ति –पृथ्क्करण के कारण किसी एक शासकीय अंग में उत्तरदायित्व संकेन्द्रित नहीं होता और कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका एक दूसरे पर दोष मढ़ते हुए जिम्मेदारी टाल सकती हैं।

(5) **लोकमत के प्रतिकूल** – यह शासन प्रणाली लोकमत की सरलता से उपेक्षा कर सकती हैं। अध्यक्ष का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होता है और उससे पूर्व सामान्यत: उसे हटाया नहीं जा सकता। इस प्रकार लोकमत का शासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(6) **न्यायपालिका का अनुचित हस्तक्षेप** – इस शासन प्रणाली में न्यायपालिका शासन में लगातार हस्तक्षेप करती रहती है। कानूनों की व्याख्या का काम न्यायपालिका का होने के कारण संविधान वही होता है जो न्यायाधीश बतलाते हैं।

व्यवहार में अध्यक्षीय शासन (Presidential System in Practice)

अध्यक्षात्मक शासन के सैद्धान्तिक लक्षण हैं– **प्रथम,** कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायांग का एक दूसरे से पृथकत्व एवं हर एक का अनन्य अधिकार क्षेत्र होना। **द्वितीय,** मन्त्रिमण्डल का राष्ट्रपति के पूर्ण रूप से अधीन रहना। **तृतीय,** राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति – केन्द्र का अभाव रहना आदि।

इन सैद्धान्तिक लक्षणों का व्यवहार में कोई महत्व नहीं रह गया है। अमरीकी संविधान में व्यवहारत: पूर्ण शक्ति–पृथककरण नहीं पाया जाता और नियंत्रण एवं संतुलन के सिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार शासन का एक विभाग दूसरे पर इस प्रकार नियंत्रण रखता है कि शक्ति का एक शानदार संतुलन बन जाता है। उदाहरणार्थ, कॉंग्रेस पर राष्ट्रपति भी नियंत्रण रखता है और न्यायपालिका भी। राष्ट्रपति कॉंग्रेस द्वारा पारित कानून को "वीटो" कर सकता है और सर्वोच्च न्यायालय कांग्रेस तथा राष्ट्रपति के गलत कार्यों को असंवैधानिक घोषित कर रद्द कर सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रपति पर भी कॉंग्रेस का नियंत्रण है। वह उस पर महाभियोग लगा सकती है। व्यवहार में आजकल मन्त्रिमण्डल राष्ट्रपति का सेवक न रहकर सहयोगी बन गया है। इस प्रकार अध्यक्षात्मक व्यवस्था में उसी प्रकार राष्ट्रपति व्यवस्था की धुरी बनता जा रहा है जिस प्रकार संसदीय प्रणाली में संसद शक्ति केन्द्र के रूप में क्रियाशील है। किसी ने ठीक ही लिखा है कि " आज अमरीका की राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति का स्थान महत्वपूर्ण ही नहीं हो गया वरन् राष्ट्रपति का पद एक ऐसी धुरी बन गया है जिसके इर्द–गिर्द व्यवस्थापन व न्यायपालन शाखाएँ घूमने लगी हैं।"

निष्कर्षत: शक्तियों के पृथक्करण की बुराइयों को दूर करने के लिए अब कानूनी क्षेत्र में राष्ट्रपति के नेतृत्व का उदय हो गया है। राजनीतिक दल– प्रथा ने कॉंग्रेस तथा राष्ट्रपति की नीतियों में मेल–जोल उत्पन्न करने में अपना योग दिया है। प्रशासन के सम्बन्ध में उत्पन्न परंपराओं, जैसे "सीनेट के सद्भाव" द्वारा भी पृथक्करण के दोषों व कठिनाइयों को हल करने में मदद मिलती है।

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन–प्रणालियों में अन्तर
(Parliamentary and Presidential Systems : Distinctions)

"संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन–प्रणाली के विवेचन से यह प्रकट होता है कि दोनों प्रकार की शासन–प्रणालियों में अपनी–अपनी विशेषताएँ, गुण तथा दोष हैं। इस अन्तर के बावजूद आज चाहे शासन–प्रणाली संसदीय हो या अध्यक्षीय, सभी में कार्यपालिका प्रधान होती जा रही है। दोनों ही शासन प्रणाली में कार्यपालिका का महत्व और शक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। व्यवहार में तो अब संसदीय और अध्यक्षीय प्रणालियों का अन्तर सैद्धान्तिक महत्व का रह गया है। दोनों ही शासन–प्रणाली

NOTES

में कार्यपालिका सर्वेसर्वा हो गई है और विधायिका उसका अनुसरण करने वाली संस्था बन कर रह गई है।

संक्षेप में, संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में अन्तर निम्न प्रकार की स्पष्ट किया जा सकता है :

संसदात्मक शासन -प्रणाली	अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली
(1) इस प्रणाली में कार्यपालिका दो भागों विभक्त रहती है-औपचारिक तथा वास्तविक कार्यपालिका।	(1) इस प्रणाली में कार्यपालिका की शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित रहती है।
(2) इस प्रणाली में कार्यपालिका का समय अनिश्चित रहता है। अस्थिरता रहती है।	(2) इस प्रणाली में कार्यपालिका का समय निश्चित रहता है। स्थिरता रहती है।
(3) इस पद्धति में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।	(3) इस पद्धति में शासनांगों में शक्ति - पृथक्करण रहता है।
(4) इस पद्धति में मन्त्रियों की स्थिति अधिक महत्वपूर्ण रहती है।	(4) इस पद्धति में मन्त्रियों की स्थिति दुर्बल रहती है।
(5) इस प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका के निम्न सदन को भंग कर सकती है।	(5) इस प्रणाली में कार्यपालिका विधायिका को भंग नहीं कर सकती।
(6) संसदात्मक शासन में अधिक उत्तरदायित्व की भावना रहती है।	(6) अध्यक्षात्मक शासन में अपेक्षाकृत कम उत्तरदायित्व रहता है।
(7) शान्तिकाल के लिए संसदीय प्रणाली अधिक उपयुक्त है।	(7) संकटकाल के लिए अध्यक्षीय प्रणाली अधिक उपयुक्त है।
(8) संसदीय शासन प्रणाली का आधार शक्तियों का संयोग (Fusion of Powers) है।	(8) अध्यक्षात्मक प्रणाली का आधार शक्ति पृथक्करण (Separation of Powers) का सिद्धान्त हैं।
(9) संसदीय शासन में मन्त्रीगण विधायिका के प्रति उत्तरदायी रहते हैं।	(9) अध्यक्षीय शासन में मन्त्रीगण राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होतें हैं।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संसदात्मक और अध्यक्षात्मक सरकारों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. संसदात्मक और अध्यक्षात्मक सरकारों से आप क्या समझते हैं ? संसदात्मक सरकार के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।
3. संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का अन्तर स्पष्ट कीजिए। कौन सी व्यवस्था श्रेष्ठ है और क्यों ?
4. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएँ बतलाइये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संसदात्मक शासन से क्या अभिप्राय है ?
2. अध्यक्षात्मक शासन से क्या अभिप्राय है ?
3. अध्यक्षात्मक शासन की विशेषताएँ लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. शासन के संसदात्मक और अध्यक्षात्मक वर्गीकरण का आधार है :
   (अ) केन्द्र एवं राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध
   (ब) कार्यपालिका और विधायिका का पारस्परिक सम्बन्ध
   (स) कार्यपालिका और न्यायपालिका का पारस्परिक सम्बन्ध
   (द) इनमें से कोई नहीं
2. संसदात्मक प्रणाली को निम्नलिखित नाम से जाना जाता है :
   (अ) राष्ट्रपतीय प्रणाली (ब) राजतन्त्रात्मक प्रणाली
   (स) मन्त्रिमण्डल प्रणाली (द) एकात्मक प्रणाली
3. संसदात्मक प्रणाली को उत्तरदायी शासन भी कहते हैं क्योंकि यह :
   (अ) राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है (ब) राजा के प्रति उत्तरदायी है
   (स) मतदाता के प्रति उत्तरदायी है (द) न्यायपालिका के प्रति उत्तरदायी है
4. संसदात्मक शासन में शासन की समस्त शक्तियों का वास्तविक प्रयोग करता है :
   (अ) राष्ट्रपति (ब) राजा
   (स) प्रधानमंत्री (द) मुख्य न्यायाधीश
5. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का प्रमुख लक्षण है :
   (अ) द्विदलीय व्यवस्था (ब) शक्तियों का पृथक्करण
   (स) संसद की सर्वोच्चता (द) सामूहिक उत्तरदायित्व
6. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली जिसकी प्रमुख विशेषता शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त है :
   (अ) नेतृत्वविहीन शासन प्रणाली की नींव डालता है
   (ब) उत्तरदायी शासन प्रणाली की नींव डालता है
   (स) लचीली शासन प्रणाली की नींव डालता है
   (द) निरंकुश शासन प्रणाली की नींव डालता है

उत्तर **1.** (ब), **2.** (स), **3.** (स), **4.** (स), **5.** (ब), **6.** (अ)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

27

एकात्मक और संघात्मक शासन व्यवस्था

(UNITARY AND FEDERAL GOVERNMENT SYSTEM)

शासन की शक्तियों का प्रयोग मूल रूप से एक स्थान से किया जाता है या कई स्थानों से, इस आधार पर शासन- प्रणालियों के दो प्रकार हैं- एकात्मक शासन और संघात्मक शासन। जिस शासन-व्यवस्था में शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक केन्द्रीय सरकार में संकेन्द्रित होती है, उसे एकात्मक शासन कहते हैं। इसके विपरीत जिस शासन- प्रणाली में शासन की शक्तियाँ केन्द्र तथा राज्यों के बीच बंटी रहती हैं, उसे संघात्मक शासन कहते हैं। वस्तुत: एकात्मक और संघात्मक शासन में भेद का आधार है राज्य की शक्तियों का संकेन्द्रित या विभाजित होना।

एकात्मक शासन
(Unitary Government)

एकात्मक सरकार उसे कहते हैं जिसमें राज्य की सम्पूर्ण शासन शक्ति एक केन्द्रीय सरकार में निहित रहती है। समस्त देश के लिए एक कार्यपालिका, एक व्यवस्थापिका और एक न्यायपालिका होती है। केन्द्रीय सरकार समस्त देश की सरकार होती है और सभी विषयों में उसकी सत्ता सर्वोच्च रहती है। विभिन्न विद्वानों ने एकात्मक सरकार की अलग-अलग परिभाषाएं दी हैं, जो इस प्रकार हैं:

डायसी : " एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है।"

फाइनर : " एकात्मक राज्य वह है, जिसमें सब शक्तियाँ व अधिकार एक केन्द्र के पास होते हैं, जिसकी इच्छा व जिसके प्रतिनिधि वैधानिक रूप में सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्वशक्तिमान होते हैं।"

विलोबी : " एकात्मक राज्यों में शासन के सब अधिकार मौलिक रूप से एक केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहते हैं। यह सरकार, इच्छानुसार जैसे वह उचित समझती है, उन शक्तियों का वितरण क्षेत्रीय इकाइयों में करती है।"

गार्नर : " एकात्मक शासन वह शासन है जिसमें शासन की सर्वोच्च सत्ता संविधान द्वारा केन्द्र को प्रदान की जाती है और केन्द्र से ही स्थानीय संस्थाएं शक्ति या स्वायत्ता प्राप्त करती हैं- यहाँ तक कि अपना अस्तित्व भी केवल उसी से प्राप्त करती हैं- तब उस देश में एकात्मक सरकार कही जाती हैं।"

स्ट्राँग : " एकात्मक राज्य वह है जो केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत संगठित हो ;अर्थात् जिसमें केन्द्रीय शासन- क्षेत्र के जिलों को जो भी शक्तियाँ प्राप्त हों, वे केन्द्रीय सरकार के विवेक पर ही अवलम्बित हों और जिसमें केन्द्रीय शक्ति सम्पूर्ण क्षेत्र पर सर्वोपरि तथा विधित: अनियन्त्रित हो।"

एकात्मक शासन में शक्ति-विभाजन नहीं होता। शासन की सुविधा के लिए देश को कुछ भागों में बाँट दिया जाता हैं, परन्तु ये प्रशासनिक इकाइयाँ संघात्मक शासन के प्रान्तों के समान स्वतन्त्र या स्वायत्तता -सम्पन्न नहीं होतीं। ये केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित की जाती हैं और उसके पूर्णतया अधीन होती हैं। उनकी सत्ता संविधान-प्रदत्त अथवा मौलिक नहीं होतीं। उन्हें केवल वे ही शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं जो उन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा हस्तान्तरित की जाती हैं। केन्द्रीय सरकार स्वविवेक से उनकी शक्तियों को घटा - बढ़ा सकती हैं। एकात्मक शासन में संविधान द्वारा समस्त शक्ति केन्द्र को दी जाती है, परन्तु केन्द्रीय सरकार सुविधा की दृष्टि से कुछ शक्तियाँ घटक प्रान्तों को सौंप देती है।

एकात्मक शासन की विशेषताएँ
(Salient Features of the Unitary Government)

एकात्मक शासन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:

(1) एकात्मक राज्य में एक ही सरकार और एक ही राज्य होता है। सम्पूर्ण शासन–शक्ति एक केन्द्रीय सरकार में निहित रहती हैं।

(2) केन्द्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों के बीच शक्ति का वैधानिक विभाजन या वितरण नहीं होता।

(3) प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से एकात्मक राज्य इकाइयों में बंटे रहते हैं। इन इकाइयों को कहीं पर विभाग, तो अन्यत्र प्रान्त, जिला या कम्यून आदि कहते हैं। इन्हें कुछ सीमित स्वायत्त शासन प्राप्त रहता है।

(4) एकात्मक राज्य में स्थानीय अधिकारी केन्द्रीय शासन के अंग ही होते हैं। वे केन्द्रीय शासन के एजेन्ट के रूप में ही कार्य करते हैं।

(5) एकात्मक व्यवस्था में नागरिकों के लिए सत्ता व राज्य–भक्ति का एकमात्र स्त्रोत केन्द्रीय सरकार ही रहती है।

(6) एकात्मक राज्य में प्रादेशिक या स्थानीय सरकारों की कोई पृथक स्वतन्त्र व मौलिक सत्ता नहीं होती। प्रादेशिक व स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की प्रतिनिधि सरकारें रहती हैं।

एकात्मक शासन के गुण (Merits of the Unitary Government)

एकात्मक शासन के निम्नलिखित गुण हैं:

(1) **प्रशासनिक एकरूपता** – एकात्मक शासन का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण देश में प्रशासन की एकरूपता रहती है। समस्त देश की एक ही सरकार रहती है जो पूरे देश के लिए एक से कानून तथा नियम बनाती है। समान विधियों से शासित होने के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता की स्थापना होती है।

(2) **सरल एवं संघर्ष-रहित शासन-व्यवस्था** – एकात्मक शासन– प्रणाली अत्यन्त सरल होती है। शासन की शक्तियाँ अकेले केन्द्र के पास होती हैं, इसलिए न तो केन्द्र और प्रान्तों के मध्य झगड़े की स्थिति उत्पन्न होती है और न राजनीतिक शक्ति के प्रयोग में कोई जटिलता या अस्पष्टता दिखाई देती है। एकात्मक शासन संघर्ष– रहित ढंग से सुगमता के साथ चलता रहता है।

(3) **कुशल एवं दृढ़ शासन** – एकात्मक शासन में कुशल दृढ़ सरकार कार्य करती है। समस्त शक्ति तथा उत्तरदायित्व केन्द्र से संकेन्द्रित रहता है। केन्द्रीय सरकार दक्षता एवं दृढ़ता के साथ शासन चलाती हैं क्योंकि उसे इकाइयों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है।

(4) **कम खर्चीला शासन** – अन्य शासन–प्रणाली की तुलना में यह शासन–प्रणाली मितव्ययी है। एकात्मक शासन में समस्त देश के लिए एक ही कार्यपालिका, व्यवस्थापिका आदि होती है, इसलिए यह शासन कम खर्चीला होता है।

(5) **लचीला शासन** – एकात्मक शासन लचीला होता है। इसमें शासन की शक्तियाँ विभाजित न होने के कारण, शासन बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल सकता है। संविधान में सरलता से संशोधन किया जा सकता है। संकटकाल का सामना आसानी से किया जा सकता है।

(6) **युद्ध एवं संकटकाल में उपयोगी** – युद्ध एवं संकटकालीन स्थिति का सामना करने के लिए यह आवश्यक है कि शासन दृढता एवं साहस के साथ और शीघ्र निर्णय ले। ऐसा एकात्मक राज्य में ही सम्भव है क्योंकि उसमें सारी शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के हाथ में रहती हैं।

(7) **आर्थिक विकास की दृष्टि से उत्तम** – एकात्मक शासन में केन्द्रीय शासन द्वारा ही पूरे देश की अर्थनीति तय होती हैं। समस्त राज्य एक आर्थिक इकाई होता है। जिससे आर्थिक विकास के लिए प्रान्तों में तनाव उत्पन्न नहीं होता और सभी क्षेत्रों का समान विकास होता है।

(8) **सुदृढ़ विदेश-नीति** – एकात्मक राज्य में शासन-नीति का निर्देशन एक ही सुदृढ़ केन्द्रीय शासन द्वारा होने के कारण संघात्मक देशों की अपेक्षा विदेश- नीति अधिक सुदृढ़ एवं सुस्थिर होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र से एकात्मक शासन की स्थिति मजबूत होती है।

(9) **राष्ट्रीय एकता** – एकात्मक शासन राष्ट्रीय एकता की वृद्धि में अधिक उपयोगी रहता है। शासन की एकात्मकता के कारण राज्य के प्रत्येक भाग में एक से कानून, प्रशासन का एक सा ढंग तथा न्यायिक व्यवस्था की एकरूपता रहती है। नागरिकों की भक्ति भी विभक्त नहीं रहती जिससे राष्ट्रीय एकता के संवर्द्धन में सहायता मिलती है।

एकात्मक शासन के दोष (Demerits of the Unitary Government)

एकात्मक शासन के निम्नलिखित दोष हैं:-

(1) **विशाल आजादी वाले देशों के लिए अव्यवहारिक** – जो देश जनसंख्या तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से बहुत बड़े हैं, उनके शासन का सफलतापूर्वक संचालन एक केन्द्र सरकार द्वारा असम्भव है। बड़े और विशाल देशों के लिए तो संघ प्रणाली ही उपयुक्त है।

(2) **अत्याधिक केन्द्रीकरण दोषपूर्ण** – एकात्मक शासन प्रणाली में केन्द्रीकरण की मात्रा बहुत अधिक रहती है, जिसके कारण स्थानीय स्वशासन के विकास को अवसर कम मिलता है। लोकतन्त्र तथा केन्द्रीकरण परस्पर विरोधी धारणाएँ हैं। एकात्मक शासन में स्थानीय स्वशासन की इकाइयों को केन्द्रीय सरकार का मुंह ताकना पड़ता है जो अनुचित है।

(3) **केन्द्र की स्वेच्छाचारिता का भय** – एकात्मक शासन में समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के पास होती हैं जिससे लगातार यह भय बना रहता है कि कहीं केन्द्रीय सरकार स्वेच्छाचारी न बन जाये। शक्ति के केन्द्रीकरण से ही तो भूतकाल में निरंकुश शासकों का उदय हुआ है।

(4) **स्थानीय पहल का दमन** – एकात्मक शासन में स्थानीय पहल का दमन होता है। इसके अन्तर्गत स्थानीय स्वशासन पल्लवित नहीं हो सकता, क्योंकि सारे महत्वपूर्ण निर्णय केन्द्रीय सरकार द्वारा लिए जाते हैं और स्थानीय सरकारों का कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित रहता है। **गार्नर** के अनुसार" एकात्मक शासन में स्थानीय पहल (Inititative)" का दमन होता है, सार्वजनिक कार्यों में नागरिकों की रुचि बढ़ने के बजाय कम हो जाती है स्थानीय शासन की शक्ति ध्वस्त हो जाती है ओर केन्द्रीकृत नौकरशाही का विकास होता है।"

(5) **जनता की उदासीनता** – एकात्मक शासन में जनता को शासन सम्बन्धी विषयों में पहल करने का अवसर नहीं मिलता। जनता राजनीतिक मामलों में उदासीन हो जाती है। कानून वास्तविक जनमत को परिलक्षित नहीं कर पाते। इस प्रकार की उदासीनता लोकतन्त्र के लिए घातक सिद्ध होती है।

(6) **नौकरशाही को प्रोत्साहन** – एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार का कार्यभार बहुत बढ़ जाता है। फलत: केन्द्रीय सरकार सरकारी कर्मचारियों पर निर्भर हो जाती है। इससे नौकरशाही का आधिपत्य स्थापित होता है, नौकरशाह जनता की सेवा करने के बजाय उसके स्वामी बनने का प्रयत्न करते हैं। प्रशासन जनता के प्रति न तो उत्तरदायी होता है और न उत्तरापेक्षी। वस्तुत: नौकरशाही लोकशाही की भावना का विरोधी है।

(7) **प्रशासनिक दक्षता का अभाव** – एकात्मक शासन प्रशासनिक दक्षता की दृष्टि से उपयुक्त नहीं होता। समूचे शासन का संचालन एक ही स्थान से होने के कारण केन्द्रीय सरकार का कार्य बढ़ जाता है और एक ही स्थान पर बैठी हुई सरकार से यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह दूरस्थ निवास करने वाली जनता की समस्या को भंली भाँति समझ सकेगी और दक्षतापूर्वक उनका निदान कर सकेगी।

(8) **लोकतन्त्र विरोधी** – आलोचकों का यह भी तर्क है कि एकात्मक शासन कई रूपों में लोकतन्त्र विरोधी होता है। अत्यधिक केन्द्रीकरण होने से लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों का क्रियान्वयन असम्भव हो जाता है। एकात्मक शासन में जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है और नागरिकों की प्रतिभा का विकास नहीं होने पाता।

निष्कर्ष

एकात्मक शासन के गुण-दोषों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह उन देशों के लिए उपयुक्त है– (1) जहाँ जनसंख्या कम हो, (2) जिनका आकार छोटा हो तथा (3) जिनमें सभ्यता–संस्कृति की एकता पाई जाती हो। नेपाल, श्रीलंका, इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जापान जैसे छोटे देशों में एकात्मक शासन ही है। अमेरिका, भारत जैसे बड़े राज्यों में इसे सरलता पूर्वक क्रियान्वित नहीं किया जा सकता।

संघात्मक शासन
(Federal Government)

संघात्मक सरकार का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definitions of the Federal Government)

"संघ" शब्द अंग्रेजी शब्द फेडरेशन का अनुवाद है। "फेडरेशन" शब्द लैटिन भाषा के शब्द "फोडस" (Feodus) से लिया गया है। फोडस का अर्थ होता है सन्धि या समझौता। जब दो या दो से अधिक राज्य एक सन्धि अथवा समझौते के द्वारा मिलकर एक नये राज्य का निर्माण करते हैं तो वह राज्य "संघ" के नाम से जाना जाता है। अमेरिका, स्विटजरलैण्ड और आस्ट्रेलिया के संघों का विकास इसी प्रकार हुआ है।

संघात्मक शासन उस प्रणाली को कहते हैं। जिसमें राज्य-शक्ति संविधान द्वारा केन्द्र तथा संघ की घटक इकाइयों के बीच विभाजित रहती है। संघात्मक राज्य में दो प्रकार की सरकारें होती हैं – एक संघीय या केन्द्रीय सरकार और कुछ राज्यकीय या प्रान्तीय सरकारें। दोनों सरकारें सीधे संविधान से ही शक्तियाँ प्राप्त करती हैं। दोनों अपने – अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहती हैं। दोनों की सत्ता मौलिक रहती है। दोनों का अस्तित्व संविधान पर निर्भर रहता है। इस प्रकार संघात्मक राज्य में दोहरी शासन व्यवस्था होती है। भारत, कनाडा, अमेरिका, आदि देशों में संघात्मक शासन–व्यवस्था ही प्रचलित है। विभिन्न विद्वानों ने संघात्मक प्रणाली की परिभाषाएँ इस प्रकार की हैं :–

डायसी : " एक संघ राज्य राजनीतिक समझौते के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्य के अधिकारों में सामंजस्य स्थापित करना होता है।"

हैमिल्टन : "संघ राज्यों का एक ऐसा समुदाय होता है जो एक नवीन राज्य की सृष्टि करता है।"

स्ट्रांग : "संघात्मक राज्य वह है जिसमें कुछ समान स्तर वाले राज्य कुछ सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघटित होते हैं।"

फइनर : " संघात्मक राज्य वह है जिसमें सत्ता एवं शक्ति का एक भाग संघीय इकाइयों में निहित रहता है, जबकि दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था में जो क्षेत्रीय इकाइयों के समुदाय द्वारा जान–बूझकर स्थापित की जाती हैं।"

संघात्मक शासन की विशेषताएँ
(Salient Features of the Federal Government)

संघात्मक शासन की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:–

(1) शासन शक्तियों का संविधान द्वारा केन्द्र एवं इकाइयों के बीच बंटवारा किया जाता है।

(2) संघ शासन में दोहरी सरकार होती है– केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारें।

(3) संघ शासन में दोनों सरकारें अपने– अपने क्षेत्र में स्वायत्त होती है और एक – दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करतीं।

(4) संघ शासन में केन्द्र तथा इकाइयों के मध्य शक्तियों का बंटवारा लिखित संविधान द्वारा होता है।

संघात्मक शासन के आवश्यक तत्व

संघात्मक शासन के प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं :

(1) **लिखित एवं सर्वोच्च संविधान** – संघात्मक शासन का संविधान लिखित होता है और केन्द्र तथा इकाइयाँ दोनों संविधान की शर्तों को मानने के लिए बाध्य हैं। दोनों सरकारे संविधान का उल्लंघन या अतिक्रमण नहीं कर सकती हैं। संघ के अस्तित्व और सफल संचालन के लिए संविधान का लिखित, श्रेष्ठ और दुष्परिवर्तनशील होना जरूरी है।

(2) **शक्ति – विभाजन** – **मैकाइवर** के अनुसार उपराज्यों और विशाल राज्य में शासन शक्तियों का औपचारिक विभाजन संघ की प्रमुख विशेषता है। वस्तुत: यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि संघ शासन–प्रणाली का मुख्य आधार या सार केन्द्र तथा राज्यों में शक्तियों का विभाजन है।

केन्द्र तथा इकाइयों के मध्य शक्ति–विभाजन का आधार यह होता है कि राष्ट्रीय महत्व के विषय केन्द्रीय सरकार को सौंप दिए जाते हैं। इसके विपरीत, जो विषय स्थानीय हितों से सम्बन्धित होते हैं वे इकाइयों की सरकारों को सौंप दिए जाते हैं। सुरक्षा, विदेश – नीति, डाक–तार, रेल,मुद्रा आदि विषयों पर केन्द्रीय सरकार कानून बनाती है और कृषि, सिंचाई, शिक्षा, चिकित्सा, स्वायत्त शासन आदि विषयों पर इकाई राज्यों की सरकारें कानून बनाती हैं। अवशेष शक्तियाँ केन्द्र या इकाई की सरकार किसी को भी सौंपी जा सकती है।

(3) **सर्वोच्च न्यायपालिका** – संघीय व्यवस्था शक्ति – विभाजन पर आधारित होती है। इस शक्ति – विभाजन को बनाए रखने के लिए स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायालय जरूरी है। स्वतन्त्र और सशक्त न्यायपालिका संघात्मक व्यवस्था की प्रहरी है। इसके बिना केन्द्रीय सरकार इकाई सरकारों का अतिक्रमण कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता बनाये रखने के लिए इसकी स्थापना संघीय संविधान द्वारा की जाती है तथा यह अपनी शक्तियाँ भी संविधान से प्राप्त करता है।

कुछ विचारक संघात्मक व्यवस्था के तीन गौण लक्षण और मानते हैं। ये तीन लक्षण हैं–

(1) दोहरी नागरिकता,

(2) राज्यों का इकाइयों के रूप में केन्द्रीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन में प्रतिनिधित्व, और

(3) राज्यों को संघीय संविधान के संशोधन में पर्याप्त महत्व देना।

इन लक्षणों के समर्थकों की मान्यता है कि प्रभुत्व शक्ति के दुहरे प्रयोग की भाँति ही संघात्मक शासन में नागरिकता भी दुहरी होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति संघ का एवं संघ की उस इकाई का, जिसमें उसका निवास हो, का नागरिक होता है। राज्यों के हितों के संरक्षण के लिए केन्द्रीय उच्च सदन में समान प्रतिनिधित्व हो तथा बिना राज्यों की सहमति के संविधान में संशोधन नहीं किए जा सकें।

संघात्मक शासन के गुण (Merits of Federal Government)

संघात्मक शासन के कई गुण है, जो इस प्रकार हैं–

(1) **राष्ट्रीय एकता तथा क्षेत्रीय स्वतन्त्रता का समन्वय** – संघ शासन का सबसे बड़ा गुण यह है कि बहुत छोटे–छोटे राज्य मिलकर एक राष्ट्र को जन्म देते हैं और साथ ही अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी सुरक्षित रखते हैं। छोटे–छोटे दुर्बल राज्य एकता के सूत्र में बंध जाते हैं और सफल केन्द्रीय सरकार की स्थापना करते हैं जो उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा करती है। साथ ही, संघीभूत राज्यों की स्वायत्ता भी सुरक्षित रहती है।

(2) **केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का समन्वय** – संघवाद केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का भी समन्वय करता है। इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय महत्व के विषय केन्द्रीकृत कर दिए जाते हैं और स्थानीय विषय विकेन्द्रीकृत। अत: यह शासन –प्रणाली केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण दोनों के लाभों से युक्त रहती है।

(3) **प्रशासनिक कुशलता** – संघ शासन – प्रणाली में शासन की शक्तियाँ एक स्थान पर केन्द्रित न होकर, कई स्थानों पर विभाजित रहती हैं, इससे किसी एक केन्द्र पर शासन का कार्यभार अधिक नहीं पड़ता। प्रशासन कुशल हो जाता है तथा इसकी क्षमता बढ़ जाती है।

(4) **शासन निरंकुश नहीं होता** – संघात्मक शासन– व्यवस्था में शक्ति का विकेन्द्रीकरण निरंकुशता स्थापित होने की सम्भावना को कम करता हैं। केन्द्र तथा राज्यों में शासन की शक्तियाँ विभाजित रहती हैं, इसलिए शासन निरंकुश नहीं हो पाता।

(5) **विशाल देशों के लिए उपयुक्त** – यह शासन–प्रणाली विशाल आकार एवं क्षेत्रफल वाले देशों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं जहाँ विभिन्न संस्कृतियों, जातियों, धर्मों तथा भाषाओं के लोग रहते हैं। ऐसे देशों में स्थानीय विविधताओं के साथ–साथ राष्ट्रीय एकता स्थापित करनी होती है जो संघात्मक व्यवस्था में ही सम्भव है।

(6) **समय और धन की बचत** – शक्ति–विभाजन के कारण संघीय व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार का कार्यभार कुछ हल्का हो जाता है। परिणामस्वरूप काम के निपटारे में देर होने अथवा लालफीताशाही व नौकरशाही की प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है। शासन का संघात्मक रूप आर्थिक दृष्टि से भी लाभकारी है। यदि सभी छोटे–छोटे राज्य पृथक्–पृथक् सेनाएं रखें, दूसरे देशों में अपने राजदूत भेजें और वैदेशिक विभागों का गठन करें, तो निश्चित ही व्यय अधिक होगा।

(7) **एक विश्व–सरकार की नींव** – राज्यों की वर्तमान संघ व्यवस्था एक विश्व–राज्य की नींव के रूप में कार्य कर सकती है। यदि कभी एक विश्व–शासन बना तो इसकी नींव निश्चित रूप से संघ शासन–प्रणाली ही होगी।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा** – संघ राज्य अनेक राज्यों के मेल से बनता है। अत: वह काफी सुदृढ़ और शक्तिशाली रहता है। इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसका महत्व तथा प्रतिष्ठा बढ़ जाती है।

संघात्मक शासन के दोष (Demerits of the Federal Government)

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी संघात्मक शासन में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं–

(1) **कमजोर शासन** – एकात्मक शासन की तुलना में संघात्मक शासन कमजोर होता है। शक्ति –विभाजन और विकेन्द्रीकरण के कारण सुदृढ़ शासन की स्थापना नहीं हो सकती है। डॉ. आशीर्वादम् के अनुसार यह शक्ति – विभाजन आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में बाधाएँ उपस्थित करता है। केन्द्र व राज्यों की सरकारों में आपसी झगड़े और मतभेद बने रहते हैं। संघ में निर्णय करने की शीघ्रता, एकरूपता, दृढ़ता इत्यादि का अभाव रहता है।

(2) **केन्द्र और राज्यों में संघर्ष** – संघ शासन में संविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों में शक्ति–विभाजन होता है। इस शक्ति–विभाजन के कारण केन्द्र और राज्यों की सरकारों के बीच निरन्तर संघर्ष और विवाद होते रहते हैं। इससे राष्ट्रीय एकता पर बुरा असर पड़ता है।

(3) **संकट काल में अनुपयुक्त** – संघ शासन संकटकालीन स्थिति का सामना करने में अनुपयुक्त है। कई विषयों पर राज्यों से मन्त्रणा करनी पड़ती है और उनसे विचार-विमर्श किये बिना दृढ़ता से निर्णय नहीं लिए जा सकते।

(4) **अनमनीय शासन** – संघात्मक शासन का संविधान कठोर होता है। उसमें तब तक कोई संशोधन नहीं हो सकता जब तक राज्यों की स्वीकृति न ले ली जाये। परिणामस्वरूप कई बार संविधान में सरलता से संशोधन नहीं हो पाता और राज्य की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है।

(5) **एकता में कमी** – संघ शासन में केन्द्र तथा राज्य अपने –अपने अधिकार–क्षेत्र में आने वाले विषयों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से कानून और नियम बनाते हैं। दोनों स्तरों पर दो विरोधी राजनीतिक दलों का शासन हो सकता है। ऐसी स्थिति में संघात्मक देश में राष्ट्रीय एकता की सामंजस्यपूर्ण भावना की वह मात्रा नहीं आ सकती जो एकात्मक देश में साधारणतया पाई जाती है।

(6) **न्यायपालिका का अनावश्यक महत्व** – संघीय व्यवस्था में न्यायपालिका को अनावश्यक महत्व दिया जाता है। उसे कार्यपालिका तथा विधायिका द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसका कभी –कभी दुरुपयोग किया जाता है जिससे कार्यपालिका की स्थिति कमजोर हो जाती है।

(7) **अकुशल शासन** – संघ व्यवस्था में दोहरी शासन–प्रणाली के कारण शासन की दक्षता एवं कुशलता घटती है। शासन के निर्णय लेने में देरी होती है तथा उत्तरदायित्वहीनता की प्रवृति बढ़ती है।

संघ–निर्माण हेतु आवश्यक शर्तें (Pre-requisites of Federalism)

संघ राज्य के निर्माण, सतत अस्तित्व एवं सफलता की आवश्यक शर्तें निम्न प्रकार हैं–

(1) **संयोग की इच्छा** – संघ के निर्माण के लिए विभिन्न राजनीतिक इकाइयों में अपने सामान्य हितों के लिए एक सामान्य सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने हेतु संयोग की इच्छा होनी चाहिए। इन राज्यों के निवासियों में एकता की नहीं अपितु संयोग (Unity) की भावना होनी चाहिए। **स्ट्रांग के अनुसार,** " संघ को बनाने वाली इकाइयों में राष्ट्रीयता की भावना हो . संघ का निर्माण करने वाली इकाइयाँ संयोग (Union) चाहते हुए एकत्व (Unity) न चाहती हों क्योंकि यदि वे एकत्व चाहती होंगी तो वे संघ राज्य का निर्माण न करके एकात्मक राज्य बनाएँगी।"

(2) **भौगोलिक समीपता** – जो क्षेत्र मिलकर संघ बनाना चाहते हैं, उन्हें भौगोलिक दृष्टि से एक –दूसरे से लगा होना चाहिए। भौगोलिक निकटता ही सामान्य राजनीतिक एकता और राष्ट्रीयता की भावना को उत्पन्न करती है। यह तथ्य सर्व– विदित है कि पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान का संघ क्षेत्रीय दूरी के कारण ही टिक नहीं पाया।

(3) **राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक प्रथाओं में समानता** – संघ निर्माण के लिए घटक राज्यों की राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक प्रथाओं में समानताएँ होनी चाहिए। **के.सी.व्हीयर के शब्दों में,** "जिन लोगों में समान राजनीतिक संस्थाएं विद्यमान थी या जिनमें समान राजनीतिक संस्थाओं के बीज विद्यमान थे, उन्हीं में संघ–निर्माण की इच्छा पैदा हुई है।" समान संस्थाएं होने से लोगों में मिल–जुलकर काम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

(4) **सांस्कृतिक एकता** – संघ गठित करने वाले राज्यों में जाति, भाषा, धर्म एवं संस्कृति की न्यूनाधिक एकता अथवा समानता होनी चाहिए। इन तत्वों में जितनी अधिक समानता विद्यमान रहेगी, उतनी ही संघ के लोगों में राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न होगी।

(5) **पर्याप्त आर्थिक साधन** – संघात्मक सरकार बहुत खर्चीली सरकार होती है क्योंकि इसमें केन्द्र तथा राज्यों में अलग–अलग विधानमण्डल तथा मन्त्रिमण्डल होतें हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि संघ के आर्थिक साधन पर्याप्त हों, वरना यह अस्थायी रहेगा।

(6) **अवयवी राज्यों की समानता** – संघ के अवयवी राज्यों में विषमता बहुत बड़े रूप में नहीं होनी चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, जनसंख्या, क्षेत्रफल, आर्थिक स्थिति में अधिक से अधिक समता होनी चाहिए। के.सी.व्हीयर के अनुसार, "छोटे और बड़े एककों में सन्तुलन होना चाहिए ताकि छोटे एकक अपने अधिकार– क्षेत्र की मर्यादा की रक्षा कर सकें बड़े एकक छोटे एककों को परेशान न कर सकें।"

(7) **राजनीतिक चेतना** – संघ के नागरिकों की राजनीतिक चेतना उच्चस्तर की होनी चाहिए। उन्हें इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि संघ तथा राज्यों के प्रति उनके क्या अधिकार और कर्तव्य हैं। संघ शासन की सफलता जनसामान्य की विकसित राजनीतिक चेतना पर निर्भर करती है।

एकात्मक और संघात्मक शासन में भेद
(Distinction between Unitary and Federal Government)

एकात्मक और संघात्मक शासन व्यवस्था में निम्न प्रकार से अन्तर है:-

एकात्मक शासन	संघात्मक शासन
(1) एकात्मक सरकार में केन्द्र तथा राज्यों में संवैधानिक दृष्टि से शक्तियों का बंटवारा सरकार में संविधान-द्वारा केन्द्र तथा नहीं होता।	(1) संघात्मक राज्यों में शक्तियों का बंटवारा आवश्यक है।
(2) एकात्मक सरकार में सारी शक्तियों केन्द्र के पास होती हैं। घटक राज्य केवल केन्द्र के एजेण्ट के रूप में काम करते हैं और केन्द्र का दर्जा स्वामी की भांति होता है।	(2) संघात्मक सरकार में केन्द्र तथा इकाइयों का दर्जा बराबर रहता है। केन्द्र तथा राज्यों की अलग-अलग सत्ताएं होती हैं। राज्य सरकारें केन्द्र की एजेण्ट नहीं होतीं।
(3) एकात्मक सरकार में न्यायपालिका सर्वोच्च नहीं होती। उसमें केन्द्रीय सरकार इकाइयों के पारस्परिक झगड़ों का अपनी इच्छानुसार निर्णय करती है।	(3) संघात्मक सरकार में सर्वोच्च न्यायालय की विशिष्ट स्थिति होती है और यह केन्द्र-राज्य विवादों का समाधान करता है।
(4) एकात्मक शासन में इकहरी नागरिकता होती है।	(4) संघात्मक शासन में प्राय: दोहरी नागरिकता होती है।
(5) एकात्मक राज्य का संविधान विकसित एवं लचीला होता है।	(5) संघात्मक राज्य का संविधान कठोर होता है।
(6) एकात्मक राज्य में शासनतन्त्र इकहरा होता है।	(6) संघात्मक सरकार में शासनतन्त्र दोहरे हैं, जैसे केन्द्र और राज्यों में अलग-अलग कार्यपालिका और विधायिका।
(7) एकात्मक शासन में व्यवस्थापिका सर्वोच्च होती है।	(7) संघात्मक शासन में संविधान सर्वोच्च होता है।
(8) एकात्मक राज्य में एक ही प्रकार के कानून होते हैं।	(8) संघ शासन में दो प्रकार के कानून होते हैं, संघ सरकार के कानून और राज्य सरकार के कानून
(9) एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार के स्वेच्छाचारी होने का भय रहता है।	(9) संघात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार पूर्ण निरंकुश नहीं हो सकतीं।
(10) एकात्मक शासन छोटे देशों के लिए उपयुक्त होता है जहाँ भाषा, धर्म संस्कृति आदि की एकरूपता पाई जाती है।	(10) संघात्मक शासन, इसके विपरीत, बड़े देशों के लिए उपयुक्त होता है जहाँ विभिन्न विचारधारा, धर्म, संस्कृति एवं जाति वाले लोग रहते हैं।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. एकात्मक और संघात्मक सरकारों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. एकात्मक व संघात्मक शासन व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? एकात्मक शासन के गुण दोषों का वर्णन कीजिए।

NOTES

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. एकात्मक शासन से क्या अभिप्राय है ?
2. संघात्मक शासन से क्या अभिप्राय है ?
3. संघात्मक शासन के आवश्यक लक्षण लिखिए ?

बहु विकल्पीय प्रश्न

1. एकात्मक सरकार का दोष है:
   (अ) जनता की उदासीनता (ब) लचीला शासन
   (ब) प्रशासन एकरूपता (द) कुशल एवं सुदृढ़ शासन।
2. संघात्मक शासन का प्रमुख दोष है:
   (अ) कमजोर शासन (ब) केन्द्र और राज्यों में विवाद
   (स) अकुशल शासन (द) कठोर शासन।
3. संघ निर्माण हेतु आवश्यक शर्त नहीं है:
   (अ) संयोग की इच्छा (ब) राजनीतिक चेतना
   (स) भौगोलिक समीपता (द) राष्ट्रीय राजनीतिक दल।
4. संघ व्यवस्था का प्रतिमान नहीं है:
   (अ) सहकारी संघवाद (ब) एकात्मक संघवाद
   (स) विकेन्द्रित संघवाद (द) सौदेबाजी वाला संघवाद।
5. 'साधारणत: संघवाद जब सफल होता है, एकात्मक शासन की दिशा मे एक चरण होता है।'यह कथन किसका है:
   (अ) डायसी (ब) लास्की (स) के.सी.हीवयर (द) अब्राहम लिंकन।
6. निम्न में से कौन-सा कथन सही है ?
   (अ) संघीय संविधान के संशोधन की किसी भी प्रक्रिया में इकाइयों की सुस्पष्ट भागीदारी आवश्यक मानी जाती है
   (ब) एकात्मक संविधान के संशोधन की किसी भी प्रक्रिया में इकाइयों की सुस्पष्ट भागीदारी आवश्यक मानी जाती है
   (स) परिसंघात्मक शासन के संविधान में संशोधन की किसी भी प्रक्रिया में इकाइयों की सुस्पष्ट भागीदारी आवश्यक मानी जाती है
   (द) कोई भी कथन सही नहीं है।
7. दोहरी नागरिकता विद्यमान है:
   (अ) भारत एवं पूर्व सोवियत संघ में (ब) अमेरिका एवं फ्रांस में
   (स) अमेरिका एवं स्विटजरलैण्ड (द) स्विट्जरलैण्ड एवं इंगलैण्ड में।
8. राज्यो को संघ से पृथक् होने का अधिकार रखा गया :
   (अ) भारत में (ब) जापान में
   (स) अमेरिका में (द) पूर्व सोवियत संघ में।

उत्तर 1. (अ), 2. (ब), 3. (द), 4. (स), 5. (अ), 6. (अ), 7. (स), 8. (द)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

28

दल व्यवस्था

(PARTY SYSTEM)

लोकतन्त्र के पहियों के रूप में राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल बहुत बड़ी सीमा तक हमारे जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। 'राजनीतिक ' शब्द का उच्चारण करते समय उसमें राजनीतिक दलों की ध्वनि झंकृत होती है। लोकतन्त्र चाहे उसका कोई भी स्वरूप क्यों न हो, राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में अकल्पनीय है, इसीलिए उन्हें 'लोकतन्त्र का प्राण' (Life blood of democracy)कहा गया है। यदि राजनीतिक दलों को शासन का चतुर्थ अंग (Fourth organ of the Government)कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। **प्रो. मुनरो** के शब्दों में, " लोकतन्त्रात्मक शासन दलीय शासन का ही दूसरा नाम है। .. विश्व के इतिहास में कभी भी ऐसी स्वतन्त्र सरकार नहीं रही है जिसमें राजनीतिक दल का अस्तित्व न हो। " **ह्यूबर** के शब्दों में " प्रजातन्त्रात्मक यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य हैं। " आज की प्रतिनिधिमूलक सरकार का सार यही है कि सरकार और संसद दोनों पर दल का प्रतिबन्ध रहता है। विधानमण्डल और कार्यपालिका, सरकार और संसद केवल संवैधानिक आवरण हैं। यथार्थ शक्ति का उपयोग राजनीतिक दल ही करते हैं।

दल–प्रणाली के बिना लोकतन्त्रात्मक शासन – प्रणाली कार्य ही नहीं कर सकती। शासन का चाहे संसदीय रूप हो या अध्यक्षात्मक, दल – प्रणाली के अभाव में उसका क्रियान्वयन असम्भव है। किसी भी शासन में हजारों लोग राज्य की समस्याओं पर सोचते हैं, किन्तु जब तक उनके विचारों और दृष्टिकोणों को दलीय आवरण द्वारा व्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं किया जाता तब तक शासन निष्क्रिय ही बना रहेगा। वस्तुत: राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया को जोड़ने, सरल करने तथा स्थिर बनाने का कार्य करते हैं। **मैकाइवर** के अनुसार, " जिस राज्य में दल– प्रणाली नहीं होती उसमें क्रान्ति ही सरकार को बदलने का एकमात्र तरीका होती है।" दल–प्रणाली से क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती और संवैधानिक तरीके से शासन में परिवर्तन किया जा सकता है।

राजनीतिक दल असंख्य मतदाताओं की व्यवस्थित भीड़ के स्थान पर व्यवस्था की सृष्टि करते हैं, जनता का नेतृत्व करने के लिए नेता प्रदान करते हैं और राजनीतिक व्यवस्था को संचालन–शक्ति प्रदान करते हैं। **हरमन फाइनर** के शब्दों में, " दलों के बिना मतदाता ऐसी असंभव नीतियों का अनुसरण करने लगेंगे जो उन्हें शक्तिहीन बना देगी या विनाशकारी, और जिनसे राजनीतिक यंत्र ध्वस्त हो जायेगा।"[4]

राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन हैं। वे अमूर्त मतदाताओं को मूर्त रूप देते हैं। वे निर्वाचनों में अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं और अपने कार्यक्रमों तथा नीतियों का प्रचार कर मतदाताओं को प्रभावित करते हैं। निर्वाचन में विजयी दल सरकार का निर्माण करता है और पराजित दल विपक्ष के रूप में आलोचना करते हैं। अत: दल–प्रणाली से प्रतिनिधि शासन को चलायमान किया जाता है।

राजनीतिक दल नागरिकों को राजनैतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। किसी देश के नागरिकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की दृष्टि से भी राजनैतिक दल विशेष महत्व रखते हैं। **प्रो. लास्की** के शब्दों में, " राजनीतिक दल देश में अधिनायकवाद से हमारी रक्षा करने के सर्वश्रेष्ठ कवच हैं। "

मेरियट ने तो दलों को सरकार की 'पूरक संस्था' कहा है क्योंकि वे अधिकारियों का चुनाव, सार्वजनिक नीति का निर्धारण तथा सरकार का संचालन और उसकी आलोचना करने में सहायता प्रदान करते हैं।

मैकाइवर के शब्दों में, "राजनीतिक दलों के अभाव में न तो सिद्धान्तों की संगठित अभिव्यक्ति ही हो सकती है, न ही नीतियों का उचित विकास ही और न नियन्त्रित रूप से संसदीय चुनाव के वैधानिक उपायों अथवा मान्य संस्थाओं का सहारा लिया जा सकता है जिसके द्वारा राजनीतिज्ञ अपनी शक्ति बनाये रखना या उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।"

राजनीतिक दल : अर्थ एवं परिभाषा
(Political Parties : Meaning and Definitions)

राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो कुछ समस्याओं के रूप और उसके समाधान के सम्बन्ध में एकमत हैं और जिन्होंने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर वैध ढंग से काम करने का निश्चय कर लिया है। विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक दल की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं।

न्यूमैन के अनुसार : "राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज में नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते हैं जो शासनतन्त्र को नियंत्रित करना चाहता है और उनके लिए जनसहमति में भाग लेकर अपने कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करता है।"

एडमंड बर्क के शब्दों में : "राजनीतिक दल कुछ लोगों का एक समूह है जो कुछ सिद्धान्तों पर सहमत होकर अपने संयुक्त प्रयासों द्वारा जनहित को आगे बढ़ाने के लिए संगठित रहता है।"

लीकाक के मतानुसार: "राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे नागरिकों के समुदाय से है जो एक राजनैतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके विचार एक -जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन की शक्ति हथियाना चाहते हैं।"

मैकाइवर के अनुसार : "राजनीतिक दल वह समुदाय है जो किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए संगठित किया गया हो और जो संवैधानिक उपायों से उस सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।"

गेटेल के शब्दों में : " राजनीतिक दल पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से संगठित उन नागरिकों का एक समूह होता है जो एक राजनैतिक संस्था की भाँति कार्य करते हैं और जिनके ध्येय अपने मताधिकार के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियंत्रण रखना व अपनी सामान्य नीति का सम्पादन करना है। "

गिलक्राइस्ट के शब्दों में : "राजनीतिक दल नागरिकों के उस संगठित समुदाय को कहते हैं जिसके सदस्य समान राजनीतिक विचार रखते हैं, और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए शासन को अपने हाथ में रखने की चेष्टा करते हैं।"

इस प्रकार राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का निकाय होता है जो सार्वजनिक प्रश्नों पर यदि पूर्णत: नहीं तो कम से कम सामान्य दृष्टिकोणों में समता रखते हों तथा सामूहिक प्रयासों द्वारा शासन को हस्तगत करके अपने उद्देश्यों के क्रियान्वयन पर विश्वास करते हों। दूसरे शब्दों में व्यक्तियों के किसी भी समूह को, जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है, दल कहते हैं। यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक हो तो उसे राजनीतिक दल कहा जाता है।

राजनीतिक दलों की विशेषताएँ अथवा तत्व
(Main Features or Essentials of Political Parties)

उपयुर्क्त परिभाषाओं के विवेचन से राजनीतिक दलों के निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं- (1) लम्बी अवधि के लिए संगठन ; (2) कतिपय सिद्धान्तों अथवा नीतियों के बारे में सहमति; (3) अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक साधनों का प्रयोग और (4) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अपनी नीतियों को कार्यरूप देने की लालसा। संक्षेप में ; किसी भी राजनीतिक दल के निर्माण के लिए निम्न तत्वों का होना आवयक है :

(1) **संगठन** – दल को मजबूत एवं स्थायी बनाने के लिए उसमें संगठन का होना अत्यन्त आवश्यक है। संगठन से तात्पर्य है कि दल के कुछ अपने लिखित एवं अलिखित नियम, उपनियम, कार्यालय, पदाधिकारी होने चाहिए। ये दल के सदस्यों को अनुशासित रखते हैं। संगठन के अभाव में दलीय अनुयायी एक बिखरी हुई भीड़ मात्र ही होंगे और वे अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पाएँगे। वस्तुत: संगठन ही राजनीतिक दल की शक्ति का रहस्य है।

(2) **मूलभूत सिद्धान्तों की एकता** – दल व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसके सदस्य सार्वजनिक प्रश्नों पर एक से विचार रखते हैं। इन प्रश्नों की बारीकियों पर उनमें मतभेद हो सकता है, लेकिन वे सब मौलिक सिद्धान्तों पर एकमत होते हैं। सिद्धान्तों की एकता ही दल को ठोस आधार प्रदान करती है। सैद्धान्तिक एकता के अभाव में दल की जड़ें हिल जाएंगी और उसका विघटन हो जाएगा।

(3) **संवैधानिक उपायों का प्रयोग** – राजनीतिक दलों को अपने लक्ष्य (सत्ता प्राप्ति) की प्राप्ति के लिए सदा संवैधानिक उपायों का सहारा लेना चाहिए। जो असंवैधानिक उपायों का अनुसरण करते हैं अथवा हिंसात्मक साधनों को अपनाते हैं, उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

(4) **राष्ट्रीय हित की वृद्धि** – राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय हे जो उच्च आदर्शों से अनुप्राणित होता है और जिसके कार्यक्रमों और नीतियों का देशव्यापी आधार होता है, क्षेत्रीय अथवा साम्प्रदायिक नहीं। उसे किसी विशेष जाति, धर्म, सम्प्रदाय या वर्ग के हित की अपेक्षा राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि हेतु चेष्टा करनी चाहिए। यदि कोई संगठन वर्ग, जाति या सम्प्रदाय विशेष का हित साधन करते हैं तो यथार्थ में उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

राजनीतिक दलों के आधार (Basis for the Formation of Political Parties)

राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के निम्नलिखित आधार हैं :

(1) **मनोवैज्ञानिक** – कई बार दलों के निर्माण का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है। कुछ व्यक्ति प्राचीन से चिपके रहना चाहते हैं और किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन को पसन्द नहीं करते, जबकि दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें अतीत से कोई लगाव नहीं होता और वे नित नूतन परिवर्तन करके प्रगति को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। इस आधार पर समान विचार वाले व्यक्ति राजनीतिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से विभिन्न दलों में संगठित हो जाते हैं। इस भाँति प्राय: चार प्रकार के व्यक्ति देखने में आते हैं– (1) **प्रथम,** वे जो प्राचीन संस्थाओं एवं रीति–रिवाजों में वापस लौटना चाहते हैं, प्रतिक्रियावादी कहलाएंगे, (2) **द्वितीय** वे जो वर्तमान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते, अनुदारवादी कहलाएंगे,(3) **तृतीय** वे जो वर्तमान परिस्थितियों में सुधार करना चाहते हैं, उदारवादी कहलाएँगे। (4) **चतुर्थ,** वे व्यक्ति जो वर्तमान संस्थाओं का उन्मूलन करना चाहते हैं, उग्रवादी कहलाएंगे। इस प्रकार जैसे–जैसे लोगों का स्वभाव होगा वैसे–वैसे प्रतिक्रियावादी, अनुदारवादी, उदारवादी, तथा उग्रवादी दल बन जाएँगे।

(2) **परिवेश का प्रभाव** – दलों के निर्माण में परिवेश का योग भी कम महत्व का नहीं है। जिस परिवेश में बालक रहता है उसका प्रभाव व्यापक रूप से उसके मानस पर पड़ता है। साम्यवादी परिवेश में पला बालक आगे चलकर उस दल का अनुयायी बन जाता है। इंग्लैण्ड में तो आज भी कुछ ऐसे परिवार हैं जिनके सदस्य अनुदारवादी दल के कार्यक्रमों में परम्परागत रूप से विश्वास करते हैं।

(3) **धार्मिक आधार** – बहुत से लोग धार्मिक आधार पर राजनीतिक दल बना लेते हैं। उनका लक्ष्य अपने धर्म के अनुयायियों की रक्षा करना होता है। योरोपीय देशों में कैथोलिक दल इसी आधार पर बने। भारत में मुस्लिम लीग, अकाली दल, हिन्दू महासभा के निर्माण का भी यही आधार था।

(4) **आर्थिक कारण** – दलों के निर्माण का आर्थिक आधार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आर्थिक कार्यक्रम के अभाव में कोई भी दल अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। राजनैतिक दलों को राष्ट्रीय महत्व तभी प्राप्त हो सकता है जब उनके पास आर्थिक कार्यक्रम हो। शिक्षित जनता पर तो आर्थिक

नीतियों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक सामान्य आर्थिक कार्यक्रम द्वारा ही राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गों में सामंजस्य उत्पन्न करने की चेष्टा करता है।

(5) **नेतृत्व** – प्राय: राजनीतिक दल अपने उच्चतम नेता के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया होता है। वह जिन आदर्शों को आगे बढ़ाना चाहता है, उसके अनुयायी बिना सोचे–समझे उसी साँचे में ढलते जाते हैं क्योंकि दल में प्रत्येक व्यक्ति न तो विचारशील होता है और न उसमें तार्किक बुद्धि होती है। वह अपने नेता के चारों ओर घूमने वाला नक्षत्र मात्र होता है।

(6) **विचारधारा** – **राउसैक** के शब्दों में, "एक राजनैतिक आन्दोलन को जीवित रखने के लिए विचारधारा का होना अति आवश्यक है। विचारधारा की अनुपस्थिति में आन्दोलन अन्धकार तथा अनिश्चितता में ही छलाँग लगाता रहेगा ..।" सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विचारधारा में आम सहमति दल के सदस्यों को आपस में जोड़ती है।

लार्ड ब्राइस का कथन है कि प्रत्येक जनसमुदाय में विभिन्न विचारों के लोग पाये जाते हैं। इनमें से कुछ विचार परस्पर विरोधी होते हैं। इन विचारों का प्रतिपादन करने वाले व्यक्तियों में से कुछ नेता बन जाते है और अन्य नागरिक उनका अनुमोदन और समर्थन करने लगते हैं। आगे चलकर इन्हीं लोगों से संगठित राजनीतिक दल बन जाते हैं। इन दलों का मनोवैज्ञानिक आधार मनुष्य की चार प्रवृत्तियाँ हैं – सहानुभूति, अनुकरण, प्रतिरोध और प्रतिस्पर्धा। इन्हीं कारणों से व्यक्ति – समूह सामान्य नीतियों और सिद्धान्तों के आधार पर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पृथक संगठन बना लेते हैं।

राजनीतिक दलों के कार्य (Functions of Political Parties)

लोकतन्त्रीय शासन के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। राजनीतिक दल जो कार्य करते हैं वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मेरियम के अनुसार इनके पाँच प्रमुख कार्य हैं – (1) पदाधिकारियों का चुनाव करना (2) नीति–निर्धारण (3) शासन का संचालन तथा उसकी रचनात्मक आलोचना (4) राजनीतिक प्रचार और शिक्षण (5) व्यक्ति और शासन के मध्य मधुर सम्बन्धों की स्थापना करना। राजनीतिक दल मुख्य रूप से निम्नलिखित कार्य करते हैं :

(1) **सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण** – राजनीतिक दल जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी नीतियों और योजनाओं का जोरदार प्रचार करते हैं। वे राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं से जनता को परिचित कराते हैं। इसीलिए राजनीतिक दलों को 'विचारों का दलाल' कहा जाता है। **प्रो. लास्की** के शब्दों में, " आधुनिक राज्यों के भ्रान्तिपूर्ण वातावरण में समस्याओं का चयन करके यह आवश्यक है कि वरीयता के आधार पर कुछ को अत्यन्त शीघ्र निपटाने के लिए छाँटना चाहिए और उनके निदान जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने चाहिए। चयन का यह कार्य दलों के द्वारा ही होता है।"

(2) **शासन का संचालन** – राजनैतिक दल चुनावों में बहुमत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं। अपने दल में से ही मन्त्री नियुक्त करते हैं तथा विभिन्न विधियों से अपने चुनाव घोषणा – पत्र के वायदों को पूरा करने का प्रयास करते हैं।

(3) **शासन की आलोचना** – यदि निर्वाचन में किसी दल को बहुमत प्राप्त न हो तो वह प्रतिपक्ष के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। प्रतिपक्ष के रूप में उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह शासन को सचेत रखे। वह सरकार की रचनात्मक आलोचना करके वैकल्पिक नीतियाँ प्रस्तुत करता है। विपक्षी दल शासन की कमजोरियों को जनता के सामने रखकर उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करते हैं।

(4) **चुनावों का संचालन** – राजनैतिक दलों से ही चुनावों की सार्थकता प्रकट होती है। वे चुनाव के समय अपने चुनाव घोषणा– पत्र तैयार करते हैं, उनका प्रचार करते हैं, प्रत्याशियों को खड़ा करने तथा हर तरीके से चुनाव जीतने का प्रयत्न करते हैं। **हरमन फाइनर** के शब्दों में "राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचन या तो नितान्त असहाय हो जायेगा या उनके द्वारा असम्भव नीतियों को ही अपनाकर राजनीतिक यन्त्र को ही नष्ट कर दिया जायेगा।'

(5) **लोकमत का निर्माण** – यदि शासित व्यक्तियों की सहमति में सत्ता को प्राधिकार अर्जित करना है और यदि शासन की नीतियों पर लोकमत प्राप्त करना है तो राजनीतिक दल अपरिहार्य है। इनकी अनुपस्थिति में जनसमुदाय एक दिशाहीन भीड़ के अतिरिक्त और कुछ न होगा। **लार्ड ब्राइस** के शब्दों, "लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"

(6) **शासन तथा जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य** – राजनीतिक दल जनता और सरकार के बीच मध्यस्थता करते हैं। वे जनता की समस्याओं और आकांक्षाओं को सरकार के सामने रखते हैं और सरकार की स्थिति से जनता को अवगत कराते हैं। **बार्कर** के अनुसार, " राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं जिनका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्य को। यह एक ऐसा पाईप है जिससे विचारधारा बहती है तो राज्य के यन्त्र को तरल बनाकर उसके पहियों को घुमाती रहती हैं।

(7) **राजनीतिक प्रशिक्षण** – राजनीतिक दलों के प्रचार से नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है। उन्हें समस्याओं के विभिन्न पहलुओं का पता लगता है। इस प्रकार से नागरिकों में राजनैतिक चेतना जाग्रत होती है।

(8) **सामाजिक और सांस्कृतिक कार्य** – अधिकांश राजनीतिक दल जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को उत्पन्न करने का भी कार्य करते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन के युग में कांग्रेस ने हरिजन कल्याण तथा स्त्री – उद्धार सम्बन्धी बहुत से कार्य किये थे।

(9) **दलीय कार्य** – प्रत्येक राजनीतिक दल कतिपय दल सम्बन्धी कार्य करता है– मतदाताओं को दल का सदस्य बनाता है, सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करता है, दल के लिए चन्दा इकट्ठा करता है आदि।

दल –पद्धति के लाभ या गुण (Advantages or Merits of Political Parties)

दल पद्धति के जितने प्रशंसक हैं उतने ही आलोचक भी। कतिपय विद्वानों ने राजनीतिक दलों को लोकतन्त्र की रीढ़ माना है, तो कुछ लोगों ने दल–पद्धति का कड़ा विरोध किया है। अत: दल प्रणाली के गुण–दोषों का विवेचन अत्यावश्यक है। दल–प्रणाली के लाभ इस प्रकार हैं :–

(1) **राजनैतिक जागरण** – राजनैतिक दल समय–समय पर जनता की राजनैतिक निद्रा को तोड़ते हैं और उसे जाने व अनजाने राजनीति में भाग लेने के लिए विवश करते हैं। निर्वाचनों के समय वे राजनीति के बहुत से गुप्त और अस्पष्ट पहलुओं पर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं और जन– साधारण भी उन विषयों से परिचित हो जाता है। जनता की उदासीनता लोकतन्त्र के लिए सबसे बड़ा खतरा है और इस दृष्टि से उदासीनता के वातावरण को दूर करने वाले राजनीतिक दल राजनैतिक जागरण के मुख्य साधन कहे जाते हैं।

(2) **लोकमत का निर्माण** – राजनीतिक समस्याओं का पूरा–पूरा विवरण जनता के सामने रखकर राजनीतिक दल लोकमत का निर्माण करते हैं। जनता के विचार अमूर्त होते हैं। समय–समय पर अधिवेशनों तथा भाषणों द्वारा राजनीतिक दल उन्हें मूर्त रूप प्रदान करते हैं। वस्तुत: राजनीतिक दलों के कारण नागरिकों में राजनीतिक चेतना फैलती है और उन्हें राजनीतिक शिक्षा मिलती है।

(3) **निर्वाचन को सरल बनाना** – लोकतन्त्रीय व्यवस्था में स्थानीय निकायों से लेकर केन्द्रीय निकायों तक निरन्तर कहीं न कहीं निर्वाचन होते रहते हैं और निर्वाचनों को नियन्त्रित एवं प्रभावित करने का दुरूह दायित्व राजनीतिक दलों का ही है। राजनीतिक दलों की वजह से मतदाताओं को वोट देने में बड़ी सुविधा और सरलता होती है। इसके अतिरिक्त वे निर्वाचन सम्बन्धी ऐसे अनेक कार्य करते हैं जो दलों के अभाव में सरकार को करने पड़ते, जैसे सामान्य नागरिकों को मतदान– पद्धति समझाना, मतदाता –सूचियों की जाँच करना इत्यादि।

(4) **शासन को क्रान्ति से बचाना** – नागरिकों को वाद–विवाद एवं विचार–विमर्श का प्रचुर अवसर प्रदान करके क्रान्ति एवं निरंकुशता के अंकुरों को आरम्भ में ही नष्ट कर देते हैं।

(5) **शासन का संचालन तथा उसकी आलोचना** – राजनीतिक दल प्रतिनिधि लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त करके विधानमण्डल में बहुमत प्रदान करके शासन में स्थायित्व लाते हैं। सरकारी नीतियों का स्वस्थ एवं रचनात्मक विरोध करके वे प्रतिनिधि शासन को परिमार्जित करते हैं।

(6) **शासन की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध** – राजनीतिक दलों के अस्तित्व के कारण विधायिका में सुसंगठित विरोधी दल भी रहता है। विरोधी दल सरकार की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता है। विरोधी दल सरकार की गलतियों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। कई बार विरोधी दल सरकार के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन छेड़ देते हैं और उसे लोकमत के आगे झुकने के लिए बाध्य करते हैं। वस्तुत: विरोधी पक्ष को आलोचना करने की स्वतन्त्रता देना इस बात की गारण्टी है कि सरकार निरंकुश नहीं होगी।

(7) **शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करना** – राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करते हैं। अध्यक्षात्मक शासन–प्रणाली में, जहाँ शक्ति–विभाजन सिद्धान्त व्यवहार में पाया जाता है, राजनीतिक दल विशेष रूप से कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका को एक सूत्र में बाँधने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। यदि दोनों के मध्य टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है तो दल ही दोनों में तालमेल स्थापित करते हैं। संसदीय प्रणाली में भी दल व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के बीच कड़ी का काम करते हैं, वे उन्हें एक–दूसरे से जोड़ते हैं।

(8) **सामाजिक व राजनैतिक सुधार** – अनेक राजनैतिक दल ऐसे लोकहितकारी एवं रचनात्मक कार्य भी करते हैं जिनका राजनीति से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। कई राजनैतिक दल समाज–सुधार के बड़े–बड़े कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में कांग्रेस दल ने हरिजन उद्धार, स्त्री–शिक्षा, मद्य –निषेध आदि कार्यक्रमों को सफल बनाने में सक्रिय योगदान दिया है।

(9) **राजनैतिक समस्याओं पर शोध** – अनेक राजनीतिक दलों के अपने शोध विभाग होते हैं जिसमें महत्वपूर्ण समस्याओं पर अनुसन्धान होता रहता है। कतिपय राजनैतिक दल विशेष समस्याओं के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ समितियाँ भी नियुक्त करते हैं। इन समितियों के परामर्श से दल को अपने नीति–निर्धारण में सुविधा होती है।

मैकाइवर के शब्दों में, " राजनीतिक दलों के बिना न तो सिद्धान्तों की एकीकृत अभिव्यक्ति हो सकती हैं, न नीति का क्रमबद्ध विकास और न संसदीय निर्वाचनों की संवैधानिक प्रणाली का नियमित उपभोग; और इस प्रकार उन समस्त संस्थाओं का अन्त हो जाता है जिनके माध्यम से राजनीतिक दल शक्ति ग्रहण करने अथवा उसे बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।" **लार्ड ब्राइस** के शब्दों में, "राजनैतिक दल राष्ट्र के मस्तिष्क को उसी प्रकार क्रियाशील रखते हैं जिस प्रकार लहरों की हलचल से समुद्र की खाड़ी का जल स्वच्छ रहता है।" **एलेन बाल** के शब्दों में, " राजनीतिक दलों के बिना आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की कल्पना करना कठिन है। उदारवादी प्रजातंत्रीय संस्थाओं में राजनीतिक दल निश्चित रूप से निहित होते हैं, और सर्वाधिकारी शासनों में दलों पर निर्भरता सबसे ज्यादा होती है। जिन राज्यों में दल नहीं होते, या यहाँ तक कि एकमात्र दल भी नहीं होता, वे अनिवार्य रूप से अनुदारवादी होते हैं और कहा जा सकता है कि वे राजनीतिक दृष्टि से अधिक अस्थिर होते हैं।"

दल–पद्धति के दोष (Demerits of Party System)

राजनीतिक दलों के लाभों की विवेचना से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि हम राजनीतिक दलों द्वारा राजनीति को कलुषित बनाने वाले कार्यों से बेखबर हैं। वस्तुत: जहाँ राजनैतिक दलों की उपयोगिता है, वहाँ उनके दोष भी हैं:

(1) **जनता में द्वेष एवं कटुता पैदा करना** – राजनैतिक दलों के कारण जनता में द्वेष एवं कटुता की भावना उत्पन्न होती है। वे जन–जीवन में बेइमानी, असत्य, भ्रष्टाचार, अवसरवादिता एवं अन्य बुराइयाँ फैलाते हैं। निर्वाचनों के समय वे नैतिक मूल्यों को पूर्णतया भुलाकर मिथ्या प्रचार करते हैं तथा जनता को गुमराह करते हैं। राजनीतिक दल सार्वजनिक प्रश्नों पर एकाकी विचार प्रस्तुत करते हैं तथा अन्य दलों के नेताओं पर कीचड़ उछालते हैं। **लार्ड ब्राइस** के शब्दों में, "दल सामान्य देशभक्ति की जगह क्रोध और कड़वाहट को स्थान देता है।"

(2) **देश की एकता पर आघात** – दल देश की जनता को दो या अधिक भागों में विभाजित करके राष्ट्रीय एकता को ठेस पहुंचाते हैं। राजनैतिक दल चाहे कितने ही राष्ट्रीय आधार पर बनाये गये हों, कई बार उनके कार्यक्रम राष्ट्रविरोधी अथवा गुटबन्दी की संकीर्णताओं में उलझाने वाले होते हैं। **ब्राइस** के अनुसार, "दल केवल व्यवस्थापिक सभा को ही नहीं बल्कि राष्ट्र को भी दो परस्पर विरोधी पक्षों में बाँट देता है और विदेशी राज्यों के सामने देश का विभाजित रूप प्रस्तुत करता है।"

(3) **सर्वोत्तम व्यक्तियों की उपेक्षा** – दलीय शासन–प्रणाली के अन्तर्गत केवल बहुमत– प्राप्त दल के प्रभावशाली लोग ही मंत्री आदि उच्च पदों पर आसीन किये जाते हैं। बहुत से अच्छे नेता, जो विपक्ष में आ जाते हैं, उनकी सेवाएं शासन को रचनात्मक रूप से नहीं मिल पातीं। अनेक बार श्रेष्ठ नेता दलीय दलदल में फंसना नहीं चाहते और साधारण तथा सस्ते नेता नेतृत्व संभालने का अवसर पा जाते हैं। इस प्रकार दलबन्दी के फलस्वरूप किसी भी देश को वहाँ के योग्य एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रहना पड़ता है।

(4) **विरोध के लिए विरोध** – दल पद्धति का एक स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि विरोधी पक्ष उचित–अनुचित पर ध्यान दिए बिना सरकार के कार्य का विरोध करता है। विरोधी पक्ष शासन के उन कार्यों की भी आलोचना करते हैं जो लोकहित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। **ब्राइस** के शब्दों में, "संसद एक राजनीतिक अखाड़ा बन जाती है, जहाँ वाद–विवाद और आपसी झगड़ों में जनहित भुला दिया जाता है।"

(5) **अधिनायकत्व को प्रोत्साहन** – दल–पद्धति के परिणामस्वरूप बहुमत दल की सरकार बनती है। बहुमत दल उसे जनता की सरकार बताता है। इससे अल्पमत की उपेक्षा होती है। संसदीय शासन–प्रणाली में तो बहुमत की सरकार के नाम पर मन्त्रिमण्डल अथवा प्रधान मन्त्री की तानाशाही ही स्थापित हो जाती है। जेनिंग्ज के शब्दों में, "जिस शासन की पीठ पर प्रबल बहुमत का हाथ है वह कुछ समय के लिए अधिनायकवाद स्थापित कर लेता है।"

(6) **दल – प्रथा भ्रष्टाचार को जन्म देती है** – दलबन्दी से समाज में भ्रष्टाचार फैलता है। निर्वाचन में येन–केन –प्रकारेण अपने उम्मीदवारों को विजयी बनाने के लिए दल हर प्रकार के भ्रष्ट तरीकों का सहारा लेते हैं। चुनाव के दिनों में दल मतदाताओं में खूब पैसा बाँटते हैं। जब इतना पैसा खर्च करके कोई दलीय प्रत्याशी विजयी होता है तो वह अप्रत्यक्ष रूप से अनेक तरीकों से दल को लाभ पहुंचाता है। अमरीकी राजनीति लूट प्रथा (Spoils System)व दलीय भ्रष्टाचार का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(7) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन** – दल व्यवस्था में पाया जाने वाला अनुशासन व्यक्ति की आत्मा तथा अन्त: करण की स्वतंत्रता को सीमित करता है। दल के सदस्यों को कई बार अपनी स्वतन्त्र इच्छा को दबाना पड़ता है तथा उन्हें दलीय सचेतकों (Party Whips) के आदेशों का पालन करना पड़ता है। वस्तुत: आजकल दल सम्बन्धी समस्त निर्णय उच्च स्तरीय नेताओं द्वारा लिए जाते हैं और सामान्यत: सदस्यों की कोई आवाज नहीं होती। **लीकॉक** के शब्दों में, "दल–प्रणाली उसी व्यक्तिगत विचार और कार्य सम्बन्धी स्वतंत्रता का दमन करती है जिसे लोकतन्त्रात्मक सरकार का आधारभूत सिद्धान्त समझा जाता है।"[15]

(8) **दल–पद्धति गुटबन्दी पैदा करती है**– वाशिंगटन के शब्दों में, " यह जाति को दूषित ईर्ष्याओं से, झूठे भयों से, एक दल की दूसरे दल के विरुद्ध शत्रुता उत्तेजित करती हैं और कभी –कभी यह उपद्रवों और राजद्रोहों के जाल रचती है।" दलबन्दी से गुटबन्दी की खतरनाक भावना मजबूत होती है। देशभक्ति का विचार पीछे पड़ जाता है और दलबन्दी की भावना उग्र हो उठती है।

सफल दलीय व्यवस्था की शर्तें (Conditions of Successful Party System)

दलीय व्यवस्था में अनेक दोष हैं परन्तु फिर भी आधुनिक काल में लोकतन्त्र के संचालन के लिए दलीय व्यवस्था अनिवार्य बन गई है। आज तक किसी भी विद्वान ने यह नहीं दिखाया है कि दलीय व्यवस्था के बिना शासन का संचालन कैसे हो सकता है? यह तथ्य सर्वविदित है कि यदि राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया गया तो अनेक गम्भीर समस्याएं उठ खड़ी होंगी। अत: दल पद्धति को समाप्त

NOTES

करने के बजाय उसके दोषों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। दल–व्यवस्था के दोषों को दूर या कम करने के लिए निम्नांकित सुझाव दिये जा सकते हैं।

(1) **शिक्षा का प्रसार**– यह बात सर्वविदित है कि शिक्षित जनता राजनीतिक समस्याओं को समुचित रूप से समझ सकती है तथा दलों की नीतियों और कार्यक्रमों का सही मूल्यांकन कर सकती है। अत: शिक्षा का प्रसार होना चाहिए।

(2) **आर्थिक स्थिति में सुधार** – गरीब जनता को राजनीतिक दल खरीद सकते हैं, अत: जनता की गरीबी को भी दूर करना चाहिए जिससे उनके मत को कोई खरीद न सके तथा पूंजीपतियों का दल पर नियंत्रण न हो सके।

(3) **सहिष्णुता** – विविध राजनैतिक दल के सदस्यों में एक–दूसरे के प्रति सहिष्णुता की भावना विकसित होनी चाहिए। शासक दल को विरोधी दलों की भावनाओं का सम्मान करना चाहिए और विपक्षी दलों को भी चरित्र– हनन की गन्दी राजनीति से दूर रहना चाहिए।

(4) **सिद्धान्तों के आधार पर दलों का संगठन** – राजनीतिक दलों का संगठन निश्चित, आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। जाति,धर्म,सम्प्रदाय जैसे संकुचित दृष्टिकोणों के आधार पर गठित दल देश का अहित करते हैं।

(5) **द्विदलीय व्यवस्था** – राजनीतिक दलों की संख्या यथासम्भव कम होनी चाहिए। दो या तीन दल होने से स्थिर सरकार का निर्माण होगा तथा सामान्य जन के लिए मतदान करना आसान हो जायेगा।

(6) **बुनियादी एकता** – किसी भी देश में बुनियादी समस्याओं के बारे में विविध दलों में आम सहमति होनी चाहिए। यदि दलों में आम सहमति नहीं होगी तो संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की राजनीति की शुरूआत होगी। ऐसी राजनीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल रहती है।

निष्कर्षत: प्रतिनिधिक सरकार में दल अपरिहार्य हैं। दल ही वैधानिक सरकार को जन्म – शक्ति और गति देकर उसे परिचालित करते हैं, अत: उनके दोषों को दूर करना चाहिए।

दल–प्रणाली के रूप (Forms of Party System)

दल–प्रणाली के मुख्यतया तीन रूप प्रचलित हैं: (1) **एक दलीय प्रणाली** ,(2) **द्विदलीय प्रणाली एवं,** (3) **बहुदलीय प्रणाली।**

एक दलीय प्रणाली (One Party System)

यदि देश में केवल एक दल हो और शासन – शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दल के सदस्य हों, तो वहाँ की दल –पद्धति एक दलीय कही जाती है। एक दलीय पद्धति का आधार यह विश्वास है कि समस्त राजनीतिक अभिजात वर्ग ने अपने नेता को राज्य की प्रभुसत्ता सौंप दी है। सम्पूर्ण देश में केवल एक ही दल कार्य कर सकता है। अन्य किसी दल को संगठित होने की स्वतन्त्रता नहीं होगी। दल के विरुद्ध बोलना या सोचना राष्ट्रद्रोह समझा जाता है। यदि कोई अन्य दल जन्म लेता है तो उसे अवैध घोषित कर दिया जाता है अथवा उसे शक्ति के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार का प्राधिकार पहले निरंकुश राजतन्त्रों में था और आजकल यह अधिनायक तन्त्रों और जनवादी लोकतन्त्रों में पूर्ण अभिव्यक्ति पा रहा है।

एकदलीय शासन के कई रूप हैं– **प्रथम** पूर्व यूगोस्लाविया, अल्बानिया, चीन, क्यूबा उत्तरी कोरिया, वियतनाम आदि की समाजवादी सरकारें हैं जिनका अन्तिम ध्येय साम्यवादी समाज का निर्माण करना है। **द्वितीय,** स्पेन, फासिस्ट पुर्तगाल, नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली को लिया जा सकता है। ये पूर्णतया अधिनायकवादी शासन थे। हिंसात्मक पद्धति के माध्यम से अन्य दलों को इनमें धीरे–धीरे समाप्त कर दिया जाता है तथा प्रजा, दल एवं राज्य में कोई अन्तर नहीं समझा जाता। उदाहरणार्थ, जर्मनी में हिटलर ने एक – एक करके अन्य राजनैतिक दलों का जर्मनी से नामोंनिशान ही मिटा दिया था। **तृतीय** श्रेणी में हम बर्मा और मिश्र जैसी सरकारों को रख सकते हैं जो राष्ट्रीयता और समाजवाद की भावनाओं से ओतप्रोत हैं और जिनका सूत्रपात सैनिकों की ओर से हुआ है। **चतुर्थ** श्रेणी में हम लैटिन अमेरिकन

NOTES

तथा पूर्व पाकिस्तानी सरकार को रख सकते हैं। ये सरकारें किसी नेता को केन्द्र बनाकर सैनिक शक्ति के आधार पर चलाई जाती हैं।

एक दलीय शासनों में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सक्रियता के सब पहलुओं पर पार्टी का अत्यधिक नियन्त्रण, प्रभावी विचारधारा पर बल तथा केवल शासक दल के हाथों में राजनीतिक श्रेष्ठजन की भर्ती का अधिकार रहता है।

एक दलीय प्रणाली के गुण

एक दलीय प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं :-

(1) **सुदृढ़ शासन** – एक दलीय शासन विरोधी दलों के अभाव में दृढ़तापूर्वक शासन- संचालन करता है। दल जनशक्ति और सत्ता दोनों का स्त्रोत एवं प्रतीक हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर भय, आतंक, विवशता एवं शक्ति का समुचित प्रयोग भी किया जा सकता है।

(2) **आर्थिक विकास में सहायक** – एक दलीय शासन में दीर्घकालीन योजनाओं को आसानी से अपनाया जाता है। इससे आर्थिक विकास की गति तीव्र होती है। उदाहरणार्थ, चीन और सोवियत संघ में अनेक दोषों और कमियों के रहते हुए जो महान् आर्थिक उन्नति हुई है, उसे आज उसके प्रबल विरोधी भी स्वीकार करते हैं।

(3) **अनुशासन** – एक दलीय शासन में उच्चकोटि का अनुशासन रहता है। आये दिन हड़ताल तालाबन्दी, घेराव जैसी उच्छृलताएँ नहीं देखी जाती हैं। शासन की शक्ति का भय बना रहता है।

(4) **राष्ट्रीय एकता** – एकदलीय व्यवस्था से जनता में विभाजन तथा गुटबन्दी का डर भी खत्म हो जाता है तथा राष्ट्रीय एकता बनी रहती है।

एक दलीय प्रणाली के दोष

इस प्रणाली में निम्न दोष भी पाये जाते हैं:-

(1) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का लोप** – एकदलीय शासन – व्यवस्था में वैयक्तिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। इसमें खुले विचार- विमर्श, वाद-विवाद एवं आलोचना को स्थान नहीं दिया जाता, समुदाय और संघ बनाने की भी स्वतन्त्रता नहीं रहती।

(2) **विपक्ष का अभाव** – किसी भी शासन में विपक्ष की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रहती है। विपक्ष न केवल शासन को जागरूक रखता है अपितु वैकल्पिक नीतियाँ भी प्रस्तुत करता है। एकदलीय व्यवस्था में विपक्ष को कुचल दिया जाता है और जनता को आतंकित कर दिया जाता है।

(3) **अधिनायकतन्त्र** – एकदलीय शासन वस्तुत: अधिनायकतन्त्र हो जाता है। यह व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं पर नियन्त्रण रखता है। व्यक्ति की स्थिति राज्य रूपी मशीन के पुर्जे के समान हो जाती है।

(4) **प्रगतिशील विचारों का विरोधी** – एक दलीय शासन सभी प्रगतिशील विचारों –लोकतन्त्र उदारवाद, समानता तथा स्वतन्त्रता – का विरोधी हो जाता है।

(5) **दासतापूर्ण जीवन का दृष्टिकोण** – एकदलीय शासन में शिक्षा, कला व साहित्य का स्वतन्त्र विकास सम्भव नहीं होता। शिक्षा, समाज, कला साहित्य पर दल का अंकुश रहता है। **कोकर** के अनुसार "राष्ट्र के सार्वजनिक तथा सांस्कृतिक जीवन को केन्द्रीकृत किये जाने पर उस देश- विदेश के साहित्य, कला तथा ज्ञान की समाप्ति हो जाती है।"

द्विदलीय प्रणाली (Two Party System)

द्विदलीय प्रणाली से यह अभिप्राय नहीं है कि किसी देश में केवल दो ही दल हों और तीसरे दल का अस्तित्व न हो, बल्कि इसका अर्थ है कि वहाँ पर केवल दो बड़े और महत्वपूर्ण दल हों और शेष महत्वहीन हों। **सेट** के अनुसार, "द्विदलीय व्यवस्था से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य में केवल दो ही राजनीतिक दल हों, प्रत्युत हमारा आशय यह है कि यदि अन्य दल हों तो इतने छोटे कि उनका

NOTES

राजनीति पर विशेष प्रभाव न हो और विधानांग में बहुमत प्राप्त करने के लिए उनके साथ मिलकर संयुक्त सरकार बनाने की आवश्यकता न पड़े।"

एलेन बाल ने द्विदलीय प्रणाली को दो भागों में बाँटा है:-

(1) **अस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियाँ** – जैसे संयुक्त राज्य अमरीका, आयरलैण्ड में।

(2) **सुस्पष्ट द्विदलीय पद्धतियाँ** – जैसे ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, पश्चिमी जर्मनी में।

ब्रिटेन और अमरीका की शासन- व्यवस्था में द्विदलीय पद्धति एक विशेषता है। इस पद्धति में कोई भी एक दल स्थायी रूप से शासक दल अथवा विरोधी दल नहीं रह पाता। दोनों दल समय-समय पर शासन – सत्ता हस्तगत करते हैं और जो भी दल विरोधी दल बनता है उसमें उत्तरदायित्व और गम्भीरता की कमी नहीं आने पाती।

ब्रिटेन में अनुदार और श्रमिक दल प्रमुख राजनीतिक दल हैं तथा अमरीका में डेमोक्रेट और रिपब्लिकन पार्टी प्रमुख है। ब्रिटेन के उदार दल और अमरीका में साम्यवादी दल, अमरीकी श्रमिक संघ जैसी तीसरी पार्टियों के होते हुए भी इन देशों की (द्वि) दलीय पद्धतियों के आवश्यक लक्षणों में गड़बड़ी पैदा नहीं हो सकी।

ब्रिटिश द्विदलीय व्यवस्था की अद्वितीय प्रकृति इसका राजनीतिक अनुशासन और सम्बद्धता है। यह अनेक रूपों में प्रमाणित होता है। संपूर्ण देश में मतदान का तरीका एक जैसा है और क्षेत्रीय विभिन्नताएं अति अल्प होती हैं। यहाँ मतदाता का दल के साथ तादात्मीकरण ही यहाँ के मतदान-व्यवहार का मुख्य निर्धारक है। यहाँ मतदाता व्यक्तिगत प्रत्याशियों की अपेक्षा दल और उसके नेता को वोट देता है। यहाँ उत्तरदायी सरकार है इसलिए विधायी तथा कार्यपालिका शाखाओं के बीच समन्वय स्थापित किया जाता है। सरकार के सदस्य संसद में से लिए जाते हैं और सम्बद्ध कार्यक्रम सम्भव बन पाता है। दलों में लगभग पूर्ण मतदानीय अनुशासन रहता है। कोई सदस्य पार्टी की नीतियों से स्वतन्त्र रहकर मतदान करने का अधिकारी नहीं है। राजनीतिक नेता दलीय संगठन और संसदीय समूह के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण दल की नीतियों और गतिविधियों पर नियंत्रण रखते हैं जिसके फलस्वरुप निरन्तरता और एकीकरण बना रहता है।

ब्रिटिश द्विदलीय व्यवस्था के विरुद्ध अमरीका में दल व्यवस्था के राजनीतिक आधार का अभाव है। यह व्यवस्था एक मजबूत संवैधानिक व्यवस्था के अधीन कार्य करती है, जिसके अन्तर्गत संवैधानिक और सामाजिक व आर्थिक मसलों पर पर्याप्त आम सहमति पाई जाती है। यहाँ विचारधारागत उग्रता रहती है और दल व्यवस्था में प्राय: अनुशासन का अभाव एवं राष्ट्रीय सम्बद्धता की अनुपस्थिति परिलक्षित होती है। राजनीतिक दल प्राय: विभिन्न गुटों के संविद रूप होते हैं। ये विशेष हितों की माँगों में संतुलन का प्रयास करते हैं। दोनों दलों के चुनाव कार्यक्रमों में विशेष अन्तर नहीं होता।

अमरीकी चुनाव व्यवस्था तीसरे दल के विकास को प्रेरित नहीं करती। राष्ट्रपति का निर्वाचन जीतने के लिए तीसरे दल का विकास हो ही नहीं पाता। अमरीकी द्विदलीय व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इसमें राष्ट्रीय सम्बद्धता और शक्तिशाली राष्ट्रीय यन्त्र, अनुशासन और एकता का अभाव है। अमरीकी राजनीतिक दल ब्रिटेन की अपेक्षा कम विचारधाराजन्य, कम अनुशासित और कम सम्बद्ध हैं। ये एक प्रकार के चुनाव उद्देश्य के लिए बनाए गए अस्थायी संविद हैं।

द्विदलीय प्रणाली के गुण

द्विदलीय प्रणाली के निम्नलिखित मुख्य गुण हैं :-

(1) **स्थिर सरकार** – द्विदलीय प्रणाली में कार्यपालिका अधिक स्थायी होती है। जब बहुमत वाले दल का एक बार मंत्रिमण्डल बन जाता है तो फिर उसे आसानी से नहीं हटाया जा सकता। मंत्रिमण्डल को यह विश्वास रहता है कि उसकी नीतियों और कार्यों का समर्थन करने के लिए विधायिका का बहुमत सदैव उसके पीछे छाया की भाँति विद्यमान रहता है। द्विदलीय प्रथा के कारण ही ब्रिटेन में मंत्रिमण्डलों का औसत जीवन-काल साढ़े तीन वर्ष है जबकि फ्रांस में (तृतीय एवं चतुर्थ गणतंत्र में) मंत्रिमण्डल का औसत कार्यकाल केवल 9 महीने होता था।

(2) **उत्तरदायित्व का निर्धारण** – द्विदलीय व्यवस्था वाले देशों में शासन द्वारा किये गये अच्छे या बुरे कार्यों के लिए उत्तरदायित्व का निर्धारण आसानी से हो जाता है। सत्ताधारी दल को उन सभी दोषों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है जो उसके कार्यकाल में होते हैं। कोई भी दल अपना उत्तरदायित्व दूसरों के सिर नहीं मढ़ सकता।

(3) **स्थायी नीतियों का निर्माण** – द्विदलीय प्रणाली में केवल शासन में ही स्थायित्व उत्पन्न नहीं होता वरन् शासकीय नीतियों में भी शाश्वतता उत्पन्न होती है। जिस सरकार को एक लम्बे समय तक बने रहने का विश्वास होता है वह दूरगामी योजनाओं को सफलतापूर्वक चला सकती है। वस्तुत: इस प्रकार की शासन- प्रणाली में एक लम्बे समय के लिए निश्चित और दृढ़ नीति अपनाई जा सकती है।

(4) **शासन का स्वस्थ एवं रचनात्मक विरोध** – द्विदलीय प्रणाली में विरोधी दल सरकार की आलोचना जिम्मेदारी के साथ करता है। इसमें अनुत्तरदायी आलोचना की सम्भावना कम होती है क्योंकि आलोचना करने वाला विरोधी दल यह जानता है कि सरकार के त्यागपत्र देने पर उसे सरकार बनानी पड़ सकती है और अपनी आलोचना को सही सिद्ध करना पड़ सकता है।

(5) **सरकार का निर्माण सरल** – इस प्रणाली में सरकार (मंत्रिमण्डल) का निर्माण काफी सरल रहता है। विधायिका में जिसका बहुमत रहता है उसका मंत्रिमण्डल बन जाता है और सरकार चलाने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी उसी पर आ जाती है। यदि सत्ताधारी दल विधायिका का विश्वास खो देता है अथवा चुनावों में हार जाता है तो विरोधी दल की सरकार बन जाती है। इस प्रकार इस प्रणाली में संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न नहीं होता।

(6) **सरकार का सीधा चुनाव** – **लास्की** के अनुसार द्विदलीय व्यवस्था में जनता सरकार का प्रत्यक्ष निर्वाचन करती है। मतदाता यदि सत्ताधारी दल के विरुद्ध मत देता है तो यह स्पष्ट है कि वह विपक्षी दल की सरकार चाहता है। यदि मतदाता वर्तमान में सत्तारूढ़ दल को मत देता है तो इसका अभिप्राय होता है कि वह सत्ताधारी दल की ही पुन: सरकार चाहता है। मतदाता के मस्तिष्क में सत्तारूढ़ दल को स्वीकार या अस्वीकार करने की भावना स्पष्ट रहती है।

प्रो. लास्की शब्दों में, "केवल यही (द्विदलीय प्रणाली) एक विधि है जिसके द्वारा लोग निर्वाचन के समय अपनी सरकार का प्रत्यक्ष चुनाव करते हैं.... यह उसकी असफलता के परिणामों के बारे में ज्ञान प्रदान करती है। यह वैकल्पिक सरकार को शीघ्र ही वास्तविक रूप प्रदान करती है।" **फाइनर** के अनुसार, "हर स्थान पर दो दलों में संघर्ष अच्छा होता है। जहाँ दो दलों में संघर्ष रहता है, वहाँ त्रुटियाँ आसानी से पकड़ी जा सकती हैं और पूर्ण विनाश की सम्भावनाएं भी कम हो जाती हैं।" संक्षेप में, द्विदलीय प्रणाली में राजनीतिज्ञों में असन्तोष की भावना उत्पन्न नहीं होने पाती। वे जानते हैं कि आज का विरोधी दल कल का शासक दल होगा, अत: केवल रचनात्मक विरोध करके शासन को सुचारु रूप से नियन्त्रित करते हैं।

द्विदलीय प्रणाली के दोष

द्विदलीय प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं:

(1) **बहुमत दल की तानाशाही** – द्विदलीय प्रणाली वाले शासन में बहुमत दल सरकार बनाता है और उसे यह विश्वास रहता है कि निश्चित अवधि से पूर्व उसे अपदस्थ नहीं किया जा सकता है। इसलिए वह मनमानी करता है तथा विरोधी दल की तनिक भी परवाह नहीं करता।

(2) **मतदाताओं के लिए चयन की कम स्वतन्त्रता** – द्विदलीय प्रणाली में मतदाताओं के लिए चयन का क्षेत्र बहुत संकीर्ण हो जाता है। मतदाताओं को केवल दो दलों में से ही चयन करना पड़ता है चाहे वे दोनों ही दलों को पसन्द न करते हों। इससे कभी -कभी मतदाता राजनीति से उदासीन हो जाते हैं। यदि दो से अधिक दल हों, तो उनकी स्वतन्त्रता अधिक हो जाती है।

(3) **विविध हितों को विधायिका में प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता** – द्विदलीय व्यवस्था को अपनाने से विभिन्न हितों और अन्य को विधायिका में प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। जहाँ अनेक दल होते हैं वहाँ विविध वर्गों एवं हितों को आसानी से प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

(4) **विधायिका की शक्तियों का ह्रास होना** – द्विदलीय प्रणाली वाले देशों में कार्यपालिका की शक्ति अनवरत रूप से बढ़ती जाती है और विधायिका की शक्तियों का ह्रास होता है। अपने बहुमत के नशे में चूर सरकार मनमाने कानून बनवाती है और यदि विधायिका उसका समर्थन न करे तो प्रधान मन्त्री की सलाह से उसे भंग किया जा सकता है। द्विदलीय प्रथा में पाये जाने वाले दृढ़ दलीय अनुशासन के कारण मन्त्रिमण्डल की तानाशाही की धारणा का प्रचलन हुआ है। ब्रिटिश शासन–प्रणाली के बारे में **रैम्जे म्योर** ने लिखा है, "मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।"

(5) **राष्ट्र दो विरोधी गुटों में बंट जाता है** – द्विदलीय व्यवस्था वाले देश विचारधारा के आधार पर दो गुटों में विभाजित हो जाते हैं। राष्ट्र का ऐसा विभाजन एक भंयकर दुष्परिणाम माना जाना चाहिए।

(6) **नकारात्मक मतदान** – इस व्यवस्था के अन्तर्गत नागरिकों को केवल दो उम्मीदवारों में से एक को चुनने का अवसर मिलता है। यह भी सम्भव है कि मतदाता इन दोनों में से किसी को पसन्द न करे। ऐसी दशा में वह उस व्यक्ति के विरुद्ध मतदान करता है जिसको किसी कारणवश नहीं चाहता।इस प्रकार इसमें मतदान नकारात्मक हो जाता है।

(7) **विविध दृष्टिकोणों का समावेश न होना** – जो लोग राज्य में केवल दो दल चाहते हैं वे यह भूल जाते हैं कि दो राजनीतिक दल नागरिकों के विभिन्न दृष्टिकोणों को समाहित नहीं कर सकते।

(8) **कठोर दलीय अनुशासन** – दल का अनुशासन इतना कड़ा होता है कि यदि सदस्य दल के दृष्टिकोणों से पूरी तरह सहमत न भी हों तो भी उन्हें दल के आदेशों का पालन करना होता है। इसके कारण सदस्यों के व्यक्तित्व को धक्का लगता है।

निष्कर्ष

द्विदलीय प्रणाली के गुण दोषों– का विवेचन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संसदीय शासन– प्रणाली की सफलता के लिए द्विदलीय प्रथा सुविधाजनक रहती है। ब्रिटेन में आज तक राजनीतिक अस्थिरता एवं शून्यता पैदा नहीं हुई क्योंकि वहाँ बहुमत वाला दल सरकार बनाता है तथा अल्पमत वाला दल विपक्ष में बैठकर सरकार की नीतियों का विकल्प प्रस्तुत करता है। फ्रांस और भारत में इसके विपरीत बहुदलीय व्यवस्था विकसित हुई, जहाँ कई बार सरकार बनाना कठिन हो गया एवं राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हुए। **प्रो. लास्की** के शब्दों में, "संसदीय शासन एक सुनियमित द्विदलीय पद्धति द्वारा ही सबसे अधिक सफल हो सकता है।" **फाइनर** के अनुसार, "जिस देश में द्विदलीय पद्धति होगी वहाँ के लोग कर्तव्यपरायण और सुखी होंगे।" **मैकाइवर** का कथन है कि, "द्विदलीय पद्धति में जहाँ अधिकारों का केन्द्रीकरण होता है वहाँ उत्तरदायित्व का भी केन्द्रीकरण होता है और उसे लागू करने का ढंग सरल होता है।

बहुदलीय प्रणाली (Multi-Party System)

जहाँ दो से अधिक दल राजनीति में सक्रिय होते हैं वहाँ बहुदलीय प्रणाली होती है। बहुदलीय प्रथा वाले देशों में प्राय: किसी दल को बहुमत नहीं मिल पाता, अत: कोई एक दल सरकार नहीं बना सकता। यूरोप के अधिकांश राज्यों में तथा अफ्रीका और एशिया के नवोदित स्वतन्त्र हुए देशों में प्राय: बहुदलीय पद्धति है। बहुदलीय पद्धति का एक अदभुत उदाहरण फ्रांस में मिलता है। वीमर संविधान में भी बहुत से दल थे, परन्तु प्रत्येक दल के विरोध में शेष समस्त दल संगठित होकर एक संयुक्त दल के रूप में कार्य करते थे। भारत में भी बहुदलीय पद्धति क्रियाशील रही है। भारत में इतने अधिक दल हैं कि उनकी संख्या निश्चित करना ही कठिन है। प्रथम आम चुनाव के बाद लोकसभा में तेईस दलों के प्रतिनिधि पहुंचे। निर्वाचन आयोग के अधिकारिक आंकड़ों के अनुसार फरवरी 1998 के लोकसभा चुनावों के अवसर पर देश में 7 राष्ट्रीय दलों समेत कुल 654 राजनीतिक दल हैं; इनमें से 354 दल राज्य स्तर

के हैं और 612 पंजीकृत गैर मान्यता प्राप्त दल हैं। 12 वीं लोकसभा (मार्च 1998) में कुल मिलाकर छोटे मोटे 41 दलों के प्रतिनिधि पहुँचे।

बहुदलीय प्रणाली के गुण

बहुदलीय प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं:

(1) **शासन निरंकुश नहीं बन सकता** – बहुदलीय व्यवस्था में साझा मन्त्रिमण्डल का निर्माण होने के कारण किसी एक राजनैतिक दल को एकाधिकार स्थापित करने का अवसर नहीं मिलता। शासन–कार्य हमेशा आदान– प्रदान और समझोते की भावना से चलता है। संयुक्त अथवा मिली –जुली सरकारें कभी भी निरंकुश नहीं हो सकतीं।

(2) **मतदाताओं को चयन के अधिक विकल्प** – जहाँ बहुत दल होते हैं, वहाँ मतदाताओं को चयन की अधिक स्वतन्त्रता होती है। द्विदलीय व्यवस्था की तुलना में बहुदलीय व्यवस्था में बहुत से उम्मीदवार होते हैं और उनमें से मतदाता अपनी इच्छानुकूल किसी का चयन कर सकता है।

(3) **संसदीय शक्ति का ह्रास नहीं** – विधायिका की शक्तियों का वास्तविक निखार बहुदलीय व्यवस्था में ही आता है क्योंकि साझा सरकार आसानी से विधायिका को भंग कराने की धमकी नहीं दे सकती। मिली– जुली साझा सरकार का अस्तित्व विधायिका की सद्भावना पर ही निर्भर है।

(4) **राष्ट्र दो विरोधी गुटों में नहीं बंटता** – इस दल–पद्धति वाले देश दो विरोधी गुटों में बंटने से बच सकते हैं। दलीय अनुशासन की भावना कठोर न होने के कारण बहुदलीय पद्धति वाले देशों में दलबन्दी की भावना को बढ़ा–चढ़ाकर प्रदर्शित नहीं किया जाता।

(5) **सभी हितों एवं विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व** – बहुदलीय पद्धति वाले देशों की विधायिका और कार्यपालिका में किसी एक या दो दलों की प्रधानता नहीं रहती, बल्कि सभी दल समकक्ष होते हैं। विधायिका तथा कार्यपालिका में कई दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इस भाँति विभिन्न वर्गों तथा स्वार्थों को शासन में पूर्ण प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

बहुदलीय प्रणाली के दोष

बहुदलीय प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं :–

(1) **शासन में अस्थिरता** – बहुदलीय व्यवस्था से कई दलों की मिली– जुली साझा सरकारों का निर्माण होता है। कई दलों की मिली –जुली सरकारें 'खिचड़ी' अथवा 'भानुमती के कुनबे' के समान होती हैं। मिली–जुली सरकारें कई दलों से मिलकर बनती हैं, अत: उनके विचारों में साम्य और समन्वय स्थापित करना कठिन हो जाता है। जब किसी वैचारिक या नीति सम्बन्धी प्रश्न पर इन दलों में झगड़ा होता है तो संयुक्त मंत्रिमण्डल शीशे की भाँति टूट जाते हैं। भारत के राज्यों मे चतुर्थ आम चुनाव के बाद उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्यों में ऐसी ही साझा सरकारें बनीं थीं जो एकदम अस्थिर रहीं। फ्रांस में 1944 से 1958 (चतुर्थ गणतन्त्र) तक 26 संविद मंत्रिमण्डल बनाए गए। प्रत्येक का औसत कार्यकाल 15 1/2 माह का था। भारत में भी 1989 से अब तक (2002) केन्द्र में अल्पमतीय मिली जुली सरकारों के पदारूढ़ होने से 8 प्रधानमंत्री हम देख चुके हैं और देश राजनीतिक अस्थिरता की ओर बढ़ रहा है। प्रो. एन. आर. देशपांडे के अनुसार "ऐसी सरकार को लगातार विपरीत दिशाओं में खींचा जाता है और दल बदलुओं के कारण सदैव सरकार के गिरने का खतरा बना रहता हैं।"

(2) **उत्तरदायित्व का अभाव** – मिली –जुली बहुदलीय सरकारों में उत्तरदायित्व को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। प्रशासन की सफलता का श्रेय तो प्रत्येक दल हासिल करना चाहता है किन्तु असफलता दूसरों के ऊपर डालने में लगा रहता है।

(3) **कार्यकुशलता का अभाव** – बहुदलीय साझा (Coalition)सरकारें अपनी शक्ति और श्रम राजनैतिक कार्य में ही नष्ट करती रहती हैं। मंत्रीगण कुर्सी बचाने की चिन्ता में व्यस्त रहते हैं और इस प्रकार

NOTES

प्रशासन की उपेक्षा हो जाती है। इससे प्रशासकीय सूत्रों में शिथिलता आ जाती है और नौकरशाही का प्रभाव बढ़ जाता है।

(4) **दीर्घकालीन नीतियों का अभाव** – बहुदलीय पद्धति में साझा सरकारें अस्थिर होती हैं, अत: सरकारों के शीघ्र परिवर्तन के कारण नीति की अनिश्चितता उत्पन्न होती है और दीर्घकालीन नीतियों का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता, जबकि आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन नीतियों का निर्माण अनिवार्य होता है।

(5) **कार्यपालिका की दुर्बल स्थिति** – बहुदलीय शासन वाले देशों में कार्यपालिका दुर्बल होती है। प्रधान मन्त्री को कई दलों को साथ लेकर चलना पड़ता है। उसे विभिन्न दलों को प्रसन्न रखते हुए उनमें तालमेल स्थापित करना पड़ता है। यदि कोई भी दल किसी भी समय सरकार का समर्थन करना बन्द कर दे तो सरकार का पतन हो जाता है।

निष्कर्ष

द्विदलीय पद्धति में मतदाता प्रत्यक्ष रूप से इस बात का निर्णय करते हैं कि देश में किस दल का शासन होना चाहिए अर्थात् किस नीति का पालन होना चाहिए। इसके विपरीत बहुदलीय पद्धति वाले देशों के मिल-जुले साझा मन्त्रिमण्डलों में कोई निश्चित नीति नहीं होती और न कोई सामान्य कार्यक्रम। बहुदलीय पद्धति में मतदाता प्राय: व्यक्ति विशेष अथवा समूह को मत देते हैं, दल को नहीं। इसमें अल्प मत वाले स्वार्थी व्यक्ति अधिक संख्या में निर्वाचित हो जाते हैं जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ इतने अधिक और सशक्त होते हैं कि वे अपने स्वार्थों के आगे राष्ट्रीय हित को भी बलिदान कर देते हैं।

प्रश्न

1. राजनीतिक दल की परिभाषा दीजिए तथा उसके कार्यों की विवेचना कीजिए।
2. लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका समझाइये।
3. प्रजातंत्र में राजनीतिक दलों के महत्व एवं कार्यों का वर्णन कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक दल से क्या अभिप्राय है?
2. राजनीतिक दल के आधार लिखिए।
3. दल पद्धति के दोष लिखिए।
4. बहुदलीय प्रणाली के दोष लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. किस शासन प्रणाली के संचालन हेतु राजनीतिक दल अनिवार्य है?

   (अ) अधिनायक तंत्र (ब) लोकतंत्र (स) राजतंत्र (द) कुलीनतंत्र

2. निम्नांकित कार्यों में से कौनसा कार्य राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है?

   (अ) अस्पतालों का निर्माण कराना (ब) निर्धनों की मदद करना

   (स) निर्वाचन में प्रत्याशी खड़े करना (द) शिक्षा का प्रसार करना

3. द्विदलीय प्रणाली किस देश में पायी जाती है?

   (अ) फ्रांस (ब) इंगलैण्ड (स) भारत (द) जापान

4. ब्रिटेन में किस प्रकार की दल प्रणाली है-

   (अ) दलविहीन व्यवस्था (ब) एकदल व्यवस्था

   (स) द्विदलीय व्यवस्था (द) बहुदलीय व्यवस्था

5. बहुदलीय प्रणाली निम्न देशों में से किस में पायी जाती है ?
   (अ) चीन (ब) भारत (स) इंगलैण्ड (द) अमेरिका
6. एक दल प्रणाली किस देश में पायी जाती है ?
   (अ) फ्रांस (ब) स्विट्जरलैण्ड (स) भारत (द) चीन
7. निम्नलिखित में से राजनीतिक दल का कौनसा उद्देश्य नहीं है ?
   (अ) सत्ता प्राप्त करने की इच्छा, (ब) सरकार की आलोचना करना
   (स) लोकमत का निर्माण (द) लोगों का आध्यात्मिक विकास करना
8. लोकतंत्र में राजनीतिक दल किसके बीच कड़ी है ?
   (अ) सरकार और नेता (ब) विधानमण्डल और मतदाता
   (स) विधानमण्डल और सरकार (द) सरकार और दबाव समूह

उत्तर 1. (ब), **2.** (स), **3.** (ब), **4.** (स), **5.** (ब), **6.** (द), **7.** (द), **8.** (ब)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

29

दबाव – समूह
(PRESSURE GROUPS)

राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव तथा हित – समूहों का विशिष्ट महत्व है। एक समय ऐसा भी था जब दबाव तथा हित– समूहों को अनैतिक माना जाता था तथा तुच्छ निगाहों से देखा जाता था। **कार्ल जे. फेड़रिक** ने लिखा है, "क्या कूड़ा ढोने वाले और क्या राजनीतिशास्त्र के गम्भीर अध्येयता, सभी इन दबाव–समूहों को घटिया व हेय दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी पापात्मा शक्ति माना जाता था जो लोकतन्त्र की जड़ें कमजोर करने अथवा प्रतिनिध्यात्मक शासन को विचलित कर सकती थी।" किन्तु वर्तमान में दबाव तथा हित–समूहों को लोकतन्त्र का पक्षपोषक एवं सहयोगी माना जाने लगा है। विभिन्न देशों की शासन–व्यवस्था में इन समूहों का महत्व एवं योगदान इतना बढ़ गया है कि इन्हें एक आवश्यक बुराई ही नहीं माना जाता अपितु राजनीतिक क्रियाशीलता के लिए स्वास्थजनक तत्व भी स्वीकार किया जाता है।

दबाव–समूह का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Pressure Groups -Meaning and Definitions)

'दबाव– समूह' को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है– ' प्रभावक गुट', 'हित–समूह', 'गैर–सरकारी संगठन', 'लॉबीज', अनौपचारिक संगठन, 'हितबद्ध गुट', इत्यादि शब्दों का प्रयोग दबाव–गुटों के लिए किया जाता रहा है। व्यक्तियों के ऐसे समूहों को दबाव–समूह कहा जाता है जो किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते, लेकिन जिनका सम्बन्ध विशेष मसलों (Special issues)से होता है। ये राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़ा करते हैं।

ऐलेन बाल के अनुसार – 'प्रभावक गुट राजनीतिक प्रक्रिया के अविच्छिन्न अंग हैं और वे सरकार की नीति को मजबूत बनाने और उसकी दिशा बदलने का प्रयास करते हैं, लेकिन प्रभावक गुट की हैसियत से वे खुद सरकार बनाना नहीं चाहते। सशक्त नियोक्ता संगठन एवं राष्ट्रीय स्तर पर क्रियाशील श्रमिक संघों से लेकर स्थानीय सुविधाओं के सुधार का प्रयास करने वाले छोटे और अपेक्षाकृत कमजोर स्थानीय नागरिक गुटों तक सभी को प्रभावक गुटों के अर्न्तगत रखा जा सकता है।"

ओडिगार्ड के शब्दों में, "दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को, विशेष रूप में सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को, इसलिए प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा एवं संवर्द्धन कर सके।"

मायनर वीनर के मतानुसार, 'दबाव –समूह से हमारा तात्पर्य शासकीय व्यवस्था के बाहर किसी भी ऐसे ऐच्छिक किन्तु संगठित समूह से है जो शासकीय अधिकरियों की नामजदगी अथवा नियुक्ति, सार्वजनिक नीति के निर्धारण, उसके प्रशासन और समझौता व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयास करता है। "

कार्टर तथा हर्ष के अनुसार, "एक दबाव– समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिसके एक से अधिक स्वार्थ या उद्देश्य होते हैं। ये सार्वजनिक नीति–निर्माण को तथा नीति – निर्माताओं को इसलिए प्रभावित करने में लगे रहते हैं ताकि उनके अपने हितों की अभिवृद्धि हो सके।"

अर्ल लद्दम के शब्दों में, "राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय हित–समूह जब सार्वजनिक नीतियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों को अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रभावित करते हैं तो वे दबाव – समूह कहलाते हैं तथा उनकी गतिविधियों का राजनैतिक महत्व होता है।"

प्रो. एम.जी.गुप्त के अनुसार, "दबाव – समूह वास्तव में एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलो को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह, जो प्रशासकीय और विधायी दोनों प्रकार के निर्णयकर्ताओं को, सरकार पर नियंत्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किये बिना ही प्रभावित करना चाहता है, वह दबाव –समूह कहलायेगा।" उपयुर्क्त परिभाषाओं के आधार पर दबाव–समूह के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं–

(1) **विशिष्ट हितों से सम्बन्ध** – दबाव गुटों का सम्बन्ध विशिष्ट मामलों से होता है। उनकी गतिविधियाँ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति तक ही सीमित होती हैं।

(2) **गैर –राजनीतिक संगठन** – दबाव–समूह गैर–राजनीतिक संगठन होते हैं। उनका सम्बन्ध सार्वजनिक हितों की अपेक्षा निजी हितों से ही होता है।

(3) **अज्ञात साम्राज्य** – प्रो. एस.ई. फाईनर ने दबाव –गुटों को अज्ञात साम्राज्य (anonymous empire) कहा है। वस्तुत: यह खुले रूप से राजनीति में भाग नहीं लेते। वे अदृश्य ढंग से राजनीतिक निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इसी कारण **हैरी एकस्टीन** ने दबाव – समूह को "राजनीतिक और गैर–राजनीतिक में मध्यस्तरीय क्रिया" बतलाया है।

(4) **सरकार पर आधिपत्य की अनिच्छा** – दबाव — समूह का सरकार पर आधिपत्य स्थापित करने का कोई लक्ष्य नहीं होता और वे शासन के ढाँचे से पृथक रह कर ही कार्य करते हैं। वस्तुत: दबाव–समूह ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह, जो प्रशासकीय और संसदीय दोनों प्रकार के पदाधिकारियों पर नियंत्रण प्राप्त करने हेतु कोई प्रयत्न किए बिना ही प्रभावित करना चाहता है, दबाव–गुट की श्रेणी में आएगा।

दबाव – समूहों का महत्व (Importance of Pressure Groups)

दबाव–समूहों का महत्व अत्यन्त व्यापक बनता जा रहा है। अधिकांश देशों के संविधान इस बात को स्वीकार करते हैं कि वहां पर इस प्रकार के समूहों के विकास के लिए उपयुक्त सुविधाएं प्रदान की जाएँ। ये समूह प्रशासन को जन – इच्छा के अनुकूल बनाने में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। दबात–समूहों की उपयोगिता तथा महत्व के निम्नलिखत प्रमुख कारण हैं:–

(1) **लोकतान्त्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के रूप में दबाव–समूह** – दबाव —गुटों को लोकतान्त्रिक भावना की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। लोकमत को शिक्षित करके, आँकड़े इकट्ठे करके, विधि निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएँ पहुंचाकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करना आज लोकतान्त्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है।

(2) **शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव–समूह** –शासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके पास पर्याप्त सूचनाएँ हों। शासन की सूचनाओं के गैर –सरकारी स्त्रोत के रूप में दबाव–समूह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव–समूह आँकड़े इकट्ठे करते हैं, शोध करते हैं, तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।

(3) **शासन को प्रभावित करने वाले संगठनों के रूप में दबाव–समूह** – वर्तमान में दबाव–समूह का अस्तित्व एक ऐसी संस्था के रूप में है जिसके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए शासकीय मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सके।

(4) **सरकार की निरंकुशता को सीमित करना** – प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और समूची शक्तियाँ सरकार के हाथों में केन्द्रित होती जा रही हैं। दबाव–समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरंकुशता को परिसीमित करते हैं।

(5) **समाज और शासन में संतुलन स्थापित करना** – राज्य में दबाव–समूह की उपस्थिति का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच संतुलन सा बना रहता है और इस प्रकार कोई भी एकमात्र प्रभावशाली सत्ता उदित नहीं हो पाती। व्यापारी, श्रमिक, किसान, कर्मचारी, जातीय और धार्मिक समुदाय

आदि सभी अपने स्वयं के हितों को प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु उनको एक -दूसरे से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर किया जाता है। इससे समाज और शासन में अनूठा संतुलन स्थापित हो जाता है और यह सन्तुलनकारी प्रवृत्ति (Countervailing Tendency)समाज को उस स्थिति से बचाती है जिसमें व्यक्तिगत समुदाय ही सारी शक्ति को हथिया लेते हैं।

(6) **व्यक्तिगत हितों और सरकार के मध्य संचार के साधन** – दबाव-समूह व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। ये समूह नागरिक और सरकार के मध्य संचार-साधन का कार्य करते है; **रॉडी** के अनुसार, "निर्वाचित नेता दबाव-समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा- आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं, अत: इन्हें गैर-सरकारी संचार -सूत्र कहा जा सकता है।"

(7) **विधान-मण्डल के पीछे विधान – मण्डल का कार्य**- दबाव -समूह विधि-निर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं। अपनी विशेषज्ञता तथा ज्ञानगुरुता के कारण गुट विधि-निर्मात्री समितियों के सदस्यों को आवश्यक परामर्श देते हैं। इनका परामर्श और सहायता दोनों ही इतनी उपयोगी होती हैं कि इन्हें विधान-मण्डल के पीछे विधानमण्डल कहा जाने लगा है।

वस्तुत: दबाव-समूह लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था का दूसरा नाम है। निरंकुश तन्त्र में भी इनका अभाव नहीं होता है। साम्यवादी शासनतन्त्र में भी दबाव-गुट सक्रिय रहते हैं।

दबाव-समूह एवं राजनीतिक दल (Pressure Groups and Political Parties)

दबाव-गुटों और राजनीतिक दलों के बीच स्पष्ट भेद करने की कठिनाई गुटों की परिभाषा तथा वर्गीकरण की समस्याओं से जुड़ी हुई है। ब्रिटेन और अमेरिका में दबाव-गुटों और राजनैतिक दलों के बीच गहरा सम्बन्ध नहीं पाया जाता, इसलिए वहाँ इन दोनों के बीच भेद करने की समस्या दूसरे उदार प्रजातन्त्रों जैसी उग्र नहीं होती, यद्यपि कुछ ट्रेड यूनियनों और ब्रिटिश लेबर पार्टी के बीच निकट के सम्बन्ध हैं। विकासशील देशों में दल-पद्धतियों की कमजोरियाँ भी दबाव-गुटों और राजनीतिक दलों के बीच के भेद को धुंधला कर देती हैं।

प्रो. हरमन फाइनर का कथन है कि "जहाँ सिद्धान्त और संगठन में राजनीतिक दल कमजोर होंगे वहाँ दबाव-समूह पनपेंगे, जहाँ दबाव-समूह शक्तिशाली होंगे, वहाँ राजनीतिक दल कमजोर होंगे और जहाँ राजनीतिक दल शक्तिशाली होंगे, वहाँ दबाव-समूह दबा दिये जायेंगे।"

परन्तु राजनीतिक दलों की सुदृढ़ता और कमजोरी का सम्बन्ध दबाव-समूहों की शक्ति और दुर्बलता से नहीं जोड़ा जा सकता। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में संगठन और अनुशासन की दृष्टि से राजनीतिक दल काफी मजबूत है किन्तु दबाव-समूह भी किसी प्रकार दुर्बल नहीं है। भारत और फ्रांस में संगठन और सिद्धान्त की दृष्टि से राजनीतिक दल कमजोर हैं किन्तु दबाव गुटों को भी 'किंग मेकर्स' के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई है। भारत में तो राजनीतिक दल विभिन्न दबाव-गुटों के ही संयुक्त गठजोड़ (Coalitions) है जो दल के भीतर दलीय नीतियों को प्रभावित करते रहते हैं।

दबाव-समूह और राजनैतिक दल गैर-संवैधानिक (extra – constitutional) अभिकरण हैं। गैर – संवैधानिक अभिकरण होने के बावजूद भी ये संवैधानिक अभिकरणों और संस्थाओं को आधार एवं प्रेरणा प्रदान करते हैं। वे एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी नहीं अपितु एक -दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं।

राजनीतिक दलों और दबाव-समूहों में काफी अन्तर पाया जाता है। **बेर्नी** के शब्दों में, "दोनों में यही मुख्य अन्तर है कि एक चुनाव में भाग लेकर सरकार बनाने की महत्वाकांक्षा रखता है जबकि दूसरा (दबाव-समूह) चुनाव को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है किन्तु सरकार बनाने की कोई आकांक्षा नहीं रखता।" **प्रो. न्यूमैन** ने दलों तथा प्रभाव-गुटों के बीच किए जा सकने वाले कुछ भेदों का संकेत इस प्रकार दिया है, "मूल रूप में प्रभावक गुट प्रभाव चाहने वाले समरूप हितों की प्रतिमूर्ति होते हैं।"

जब किसी दबाव-गुट का सुस्पष्ट उद्देश्य होता है तब यह प्रभावी एवं शक्तिशाली होता है। इसके विपरीत राजनीतिक दलों के अन्तर्गत विभिन्न विषमरूप गुट सम्मिलित होते हैं जिनका लक्ष्य राजनीतिक पदों की प्राप्ति एवं नीति सम्बन्धी निर्णयों को निर्देशित करना है। वास्तव में राजनीतिक समाज के अन्तर्गत बिखरी हुई शक्तियों के बीच सम्पर्क- सूत्र स्थापित करना इस तरह के दलों का मुख्य कार्य होता है। राजनीतिक दलों का कार्य एकीकरण करना है और यह दबाव-गुटों के कार्यक्षेत्र के बाहर की चीज है।

दबाव–गुटों और राजनीतिक दलों में निम्नलिखित अन्तर किया जा सकता है:–

(1) **राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेते हैं, दबाव–समूह चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते**– राजनीतिक दल मुख्यत: शासन के संचालन और नियन्त्रण के उद्देश्य से प्रेरित होता है और इसलिए चुनाव लड़कर विजय की आकांक्षा रखता है। इसके विपरीत दबाव–समूह केवल अपने सामान्य हितों से सम्बन्धित सार्वजनिक नीति को अपने अनुरूप करवाने में ही रुचि रखता है। यह राजनीतिक दल के समान निर्वाचनों के लिए अपने प्रतिनिधि खड़े नहीं करता, अपितु नीति–निर्माताओं को प्रभावित करके अपने अभीष्ट की प्राप्ति करना चाहता है।

(2) **राजनीतिक दल का विस्तृत संगठन होता है जबकि दबाव–समूह छोटे होते हैं** – सामान्यत: राजनीतिक दल दबाव – समूहों की तुलना में बड़ा संगठन होता है जो लाखों मतदाताओं के सक्रिय समर्थन की प्राप्ति का उद्देश्य रखता है। दबाव–समूह व्यक्तियों का एक छोटा संगठन होता है और केवल थोड़े व्यक्ति ही इसका समर्थन करते हैं जिनके हित परस्पर सामान्य होते हैं।

(3) **राजनीतिक दल का विस्तृत उद्देश्य होता है जबकि दबाव–समूह के उद्देश्य संकुचित होते हैं**–राजनीतिक दल में सभी हितों के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, अत: उनका ध्येय विस्तृत हो जाता है। दबाव–समूह में एक विशिष्ट हित से सम्बन्धित व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं, अत: उनका ध्येय सीमित और संकुचित होता है।

(4) **राजनीतिक दल विधान–मण्डल में कार्य करते हैं, जबकि दबाव–समूह विधान मण्डल के बाहर करते हैं** – राजनीतिक दलों का कार्यक्षेत्र विधान–मण्डल होता है। यदि बहुमत वाला दल है तो सरकार बनाता है और अल्पमत में है तो सरकार की नीतियों का विरोध करने के साथ–साथ विकल्प प्रस्तुत करता है। दूसरी तरफ, दबाव–समूह का कार्यक्षेत्र विधान–मण्डल के बाहर होता है। प्रत्येक विधायिका भवन के साथ लगे हुए कमरे या बरामदे को 'लॉबी' कहा जाता है, जिसमें विधायिका के सदस्य अवकाश के समय बैठते हैं। इस समय दबाव–समूहों के प्रतिनिधि उनसे मिलने आते हैं, उनसे बातचीत करते हैं और अपने मतों अथवा विचारों से उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।

(5) **साधन सम्बन्धी अन्तर** – राजनीतिक दलों से यह आशा की जाती है कि वे संवैधानिक साधनों को ही अपनायेंगे जबकि दबाव–समूह द्वारा संवैधानिक और गैर –संवैधानिक सभी प्रकार के साधन अपनाए जा सकते हैं।

(6) **सदस्यता सम्बन्धी अन्तर** – कोई भी व्यक्ति एक समय पर एक ही दल का सदस्य हो सकता है, जबकि एक व्यक्ति एक समय पर उतने ही दबाव–समूहों का सदस्य बन सकता है जितने उसके हित होते हैं।

दबाव – समूह एवं हित – समूह (Pressure Groups and Interest Groups)

दबाव–समूह एवं हित–समूह में अन्तर करना बड़ा कठिन है। वस्तुत: वे एक ही सिक्के के दो पहलू है और दोनों का अन्तर केवल सैद्धान्तिक महत्व का है। **अर्ल लदृदम** के शब्दों में, "सभी हित–समूह दबाव–गुट नहीं होते, किन्तु समय आने पर सभी हित–समूह दबाव – गुट का रूप धारण कर सकते हैं।" छात्रों के समूह, अध्यापकों के समूह, डाक्टरों के समूह, व्यापारी संघ आदि सभी 'हित–समूह' हैं क्योंकि वे किन्हीं हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु ये 'हित–समूह' राजनैतिक निर्णय–प्रक्रिया को प्रभावित करना प्रारम्भ कर देते हैं तथा राजनैतिक दृष्टि से अपने अभीष्ट हितों की प्राप्ति के लिए सक्रिय हो जाते हैं तो 'प्रभावकगुट' अथवा दबाव–समूह की श्रेणी में आ जाते हैं। जब हित समूहों के 'हित' संकट में होते हैं अथवा जब इन्हें कतिपय स्वार्थों की प्राप्ति करनी होती है तो वे सक्रिय बन जाते हैं अन्यथा वे हित–समूहों के रूप में निष्क्रिय ही बने रहते हैं।

दबाव – समूहों के तरीके (Pressure Group Techniques)

अपने हितों की पूर्ति के लिए दबाव–समूह उपयुक्त साधन या तरीके अपनाते हैं। प्राचीन समय में उनके साधनों को बुरी नजर से देखा जाता था, किन्तु वर्तमान समय में इन्हें बुरा नहीं माना जाता। दबाव–गुटों द्वारा अपनाये जाने वाले साधन इस प्रकार हैं

(1) **प्रचार व प्रसार के साधन** – अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, जनता में अपने पक्ष में सद्भावना का निर्माण करने के लिए तथा विधायकों के दृष्टिकोण को अपने पक्ष में करने के लिए विभिन्न दबाव–समूह प्रेस, समाचार–पत्र, रेडियो तथा टेलीविजन का प्रयोग करते हैं।

(2) **आँकड़े प्रकाशित करना** – नीति –निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव–समूह आँकड़े प्रकाशित करते हैं ताकि अपनी मांग पूरी करवा सकें।

(3) **गोष्ठियाँ आयोजित करना** – वर्तमान में दबाव–समूह विचार विमर्श तथा वाद–विवाद के लिए गोष्ठियाँ, सेमिनार, वार्ताएं तथा भाषण–मालाएँ आयोजित करते हैं। इन गोष्ठियों में विधायिका के सदस्यों तथा प्रशासिका के प्रमुख अधिकारियों को आमन्त्रित करते हैं और उन्हें अपने दृष्टिकोणों से प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

(4) **संसद की लॉबियों में सक्रिय रहना** – दबाव–गुट अपने एजेन्टों के माध्यम से संसद के सभाकक्षों में जाकर सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। व्यावसायिक संगठन संसद की लॉबियों में संसद–सदस्यों को प्रभावित करने के लिए चतुर वकीलों या एजेन्टों को नियुक्त करते हैं, जो उनके स्वार्थों की पूर्ति के लिए कठोर परिश्रम करते हैं। लॉबी क्षेत्र के एजेन्ट अपने न्यायसंगत अधिकारों की रक्षा के लिए खुले उपायों का भी सहारा लेते हैं। ये विधायकों के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं, उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखते हैं और उनकी मनोवृत्तियों को बदलने का प्रयास करते हैं।

(5) **रिश्वत, बेईमानी तथा अन्य उपाय** – अपने अभीष्ट स्वार्थों की पूर्ति के लिए दबाव–समूह रिश्वत व घूस देने से भी नहीं कतराते। बेईमानी के तरीके भी अपनाये जाते हैं। कहीं –कहीं पर तो आवश्यकतानुसार सुरा और सुन्दरी का भी प्रयोग करते हैं। प्रत्येक राज्य की राजधानी में दबाव–समूहों के प्रतिनिधि सक्रिय रूप से क्रियाशील रहते हैं। व्यावसायिक दबाव–समूह धन खर्च करके अपने साध्यों की प्राप्ति में लगे रहते हैं।

(6) **लॉबीइंग** – लॉबीइंग से अभिप्राय है सरकार को प्रभावित करना। यह एक राजनीतिक उपाय है। लॉबीस्ट का कार्य करने वाले व्यक्ति दबाव–समूह और सरकार के बीच मध्यस्थ होते हैं। ये लॉबीस्ट तीन प्रकार के कार्य करते हैं– सूचनाएं प्रसारित करते हैं, नियोजनकर्ता के हितों की रक्षा करते हैं तथा विधियों के राजनीतिक प्रभावों को स्पष्ट करते हैं। लॉबीस्ट के माध्यम से दबाव–समूह विधि – निर्माताओं को प्रभावित करते हैं और वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं।

(7) **संसद–सदस्यों के मनोनयन में रुचि** – दबाव–समूह ऐसे व्यक्तियों को चुनावों में दलीय प्रत्याशी मनोनीत करवाने में मदद देते हैं जो आगे चलकर संसद में उनके हितों की अभिवृद्धि में सहायक हों। ऐसा कहा जाता है कि लोकतन्त्रात्मक शासन– व्यवस्था में संसद–सदस्य दबाव–समूहों की जेब में होते हैं। चुनावों में प्रत्याशियों को पैसा चाहिए और पैसा दबाव–समूह उपलब्ध कराते हैं। वे पैसों की खोज में दबाव समूहों के पास जाते हैं और बदले में उन्हें दबाव–समूहों की माँग का समर्थन करना पड़ता है।

(8) **प्रदर्शन** – कभी –कभी दबाव–गुट उग्र आन्दोलनात्मक तथा प्रदर्शनकारी साधनों का भी प्रयोग करते हैं। प्राय: प्रदर्शनकारी दबाव–समूहों द्वारा ही ऐसे साधनों का अधिक प्रयोग किया जाता है। आजकल तो दूसरे अन्य दबाव–गुट भी हड़ताल, जुलूस, रैली आदि साधनों का आम तौर से प्रयोग करने लगे हैं।

ओडिगार्ड के अनुसार दबाव–समूह सामान्यतया तीन प्रकार से क्रियाशील रहते हैं– **प्रथम,** दबाव–समूह चुनावों के समय सक्रिय रहते हैं; **द्वितीय,** वे विधानांग पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और लाबीइंग कार्य करते हैं और **तृतीय,** प्रसार माध्यमों से लोकमत को अपने पक्ष में करने की चेष्टा करते हैं। वस्तुत:दबाव–समूहों के तरीके और उपाय सरकार के क्रियाकलापों के स्वरूप पर निर्भर करते हैं। यदि सरकार कम से कम आर्थिक कार्य का सम्पादन करती है तो दबाव–समूह सुषुप्त रहेंगे और यदि सरकार अधिक से अधिक आर्थिक कार्य करती है तो दबाव–समूह सक्रिय रहेंगे।

दबाव–समूहों का वर्गीकरण (Pressure Groups : Classification)

जी.ए. अमांड तथा जी.बी. पॉवेल ने अपनी पुस्तक " कम्पैरेटिव पॉलिटिक्स" में दबाव समूहों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है: (1) संस्थात्मक दबाव–समूह (Institutional Pressure Groups) (2) समुदायात्मक दबाव–समूह (Associational Pressure Groups) (3) गैर – समुदायात्मक दबाव–समूह (Non- Associational Pressure Groups),और (4) प्रदर्शनात्मक दबाव–समूह (Anomic Pressure Groups) ।

(1) **संस्थात्मक दबाव–समूह** – संस्थात्मक दबाव–समूह राजनीतिक दलों, विधान –मण्डलों, सेना, नौकरशाही इत्यादि में सक्रिय रहते हैं । इनके औपचारिक संगठन होते हैं । ये स्वायत्त रूप से क्रियाशील रहते हैं अथवा विभिन्न संस्थाओं की छत्रछाया में पोषित होते हैं । ये अपने हितों की अभिव्यक्ति करने के साथ–साथ अन्य सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं ।

(2) **समुदायात्मक दबाव–समूह** – समुदायात्मक दबाव–समूह हितों की अभिव्यक्ति के विशेषीकृत संघ होते हैं । इनकी मुख्य विशेषता विशिष्ट हितों की पूर्ति करना होता है । ये अपने आधुनिक परिवेश में प्रत्येक देश की राजनीति में सक्रिय दिखलाई देते हैं । इनमें प्रमुख हैं– व्यावसायिक संगठन, श्रमिक संगठन, विधार्थी संगठन आदि ।

(3) **गैर–समुदायात्मक दबाव–समूह** – गैर–समुदायात्मक दबाव–समूह अनौपचारिक रूप से अपने हितों की अभिव्यक्ति करते हैं, इनके संगठित संघ नहीं होते और इनको परम्परावादी दबाव–गुट भी कहते हैं । गैर–समुदायात्मक दबाव–समूहों में साम्प्रदायिक और धार्मिक समुदाय, जातीय समुदाय आदि लिए जा सकते हैं ।

(4) **प्रदर्शनात्मक दबाव–समूह** – प्रदर्शनकारी गुट वे हैं जो अपनी माँगों को लेकर अवैधानिक उपायों का प्रयोग करते हुए हिंसा, राजनीतिक हत्या, दंगे और अन्य आक्रामक रवैये अपना लेते हैं । प्रदर्शनात्मक विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही के कई प्रकार हैं, जैसे जन–सभाएँ, गली–कूचा बैठक, पदयात्रा, रैली, विरोध–दिवस मनाना, हड़ताल, धरना, सत्याग्रह, अनशन घेराव आदि । इन उपायों से प्रभावक गुट न केवल अपना असन्तोष व्यक्त करते हैं अपितु सरकार के निवेश (inputs)तथा निर्गत(outputs)ढाँचे को प्रभावित करते हुए नियम–निर्माण (rule making) नियम –प्रयुक्ति (rule application)एवं नियम–अधिनिर्णयन (rule adjudication) के स्वरूप को भी छू लेते हैं । ये गुट किसी विशिष्ट नीति को बनवाने अथवा बदलने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं ।

दबाव–समूहों की आलोचना (Pressure Groups : Criticisms)

दबाव–समूहों के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं:–

(1) **सार्वजनिक हितों की उपेक्षा** – दबाव –गुट अपने घटिया स्वार्थों की पूर्ति हेतु सार्वजनिक कल्याण को तुच्छ निगाह से देखते हैं । कभी–कभी उनके वर्गीय हितों से सामान्य हितों को भी हानि पहुंचने का खतरा बना रहता है ।

(2) **राजनीतिक प्रक्रिया में भ्रष्टाचार फैलाना** – अधिकांश दबाव–गुट हमारे सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अनेक घृणित उपायों का आश्रय लेते हैं । वे विधायकों को घूस देने व अन्य अनुचित और अनैतिक आचरण के कार्य भी करते हैं जिनका सार्वजनिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है ।

(3) **संकुचित दृष्टिकोण** – दबाव–गुट अपने संकीर्ण हितों को बढ़ावा देते हैं । वे संगठित होते हैं इसलिए राष्ट्रीय हितों की तुलना में संकुचित गुटीय हितों को महत्व दिया जाता है ।

(4) **लॉबीइंग** – अनेक दबाव गुट लॉबीस्ट द्वारा कार्य करते हैं । लॉबीस्ट की प्रक्रिया से भ्रष्टाचार और अनैतिकता में वृद्धि होती है । **वी. ओ. की** के अनुसार, "दबाव शब्द का प्रयोग मस्तिष्क में एक ऐसे शैतान लॉबिस्ट का चित्र अंकित कर देता है जो उचित पथगामी विधायक को सार्वजनिक हित की धारणा से हटाने के लिए अनुचित दबाव डालने का प्रयास करता है ।"

(5) **हिंसा की राजनीति के संगठित स्त्रोत** – दबाव–गुट सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक साधनों का भी प्रयोग करते हैं। **मायरन वीरन** लिखते हैं कि, "गैर –पश्चिमी देशों में हिंसा का संगठित प्रयोग किया जाता है, किन्तु अधिकांश में हिंसात्मक कार्यवाहियाँ अचानक नहीं हो जातीं अपितु संगठित और योजनाबद्ध होती हैं।" हिंसा और जन–आन्दोलन से अराजकता उत्पन्न होती है और ऐसी अव्यवस्था राज –व्यवस्था के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न कर देती है।

दबाव – समूहों का मूल्यांकन (Pressure Groups : An Estimate)

इन आलोचनाओं में सत्य का अंश अवश्य है, किन्तु किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए दबाव व हित–समूहों से छुटकारा पाना इतना आसान नहीं हैं। साम्यवादी और अधिनायकवादी शासन–व्यवस्थाओं में भी दबाव–समूह सक्रिय रहते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में तो उन्हें संवैधानिक संरक्षण प्राप्त होता है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव–समूहों का समर्थन निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया जाता है।

(1) दबाव–समूह अपने पक्ष को शासन के सामने ठीक प्रकार से प्रस्तुत करते हैं। इससे शासन को वस्तुस्थिति से आगाह किया जाता है।

(2) दबाव–समूह लोकतांत्रिक प्रक्रिया के प्रतिरूप है।

(3) दबाव–हितों के द्वारा समाज तथा राज्य में सन्तुलन स्थिर रखा जाता है।

(4) जब निर्वाचनों के उपरान्त राजनीतिक दलों की गतिविधियाँ कम हो जाती हैं तो दबाव समूह अपनी सक्रियता से शून्य की पूर्ति करतें हैं।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक दल तथा दबाव गुट में अन्तर समझाइए तथा दबाव गुटों की कार्यप्रणाली की विवेचना कीजिए।
2. दबाव समूहों का अर्थ एवं कार्यप्रणाली का वर्णन कीजिए।
3. दबाव समूहों के प्रकार एवं पद्धतियों का वर्णन कीजिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. दबाव समूह से क्या अभिप्राय है?
2. दबाव समूह एवं हित समूह में अंतर लिखिए?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. दबाव समूह का लक्षण नहीं है?
   (अ) विशिष्ट हितों से संबंध (ब) गैर राजनीतिक संगठन
   (स) सरकार पर आधिपत्य की अनिच्छा (द) चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े करना
2. दबाव समूहों द्वारा अपनायी जाने वाली तकनीक नहीं है-
   (अ) आंकड़े प्रकाशित करना (ब) सरकार गठित करना
   (स) लॉबीइंग (द) गोष्ठियाँ
3. निम्नांकित में कौनसा दबाव समूह है-
   (अ) शिव सेना (ब) तेलगू देशम
   (स) नेशनल कान्फ्रेन्स (द) भारतीय मजदूर संघ
4. दबाव समूह किस प्रकार के संगठन हैं?
   (अ) विशुद्ध सैनिक संगठन (ब) विशुद्ध गैर-राजनीतिक संगठन
   (स) विशुद्ध राजनीतिक संगठन (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

5. दबाव समूह कहाँ पाये जाते हैं?

(अ) केवल लोकतांत्रिक देशों में (ब) केवल पूँजीवादी देशों में

(स) केवल अधिनायकवादी देशों में (द) सभी देशों में पाये जाते हैं

6. कौन-सा वक्तव्य गलत है-

(अ) राजनीतिक दल विधानमण्डल में कार्य करते हैं जबकि दबाव समूह विधान मण्डल के बाहर

(ब) राजनीतिक दल का संकुचित उद्देश्य होता है जबकि दबाव समूह के विस्तृत उद्देश्य होते हैं।

(स) राजनीतिक दल का विस्तृत संगठन होता है जबकि दबाव समूह छोटे होते हैं।

(द) राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेते हैं, दबाव समूह चुनाव में अपने प्रत्याशी खड़े नहीं करते है।

उत्तर **1.** (द), **2.** (ब), **3.** (द), **4.** (ब), **5.** (द), **6.** (ब)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

30

नारीवाद अथवा महिला शक्तिवाद

(FEMINISM)

20वीं शताब्दी की एक विलक्षण विशेषता **महिला शक्तिवाद** (Feminism) का उभरता स्वरूप है। आज यह एक सिद्धान्त और संगठन का ढाँचा तैयार करने में प्रयत्नशील है तथापि एक सशक्त आंदोलन के रूप में उसकी भावी संभावनाएँ उज्जवल है।

महिला शक्तिवाद को विकास की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (1) उदार महिलावाद एवं (2) उग्र महिलावाद।

उदार महिलावाद – उदार महिलावाद शब्द बंध का प्रयोग सर्वप्रथम अंग्रेजी में 19वीं सदी के आठवें दशक में किया गया था। उसका जोर पुरुषों के समान महिलाओं के कानूनी-राजनैतिक अधिकारों से था। इस वर्ग में जान लॉक, जे.एस. मिश्र, चार्ल्स फोरियद, मार्क्स एंजेल्स के विचारों को रखा जा सकता है।

प्रारंभिक महिलावाद की शुरुआत जॉन लाक के प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा से होती है। मेरी बुल्स्टोन क्राफ्ट ने सन् 1792 में **'विंडिकेशन ऑफ दि राइट्स ऑफ वीमन'** पुस्तक लिखी जिसमें नारी के संबंध में सभी परम्परागत धारणाओं का खण्डन करते हुए उसे पुरुष के समकक्ष बतलाया। चार्ल्स फोरियर ने समाजवाद की व्याख्या करते हुए ऐसे परिवार एवं स्त्री-पुरुष संबंधों का चित्र खींचा जिसमें दमन और अन्याय नहीं होगा। सन् 1869 में प्रकाशित अपनी पुस्तक **'दि सबजेक्शन ऑफ वीमन'** में जे.एस. मिल ने अकाट्य तर्कों के आधार पर महिलाओं को पुरुषों के समान अवसर देने का प्रबल समर्थन किया। मिल के अनुसार यह तर्क कि प्राचीन काल से पुरुष स्त्री का स्वमी होता आया है, इसलिए स्त्री को अब भी उसकी अधीनता में रहना चाहिए और भी गलत है, क्योंकि इतिहास के इन खण्डहरों का भविष्य के साथ कोई तालमेल नहीं है। अमेरिका की पर्किन्स गिलमैन ने 1898 में प्रकाशित अपनी कृति **'वीमन एण्ड इकानामिक्स'** में बताया कि नारी को पुरुष ने परिवार की अविवेकपूर्ण जेल में बंदी बनाकर उसे मानव सभ्यता के विकास में योगदान करने से वंचित कर दिया है। एंजेल्स के अनुसार आर्थिक शक्ति पुरुष की मुट्ठी में बंद रहती है। परिवार, न कि विवाह असली बाधा है। साम्यवादी क्रांति के बाद निजी सम्पत्ति समाप्त हो जाएगी और घर की देखरेख एवं शिशु पालन समाज द्वारा किया जाएगा। बूवोयर तथा बैटी फ्रीडन जैसे लेखकों ने आगे चलकर महिला आंदोलन को प्रखर बनाया। फ्रीडन ने लैंगिक समकक्षता को पुरुष जाति एवं समाज की भलाई के लिए आवश्यक बतलाया और शिक्षा एवं संचार माध्यमों को लोगों के विचारों को बदलने की भूमिका निर्वाह करने का आह्वान किया।

उग्र महिलावाद – सन् 1960 के बाद महिलावाद **'महिला शक्तिवाद'** अथवा **'महिला मुक्तिवाद'** का रूप धारण कर लेता है। इस नये नारी आंदोलन को सशक्त करने में महिलाओं के राष्ट्रीय और अर्न्तराष्ट्रीय संगठनों की प्रमुख भूमिका रही है। उग्र महिलावाद के समर्थकों में काटे मिलर, जर्मेन ग्रीर, शुलामिथ फायरस्टोन प्रमुख हैं। काटे मिलर ने नव वामपंथ से प्रभावित होकर बताया कि पितृसत्तात्मकता नारी की अधीनता और दमन का मूल कारण है। ग्रीर ने स्त्री की काममुक्ति की बात कही। फायरस्टोन के अनुसार महिला का असली दुश्मन 'पुरुष' है, असमानता का मूल कारण पुरुष द्वारा स्त्री का दमन है। मानव की मुक्ति तथा कथित पूंजीवाद को उखाड़ने में न होकर लैंगिक क्रांति करने में निहित है। लैंगिक दमन नारी दासता की जड़ है। मिलेट का प्रयास महिला केन्द्रित होकर विश्व को समझना है। संक्षेप में पुरुष प्रभुत्व को उखाड़ना, उसको चुनौती देना उग्र महिला शक्तिवादियों का लक्ष्य है।

इस प्रकार जहाँ उदार महिलावादी परम्परागत राजनीति के माध्यम से राज्य से महिलाओं के लिए अधिकाधिक अधिकार एवं सुविधाओं की माँग करते हैं वहाँ उग्र महिलावादी आंदोलनों के माध्यम से मनोवृत्तियों को बदलना चाहते हैं।

भारत तथा अन्य अनेक देशों में पुरुष-प्रधान समाज ने महिलाओं को एक पदार्थ या सम्पत्ति जैसा मानकर उनके साथ व्यवहार किया है। अधिकांश देशों में अनेक महिला संगठनों द्वारा चलाए गए महिला उत्थान के बहुत से आन्दोलनों के बावजूद पुरुष-तंत्र बहुत दृढ़ है। भारत जैसे देशों में यौन-आधारित चेतना की उत्पत्ति मध्यम वर्गों के प्रादुर्भाव और उनकी समस्याओं से जुड़ी हुई है।

महिलाओं की समस्याओं के संदर्भ में चार पहलुओं का विस्तृत अध्ययन किया गया है। ये पहलू हैं: (1) उत्पादन, (2) प्रजनन, (3) लैंगिकता और (4) बच्चों का समाजीकरण। भारतीय संदर्भ में इन चारों पहलुओं में पुरुषों का प्राधान्य है जबकि इन्हीं क्षेत्र में महिलाओं का मुख्य उत्तरदायित्व है।

परिवार में महिला सास-ससुर यहाँ तक कि उसके पति द्वारा दलित की तरह समझी जाती है। गाँवों में नव धनाढ्य लोगों ने स्त्रियों पर उच्च शिक्षा ग्रहण करने, प्रवास और नौकरी करने पर प्रतिबंध लगा रखे हैं। शताब्दियों से बालिकाएँ, किशोरियाँ, युवतियाँ, प्रौढाएँ, वृद्धाएँ केवल इस आधार पर भेदभाव का शिकार होती आई हैं कि वे स्त्री हैं। संयुक्त राष्ट्र महिला दशक के सिलसिले में जुलाई 1980 में कोपेनहेगन में हुए विश्व सम्मेलन की रिपोर्ट के अनुसार दुनिया की वयस्क आबादी का करीब 50 प्रतिशत महिलाओं का है; दुनिया की अधिकारिक श्रम शक्ति में महिलाओं का हिस्सा एक-तिहाई के बराबर है लेकिन जहाँ तक काम के कुल घंटों का सवाल है इनमें से दो-तिहाई महिलाओं के हिस्से आते हैं जबकि उन्हें दुनिया की कुल आमदनी में से सिर्फ दसवाँ हिस्सा ही मिल पाता है। दुनिया में कुल सम्पत्ति में से एक प्रतिशत से भी कम की मालिक महिलाएँ हैं।

भारत जैसे देश में 2001 की जनगणना में 0-6 वर्ष के आयु वर्ग में स्त्री-पुरुष अनुपात प्रति हजार पुरुषों पर 933 महिलाओं का था, लेकिन 2011 की गणना के अनुसार यह घटकर 914 रह गया है। 2011 में पुरुष जनसंख्या 62.37 करोड़ (51.54%) तथा स्त्री जनसंख्या 58.64 करोड़ (48.46%) हो गई। देश में स्त्री-पुरुष अनुपात में गिरावट आने के प्रमुख कारण बालिका भ्रूण हत्या और बालिका शिशु हत्या है। इससे पता चलता है कि लोग लड़कियों के बजाय लड़कों को अधिक पसंद करते हैं। 1991 की जनगणना के अनुसार देश में 32.4 करोड़ निरक्षरों में से 19.7 करोड़ यानी करीब 61 प्रतिशत महिलाएँ और बालिकाएँ हैं। जबकि 2011 की जनगणना के अनुसार समस्त जनसंख्या (1, 21, 01, 93, 422) में 74.04 प्रतिशत लोग तथा पुरुषों में 82.14 प्रतिशत व महिलाओं में 65.46 प्रतिशत साक्षरता है। कुल श्रम शक्ति में महिला श्रमिकों की संख्या 1951 में 28.98 प्रतिशत के स्तर से घटकर 1996 में 26.8 प्रतिशत रह गयी है। देश के असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मजदूरों में से 94 प्रतिशत महिलाएँ हैं। उद्योग और सेवाओं में जिन कार्यों के लिए मजदूरी का भुगतान किया जाता है, वहाँ महिलाओं का हिस्सा केवल 15 प्रतिशत है। भारत की संसद और विधानमण्डलों में स्वतंत्रता से अब तक महिलाओं का प्रतिनिधित्व 4-5 प्रतिशत के लगभग रहा है। निर्णय लेने वाले प्रशासनिक पदों जैसे आई.ए.एस. और आई.पी.एस. जैसी सेवाओं में 1985 में महिलाओं की संख्या केवल 311 थी जो 1996 में 501 हो गयी है। सबसे बुरी बात तो यह कि आज भी भारतीय परिवारों में लड़कियों को बोझ समझा जाता है। शादी के समय और शादी के बाद लड़कियों के भार होने का यह लांछन बड़े स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। दहेज का दानव और शादी के बाद लड़कियों के साथ दुर्व्यवहार लड़कियों को बोझ मानने की मनोवृत्ति का नतीजा है। 1983 में देश में दहेज के लिए बहुओं को जलाने के 427 मामले सामने आये थे जो 1998 में बढ़कर 6,917 के भयावह स्तर तक पहुँच गये हैं।

हमारे धर्म ग्रन्थों में नारी को **देवी** का दर्जा दिया गया है, यों तो उन्हें दया का अवतार, अन्नपूर्णा और बुराई का नाश करने वाली दुर्गा और न जाने क्या-क्या कहकर महिमामंडित किया जाता है। लेकिन वास्तव में वे सदियों से घरों की चहारदिवारी में कैद होकर कैदी की भूमिका निभाती है। इसके कुछ

अपवाद हो सकते हैं। कुल मिलाकर हमारे समाज की सोच ऐसी है कि जन्म से ही महिलाएँ भेदभाव का शिकार हो जाती हैं।

विगत वर्षों में स्त्री द्वारा पुरुष के साथ समानता की खोज एक सार्वभौमिक तथ्य बन चुकी है। इस माँग के कारण महिला आन्दोलनों, नारी वर्गीय कार्यक्रमों और संगठनों का जन्म हुआ है। विगत कुछ वर्षों से मध्यमवर्गीय महिलाओं ने कीमतों में निरन्तर वृद्धि के मुद्दे को उठाया है और घर के भीतर भी स्त्रियों ने पुरुषों के साथ समानता की माँग की है। आज स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान प्रस्थिति और समाज के सब सदस्यों के समान सम्मानित जीवन प्राप्त करने के लिए महिला संगठनों, महिला सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने कीमत वृद्धि, दहेज, बलात्कार और यौन-शोषण इत्यादि के मुद्दों को उठाया है। स्त्रियों ने पुलिस और ऐसी ही अन्य सेवाओं में अपने हिस्से की माँग की है। महिला संगठनों ने, विशेषकर शहरी क्षेत्रों में, यौन समानता के लिए चेतना की भावना उत्पन्न की है।

1960 और 1970 के दशकों से महिलाओं से संबंधित समस्याओं के परिणामत: अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस, अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष, अन्तर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन आयोजित किये जाते रहे हैं। ऐसी गोष्ठियों और सम्मेलनों से भारत के संविधान में प्रदत्त स्त्री-पुरुष समानता के बारे में भी प्रचार हुआ है। भारत सरकार ने 1971 में स्त्रियों की स्थिति के बारे में एक समिति नियुक्त की थी जिसने 1974 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

विगत वर्षों में नारी चेतना के परिणामस्वरूप स्त्रियों के बहुत से आंदोलन उभरे हैं। ये आन्दोलन कार्यवाही, सिद्धान्त प्रस्तुति आर संगठनीकरण के रूप में चलाए जा रहे हैं।

महिलाएँ हमारे देश की आबादी का लगभग आधा हिस्सा है, इसलिए राष्ट्र के विकास के इस महान कार्य में महिलाओं की भूमिका और योगदान को पूरी तरह और सही परिप्रेक्ष्य में रखकर राष्ट्र निर्माण के कार्य को समझा जा सकता है।

भारत में महिला कल्याण संबंधी गतिविधियों को संस्थागत ढाँचा उपलब्ध कराने और संवैधानिक सुरक्षा उपलब्ध कराने के लिए अनेक कदम उठाये गये हैं। स्वतंत्रता के बाद से ही महिलाओं का विकास हमारी आयोजना प्रणाली का केन्द्रीय विषय रहा है। पिछले 25 वर्षों में कई नीतिगत बदलाव आए हैं। 1970 के दशक में जहाँ **'कल्याण'** की अवधारणा अपनायी गयी वहीं 1980 के दशक में **'विकास'** पर जोर दिया गया। 1990 के दशक से महिला अधिकारित यानी **'सशक्तिकरण'** पर जोर दिया जा रहा है। ऐसे प्रयास किए जा रहे हैं कि महिलाएँ निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल हों और नीति निर्माण के स्तर पर भी उनकी सहभागिता रहे।

महिला सशक्तिकरण का अर्थ ऐसी प्रक्रिया से है जिसमें महिलाओं की अपने आपको संगठित करने की क्षमता बढ़ती तथा सुदृढ़ होती है। वे लिंग, सामाजिक-आर्थिक स्थिति और परिवार व समाज में भूमिका के आधार पर निर्धारित संबंधों को दरकिनार करते हुए आत्मनिर्भरता विकसित करती हैं। महिला सशक्तिकरण का अर्थ यह भी है कि महिलाएँ सामाजिक आन्दोलनों में भाग ले सकें और उनका नेतृत्व कर सकें तथा अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रगति के मार्ग में आने वाली तमाम बाधाओं को हटा सकें।

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नारी चेतना पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. महिला सशक्तिकरण के औचित्य पर प्रकाश डालिए।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. उदार महिलावाद से क्या अभिप्राय है?
2. उग्र महिलावाद से आप क्या समझते हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. आजकल महिलाओं के विकास के लिए किस अवधारणा पर अधिक जोर दिया जाता है?
   (अ) कल्याण अवधारणा (ब) विकास अवधारणा
   (स) सशक्तिकरण अवधारणा (द) आधुनिकीकरण की अवधारणा
2. जे.एस.मिल की प्रसिद्ध कृति है:
   (अ) दि सब्जेक्शन ऑफ वूमन (ब) वूमन एण्ड इकानामिक्स
   (स) विंदिकेशन ऑफ दि राइट्स ऑफ वूमन (द) इनमें से कोई नहीं

उत्तर. 1. (स), 2. (अ)

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress